सुबोध
भारतीय अर्थशास्त्र

[बी० ए० के विद्यार्थियों के लिए]

लेखक

केवल कृष्ण ड्यूवेट,

एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रिंसिपल : दयाल सिंह कालिज, नई दिल्ली,

लेखक : आधुनिक अर्थशास्त्र ,

सह-लेखक : भारतीय अर्थशास्त्र, प्रारम्भिक अर्थशास्त्र

तथा

जे० डी० वर्मा

एम० ए०, पी०-एच० डी० (लन्दन

आई० ए० वाटमन पदक तथा आर्नल्ड स्वर्ण-पदक-विजेता

अध्यक्ष : अर्थशास्त्र विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय कालिज, होशियारपुर ,

सह लेखक प्रारम्भिक अर्थशास्त्र

१९६०

प्रीमियर पब्लिशिंग कम्पनी

दिल्ली – जालन्धर – लखनऊ

प्रीमियर पब्लिशिंग कम्पनी

(एम० चन्द एण्ड कम्पनी से सम्बद्ध)

आसफ अली रोड   नई दिल्ली
फव्वारा   दिल्ली
माई हीरां गेट   जालन्धर
लाल बाग   लखनऊ

तृतीय संस्करण : १९६०

मूल्य : ७ रुपये

श्यामलाल गुप्ता, प्रीमियर पब्लिशिंग कम्पनी, फव्वारा, दिल्ली द्वारा प्रकाशित
तथा राकेश प्रेस, अजीज गंज, दिल्ली में मुद्रित

प्रस्तावना

'सुबोध भारतीय अर्थशास्त्र' का प्रस्तुत सस्करण मूल पुस्तक 'Refresher Course in Indian Economics' के नवें सस्करण को आधार मान कर तैयार किया गया है। इस पुस्तक का पूर्ववर्ती सस्करण काफी समय पूर्व समाप्त हो गया था और हमें इस बात का खेद है कि पाठको अध्यापको एव छात्रो को उससे इतने समय तक वचित रहना पडा। तथापि, हमे इस बात का सन्तोष है कि इस सस्करण को पूरी तरह सशोधित किया गया है और इसके अनेक अशो को दुबारा लिखा गया है। आजकल भारतीय अर्थ-व्यवस्था में नित्य नूतन परिवर्तन हो रहे हैं। पुस्तक म इन परिवर्तनो से सम्बद्ध सख्याओ और आंकडो को उचित स्थान दिया गया है। पुस्तक मे भारतीय अर्थ नीति की कुछ ज्वलत समस्याओ, उदाहरण के लिए सहकारी कृषि, विदेशी मुद्रा की कठिनाइयो, द्वितीय पचवर्षीय योजना के कार्यकरण, सामुदायिक विकास कार्यक्रमो तथा भूमि की अधिकतम सोमा के निर्धारण आदि की ओर विशेष ध्यान दिया गया है एव तत्सम्बन्धी समस्त पक्षो को सन्तुलित रूप म पाठको के सामने उपस्थित करने का प्रयास किया गया है। प्रस्तुत हिन्दी सस्करण की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें महत्त्वपूर्ण सामग्री को यथोचित स्थान देते हुए इसके आकार को बढने नही दिया गया है। इसके लिए हमने कुछ अग्रेजी अशो का अविकल अनुवाद न देकर केवल साराश ही दिया है। इस सस्करण की भाषा भी पूर्ववर्ती सस्करणो की अपेक्षा काफी सुधार दी गई है। इस कार्य मे हमे सर्वश्री विश्वप्रकाश एव राजेन्द्र प्रकाश से जो सहायता मिली है, उसके लिए हम उनके आभारी हैं। हमे आशा है कि विश्वविद्यालयो के छात्र एव लोक सेवा परीक्षाओ के उम्मीदवार इस सस्करण का भी पहले सस्करणो की भाँति उचित स्वागत करेंगे।

जनवरी, १९६०

—लेखक

विषय-सूची
(Contents)

अध्याय १

प्राकृतिक साधन

(Natural Resources)

प्रस्तावना—किसी देश का आर्थिक संगठन प्राय उसके प्राकृतिक साधनो की मात्रा और प्रकार पर निर्भर करता है। इसलिए, सर्वप्रथम भारतीय भूगोल के महत्त्वपूर्ण अगो, अर्थात् उसके आकार, स्थिति, भौगोलिक क्षेत्रो जलवायु वर्षा, भूमियो, खनिजो, वनो आदि के विषय मे स्पष्ट ज्ञानलाभ करना अत्यावश्यक है।

आकार और स्थिति (Size and Situation)—विभाजन हो जाने पर भी, भारत आकार की दृष्टि से, उप-महाद्वीप कहलाने का अधिकारी है। जम्मू और कश्मीर सहित उसका क्षेत्रफल १२,५६,७६५ वर्गमील है। इस प्रकार भू विस्तार की दृष्टि से यह विश्व का सातवां सबसे बडा देश है।

प्राकृतिक विभाग (Natural Divisions)—इसके तीन सुस्पष्ट भाग हैं.

(१) हिमालय प्रदेश (Himalayan Pradesh)—भारत के उत्तरी भाग पर हिमालय पर्वत मालाएँ विस्तृत रूप म फैली हुई हैं और उनम विश्व की कुछ एक उच्चतम चोटियाँ भी सम्मिलित हैं। देश के लिए उनके महत्त्व के विषय में अतिशयोक्तिपूर्वक कहना असम्भव है।

(२) सिधु-गगा का मैदान (The Indo Gangetic Plain)—यह मैदान गगा, ब्रह्मपुत्र, उनकी सहायक नदियो तथा सिंधु की सहायक नदियों के पाटो द्वारा निर्मित है। यह विश्व की समतल भूमि का सर्वाधिक विस्तृत मैदान है।

(३) दक्षिण (The Deccan) –चट्टानी पठार है और समूचा भारतीय जलडमरूमध्य उसमे सम्मिलित है। वह दोनो दिशाओ मे पश्चिमी और पूर्वी घाटो की पर्वतमालाओ से सीमाबद्ध है।

जलवायु (Climate)—इस महान् देश मे हर किस्म की जलवायु मिलती है। भारतीय जलडमरूमध्य अयनवृत्त के अन्तर्गत है और फलस्वरूप वहाँ का जलवायु उष्ण है। उत्तर भारत कर्क रेखा के उत्तर म स्थित है और वहां तापक्रम की तीव्रता दिखाई देती है। पश्चिमी बगाल और आसाम में कुछ कुछ समशीतोष्ण किन्तु अति आर्द्र जलवायु है। दूसरी ओर, राजस्थान अत्यधिक रूक्ष है। समग्र रूप में देश के जलवायु को अर्ध-उष्ण कहा जा सकता है।

वर्षा (Rainfall)—जलवायु की तरह वर्षा ऋतु भी अत्यधिक भिन्न रूपो की है। भारत एशिया के मानसून क्षेत्र में स्थित है। ग्रीष्म (दक्षिण पश्चिमी) और शीत (उत्तर-पूर्वी) की दोनो मानसूनो मे से उत्तर पूर्वी अपेक्षया महत्त्वहीन है। सम्पूर्ण वर्षा का लगभग $\frac{9}{10}$ अश दक्षिण-पश्चिमी मानसूनो द्वारा होता है।

भूमि या मिट्टी (Soils)—भारत म अनेक प्रकार की मिट्टियाँ हैं—नदीनिर्मित या कछार मिट्टी, काली और लाल। ये वास्तविक रूप म समृद्ध हैं और अनेक

प्रकार की फसलें उत्पन्न करने योग्य हैं। उनका सामान्य स्वरूप, जो उन्हें अधिकांश यूरोपीय देशों की मिट्टी से भिन्न करता है, यह है कि वह अपेक्षया रूक्ष है और इस तरह वह कृत्रिम सिंचाई की समस्या को पैदा करती है।

प्रश्न १—भारत का आर्थिक जीवन भौगोलिक अंशों से कहाँ तक प्रभावित होता है ?

Q. 1—Discuss the extent to which Indian economic life has been effected by geographical factors.

किसी देश का भूगोल ही वह वास्तविक आधार है जिस पर उसके आर्थिक ढाँचे का निर्माण किया जाता है। इससे न केवल उसकी अर्थ-व्यवस्था को ही विलक्षण रूप प्राप्त हुआ है वरन् उसका सम्पूर्ण सामाजिक संगठन और उसकी जनता के मौलिक दृष्टिकोण का रूप भी प्रभावित हुआ है।

सब भौगोलिक अंशों में, सम्भवतः वर्षा का देश के आर्थिक जीवन पर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रभाव होता है। तुलनात्मक दृष्टि से, रूक्ष भूमियों वाला (एक अन्य प्राकृतिक अंश) मुख्यतः कृषि-प्रधान देश होने के कारण कृषि की सफलता के लिए, जो हमारा राष्ट्रीय व्यवसाय है, वर्षा सर्वथा आवश्यक है। वर्षा की अनिश्चितता की अवस्था में, देश का आर्थिक जीवन अव्यवस्थित हो जाने की आशंका बनी रहती है।

देश के विभिन्न भागों में जनसंख्या का विभाजन भी, अधिकांशतः भौगोलिक अंशों के मेल द्वारा प्रभावित होता है, और उनमें भी, यह सहज ही कहा जा सकता है कि वर्षा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंश है।

ऐसी अवस्था में यह धारणा बना लेना गलत होगा कि किसी देश के आर्थिक जीवन को उसके भौगोलिक तथ्यों से सर्वथा स्वतन्त्र रखा जा सकता है किन्तु आर्थिक जीवन को प्रभावित करने वाली प्राकृतिक अवस्थाओं की सीमा के विषय में तो सदैव अन्तर रहेगा ही। धीरे-धीरे प्राकृतिक अंशों को मनुष्य की आवश्यकताओं और उसके आर्थिक संगठन पर प्रभुत्वशाली बनने के बजाय अधीन किया जा रहा है। भारत में भी, हम सहज ही ऐसे अनेक चिन्ह देख सकते हैं कि कैसे प्रकृति की शक्तियों को आर्थिक जीवन के लिए आदेश की बजाय सेवा योग्य बनाया जा रहा है। उदाहरणार्थ, वर्षा-ऋतु के बहुरूपों और कमियों पर एक अन्य प्राकृतिक साधन अर्थात् बड़ी-बड़ी नदियों पर अधिकार करके विजय प्राप्त की जा रही है। और यह भी केवल सिंचाई के लिए ही नहीं प्रत्युत अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण आर्थिक उद्देश्यों के लिए किया जा रहा है।

खनिज (Minerals)

खनिज औद्योगिक प्रगति के आधार हैं। इनसे भारी उद्योगों, इन्जीनियरिंग तथा रासायनिक उद्योगों के लिए धातु और कच्चे माल की पूर्ति होती है। इनके निर्माण तथा विस्तार में ही उद्योगों का महत्त्व है।

प्रश्न २—भारत के खनिज साधनों की परीक्षा कीजिए और बताइए कि उनका देश के आर्थिक विकास के लिए क्या महत्त्व है ? (पंजाब १९५७)

आपकी राय में, देश के खनिज विकास के कार्यक्रम में हमको किस प्रकार आगे बढ़ना चाहिए ? (गौहाटी और आगरा १९५७)

Q. 2—Examine India's mineral resources and indicate their importance in the Econom'c development of the country. (*Punjab 1957*)

What, in your opinion, should be the main features of a programme of mineral development for the country ?

(*Gauhati and Agra 1952*)

भारत की खनिज सम्पत्ति (Mineral Wealth of India)—हमारे देश की खनिज सम्पत्ति के विषय में अभी तक कोई विस्तृत सर्वेक्षण नहीं हुआ है। एक ओर तो यह अनुमान किया जाता है कि हमारी खनिज सम्पत्ति अपरिमित है, और दूसरी ओर, इसके सर्वथा विपरीत। अब तक की हुई दुर्बल औद्योगिक प्रगति को दृष्टि में रखते हुए कुछ लोगों का निष्कर्ष है कि भारत खनिज-साधनों में अपूर्ण है। किन्तु उपर्युक्त दोनों विचार भ्रमपूर्ण हैं। वास्तविक स्थिति यह है कि भारत में प्राय सभी आवश्यक खनिज पदार्थ प्रचुर मात्रा में मौजूद हैं, यद्यपि भारत खनिज पदार्थों की दृष्टि से अत्यधिक सम्पन्न नहीं कहा जा सकता।

कोयला (Coal)—अभी तक यह शक्ति और उष्णता का प्रमुख साधन है। यह धातु शोधन उद्योगों तथा अनेक औद्योगिक कार्यों के लिए भी अत्यावश्यक है।

कोयला मूल्य और निष्क्रमण के परिमाण दोनों ही दृष्टियों से भारत का मुख्यतम खनिज है। हाल के वर्षों में इसका उत्पादन निरन्तर बढ़ता जा रहा है। १९५८ में भारत में ४५३ लाख टन कोयले का उत्पादन हुआ था, जबकि १९५०-५१ में केवल ३२० लाख टन कोयला ही उत्पन्न हुआ था। अनुमान है कि द्वितीय पचवर्षीय योजना के बाद भारत में ६०० लाख टन कोयला उत्पन्न होने लगेगा।

१,००० फीट की गहराई पर ६,००० करोड़ टन कोयला मिलने का अन्दाज है।[1] कोकिंग के लिए उपयुक्त कोयले की मात्रा २०,००० लाख टन है, जिससे देश के लोह भंडार के १० प्रतिशत का उपयोग हो सकेगा। इससे भारतीय कोयला भंडार का परिरक्षण और भी जरूरी हो जाता है।

हमारे कोयला स्रोतों की एक अन्य विशेषता यह है कि वह देश के केवल एक ही कोने में हैं, अर्थात् रानीगंज (बिहार) और झरिया (पश्चिमी बंगाल) में। इन दोनों स्थानों से कोयले का उत्पादन कुल उत्पादन का ⅘ से अधिक है। देश के एक भाग में कोयले के इस केन्द्रीकरण से परिवहन की समस्या उत्पन्न हो जाती है, जिससे कोयले की खानों से अति दूरी पर स्थित उद्योगों के लिए कोयले की लागत में भारी वृद्धि होती है।

इसके अतिरिक्त, कोयला निकालने की विधियों में भी अनेक त्रुटियाँ हैं। यन्त्री-*करण की विधियों को अपनाकर, और इस तरह खानों से कोयला निकालने के तरीकों* में उन्नति करते हुए, हमारे कोयला स्रोतों के उचित उपयोग के लिए तीन अन्य सुझाव हाल ही में उपस्थित किए गए हैं। यह प्रस्ताव किया गया है कि कोयला-खानों में द्वितीय श्रेणी का कोयला इस्तेमाल करके उष्ण विद्युत् (thermal electricity) उत्पन्न की जाय और उसके बाद इन कारखानों को एक बड़े भारी ग्रिड के रूप में मिला दिया जाय। दूसरे, दोयम दर्जे के कोयले से संश्लिष्ट पैट्रोल बनाने पर भी विचार किया जा

१. India 1959, p. 13.

रहा है। हाल ही में भारत सरकार ने द्वितीय श्रेणी के कोयले से पेट्रोल बनाने के लिए एक विदेशी फर्म के साथ ठेका किया है। यद्यपि इस दिशा मे अभी प्रगति नही हुई है।

कच्चा लोहा (Iron Ore)—इस सारभूत खनिज की स्थिति अत्यधिक सुखद है। अनुमान लगाया गया है कि ससार में जितना कच्चे लोहे का भण्डार है, उसका चौथाई भण्डार भारत म है। दूसरी बात यह है कि भारत का कच्चा लोहा गुण की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है। भारतीय कच्चे लोहे में ५५% शुद्ध लोहा है। इसके अतिरिक्त अधिकतर लोह भण्डार कोयले की खानो के पास मिलते हैं। और उन्ही के आस-पास अन्य उप्णक या प्रद्रावक द्रव्य (Smelting Materials) भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। इस प्रकार भारत सस्ते मूल्य पर अधिक मात्रा में लोहा उत्पन्न कर सकता है।

अनुमान है कि भारत की खानो मे २,१०० करोड टन कच्चा लोहा वर्तमान है।[1] लोहे की महत्वपूर्ण खानें बिहार के सिंहभूम जिला और उडीसा के-कियोझर, बोनाई तथा मयूरभज क्षेत्रों में स्थित हैं। अन्य क्षेत्र मध्य प्रदेश, मद्रास और मैसूर में हैं, किन्तु वे उतने सम्पन्न नही हैं। १९५८ में लोहे का वार्षिक उत्पादन लगभग ५७ लाख टन था। द्वितीय योजना के अन्तर्गत १९६०-६१ के लिए उत्पादन लक्ष्य १२५ लाख टन है तथा निर्यात लक्ष्य २० लाख टन।

मैंगेनीज (Manganese Ore)—इसे खनिजो में "सब व्यापारो का हरफनमौला" कहा जाता है, क्योकि यह अनेक औद्योगिक कार्यों में प्रयुक्त होता है यह मुख्यत इस्पात बनाने और भारी रसायनो, विद्युत् सम्बन्धी तथा शीशा उद्योगो के लिए आवश्यक है।

भारत में इस खनिज के बडे-बडे भण्डार हैं और वह विशिष्ट रूप से महत्वपूर्ण हैं क्योकि औद्योगिक देशों में रूस के अतिरिक्त कहीं भी मैंगेनीज के महत्वपूर्ण भडार नहीं हैं। अच्छी किस्म की धातु का भण्डार ११ २ करोड टन के लगभग है और इससे नीचे की क्वालिटी की मात्रा इससे चौगुनी के लगभग है। भारत सोवियत रूस के बाद सबसे अच्छी किस्म का मैंगेनीज पैदा करने वाला देश है। १९५७ में १६ लाख टन मैंगेनीज का उत्पादन हुआ जिसका मूल्य १४ करोड रुपया था तथा १९६०-६१ में मैंगेनीज के उत्पादन का लक्ष्य २० लाख टन रखा गया है। मध्य प्रदेश में सबसे बड़े और सर्वाधिक समृद्ध भण्डार हैं, जो वार्षिक उत्पादन का लगभग ६० प्रतिशत है। दुर्भाग्यवश, मैंगेनीज अत्यल्प मात्रा में देश में इस्तेमाल होता है जब कि बहुत बड़ा अनुपात (८०%) निर्यात किया जाता है।

टिटेनियम (Titanium)—टिटेनियम नामक खनिज देश के विभिन्न भागो में वितरित है। समुद्र के किनारे की रेत मे इसकी सबसे अधिक मात्रा पाई जाती है, अर्थात् लगभग ३,५०० लाख टन इलमिनाइट। इस समय भारत इलमिनाइट का सबसे बडा स्रोत है (इसका उपयोग रोगन आदि तैयार करने म होता है)। इसके उत्पादन का अधिकाश भाग सयुक्त राज्य अमरीका को निर्यात किया जाता है।

---

१. India 1959, p. 13.

थोरियम (Thorium)—थोरियम अणुशक्ति का स्रोत है। युद्ध तथा शान्ति दोनों ही कालों में इसका भारी महत्त्व है। भारत में मोनोजाइट का भारी भण्डार है, जिसमें ८% से ९% तक थोरियम ऑक्साइड पाया जाता है। थोरियम के भण्डार केरल राज्य में हैं, थोरियम प्राप्त करने के कारखाने ट्राम्बे (बम्बई) और अलवाये (केरल) में स्थापित किए गए हैं।

अभ्रक (Mica)—यह महान् सामरिक महत्त्व वाला खनिज है। इसकी प्रमुख माँग विद्युत उद्योग से आती है। भारत इसके महत्त्वपूर्ण स्रोतों में एक है और यह विश्व भर के कुल उत्पादन का ७० से ८० प्रतिशत उत्पन्न करता है। इसके उत्पादन के मुख्य केन्द्र बिहार में हजारी बाग और गया के जिले हैं। राजस्थान और आंध्र प्रदेश में भी अभ्रक पाया जाता है। १९५७ में ६.१ लाख टन अभ्रक भारत की खानों से निकाला गया था। मैंगेनीज़ की तरह सारा अभ्रक भी निर्यात किया जाता है। अमरीका इसे आयात करता है। इस प्रकार अभ्रक हमको डालर प्राप्त कराने वाला साधन है।

बॉक्साइट (Bauxite)—यह एलूमीनियम का स्रोत है। इसे हाल ही में बीसवीं सदी का "आश्चर्यजनक धातु" माना जाने लगा है, क्योंकि इसका अनेक कार्यों में उपयोग किया जाता है, विशेष रूप से हवाई जहाज के उद्योग में इस का इस्तेमाल हो रहा है। भारत में बढ़िया किस्म का बॉक्साइट पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। अनुमान है कि भारत में २,८०० लाख टन बॉक्साइट का भण्डार है। इसके मुख्य भण्डार बम्बई, मध्य प्रदेश और बिहार में हैं। इसे गलाने के लिए सस्ती जल-विद्युत् की आवश्यकता है। १९५७ में इसका उत्पादन एक लाख टन था तथा १९६०-६१ के लिए यह लक्ष्य १,७५,००० टन रखा गया है।

मैग्नीसाइट (Magnesite)—भारत में मैग्नीसाइट की बढ़िया किस्म पाई जाती है। १०० फीट तक इसकी मात्रा दस करोड़ टन के लगभग है।

जिप्सम (Gypsum)—देश की औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था में, कोयले और लोहे के बाद, खनिज के रूप में इसका बड़ा भारी महत्त्व है। इस का उपयोग मुख्य रूप में सीमेंट और रासायनिक खादों के उद्योगों में होता है और इन उद्योगों के विस्तार के साथ जिप्सम के उत्पादन में भी क्रमशः उन्नति हो रही है। इसके भण्डार मुख्यतः राजस्थान (४०० लाख टन) में हैं। १९५७ में ६.२ लाख टन के लगभग जिप्सम का उत्पादन था। १९६०-६१ के लिए १८ लाख ६ हजार टन का लक्ष्य है।

क्रोमाइट (Chromite)—यह भी एक लाभदायक औद्योगिक खनिज है, जो बिहार, उड़ीसा और मैसूर में बहुतायत से पाया जाता है। अनुमान है कि भारत में १३.२ लाख टन क्रोमाइट का भण्डार है। मैंगेनीज और अभ्रक की तरह क्रोमाइट भी निर्यात किया जाता है।

उपर्युक्त खनिज पदार्थों के अतिरिक्त हम सीमेंट बनाने योग्य पदार्थों, कई प्रकार की मिट्टियों (जो बर्तन, टाइल और नल बनाने के काम आती हैं) और कई

प्रकार के ऐसी रेत से भी भरपूर सम्पन्न है, जो शीशा उद्योग के लिए उपयोगी होती है।

ऐसे खनिज जिनमें भारत अपूर्ण है (Minerals in which India is Deficient)—तिस पर भी, कुछेक महत्त्वपूर्ण खनिज हैं, जिनकी भारत में कमी है। पैट्रोल, अलोह धातुओं और गन्धक की कमी हमारे लिये दुर्भाग्यपूर्ण है।

पैट्रोल (Petroleum)—वर्तमान काल में डिगबोई (आसाम) ही पैट्रोल का एकमात्र स्रोत है और उससे घरेलू आवश्यकताओं का केवल ७ प्रतिशत पैट्रोल प्राप्त होता है। आयात किए गए कच्चे तेल को साफ करने के लिए तीन बड़े शोध कारखानों का (दो बम्बई में और एक विशाखापत्तनम में) निर्माण हुआ है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में देश के तैल-स्रोतों के विकास पर पर्याप्त ध्यान दिया गया है। तैल और प्राकृतिक गैस आयोग (Oil and Natural Gas Commission) की स्थापना की गयी है जो देश में तैल के स्रोतों की परीक्षा करेगा और उनका विकास करेगा। इस कार्य के लिये द्वितीय योजना में ११.५ करोड़ रुपये का प्रबन्ध किया गया है।

तांबा, शीशा, जस्त, टीन और अलोह धातुएँ (Copper, Lead, Zinc, Tin and Non-Ferrous Metals)—लोहे और बॉक्साइट के अतिरिक्त, निर्माण-सम्बन्धी कुछेक अन्य धातुएँ हैं, जो उद्योगीकरण के लिए नितान्त अत्यावश्यक हैं। दुर्भाग्यवश, भारत में तांबे के सिवा इन खनिज पदार्थों का न के बराबर उत्पादन होता है। इन खनिजों का वार्षिक आयात २० करोड़ रु० की लागत का होता है। तांबा देश की आवश्यकता के मुकाबिले में केवल एक-तिहाई प्राप्त होता है। भारत में सीसा और जस्ता का उत्पादन बहुत ही कम है। देश में टिन खनिज (tin ore) का भी नितान्त अभाव है।

गंधक (Sulphur)—भारी रासायनिक उद्योग के लिए, जो बुनियादी उद्योग है, अत्यावश्यक है। यह अपने प्रारम्भिक रूप में भारत में प्राप्त नहीं है, यद्यपि भारत में सोना मक्खी (pyrites) के कुछ भण्डार हैं, जिनसे गंधक निकलती है। अभी हाल ही में बिहार के शाहाबाद जिले में गंधक के बृहद् भण्डारों का पता लगा है।

खनिज नीति

अधिकतर भारत में खनिज पदार्थों को मुख्यतः निर्यात के लिए निकाला जाता था और उनका शोधन, मस्करण तथा सुधार भी नहीं होता था। यह दूरदेशी की नीति नहीं थी। कई आधारमूलक खनिजों, जैसे मैंगनीज़, अभ्रक, लोहे के भण्डारों का रिक्तीकरण होने दिया गया और वह अब भी जारी है। खानों में काम करने की विधियां भी बहुत पुरानी और हानिकारक हैं। खानों सम्बन्धी गवेषणा की दिशा में भी अभी तक नाममात्र का और अव्यवस्थित-सा कार्य हुआ है। अन्ततः मई १९४९ में इण्डियन ब्यूरो ऑफ माइनिंग रिसर्च (Indian Bureau of Mining Research) की स्थापना की गई, जहाँ भारतीय खनिज पदार्थों की औद्योगिक उपयोगिता के विषय में अब खोज की जाती है। उपरान्त, १९५० के प्रारम्भ में नेशनल फ्यूल रिसर्च लैबोरेटरी (National Fuel Research Laboratory) की स्थापना की गई।

स्वस्थ खनिज नीति के विषय में उपर्युक्त सिंहावलोकन के आधार पर निम्नलिखित सुझाव दिए जा सकते हैं—

(i) स्पष्टतया, सर्वप्रथम यह होना चाहिए कि महत्त्वपूर्ण खनिज-पदार्थों की विस्तृत खोज की जाए तथा परिमाप एव सर्वेक्षण कराया जाए।

(ii) खानो म कार्य करने की विधियो को अधिक कुशल तथा वैज्ञानिक बनाया जाए। केवल उच्च स्तर के खनिज पदार्थों के लिए ही खनिज कार्य नहीं होना चाहिए, वरन् यथासम्भव, सब प्रकार के खनिजो के लिए कार्य होना चाहिए। दूसरे शब्दो मे, इस नीति का मूलाधार अधिकतम ग्रौर आर्थिक लाभ होना चाहिए।

(iii) सामाजिक महत्व के खनिज पदार्थों के साधनो को विकसित करने की ग्रोर विशेष ध्यान देना चाहिए, जैसे कि गधक, टीन ग्रोर टगस्टिन (tungsten) ग्रादि।

(iv) जो खनिज पदार्थ अधिकांशत निर्यात के लिए हो, उन्हे विदेशी बाजारो के लिए, यथासम्भव, पूर्ण अथवा अर्द्ध पूर्ण पदार्थों के रूप म निर्यात करना चाहिए।

(v) उत्खनन (Mining) उद्योग की ग्रावश्यकताग्रो के लिए ग्रावश्यक ग्राँकडे इक्ट्ठे करने चाहिएं।

इसीलिए प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत निम्न उपबन्ध किए गए थे

(१) देश के महत्त्वपूर्ण खनिजो के रिजर्व की क्रमिक तथा व्यापक खोज ग्रौर परिमाप करना जिससे उनकी मात्रा ग्रौर क्वालिटी के बारे में पूर्ण जाँच हो सके।

(२) माइनिंग के कार्यों मे सुधार, जिससे ग्राथिक लाभ के रूप मे काम तथा ग्रावश्यक खनिजो का सरक्षण सुनिश्चित हो सके।

(३) खनिजो के उपयोग तथा हितो सम्बन्धी गवेषणा।

(४) उन सरकारी सस्थाग्रो का विस्तार तथा उनको शक्तिसम्पन्न बनाना जो खनिज विकास के प्रोग्राम में लगे हैं, जैसे जियॉलॉजिकल सर्वे ग्रॉफ इण्डिया (*Geological Survey of India*), दी इण्डियन ब्यूरो ग्रॉफ माइस (The Indian Bureau of Mines), दी नेशनल लेबोरेट्रीज (The National Laboratories); राष्ट्रीय गवेषणाशालाएँ—फ्यूल रिसर्च इस्टीट्यूट (Fuel Research Institute), नेशनल मेटलर्जीकल लेबोरेट्री (National Metallurgical Laboratory) तथा सेन्ट्रल ग्लास ग्रौर सीरेमिक्स रिसर्च इस्टीट्यूट (Central Glass and Ceramic Research Institute) ग्रादि।

द्वितीय योजना के अन्तर्गत देश के खनिज-स्रोतो का सम्पूर्ण परिमाप (सर्वेक्षण) सगठित करने का प्रस्ताव है। इस प्रोग्राम म मुख्य खनिजो के भूतत्वीय तथा भू-भौतिकीय (geological and geophysical) सर्वेक्षण तथा जहाँ ग्रावश्यक हो बरमा डालने के कार्य को करना (drilling) भी शामिल है। जहाँ प्रथम योजना में खनिज विकास के लिये केवल २ ५ करोड रु० की व्यवस्था की गई थी, द्वितीय योजना मे तदर्थ ७२ ५ करोड रु० का उपबन्ध किया गया है।

सरकार की खनिज नीति का मुख्य पक्ष है खनिज विकास के कार्य को सीधे रूप से हाथ म लेना। अप्रैल, १९५६ के ग्रौद्योगिक नीति सकल्प के अनुसार कुछ एक

खनिजो तथा कुछ एक खनिज निकालने के कार्यों का सारा भार सरकार के ऊपर रहेगा। उन खनिजो की सूची इस प्रकार है . लोहा तथा इस्पात, कोयला, खनिज तेल, जिप्सम, सल्फर (गधक), सोना और चांदी, हीरा, तांबा, जस्ता, सीसा तथा टिन आदि। इसके अलावा खनिजो का एक अन्य वर्ग भी है जिस पर सरकार का क्रम से अधिकार होगा और सरकार उनकी स्थापना का भार लेगी तथा ऐसे उद्यमो में गैर-सरकारी क्षेत्र से भी पूरक सहायता ली जाएगी।

लेकिन अभी हाल के सविधान मे किए गए सशोधन से गैर सरकारी उद्यम को बडा धक्का लगा, जिसके अनुसार खनिज अधिकारो को समाप्त करने तथा सशोधन करने से सम्बन्धित कानून अवैध नही होगा। उपर्युक्त वर्णित औद्योगिक नीति सकल्प तथा सोना और हीरो की खानो के राष्ट्रीयकरण से प्राइवेट क्षेत्र को बड़ी निराशा हुई। लेकिन खनिज सलाहकार बोर्ड की बगलौर में होने वाली समिति में सघ के प्राकृतिक स्रोतो के मत्री ने जून, १९५६ में इस बात पर बल दिया कि औद्योगिक नीति सकल्प से खानो के मालिको में किसी प्रकार के भय की आवश्यकता नही है। उन्होने विश्वास दिलाया कि सरकार की नीति लचकदार रहेगी तथा वह सरकारी और गैरसरकारी क्षेत्र मे सतुलन बनाए रखने के लिए होगी।

चूंकि भारत एक विशाल देश है इसलिए सरकार प्रादेशिक खनिज विकास करना चाहती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रादेशिक खनिज बोर्ड तथा क्षेत्रीय खनिज सलाहकार बोर्डों की रचना हुई।

सम्बन्धित सघ मत्री ने यह घोषणा भी की थी कि पुराने पट्टे वालो को, जिनका क्षेत्र कम होता है, समन्याय तथा उदार आधार पर क्षति-पूर्ति की जाएगी।

प्रश्न ३—जल-विद्युत् के आर्थिक महत्त्व की चर्चा कीजिए। भारत में जल-विद्युत् विकास का वर्णन कीजिए। (पजाब बी०ए० १९५५ स०, ५६, आगरा १९५०)।

Q. 3—Discuss the Economic importance of hydro-electricity. Describe hydro electric development in India.

(P. U. B. A. 1955 Supp.; 1956 and Agra 1950)

चूंकि देश मे कोयले और तेल की कमी है और जब तक आणविक शक्ति और सौर शक्ति का आविर्भाव नही हो जाता, हमारे लिए जल-शक्ति ही विकास का मुख्य और श्रेष्ठ साधन होगा। मुख्य बात यह है कि हम उसका उपयोग ठीक ढग से कर सकें।

जल-विद्युत् का आर्थिक महत्त्व (Economic Importance of Hydro-electricity)—जल-विद्युत् का आर्थिक महत्त्व बहुरूपी है। उद्योगो की दृष्टि से हमें ज्ञात है कि जल-विद्युत् न केवल शक्ति का स्रोत है, वरन् यह अपेक्षाकृत बहुत सस्ती भी है। जल-विद्युत् हमें उद्योगो को समूचे देश मे फैला देने के योग्य बनाती है।

हमारे देश के उद्योगीकरण मे जल-विद्युत् की उपयोगिता के अतिरिक्त, जल-शक्ति हमारी कृषि मे भी बडी भारी सहायक होगी। सस्ती जल-विद्युत् से हम बड़ी भारी सख्या में नल-कूप खोदने योग्य हो जाएंगे। तब कृषि का यन्त्रीकरण भी हो सकेगा।

परिवहन और संचार के साधनो का विकास करने के लिए भी जल-विद्युत् के लाभो का कम महत्त्व नही है।

जल-विद्युत् सामान्य जनता की सुख-सुविधा तथा मनोरजन के स्तर को उन्नत करने मे जो ग्रशदान कर सकती है, उसका भी बडा भारी ग्रार्थिक महत्त्व है। इससे जनता की कार्यक्षमता म बडी वृद्धि होगी।

भारत में जल-विद्युत् का विकास (Hydro-electric Development in India)—भाग्यवश, भारत मे जल-शक्ति के साधन महान हैं (चार करोड किलोवाट) और, सुखद घटनावश, वह देश के उन भागो मे है, जहां कोयले की कमी है। हमें विद्यमान जल-विद्युत् कारखानो पर दृष्टिपात कर लेना चाहिए।

बम्बई में टाटा जल-विद्युत् व्यवस्था (The Tata Hydro-Electric System of Bombay)—टाटा जल-विद्युत् के कारखाने देश में विद्यमान जल-विद्युत् कारखानो में सबसे बडे हैं। ये पश्चिमी समुद्र-तट पर हैं और इनके नाम लोनावाला (Lonawala), ग्रान्ध्र घाटी (Andhra Valley) तथा नीलामुला (Nila Mula) परियोजनाएँ हैं। मुख्य परियोजना लोनावाला म है और ग्रन्य परियोजनाएँ उसके साथ जोडी गई हैं। उनकी सम्मिलित क्षमता लगभग ग्रढाई लाख किलोवाट है। उनसे मिलो, बसो, रेलो तथा बम्बई नगर के ग्रधिवासियो को बिजली मिलती है।

वर्तमान जल-विद्युत् के विकास के क्रम मे दूसरा स्थान मद्रास का है। पाइकारा जल-विद्युत् परियोजना ने १९३२ मे बिजली देना शुरू किया था। यहाँ पाइकारा नदी पर रोक लगाकर नीलगिरि पर्वतो मे उसके ३०० फुट के जल-प्रपात का उपयोग किया गया है। मेतूर जल-विद्युत् परियोजना, यद्यपि मुख्यत सिंचाई के लिए जल सचय करने के उद्देश्य से बनायी गयी थी, पर्याप्त विद्युत् शक्ति भी उत्पन्न करती है। पापनासम में पापनासम परियोजना १९४४ म कार्य करने लगी थी। पाइकारा और पापनासम नदियों पर ग्रतिरिक्त विद्युत् शक्ति भी तैयार की जा रही है।

मण्डी जल-विद्युत् परियोजना, जो १९३३ म कार्य करने लगी थी पजाब (भा०) को बिजली देती है। यहाँ व्यास की सहायक नदी उहल के पानी का उपयोग किया गया है। इस नदी के पानी को तीन मील लम्बी सुरग के द्वारा मोडा गया है। और उपरात जोगेन्द्र नगर (हिमाचल प्रदेश) में इस्पाती नलो द्वारा १,८०० फुट की ऊँचाई से गिराया गया है। इससे लगभग ५० हजार किलोवाट बिजली मिलती है।

उत्तर प्रदेश में गंगा नहर की बिजली परियोजना से राज्य के पश्चिमी भाग के मुख्य नगरो को बिजली दी जाती है।

शिवसमुद्रम् मे कावेरी पर मैसूर जल विद्युत् के कारखाने न केवल भारत में ही प्रत्युत एशिया भर मे सर्वप्रथम स्थापित हुए थे। इन कारखानो से कोलार की सुवर्ण खानो और बहुत से नगरो तथा देहातो को बिजली मिलती है। ये लगभग ४० हजार किलोवाट बिजली उत्पन्न करते हैं।

मैसूर में महात्मा गाधी जल-विद्युत् परियोजना, जो पहले जोग बिजली योजना (Jog Power Scheme) कहलाती थी, १९५२ मे ही ग्रारम्भ हुई थी। शेरावती नदी के जल को रोककर जोग जल-प्रपातो से लगभग सवा लाख किलोवाट बिजली

उत्पन्न करने का कारखाना स्थापित किया गया है। मैसूर राज्य के अतिरिक्त, मद्रास और बम्बई राज्य भी उससे बिजली लेते हैं।

इसी प्रकार देश के अन्य विभिन्न भागों जैसे, ट्रावनकोर, हैदराबाद और कश्मीर में छोटी छोटी योजनाओं की बड़ी भारी संख्या है। कश्मीर मे, जेहलम नदी से बारामूला में जल-विद्युत् उत्पन्न की जाती है।

भारत में १९५७-५८ के अन्त में ३२ लाख किलोवाट बिजली पैदा करने की अर्जित क्षमता थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से यह उन्नति १३७% अवश्य है। भारत म बिजली की माँग भी कम है। जहाँ भारत में प्रति व्यक्ति वर्ष में ३५ यूनिट बिजली उपभोग करता है; इंगलैण्ड मे प्रति व्यक्ति वर्ष मे २,००० यूनिट, कनाडा में प्रति व्यक्ति ५,४५० यूनिट, नॉर्वे में ७,३५० यूनिट उपभोग करता है। संसार में प्रति व्यक्ति वर्ष में बिजली का उपभोग ६७० यूनिट है।[1] सत्य यह है कि जापान, स्विट्ज़रलैण्ड और स्वीडेन जैसे छोटे-छोटे देश भी भारत की अपेक्षा कहीं अधिक बिजली उत्पन्न करते हैं।

भावी विकास (Future Development)—जल-विद्युत् की महान सम्भाव्यताओं और लाभों को दृष्टि में रखते हुए यह स्वाभाविक ही है कि हमें इस मूल्यवान जल-सम्पत्ति का सर्वोत्तम उपयोग करने पर विचार करना चाहिए। प्रथम पंचवर्षीय योजना में उन नदी-घाटी योजनाओं को सर्वोपरि स्थान दिया गया, जो कुछेक विशिष्ट शक्ति-योजनाओं के साथ-साथ जल-विद्युत् भी उत्पन्न करेंगी। फलस्वरूप प्रथम योजना काल में ५५८ करोड़ रुपये जल-विद्युत् परियोजनाओं पर व्यय किए गए। अनुमान लगाया गया था कि प्रथम योजना की पूर्ति होने तक ११ लाख किलोवाट अतिरिक्त बिजली इन परियोजनाओं से मिलने लगेगी। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में भी विद्युत् और सिंचाई पर पर्याप्त धनराशि व्यय की जा रही है। अनुमान है कि द्वितीय योजना में इस मद पर ९१३ करोड़ रु० व्यय किए जाएँगे, जिसके फलस्वरूप भारत में ३५ लाख किलोवाट अतिरिक्त बिजली का उत्पादन बढ़ जायगा।

कुछ ऐसी महत्वपूर्ण जल-विद्युत् योजनाओं के बारे मे यहाँ विचार करना न्यायसंगत होगा जो या तो निर्मित हो रही हैं या अभी पूरी हो चुकी हैं। उदाहरण के लिए पंजाब का आर्थिक भविष्य भाखड़ा नांगल परियोजना की पूर्ति पर बहुत कुछ अवलम्बित है। यह योजना सतलज नदी पर तैयार हो रही है। इसकी क्षमता ९·०४ लाख किलोवाट बिजली पैदा करना है। गंगुवाल और कोटला के बिजलीघरों से बिजली की सप्लाई भी हो चुकी है। लगभग समाप्त अन्य परियोजनाएँ निम्नलिखित हैं—बिहार और पश्चिमी बंगाल में दामोदर घाटी योजना (क्षमता २·५४ लाख किलोवाट); हीराकुड बाँध योजना (क्षमता १·२ लाख किलोवाट) यह योजना उड़ीसा राज्य मे महानदी के किनारे पर है; मैसूर और आन्ध्र प्रदेश के लिए तुगभद्रा परियोजना (क्षमता ४५,००० कि० वा०); आन्ध्र और उड़ीसा राज्यों के लिए मछकुंड नदी पर मछकुंड जल-विद्युत् परियोजना; उत्तर प्रदेश में रिहन्द नदी पर रिहन्द नदी

[1] India 1959, pp. 291—92

परियोजना (क्षमता २·५ लाख कि० वा० बिजली), मध्य भारत और राजस्थान में चम्बल नदी पर चम्बल योजना (क्षमता २ लाख कि० वा०), बम्बई म कोयना नदी पर कोयना परियोजना (क्षमता २·४ लाख कि० वा०), मद्रास म कुण्डा योजना (क्षमता १·८ लाख कि० वाट) और पेरियर योजना (क्षमता १ लाख कि० वाट) आन्ध्र प्रदेश म रमागुण्डम परियोजना (क्षमता ३७,००० कि० वा०) तथा मैसूर राज्य मे भद्रा परियोजना (क्षमता ३३,००० कि० वा०) आदि। (इन परियोजनाओं पर विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय ५ देखिए)। प्रथम पचवर्षीय योजना के फलस्वरूप देश मे बिजली शक्ति के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई है। जहाँ १९५०-५१ म २३ लाख किलोवाट बिजली उत्पन्न होती थी, १९५५-५६ म बिजली का उत्पादन बढकर ३४ लाख किलोवाट हो गया। आशा है कि १९६१ मे द्वितीय पचवर्षीय योजना के पश्चात् देश मे ६६ लाख किलोवाट बिजली पैदा होने लगेगी।

अभ्यास १—*भारत में उपलब्ध शक्ति के साधन स्रोतों पर विचार कीजिए और बताइए कि प्रथम पचवर्षीय योजना में शक्ति के साधनों के विकास की दिशा में क्या प्रयत्न हुए हैं?*

(पटना १९५७, सप्लीमेण्टरी)

Ex. 1—Give an estimate of power resources in India, and discribe the efforts made during the 1st Five Year Plan to develop them

(Patna 1957 Supp)

प्रश्न ३ के उत्तर की प्रस्तावना को देखिए। पहले तो भारत में उपलब्ध कोयले और पैट्रोलियम पर विचार कीजिए, और तदुपरान्त जल विद्युत् के विकास पर विचार कीजिए। प्रथम पचवर्षीय योजना में शक्ति के सभी स्रोतों के विकास का प्रयत्न किया गया था। फलस्वरूप कोयला जहाँ १९५० में ३२० लाख टन पैदा होता था, १९५६ में ३९६ लाख टन पैदा होने लगा। नहरकटिया (आसाम) और कुछ अन्य स्थानों में तलकूप खोदे गये है जिनके फलस्वरूप, तथा बिजली शक्ति के उत्पादन में वृद्धि के फलस्वरूप शक्ति के स्रोतों का पर्याप्त विकास हुआ है। इन प्रयत्नों के सम्बन्ध में कोयला, पैट्रोल और जल विद्युत् शक्ति के विकास सम्बन्धी प्रकरणों को भी पढिए।

अभ्यास २—भारत में उपलब्ध शक्ति के स्रोतों का वर्णन कीजिए और बताइए कि वे देश के आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त हैं या नहीं? (पंजाब १९५८)

(अभ्यास १ का उत्तर देखिए)।

Ex. 2—Describe the power resources of India and examine their adequacy for economic development. *(Punjab 1958)*

(See the answer to Ex. 1 above)

अभ्यास ३—*जल-विद्युत् विकास की दृष्टि से ससार के देशों में भारत की स्थिति क्या है?* कुछ मुख्य नदी घाटी योजनाओं का वर्णन कीजिए जिनसे देश में जल-विद्युत् शक्ति उत्पन्न करने का प्रयास किया गया है। (आगरा १९५७)

(प्रश्न ३ का उत्तर देखिए)।

Ex 3—What is the present position in India in the matter of Hydro electricity development? Mention a few Schemes undertaken recently to develop hydro electric power in the Country.

(See the answer to Q 3 above)

वन (Forests)

प्रकृति की एक अन्य बहुमूल्य देन वनों के रूप में है। अब हम अधिक विस्तार के साथ इस प्राकृतिक देन पर विचार करेंगे।

प्रश्न ४—वनों से राष्ट्रीय कल्याण में कैसे वृद्धि होती है ? भारत के वन साधनों की परीक्षा कीजिए और बताइए कि हम अपनी वन सम्पत्ति का कैसे विकास करेंगे और इस सम्पत्ति का किस प्रकार बेहतर आर्थिक उपयोग किया जा सकता है ?

(आगरा १९५७; पंजाब १९५८ सप्लीमेण्टरी परीक्षा)

Q. 4—How do forests promote national welfare ? Give an estimate of the forest wealth of India. How can this wealth be better preserved and utilized ? *(Agra 1957 and Punjab 1958 Supp.)*

किसी देश के आर्थिक जीवन में वन अत्यावश्यक कार्य करते हैं। राष्ट्रीय कल्याण में उनका अंश-दान बहुत अधिक होता है।

वह जनता के आर्थिक और भौतिक कल्याण को जिस ढंग से उन्नत करते हैं, वह इस प्रकार है। प्रारम्भिक रूप में, हमें उनकी अप्रत्यक्ष उपयोगिता देखनी होगी। वे वर्षा लाने में सहायक होते हैं और जलवायु को सम बनाते हैं। भारी वर्षा के समय जल की अधिकता को सोखकर वह बाढ़ें रोकते हैं और अनन्तर वर्षा-रहित मासों में नदियों और झरनों में पानी के बहाव को जारी रखना सम्भव बनाते हैं। हवाओं पर रोक लगाकर वह आस-पास के खेतों की शीतल और रूक्ष हवाओं से रक्षा करते हैं और पशुओं तथा लाभकारी पक्षियों को आश्रय प्रदान करते हैं। उनसे सुन्दर दृश्यावलि की रचना होती है और वे इस प्रकार विश्राम-स्थल प्रदान करते हैं।

उनकी प्रत्यक्ष उपयोगिता उनके विभिन्न बड़े और छोटे उत्पादों में निहित है। बड़े उत्पादों में इमारती लकड़ी, ईंधन और चारा हैं। इमारती लकड़ी अधिकांशतः मकान बनाने, रेल के डिब्बों तथा बसों के ढाँचे बनाने और फर्नीचर तथा कृषि उपकरणों को बनाने के काम आती है। ईंधन और चारे की पूर्ति भी भारत सरीखे कृषि-प्रधान देश के लिए कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। छोटे उत्पादों में विभिन्न उद्योगों के लिए कच्चे पदार्थ हैं और उनमें छाल, रबड़, सीसा, लाख, गोंद और बीड़ी के पत्ते आदि हैं।

कृषि के लिए लाभों की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि वन किसान के पशुओं को चारे की बहुमूल्य सुविधाएं प्रदान करते हैं और उसे इमारती लकड़ी और ईंधन देते हैं। यह किसान को वन-उत्पादनों पर आधारित कई सहायक उद्योग करने योग्य बनाते हैं। भूमि-कटाव, जो कृषि के लिए इतना हानिकारक है, रोका जा सकता है बशर्ते कि पहाड़ी ढलानों और आस-पास के क्षेत्रों में वन हों। वनों में 'सड़े पत्तों का संग्रह' बहुमूल्य खाद है।

भारत के वन-साधन (Forest Resources of India)—भारत के प्राकृतिक साधनों में, उसके वनों को उच्च स्थान देना ही होगा। भारत में वन २.८० लाख वर्ग मील में फैले हुए हैं, अर्थात् समस्त भारत के क्षेत्रफल के २२% भाग में वन हैं। यह माना जाता है कि उष्ण देश में उसकी जलवायु विषयक अवस्थाओं को सुरक्षित रखने के लिए उसके क्षेत्र के न्यूनतम एक-तिहाई क्षेत्रफल पर वनों का विस्तार होना चाहिए।

इस प्रकार इस स्तर से भारत का वनीय ग्रानुक्रमिक ग्रनुपात कम रह जाता है। जहा रूस मे प्रति व्यक्ति ३ ५ हैक्टेयर वन क्षेत्र है सयुक्त राज्य ग्रमेरिका म प्रति व्यक्ति १ ८ हैक्टेयर वन प्रदेश है, वहाँ भारत म प्रति व्यक्ति केवल ० २ हैक्टेयर वन क्षेत्र है। भारत म प्रति व्यक्ति १ ४ क्यूबिक फीट लकडी की खपत है, जबकि ग्रमेरिका में प्रति व्यक्ति लकडी की खपत ५८ क्यूबिक फीट है। भारत में लकडी की लुगदी की प्रति व्यक्ति खपत १ ६ पौड है जबकि इगलैड में प्रति व्यक्ति ७८ पौड लकडी की लुगदी व्यय करता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि भारत म वनो का विकास बहुत ही पिछडी हुई ग्रवस्था में है।

इसके ग्रतिरिक्त, वन समूचे देश में समान रूप से विभाजित भी नही हैं। जहाँ एक ग्रोर मध्य प्रदेश, केरल ग्रौर ग्रसम राज्य खूब घने वनो वाले राज्य हैं जहाँ उन राज्यो के क्षेत्रो का ३१ ४ प्रतिशत, ३२ ७ प्रतिशत ग्रौर ३३ ४ प्रतिशत क्रमश वनो के ग्रधीन है वहाँ पजाब, उडीसा, राजस्थान, उत्तर प्रदेश ग्रौर बम्बई राज्यो मे वन प्रदेश कम हो रहे हैं। इन राज्यो मे समस्त क्षेत्रफल का $\frac{1}{10}$ भाग भी वन प्रदेश नही है। चूंकि वन प्रदेश कम हो रहा है, ग्रत जानवरो का गोबर ईंधन के रूप मे प्रयोग किया जा रहा है। इससे खेती के लिए उत्तम खाद का निरन्तर नाश हो रहा है।

भारतीय वनो से प्रति एकड पैदावार भी बहुत ही कम है। जहाँ फ्रास म प्रति एकड जगल से ५६ क्यू० फी० लकडी मिलती है, जापान में ३७ क्यू० फी० लकडी पैदा होती है ग्रौर ग्रमेरिका में १८ क्यू० फी० लकडी का उत्पादन होता है वहाँ भारत में केवल २ ५ क्यू० फी० लकडी प्रति एकड वन से प्राप्त होती है।

भारतीय वन लगभग ८० लाख व्यक्तियो को रोजगार प्रदान करते हैं। उनमें से ६० लाख व्यक्ति तो जगलो में लकडी काटने मे लगे हैं ग्रौर शेष २० लाख व्यक्ति ऐसे वन्य उद्योग धन्धो म लग हैं जैसे लकडी ग्रारा मशीनो या प्लाई वुड के कारखानो ग्रादि में। भारतीय जगलो से वार्षिक ग्राय लगभग २५ करोड रु० होती है। ग्रौर यदि हमारे वनो का नियोजित ग्रार्थिक विकास हुग्रा होता, तो हमारी राष्ट्रीय ग्राय मे पर्याप्त वृद्धि दिखाई देती।

वन-नीति—ग्रनुदर्शन ग्रौर ग्राशा (Forest Policy—Retrospect and Prospect)—सरकार ने चिरकाल बाद देश के वनो को सुरक्षित रखने तथा उनके उपयोग की ग्रावश्यकता को ग्रनुभव किया। सरकार की वन नीति ग्रब तक दो मुख्य विचारो पर ग्रवलम्बित रही है, ग्रर्थात् वनो से राजस्व ग्रौर जलवायु विषयक तथा ग्रन्य भौतिक ग्राधारो पर उनके सरक्षण की ग्रावश्यकता। इस बात को ग्रभी तक सम्पूर्ण रूप में स्वीकार किया गया है कि वन हमारी कृषि को ग्रनेक प्रकार से महत्त्वपूर्ण सहायता प्रदान करने वाले हैं ग्रौर साथ ही ग्रौद्योगिक विकास मे भी सहायक हो सकते हैं। चूंकि सरकार के वन विभाग ग्रौर कृषि विभाग म सहयोग ग्रौर समन्वय का सर्वथा ग्रभाव है इसलिए किसानो की वनो के द्वारा पूरी होने वाली ग्रावश्यकताएँ यूँ ही ग्रधूरी रह जाती हैं। वन किसान को उसके पशुग्रो के लिए चरागाह प्रदान कर सकते हैं ग्रौर साथ ही उसे सस्ता ईंधन उपलब्ध कर सकते हैं, जिससे उसे मूल्यवान गोबर खाद को जलाना न पडे। वन ग्रौर कृषि विभागो के बीच सहयोग के ग्रभाव के कारण किसान

की इन मुख्य आवश्यकताओं को संतोषजनक रूप मे पूर्ण नहीं किया गया। वनों के छोटे उत्पादों का भी किसान कई सहायक उद्योगों के लिए उपयोग कर सकता है, जैसे—लाख बनाना, बिरोजे का तेल निकालना, चमड़े की वस्तुओं की रंगाई और बनाई का सामान, टोकरी, रस्सी और चटाई बनाना। इसके अतिरिक्त, भूमि-क्षय की बड़ी भारी राष्ट्रीय हानि को भी, बड़े पैमाने पर वृक्षारोपण के द्वारा प्रभावपूर्ण ढंग से रोका जा सकता है।

अनेक विशाल उद्योगो को भी वन उपयोगिता की अधिक निश्चित नीति के साथ विकसित किया जा सकता है। इस दिशा मे कागज-गूदे, और कागज उद्योगों के स्पष्ट उदाहरण दिए जा सकते हैं। हमारे देश मे बाँसो का कागज बनाने के लिए सहज उपयोग किया जा सकता है। कागज के इस निर्माण से न केवल घरेलू आवश्यकताएँ ही पूर्ण होगी, वरन् वह विदेशी निर्यात के लिए भी निर्मित हो सकेगा।

यह प्रसन्नता की बात है कि भारत सरकार देश में वन-विकास की आवश्यकता के प्रति पूर्णतया सजग हो चुकी है। तदनुसार कृषि और खाद्य के तत्कालीन केन्द्रीय मन्त्री श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुशी ने जुलाई १९५० में "वन महोत्सव" या "अधिक वृक्ष उगाओ" आन्दोलन का श्रीगणेश किया था। अखिल भारतीय वन-नीति का निर्माण करने के लिए वन सम्बन्धी एक केन्द्रीय समिति (Central Board of Forestry) की भी स्थापना की गई है। मरुभूमि मे वनोत्पादन की भी योजना बनाई गई है जिसके अनुसार ५ मील लम्बी वन-पट्टी बनाने की तजवीज की गई है और वह वन-पट्टी राजस्थान की पश्चिमी सीमा के पर्याप्त बड़े भाग पर फैलाई जायगी। देहरादून की वन गवेषणा सस्था (Forest Research Institute, Dehradun) को पिछले वर्षों में काफी मजबूत किया गया है और बढाया गया है। इसके अन्तर्गत भूमि सरक्षण का विभाग विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

इसके अलावा १३ मई, १९५२ को विस्तृत राष्ट्रीय वन-नीति की घोषणा की गई थी जिसमें अन्य बातों के अलावा निम्न बातें रखी गई हैं—

(क) वन-क्षेत्र को तब तक और अधिक नही काटा जायगा जब तक उसके समान क्षेत्र मे नया वन न लगा दिया जाए।

(ख) वन-प्रधीन क्षेत्र में योजित वनोत्पादन द्वारा वृद्धि होनी चाहिए। देश के भूभाग के ⅓ क्षेत्रफल में वन लगने चाहिएं। सड़कों और रेल-लाइनो के किनारों पर पेड़ लगाए जाने चाहिएं।

(ग) देहाती इलाकों में सीमान्त भूमियों पर देहाती जनसंख्या को ईंधन तथा चरागाहों की सुविधाएँ प्रदान करने के लिए देहाती वन-उत्पादन (Village Forest Plantation) का आरम्भ करना चाहिए।

(घ) उद्योगो तथा वन-अनुसन्धानशाला के बीच निकट सम्पर्क स्थापित होना चाहिए जिससे वन-उत्पादो पर आधारित उद्योगो को प्रोत्साहन मिल सके।

(ङ) यातायात तथा संचार साधनो को विस्तृत करना चाहिए जिससे अलंघनीय वन-क्षेत्र खुल जाएँ और विकसित हो।

उपर्युक्त घोषित नीति के अधीन, प्रथम पचवर्षीय योजना में वन नीति के लिए ११७ करोड रु० की राशि नियत की गई थी। प्रथम पचवर्षीय योजना के कार्यों को आगे बढाने के अलावा, द्वितीय योजना के अन्तर्गत जो कार्यक्रम निश्चित हैं वे इस प्रकार हैं (i) वन्यीकरण तथा वन्य क्षेत्रों का विस्तार करना और उजडे हुए वनों को फिर से सुधारना, (ii) जगलों से प्राप्त वाणिज्यिक तथा औद्योगिक महत्त्व की वस्तुओं का उत्पादन प्रारम्भ करना, (iii) उत्पादन के उपायों को बढावा देना तथा इमारती लकडी के उत्पादन और उपलब्धि को बढाना, (iv) वन्य पशुओं का सरक्षण; (v) वन के कर्मचारियों की स्थिति को सुधारना, (vi) वन गवेषणा की कार्य गति को तीव्र करना, (vii) टेक्नीकल कर्मचारियों का अधिकाधिक उपबन्ध (viii) समस्त देश में वन विकास के कार्य का एकीकरण तथा केन्द्रीय सरकार द्वारा मार्ग-प्रदर्शन। द्वितीय योजना में वनों के विकास के लिए २७ करोड रु० की रकम रखी गई है। ५०,००० एकड भूमि पर वन लगाए जाएंगे तथा ५० ००० एकड भूमि पर दियासलाई उद्योग के लिए उपयोगी वन बोए जाएंगे।

स्वाभाविक है कि वनों के विकास में बहुत अधिक समय लगता है। अत सरकार ने वनों के विकास के सम्बन्ध में जो उपाय किए हैं उनसे शीघ्र फल प्राप्त नहीं हो सकते। किन्तु यह भी कम प्रसन्नता का विषय नहीं है कि सरकार ने उचित वन नीति अपनायी है और उस नीति को सही तरह से कार्यान्वित किया जा रहा है।

अभ्यास १—जगलों के सम्बन्ध में भारत सरकार की नीति पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए और उस नीति के दोष दिखाइये। आप जगलों के विकास की दिशा में क्या-क्या उपाय कर सकते हैं ताकि जगलों से अधिक लाभ उठाया जा सके?

Ex 1—Give a brief review of the government policy in respect of forests and bring out its main shortcomings What further measures would you like to be taken to develop forests and to take greater advantage from them in the country?

१८६४ में एक जगलात के इन्सपेक्टर जनरल की अधीनता में अलग वन विभाग की स्थापना की गई थी। १८९४ में प्रथम बार भारत सरकार ने वन नीति घोषित की थी। उक्त घोषित नीति के अनुसार भारत में वन निम्न वर्गीकृत किये गये थे —(१) आवश्यक वन, (२) व्यापारिक एव औद्योगिक वन, (३) छोटे वन, (४) चरागाह। किन्तु वनों के प्रशासन और नियन्त्रण की दृष्टि से उनके तीन वर्ग किए गए थे—आरक्षित वन (Reserved Forests), सरक्षित वन (Protected Forests) और अवर्गीकृत वन। उक्त तीनों वर्गों में से आरक्षित वनों पर कठोर नियन्त्रण और प्रशासन रखा जाता था, जबकि सरक्षित वनों पर नियन्त्रण कुछ ढीला-ढाला-सा था और अवर्गीकृत वनों पर नियन्त्रण केवल नाम मात्र को था। इसके पश्चात् १९०६ में देहरादून में वन अन्वेषणालय (Forest Research Institute) खोला गया और वहीं वन महाविद्यालय (Forest College) की भी स्थापना की गई। वन अन्वेषणालय दो कार्य करता है—(१) देश के वनों की रक्षा के उपाय ढूंढना और उनके आर्थिक महत्व को बढाना (२) तथा इमारती एव अन्य वन्य उत्पादों को अधिक लाभदायक बनाना तथा उनसे आर्थिक लाभ उठाना। १९३५ से वन प्रान्तों के अधिकार में आ गये, और तब से उन पर बहुत अधिक ध्यान दिया जा रहा है।

वन सम्बन्धी सरकारी नीति के दोष—(१) सरकारी नीति स्पष्ट और सशक्त नहीं थी। इसलिए देश में वन्य क्षेत्र अब भी कम हैं। (२) जगलों के विकास की ओर इस दृष्टिकोण से

कभी ध्यान नहीं दिया गया कि देहाती जनता को राहत मिले, उनके पशुओं को चरागाह उपलब्ध हों और उन्हें सस्ता ईंधन मिले। (३) वन्य उत्पादों के उद्योगों को विकसित करने की ओर कभी ध्यान नहीं दिया गया। इसमें सन्देह नहीं कि इस दिशा में अन्वेषण सम्बन्धी पर्याप्त प्रगति हुई है फिर भी समुचित प्रचार के अभाव में इन अन्वेषणों से उद्योगपतियों और व्यापारियों को विशेष लाभ नहीं हो सका। (४) चूँकि वन राज्यों के विषय हैं, अतः विभिन्न राज्य एक संयोजित वन नीति पर वनों का विकास नहीं कर सकते। (५) यद्यपि भारत में पर्याप्त मात्रा में कमजोर और लाभदायक उष्ण-कटिबन्धीय लकड़ी का उत्पादन होता है, फिर भी भारत में लकड़ी को गोदामों में रखने की सुविधा के अभाव में उनसे कम ही मूल्य मिल पाता है। यदि लकड़ी के रखने के गोदामों की समुचित व्यवस्था हो जाए तो इमारती लकड़ी की कीमत बहुत बढ़ सकती है।

कुछ सुझाव—वनों सम्बन्धी सरकारी नीति के उपर्युक्त दोषों को पढ़ने के बाद हम सहज ही अनुमान लगा लेते हैं कि इन दोषों को दूर करने के क्या उपाय होंगे। शायद देश में वन आयोग (Forest Commission) की स्थापना की आवश्यकता है। उक्त आयोग का काम होगा कि वह राष्ट्रीय वनों का प्रशासन करेगा, उनके विकास की योजनाएँ बनाएगा और उन योजनाओं को कार्यान्वित करेगा। इस प्रकार उक्त आयोग, १९५२ में भारत सरकार द्वारा निर्धारित वन नीति को कार्यान्वित करेगा।

अभ्यास २—"भारत एक धनी देश है किन्तु उसके निवासी निर्धन हैं"- इस वक्तव्य की परीक्षा कीजिए। (पंजाब १९५४ ; दिल्ली वि० वि० १९५६)

Ex. 2—Comment on the statement that India is a rich country, inhabited by poor people.

भारत के प्राकृतिक साधन स्रोतों का संक्षिप्त वर्णन कर दीजिए। कहिए कि भारत के साधन विशाल हैं और विभिन्न भी हैं, परन्तु उनका उचित उपयोग नहीं हो रहा है। इसीलिए भारत में गरीब का साम्राज्य है।

अध्याय २

जनसंख्या

(Population)

प्रस्तावना—किसी देश की आर्थिक प्रगति उसकी मानव-शक्ति पर निर्भर है। फलस्वरूप, यह सर्वथा उचित जान पड़ता है कि हम भारत के मानवी अंश से सम्बन्धित सारी स्थिति अर्थात् उसकी जनसंख्या सम्बन्धी समस्या के विस्तृत अंगों का अध्ययन करना चाहिए।

आकार (Size)—१९५१ की जनगणना के अनुसार भारत की जनसंख्या ३६ करोड़ १८ लाख ठहरती थी। अनुमान है कि १९५८ में भारत की जनसंख्या ३९ करोड़ ७५ लाख हो जायगी। विश्व में किसी अकेले देश की जनसंख्या के मुकाबिले में (सिवा चीन के) यह सबसे अधिक जनसंख्या है। यह विश्व की समस्त जनसंख्या का लगभग सातवाँ भाग है। राज्य क्रम से उत्तर प्रदेश का नम्बर सबसे पहले आता है, जिसकी जनसंख्या (६ करोड़ ३२ लाख) है। फिर बम्बई राज्य की जनसंख्या (४ करोड़ ८२ लाख) है। इसके बाद बिहार (३ करोड़ ८८ लाख), आन्ध्र प्रदेश (३ करोड़ १३ लाख), मद्रास (३ करोड़), पश्चिमी बंगाल (२ करोड़ ६३ लाख), मध्य प्रदेश (२ करोड़ ६१ लाख), मैसूर (१ करोड़ ९४ लाख), पंजाब (१ करोड़ ६१ लाख), राजस्थान (१ करोड़ ६० लाख), उड़ीसा (१ करोड़ ४६ लाख), केरल (१ करोड़ ३५ लाख), और आसाम (९० लाख)। जनसंख्या सम्बन्धी उपर्युक्त आँकड़े पुनर्गठित राज्यों के आधार पर दिए गए हैं।

घनत्व (Density)—स्पष्ट है कि यह जनसंख्या देश के सब भागों में समान रूप से वितरित नहीं है। जब कि कुछ भागों में तो जनसंख्या का आधिक्य है और दूसरी ओर, कई ऐसे राज्य हैं जहाँ छितरी हुई आबादी है। (पूर्ण अध्ययन के लिए नीचे दिए प्रश्न १ के उत्तर को देखिए।) समग्र रूप में देश की जनसंख्या का औसत घनत्व २८७ व्यक्ति प्रति वर्गमील है।

यौन सम्बन्धी जनसंख्या का विभाजन (Sex)—भारत की १९५१ की जनसंख्या के आधार पर कुल जनसंख्या में लगभग १८ करोड़ ३२ लाख व्यक्ति पुरुष थे (कुल जनसंख्या का ५१.४%), और लगभग १७ करोड़ ४० लाख स्त्रियाँ थीं। (कुल जनसंख्या का ४८.६%)। सारे देश में लगभग १,००० पुरुषों पर ९४७ स्त्रियाँ हैं। किन्तु देश के कुछ भागों में जैसे मद्रास, केरल और उड़ीसा में स्त्रियों की संख्या पुरुषों से अधिक है। देश के विभिन्न भागों में यौन सम्बन्धी जनसंख्या की असमता से कई प्रकार की सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

आयु सम्बन्धी जनसंख्या का विभाजन (Age Composition)—१९५१ की जनगणना के अनुसार १५ वर्ष से कम आयु के व्यक्तियों की संख्या कुल जनसंख्या

की ३८·३% थी; और १५ वर्ष से ५५ वर्ष तक की आयु वालों की संख्या कुल जनसंख्या की ५३·४% थी। उसी क्रम में ५५ वर्ष से ऊपर की आयु वालों की प्रतिशत संख्या ८·३% थी। इस प्रकार भारत में १५ वर्ष और ५५ वर्ष की आयु वर्ग के बीच के व्यक्तियों की संख्या अन्य उन्नत देशों की अपेक्षया कम है।

स्वावलम्बन की दृष्टि से जनसंख्या का विभाजन (Earning Status)—१९५१ की जनसंख्या के आधार पर १० करोड़ ४३ लाख व्यक्ति स्वावलम्बी थे। यह संख्या समस्त जनसंख्या का २९·३% है। शेष में से ३ करोड़ ३९ लाख (१०·९%) व्यक्ति कमाऊ आश्रित व्यक्ति है। २१ करोड़ ४३ लाख व्यक्ति पूर्णतया आश्रित थे। यह संख्या समस्त जनसंख्या का ६०·१% था। इस प्रकार हमारी जनसंख्या का ७०% भाग आश्रित है जिसमें कुछ आजीविका कमाने वाले आश्रित हैं और कुछ पूर्णत. आश्रित।

व्यवसायों की दृष्टि से आजीविका कमाने वाले विभिन्न वर्गों में जनसंख्या का विभाजन (Livelihood Classes and Sub Classes)—भारत की समस्त जनसंख्या में से जो १९५१ में ३५ करोड़ ६६ लाख २० हजार थी, कृषक जनसंख्या २४ करोड़ ९० लाख ७० हजार (७०%) थी, और गैर कृषक जनसंख्या १० करोड़ ७५ लाख ५० हजार थी (३०%)। कृषक जनसंख्या मे उन कृषकों या उनके आश्रितों की संख्या जो स्वय भूमिधर थे, १६ करोड़ ७३ लाख थी। किन्तु उन कृषकों और उनके आश्रितो की संख्या जिनके पास भूमिधारी अधिकार न थे, ३ करोड़ १६·२ लाख थी। कृषि कर्म में लगे श्रमिकों और उनके आश्रितो की संख्या ४ करोड़ ४८·१ लाख थी। इसके विपरीत ऐसे कृषकों और उनके आश्रितों की संख्या जो अपनी भूमि पर स्वय खेती नही करते थे वरन् जो भूमि का किराया या लगान वसूल करते, ५३·३ लाख थी। गैरकृषक वर्गों में ३ करोड़ ७६·७ लाख व्यक्ति (आश्रितो सहित) गैरकृषि सम्बन्धी उत्पादन-कार्य से जीविका कमाते थे; २ करोड़ १३·१ लाख व्यक्ति व्यापार करते थे; ५६·२ लाख व्यक्ति यातायात कार्य में लगे थे; २ करोड़ ४६·५ लाख व्यक्ति सेवा-कार्य में लगे थे, या अन्य विविध कार्यों में लगे थे। इस प्रकार जहाँ भारत मे समस्त जनशक्ति के ७०% व्यक्ति कृषि कार्य में लगे हैं, उद्योगों में केवल १०·५५% जनसंख्या लगी है, व्यापार में ६% व्यक्ति लगे हैं, यातायात-कार्य में १·५% व्यक्ति लगे हैं और अन्य तथा विविध सेवाओं में १२% व्यक्ति लगे हैं।

उपर्युक्त विश्लेषण से पता चलता है कि भारत मे कृषि पर ही अत्यधिक दारोमदार है। इसीलिए कहा गया है कि भारतीय अर्थ-व्यवस्था वर्षा का जुआ है। उद्योग, व्यापार, वाणिज्य और यातायात आदि सब में मिलाकर जितने व्यक्ति लगे हैं उन सब की संख्या कृषि-कर्म मे लगे व्यक्तियों की संख्या की एक चौथाई है। इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय अर्थ व्यवस्था अत्यन्त असन्तुलित है।

अ-कृषक जनसंख्या का औद्योगिक कार्यों में वितरण (Distribution of the Non-Agricultural Population by Industrial Status)—१९५१ की जनगणना के अनुसार भारतीय जनसंख्या को गैर कृषि क्षेत्र में तीन वर्गों में विभाजित किया गया था—नियोजक (Employers), श्रमिक (Employees), और स्वतन्त्र

श्रमिक (अर्थात अपने कुटीर उद्योगों में लगे व्यक्ति)। समस्त ३ करोड २, ७ लाख गैर कृषि कर्म में लगी जनसंख्या में ११ लाख व्यक्ति उद्योगों में लगे थे १ करोड ४८ लाख व्यक्ति औद्योगिक नियोजक थे और १ करोड ६४ ७ लाख व्यक्ति स्वतन्त्र श्रमिक थे। चूकि हमारे कृषि क्षेत्र में भी और गैर कृषि क्षेत्र में भी अधिकतर व्यक्ति स्वतन्त्र कार्यों में रत हैं इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि देश में व्यापक बेरोजगारी फैली हुई है।

नगर बनाम देहात (Town *Vs* Country)—भारतीय राष्ट्र देहातों में रहता है। जो भी हो गत २० वर्ष के काल में जनसंख्या की प्रवृत्ति शहरीकरण की ओर रही है। १९५१ की जनगणना के अनुसार शहरी जनसंख्या १७ ३ प्रतिशत हो गई है। देहली बम्बई में एक तिहाई शहरी आबादी है तथा पश्चिमी बंगाल और मैसूर में एक चौथाई शहरी आबादी है। इसके विपरीत उडीसा आसाम और बिहार में अत्यन्त कम शहरी आबादी है।

जीवन अवधि की औसत (Average Expectation of Life)—सभी सभ्य देशों के मुकाबिले में भारत में जीवन औसत सब से कम है। १९५१ में अनुमान किया गया था कि मनुष्यों की औसत आयु ३२ ४५ वर्ष और स्त्रियों की ३१ ६६ वर्ष थी। इसकी तनिक अमरीका (६५ २० और ७० ५०) तथा इंग्लैंड और वेल्स (६६ ३९ और ७१ १५) के अनुक्रमिक अंकों के साथ तुलना कीजिए।

अभ्यास—भारतीय जनसंख्या के व्यावसायिक वितरण के आर्थिक महत्व का विवेचन कीजिए। (आगरा ५५ दिल्ली ५६ बम्बई ५७)

अथवा

भारतीय जनसंख्या के व्यावसायिक वितरण की परीक्षा कीजिए और बताइए कि यह वितरण भारत की गरीबी के लिए कहाँ तक उत्तरदायी है। अपने उत्तर के साथ आवश्यक आँकड़े भी दीजिए। (राजस्थान विश्वविद्यालय '५८)

Ex—Examine the economic significance of the occupational distribution of population in India (*Agra '55 Delhi 56 Bombay 57*)

Or

Examine the occupational distribution of population in India and explain its relationship with poverty in our country Give statistics in support of your answer (*Raj 58*)

ऊपर के अनुच्छेदों को पढ़िए। चूँकि भारतीय जनसंख्या का अधिकतर भाग कृषि पर अवलम्बित है, अतः हमारी जनसंख्या का अधिकांश भाग गाँवों में बसता है। कृषि के ऊपर अत्यधिक निर्भरता ही हमारी गरीबी का एकमात्र कारण है। विशेषकर इसलिए कि हमारे कृषि करने के तरीके पुराने हैं और हमारी कृषि वर्षा के ऊपर पूर्णतः आश्रित है।

प्रश्न १—भारत में जनसंख्या का घनत्व कहाँ तक भौगोलिक अंशों द्वारा निश्चित होता है ?

Q 1—How far is the density of population in India determined by geographical factors ?

जनसंख्या का घनत्व किसी एक अंश पर निर्भर नहीं करता प्रत्युत म अंशों पर आश्रित है। भारत में १९५१ की जनगणना के अनुसार औसत घनत्व र व्यक्ति प्रति वर्गमील था।

भारतीय जनसंख्या का घनत्व अधिकतर प्राकृतिक या भौगोलिक कारणों निर्भर है। भारतीय जनसंख्या अधिकतर उन्हीं स्थानों पर घनी है, जहाँ खेती व की सुविधा है।

कृषि के लिए अच्छी भूमि नितान्त आवश्यक है। इसीलिए, सिन्ध और का मैदान, पश्चिमी बंगाल की डेल्टा भूमि, मद्रास प्रान्त, पश्चिमी घाटों के बीच उपजाऊ भूमि बहुत अधिक जनसंख्या वाले इलाके हैं।

भूमि के सरूप (Configuration of land) पर भी जनसंख्या घनी किन्तु पहाड़ों पर उतनी घनी जनसंख्या नहीं है।

वर्षा का परिमाण कृषि पर निकट और सर्वाधिक प्रभाव डालता है। के असम प्रदेश को छोड़कर शेष सारे प्रदेशों में वही घनी जनसंख्या है जहाँ वर्षा अ होती है। और जहाँ-जहाँ वर्षा कम है वहाँ-वहाँ जनसंख्या भी छितरी हुई है।

सिंचाई के कृत्रिम साधनों का भी जनसंख्या के घनत्व पर प्रभाव पड़ा आन्ध्र प्रदेश, मद्रास, पंजाब और बीकानेर में जहाँ-जहाँ कृत्रिम सिंचाई के सा उपलब्ध हैं, वहाँ-वहाँ जनसंख्या घनी है।

हाल ही में कुछ ऐसे विकास दृष्टिगोचर हुए हैं जिनके आधार पर कहा सकता है कि जनसंख्या का घनत्व प्रत्यक्षतः कृषि की सुविधाओं से प्रभावित नहीं उद्योगों और वाणिज्य के विकास ने भी जनसंख्या के घनत्व को प्रभावित किया और अनेक बड़े नगरों को जन्म दिया है, जिनमें बहुत बड़ी जनसंख्या समाई हुई बम्बई, इलाहाबाद, कानपुर, नागपुर और दिल्ली की बढ़ी हुई जनसंख्या उद्योगों व वाणिज्य के विकास पर निर्भर है। अतः पूर्व काल में जहाँ जनसंख्या का प्रसार व वितरण कृषि और हल के पीछे-पीछे चलता था, अब वह उद्योगों और मशीनों अनुसरण करता है।

इसमें सन्देह नहीं कि काफी दिनों तक जनसंख्या के घनत्व पर भौगोलि प्रभावों का दबाव रहेगा, फिर भी अब ये प्रभाव गौण हो गए हैं; और इस स जनसंख्या का घनत्व मनुष्य द्वारा नियन्त्रित प्रभावों पर आधारित है।

अभ्यास १—क्या किसी देश की जनसंख्या के घनत्व और उसकी समृद्धि की समता बीच कोई सम्बन्ध है? समृद्धि की दृष्टि से भारतीय जनसंख्या और विदेशों की जनसंख्या के घनत्व तुलना कीजिए। (पंजाब १९५१-सप्लीमेंट

Ex. 1—Is there any connection between density of populat and the level of prosperity in a country? Compare the density *population in India with that in foreign countries.*
(Punjab 1951-Sup

किसी देश की आर्थिक प्रगति के लिए दो बातों की मुख्य आवश्यकता होती है। वे हैं उस देश के प्राकृतिक संसाधन और (ख) श्रम शक्ति। घनी जनसंख्या वाले देशों को श्रम शक्ति की सुविधा रहती ही है। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि घनी आबादी वाला देश आ

दृष्टि से समृद्ध होना चाहिए। किन्तु यह निष्कर्ष सही नहीं है। सत्य यह है कि यदि जनसख्या कम घनी होगी तो देश के प्राकृतिक संसाधनों पर कम लोगों का दबाव होगा और इस प्रकार लोग अधिक समृद्ध होंगे। इस आधार पर यह मानना होगा कि जिस देश की जनसख्या कम घनी होगी वह देश अधिक समृद्ध होगा। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि ऊपर के दोनों निष्कर्ष पूर्णत सत्य नहीं है। किसी देश के असंख्य अशिक्षित, अज्ञानी और रोगी व्यक्ति उस देश को समृद्ध नहीं बना सकते।

जनसंख्या की वृद्धि (Growth of Population)

प्रश्न २—गत ५० वर्षों की अवधि में भारत की जनसख्या की वृद्धि पर विचार कीजिए। इस विवेचना की दृष्टि से आपके विचार में भारतीय जनसख्या भविष्य में किस दिशा में गतिशील होगी? अपने निर्णयों का तथ्यों एव आंकडो द्वारा प्रतिपादन कीजिए।

Q 2—Review the growth of population in India during the last 50 years or so. What course, in the light of this review, do you expect Indian Population to follow in the future? Substantiate your conclusions with facts and figures.

जनसंख्या की वृद्धि—आंकडे (Growth of Population—Figures)—प्राचीन काल मे यूरोप के समान भारत की जनसख्या वर्तमान की अपेक्षा बहुत कम थी। १८८१ से पूर्व कोई नियमित जनगणना नही हुई और इसी वर्ष मे प्रथम जनगणना की गई थी। तब से लेकर प्रत्येक दस वर्ष बाद जनगणना की जाती है। निम्न तालिका से गत ५० वर्षों की जनगणना की वृद्धि की प्रवृत्ति प्रकट होती है —

वर्ष	भारत सघ की जनसख्या (जम्मू और कश्मीर रहित) (दस लाख में)	पूर्व जनगणना पर वृद्धि (+) या ह्रास (—) १० वर्षों में (दस लाख में)	प्रतिशत वृद्धि (+) या ह्रास (—)
१९०१	२३५ ५०	—	—
१९११	२४९ ०५	+१३ ५५	+५·८
१९२१	२४८ १८	—० ८७	—० ३५
१९३१	२७५·५२	+२७ ३४	+११ ०
१९४१	३१४ ८८	+३९·३६	+१४ ३
१९५१	३५६ ८३	+४१ ९५	+१३ ३

१९२१ तक अल्प एवं अनियमित वृद्धि (Small and Irregular Increase till 1921)—उपर्युक्त तालिका के चतुर्थ स्तम्भ पर दृष्टिपात करने मात्र से ही पता लग जाता है कि १९२१ तक वृद्धि नियमित नहीं थी बल्कि चचल (fitful) थी। इसके अतिरिक्त १९२१ तक, अर्थात् विचाराधीन प्रथम ५० वर्षों की अवधि मे वृद्धि की दर भी कोई खास ऊँची नही थी। प्रत्युत अन्य देशो की अपेक्षा भारतीय जनसख्या की वृद्धि कही लघु थी। १८८१ से १९२१ तक इगलैण्ड और वेल्स की

जनसंख्या में उसी अवधि में ७७ प्रतिशत वृद्धि के विपरीत, भारत की जनसंख्या में स्थूल रूप में २१ प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस लघु और अस्थिर वृद्धि दर का स्पष्टीकरण निरन्तर होने वाले दुर्भिक्षों तथा महामारियों के कारण मानव-जीवन की महान् क्षति में सहज देखा जा सकता है। १९१९ की इन्फ्लुएंजा महामारी में अनुमानतः २ करोड़ २० लाख व्यक्तियों की भारत में मृत्यु हुई।

१९२१ के बाद तीव्र वृद्धि (Rapid Increase after 1921)—उपर्युक्त तालिका का उत्तर-भाग अत्यधिक चिन्ताजनक अवस्था उत्पन्न करता है। फलस्वरूप गत तीस वर्षों में जनसंख्या में निरन्तर और अत्यधिक तीव्रतापूर्वक वृद्धि हुई है। वस्तुत, १९३१ से १९४१ तक जनसंख्या में जो वृद्धि हुई वह इंगलैण्ड और वेल्स की कुल जनसंख्या से अधिक है। जनसंख्या-वृद्धि की यह दर अत्यधिक चिन्ताजनक है, विशेषकर भारत जैसे देश में जहाँ आर्थिक प्रगति का कार्य प्राय: निश्चल अवस्था में हो।

भावी प्रवृत्ति—वृद्धि की उच्च दर के हेतु-अंश (Future Trend-Factors Causing High Rates of Increase)—जनसंख्या की वृद्धि जन्म-दर और मृत्यु-दर के बीच सम्बन्धों पर निर्भर करती है। भारत में जन्म-दर विश्व के अधिकांश उन्नत देशों के मुकाबिले में अपेक्षाकृत अधिक है। जब तक जनसंख्या में वृद्धि के कारण बने रहेंगे तब तक उसकी दर में न्यूनता नहीं होगी।

वे कारण निम्नलिखित हैं—

(i) भारत में विवाह-पद्धति व्यापक है अर्थात्, विवाह योग्य आयु के सब स्त्री-पुरुष विवाहित हैं। इस प्रकार गर्भधारण करने योग्य (१५—४४ वर्ष की आयु तक) ७६% स्त्रियाँ विवाहित हैं। पश्चिमी देशों में ऐसी स्थिति नहीं है, जैसे, इंगलैंड में, ३५ वर्ष की आयु वाली स्त्रियों का ⅓ भाग अविवाहित है। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि यहाँ की आबादी इतनी अधिक है।

(ii) छोटी आयु में विवाह की प्रथा भारत में तीव्रतापूर्वक जनसंख्या-वृद्धि का एक अन्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कारण है। इससे पुनरुत्पादनशीलता के लिए दीर्घकाल मिल जाता है।

(iii) भीषण गरीबी का प्रभाव भी उच्चतर जन्म-दर की दिशा में कार्य करता है। गरीब आदमी अपने परिवार की अभिवृद्धि का स्वागत करता है; क्योंकि वह आशा करता है कि उसके पुत्र छोटी आयु में कार्यारम्भ करके उसके परिवार के उपार्जनों में वृद्धि करेंगे।

(iv) इनके अतिरिक्त अन्य अनेक कारण जनसंख्या की वृद्धि की दिशा में क्रियाशील हैं, जैसे—उष्ण जलवायु, जो कन्याओं को अल्पायु में रजस्वला बनाता है; संयुक्त परिवार प्रणाली जो बच्चे पैदा करने में विवेकहीनता को जन्म देती है; बहुविवाह की प्रथा और ऐसी सामाजिक व्यवस्थाओं की विद्यमानता, जो समाज में स्त्रियों की हीनावस्था का कारण है।

(v) इसके उपरान्त परिवार नियोजन के विषय में जागरूकता का सर्वथा अभाव है। सर्वसाधारण को गर्भ-निरोध के उपायों का बिलकुल ज्ञान नहीं है।

इन सब अशो के क्रियाशील होने का स्पष्ट परिणाम यह है कि भारत में जन्म-दर अत्यधिक उच्च है। भारत सरकार का साख्यिकीय साराश १९५१ के लिए २७ प्रति हजार मृत्यु-दर के विपरीत ४० प्रति हजार जन्म दर उपस्थित करता है।

जन्म दर और मृत्यु-दर के अतिरिक्त अन्य कुछ ऐसे अश भी हैं जो जनसख्या में अधिक वृद्धि की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। वे ये हैं—जनसख्या का आयु और यौन सम्बन्धी निर्माण तथा प्रजनन काल में स्त्रियों की उर्वरता। अधिकाश पश्चिमी देशों में बच्चा जनने योग्य आयु की स्त्रियों का अनुपात शेष जनसख्या के मुकाबिले में घट रहा है। इसलिए उन देशों की जनसख्या में न्यूनता होगी। इसके विपरीत भारत में यह अनुपात वृद्धि की दिशा में है।

हमारी विशुद्ध पुनरुत्पादन दर भी एक अन्य उल्लेखनीय सूचनाक है, जो हमारी जनसख्या की तीव्र उन्नतशील प्रवृत्ति को निश्चित रूप से प्रगट करता है। भारत के लिए इसकी गणना १.३० की गई है, अर्थात्, १,००० स्त्रियाँ १,३०० स्त्रियाँ छोड जाती हैं। मैसूर राज्य की सग्रहीत सख्या के अनुसार विशुद्ध पुनरुत्पादन दर १.२८२ है, अर्थात्, १,००० स्त्रियाँ १,२८२ स्त्रियाँ छोड जाती हैं। यह जनसख्या वृद्धि की दर निश्चय ही अत्युच्च है। तनिक तुलना कीजिए कि इगलैंड और फ्रास की विशुद्ध पुनरुत्पादन दरें क्रमश ७५३ और ९१० कितनी कम हैं।

यह नितान्त सम्भव है कि कुछ समय तक जनसख्या की वृद्धि निरन्तर जारी रहे। ऐसा निम्नलिखित कारणों से सम्भव हो सकता है (क) अधिक कन्याओं की उत्पत्ति और प्रजनन एव जच्चा-बच्चा सम्बन्धी सेवाओं की वृद्धि से कन्याओं की सख्या में वृद्धि, (ख) कन्याओं की वैवाहिक आयु सीमा में वृद्धि करके विधवाओं की सख्या कम कर दी जाए या पुरुष जनसख्या की मृत्यु-दर में कमी हो जाए, (ग) बहु विवाह की प्रथा का अन्त, (घ) विधवा विवाह का प्रचलन और परित्यक्ता स्त्रियों का विवाह और इस प्रकार मध्यम वर्ग की स्त्रियों में देर से विवाह करने की प्रवृत्ति को उलटकर उन्हे अधिक बच्चे उत्पन्न करने की सुविधा का प्रदान करना।

सम्भव है यह कहा जाए कि भारत में उच्च मृत्यु दर की जगह उच्च जन्म दर ले लेती है। किन्तु सरकार का सार्वजनिक स्वास्थ्य आन्दोलन मृत्यु दर को कम कर रहा है। उदाहरणार्थ, जब कि १९३८ में यह २३.७ थी वह १९५१ में १४.४ तक न्यून हो गयी है। इन तरह रहन सहन तथा काम की दशा में सुधार, पौष्टिक स्तर के बढने, शुद्ध जल की सप्लाई, स्वच्छता के अन्य उपायों को अपनाने, खेल कूद तथा मनोरजन के साधनों की वृद्धि तथा निरोधक और औपचारिक स्वास्थ्य सेवाओं को अपनाने आदि से मृत्यु-दर की और अधिक गिरने की आशा है। जब यह हो जाएगा, तो भारत की जनसख्या में ५० लाख के बजाय ८० लाख प्रति वर्ष के हिसाब से वृद्धि होगी।

जन्म दर घटाने वाली शक्तियाँ (Forces reducing the Birth rate)—निष्कर्ष से पूर्व हम उन अशो पर भी विचार कर सकते हैं जो जन्म-दर को न्यून करने की दिशा में कार्य कर रहे हैं। वे इस प्रकार हैं—औद्योगीकरण और फलस्वरूप जनसख्या का शहरीकरण, विवाह करने की आयु को बढाना, मध्य-वर्ग में गर्भ-निरोध

के उपायों की लोकप्रियता में वृद्धि, स्त्रियों का रोजगारों में अधिकाधिक नियोजन और उनके सामाजिक स्तर में उन्नति। वस्तुत: इन अंशों के फलस्वरूप, प्राय: गत दशक में जन्म-दर ने न्यूनता की दिशा में साधारण-सी प्रगति की है। जो भी हो, अभी भी जन्म-दर काफी ऊँची है।

निष्कर्ष—किन्तु सब अंशों के प्रभावों पर विचार करते हुए जो जनसंख्या-वृद्धि में वृद्धि और निरोध—दोनों के लिए कार्य कर रहे हैं, इस निष्कर्ष को रोकना असम्भव जान पड़ता है कि विद्यमान अवस्था-समूह जनसंख्या के निरन्तर उत्कर्ष के लिए अनुकूल हैं, और सम्भवत: वर्तमान की अपेक्षा जो कि पहले ही ऊँचा है, हमको और अधिक जनसंख्या में वृद्धि का भय है।

हमारा निष्कर्ष, १९५१ के जनगणना आयुक्त की उस रिपोर्ट के द्वारा भी समर्थित है जो नवम्बर, १९५३ में प्रकाशित हुई थी। उक्त रिपोर्ट के अनुसार हमारी जनसंख्या जो १९५१ में ३६ करोड़ थी, १९६१ में ४१ करोड़, १९७१ में ४६ करोड़ और १९८१ में ५२ करोड़ हो जाएगी।

अभ्यास—पिछले ३० वर्षों में भारत की जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि के क्या कारण रहे? इस वृद्धि के परिणामस्वरूप देश में उत्पन्न आर्थिक समस्याओं के निराकरण के लिए क्या उपाय अपनाए जा रहे हैं? (लखनऊ वि० वि० १९५३)

Ex.—What are the causes of the rapid growth of population in India during the last three decades? What steps are being taken to tackle the economic problem arising from this growth?

(Lucknow 1953)

जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि के कारणों के लिए भी ऊपर के प्रश्न के उत्तर को देखिए। नियोजित आर्थिक विकास का मार्ग अपनाया जा रहा है जिससे तत्सम्बन्धी समस्याओं का समाधान होगा। जनसंख्या में वृद्धि को रोकने के लिए परिवार नियोजन की योजना को लोकप्रिय बनाया जा रहा है।

भारत की अत्यधिक जनसंख्या सम्बन्धी समस्या

(Problem of India's Over-Population)

प्रश्न ३—भारत के आर्थिक साधन स्रोतों को देखते हुए, भारत की जनसंख्या सम्बन्धी समस्या पर विचार कीजिए।

आवश्यकता से अधिक जनसंख्या (Over-Population) से आप क्या समझते हैं? क्या भारत की जनसंख्या आवश्यकता से अधिक है?

(दिल्ली १९५८, आगरा १९५४)

इस समस्या के निराकरण के लिए आप किन उपायों का समर्थन करते हैं?

(दिल्ली १९५२, लखनऊ १९५७)

Q 3—Discuss the population problem of India in relation to the Country's physical resources.

What are the indications of over-population? Judging by these indications, is India over-populated? *(Delhi '58, Agra '54).*

What remedies would you suggest to solve the problem?

(Delhi 1952; Lucknow 1957)

अभी हाल ही तक यह विवादास्पद प्रश्न था कि क्या भारत का जनसंख्या का आकार उस स्तर तक जा पहुँचा है जहाँ कि उसके बारे में यह कहा जा सके कि वह अनुकूलतम संख्या को पार कर गया है। किन्तु अब सम्भवतः कोई भी इस विचार का नहीं कि अभी तक अनुकूलतम आकार को पार नहीं किया गया। हमारी जनता की भीषण गरीबी, व्यापक विवाह की प्रथा जिसके पीछे बच्चों का विनाशकारी प्रवाह चलता है, और रोग तथा मृत्यु का उच्च क्रम स्पष्टतया प्रकट करते हैं कि हमारे यहाँ अति-जनसंख्या है।

तनिक और आगे बढ़ें और तथ्यों तथा अंकों को इस विचार की परिपुष्टि के लिए उपस्थित करें। माल्टस (Malthus) की दृष्टि से किसी देश में अति जनसंख्या तब होती है जब खाद्य की पूर्ति की अपेक्षा जनसंख्या का विस्तार अधिक गति से होता है। इस परीक्षण को लागू करने से इस बात में तनिक संदेह नहीं रह जाता कि हमारे यहाँ अति जनसंख्या है क्योंकि हमारा देश कृषि-प्रधान ही नहीं, खाद्य-प्रधान देश है और फिर भी हमारे यहाँ भोजन की कमी है। हमारे देश में जनता के लिए खाद्य की अपर्याप्तता सर्वविदित है और उसके समर्थन के लिए आँकड़े उपस्थित करने की आवश्यकता नहीं। भारत की जनसंख्या सम्बन्धी समस्या १६२१ के बाद प्रकट हुई। उस वर्ष से पूर्व हमारी जनसंख्या के लिए भोजन पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न होता था, किन्तु १६२१ के बाद भोजन के उत्पादन की मात्रा में कमी होती गई और जनसंख्या तेजी से बढ़ती गई। १६२१-५१ के बीच की अवधि में संख्या में ४४% वृद्धि हुई है (२,४८० लाख से ३,५६० लाख) लेकिन कृषि क्षेत्र में केवल ५% वृद्धि हुई है। इन वर्षों में खाद्य समस्या बिगड़ती गई है और भोजन तथा जन-संख्या वृद्धि की दौड़ में खाद्य-समस्या पिछड़ गई है।

इस प्रकार, हमारे यहाँ न केवल अति-जनसंख्या है प्रत्युत जो अधिक शोचनीय है वह यह कि अति जनसंख्या की सीमा में अधिक विस्तार की प्रबल प्रवृत्ति है। ज्यों-ज्यों दिन बीतते जा रहे हैं, उच्च जन्म-दर इस समस्या को अधिकाधिक जटिल और संकटापन्न बना रही है। मृत्यु-दर, यद्यपि पर्याप्त उच्च है घट रही है और सरकार की सार्वजनिक स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यवाहियाँ उसे और अधिक घटा रही हैं, जिससे जन्म-दर और मृत्यु दर के बीच की खाई चौड़ी हो रही है और परिणामस्वरूप जन-संख्या की अभिवृद्धि होगी।

औपचारिक उपाय (Remedial Measures)—हमारे यहाँ सम्पत्ति-उत्पादन में वृद्धि की सम्भाव्यताएँ महान् और अनेक रूपों की हैं। कृषि विषयक उन्नत विधियों को अपनाने, सिंचाई सम्बन्धी सुविधाओं की व्यवस्था और भूमि प्रणालियों के सुधार जैसे उपायों द्वारा कृषि के आधार-मूलक पुनस्संगठन से कृषि सम्बन्धी उत्पादन का आकार दोगुना तक बढ़ सकता है।

समुचित आयोजन और उचित राजकोषीय तथा अन्य राज्य नीतियों के द्वारा औद्योगिक उत्पादन में बृहद् और गतिशील वृद्धि करना कठिन नहीं होगा। उद्योगी-करण शहरीकरण में वृद्धि करता है। शहरीकरण जन्म दर को न्यून करने में अत्य-धिक महत्वपूर्ण भाग लेता है।

सम्पत्ति-उत्पादन में वृद्धि के कारण जीवन यापन-स्तर की उन्नति को जनसंख्या वृद्धि के अनुपात के अवरोध का प्रमुख साधन स्वीकार किया गया है।

शहरीकरण और सामान्य आर्थिक उन्नति के फलस्वरूप जनसंख्या-वृद्धि की दर में न्यूनता स्वतः भारत में भारी जनसंख्या वृद्धि का सन्तोषप्रद समाधान करने के लिए पर्याप्त नहीं होगी। ऐसी दशा में, इस दर को मन्द करने के लक्ष्यरूप प्रभावपूर्ण कार्यवाहियाँ इस समस्या के निराकरण की दिशा में सफलता की मूल हैं। इस उद्देश्य की कार्यवाहियों से जन्म-दर में न्यूनता होगी। इस सम्बन्ध में इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सर्वाधिक प्रभावकारी निम्न दो उपाय हो सकते हैं—विवाह की आयु को बड़ा किया जाए और विवाह के बाद परिवार के आकार को परिमित किया जाए।

विवाह सम्बन्धी आयु में विलम्ब (The Postponement of the Age of Marriage)—दो उपायों द्वारा जन्म-दर में न्यूनता की जा सकती है। इससे प्रभावी प्रजनन अवधि में न्यूनता होगी और इसके अलावा, प्रजनन की दृष्टि से सर्वाधिक उर्वर अवधि भी कम हो जाएगी।

इससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण परिवार नियोजन है, अर्थात्, परिवारों के आकार की परिमितता। पश्चिमी देशों में संख्या को न्यून बनाए रखने के लिए यह मुख्य अस्त्र है। देश भर में परिवार नियोजन के उपचार-गृहों का जाल-सा बिछा देना होगा, जहाँ गर्भ-निरोधी उपायों तथा गर्भ-नियन्त्रण की विधियों पर शिक्षा दी जा सके। परिवार नियोजन के सम्बन्ध में निम्न अभ्यास ४ देखिए।

शिक्षा का प्रसार और सामान्य जागरुकता भी लोगों में अपेक्षाकृत लघु परिवारों की इच्छा उत्पन्न कर सकेगी।

जनसंख्या-सम्बन्धी स्थिति के उपर्युक्त विश्लेषण और सम्भावित औपचारिक उपायों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि देशव्यापी परिवार-नियोजन आवश्यक होगा तो भी इसके सुनिश्चित परिणाम एक पीढ़ी के बाद ही दृष्टिगोचर होंगे। इसलिए परिवार-नियोजन के साथ ही-साथ उत्पादन और आर्थिक विकास पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए।

अभ्यास १—"दीर्घकालीन आर्थिक विकास की दृष्टि से भारतीय अर्थ-व्यवस्था जड़ी की तरह है, और यह देश की बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताओं के लिए नितान्त अपूर्ण रही है।"

क्या आप उपर्युक्त कथन से सहमत हैं? अपने उत्तर की पुष्टि में तथ्य उपस्थित कीजिए।

(आगरा १९५८)

अथवा

"भारत में आर्थिक विकास देश की बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताओं को पूरा नहीं करता।" (उत्कल वि० वि० १९५७)

Ex 1—Viewed over a long period, the Indian Economy has been more or less stagnant; and has failed to meet the demands of a rapidly growing population.

Do you agree with the above statement? Give your reasons for your answer *(Agra 1958)*

Or

Economic development is not keeping pace with the increasing population in India (*Utkal University 1957*)

हमारा कृषि सम्बन्धी विकास प्राय रुक रहा है। यद्यपि हमारी जनसंख्या में बहुत वृद्धि हुई है, किन्तु कृषि योग्य भूमि के क्षेत्रफल में उतनी वृद्धि नहीं हुई है। हमारा औद्योगिक विकास भी अत्यधिक धीमा है। अतः यह कथन पूर्ण सत्य है कि भारतीय आर्थिक विकास में सन्तोषजनक उन्नति नहीं हुई है जबकि हमारी जनसंख्या में वृद्धि अत्यधिक तीव्र रही है। (विशेष अध्ययन के लिए ऊपर के प्रश्न ३ के उत्तर को देखिए)

अभ्यास २—भारत की वर्तमान जनसंख्या सम्बन्धी समस्या का विशद रूप प्रकट करें। आपके विश्लेषण की दृष्टि से देश की जनसंख्या सम्बन्धी नीति क्या होनी चाहिए?

(मद्रास १९५३)

Ex 2—Bring out clearly the correct nature of the present population problem of India In light of your analysis what should be the proper population policy for the country? (*Madras 1953*)

अथवा

आपकी राय में भारतीय जनसंख्या सम्बन्धी समस्या के हल में मुख्य कठिनाई क्या है?

(आगरा १९५६)

'यदि आर्थिक विकास अभीष्ट है तो आर्थिक नियोजन से पहले जनसंख्या का नियोजन अधिक आवश्यक है। जनसंख्या की वृद्धि के नियन्त्रण के लिए पहले जन्मदर को नियन्त्रित करना होगा।" उपर्युक्त वक्तव्य के प्रकाश में भारत के लिए उचित जनसंख्या नीति क्या होनी चाहिए?

(पंजाब १९५५)

Economic Planning must begin with population planning to bear results The corner stone of any scheme of population planning consists in measures aimed at reducing the rates of increase Discuss and outline a suitable population policy for India (*Punjab 1955*)

भारतीय जनसंख्या सम्बन्धी समस्या की रूपरेखा द्विमुखी है। प्रथमतः, इसका आकार बहुत भारी है, उसका आर्थिक विकास की वर्तमान दशा की अपेक्षा अत्यधिक है अर्थात् ४० करोड़ अथवा, दूसरे शब्दों में अमरीका से अढ़ाई गुना और कैनेडा से २५ गुना और ये दोनों इसके आकार से तीन गुना है। यह अनुकूलतम बिन्दु से भी कहीं अधिक है। ऐसी दशा में जीवन यापन स्तर में इतनी न्यूनता होना आश्चर्यप्रद नहीं है।

द्वितीयतः यह और भी ज्यादा चिन्ताजनक है कि वर्तमान जनसंख्या में प्रति वर्ष बड़ा भारी वृद्धि होती जा रही है। १९३१ से १९४१ के दस वर्षों में ५ करोड़ और १९४१ से १९५१ तक के दस वर्षों में ४ करोड़ २० लाख की वृद्धि हुई, उस दशाब्दि में भीषण बंगाल-दुर्भिक्ष भी पड़ा, जिसमें ३५ लाख व्यक्तियों की मृत्यु हुई। इसे अधिक स्पष्ट करते हुए हम देखते हैं कि हमारी जनसंख्या में प्रति दस वर्ष की स्वतः वृद्धि दर जर्मनी या रूस के सिवा किसी भी यूरोपीय देश की जनसंख्या की अपेक्षा कहीं बड़ी है। वस्तुतः यही विशुद्ध वृद्धि समस्या उत्पन्न करती है, क्योंकि यह हमारे अति न्यून जीवन यापन स्तर को उन्नत करने के सारे प्रयत्नों को शून्य कर देती है।

समुचित जनसंख्या नीति भी द्विमुखी होनी चाहिए। प्रथमतः, उसका लक्ष्य तत्काल आर्थिक विकास होना चाहिए किन्तु इससे यह समस्या केवल आंशिक रूप में सरल होगी और इसका निराकरण नहीं होगा। जन्मदर में उल्लेखनीय न्यूनता ही इसका आधारभूत अंग होना चाहिए। इसमें सफलता प्राप्ति के लिए परिवार नियोजन सर्वोत्तम विधि है।

जनसंख्या की योजना का उद्देश्य केवल गुणन दर का नियन्त्रण ही नहीं होना चाहिए प्रत्युत जनसंख्या-सम्बन्धी प्रमाण-विषयक उन्नति भी इसमें शामिल होनी चाहिए। जातीय उन्नति के लिए मानव जाति विज्ञान का भी प्रसार करना होगा।

जनसंख्या सम्बन्धी समस्या के एक अन्य अंश, अर्थात् मृत्यु-दर पर भी कुछ विचार करना चाहिए। वर्तमान उच्च मृत्यु दर के फलस्वरूप मानव-शक्ति का इतना महान् क्षय होता है कि इसे न्यून करने के लिए निश्चित उपाय होना चाहिए। मृत्यु दर में कमी लाने से हमारी जनसंख्या स्थिर हो जाएगी और उसकी वृद्धि पर अंकुश लग जाएगा।

अभ्यास ३—भारत में आर्थिक योजना की सफलता की दृष्टि से जनसंख्या नीति की परम आवश्यकता के सम्बन्ध में विवेचन कीजिए।

(बम्बई १९५२ तथा जम्मू एवं काश्मीर वि० वि० १९५८)

Ex. 3—Discuss the need for a population policy in the context of India's Economic development.

(Bombay 1952, Jammu and Kashmir, Univ. 1958)

भारत की विशाल जनसंख्या और वार्षिक वृद्धि भारतीय आर्थिक व्यवस्था की मूल समस्या है। जिस योजना के अन्तर्गत इस समस्या को सही तरीके से समझ कर उसे सुलझाने का प्रयत्न नहीं किया जाएगा वह बिलकुल प्रभावहीन रहेगी। भारत के सबसे मुख्य क्षेत्र कृषि को ही लीजिए। इसकी मूल कमजोरी है जनसंख्या का निरन्तर बढ़ता हुआ दबाव। जनसंख्या की समस्या हल होने से यह दबाव कम हो जाएगा। देश में बेरोजगारी भी तो बढ़ती हुई आबादी का प्रतीक मात्र है। जब तक देश में अतिरिक्त जन-शक्ति का प्राचुर्य है, तब तक नवीकरण का उद्योग के क्षेत्र में विरोध ही होता रहेगा।

इसके अलावा उत्पादन में होने वाली वृद्धि बढ़ती हुई आबादी के कारण प्रभावहीन हो जाएगी। आबादी की मौजूदा वृद्धि की गति से प्रथम योजना के अन्त तक २२० लाख व्यक्तियों की वृद्धि होगी (यह संख्या कनाडा राज्य की आबादी का दुगुना है)। इसलिए, इस वृद्धि को रोकना नितान्त आवश्यक है। अतः यह स्पष्ट है कि जब तक हम सन्तोषजनक जनसंख्या सम्बन्धी नीति का आश्रय नहीं लेंगे, तब तक आर्थिक नियोजन से इच्छित लाभ प्राप्त नहीं होंगे।

अभ्यास ४—भारत में परिवार नियोजन क्यों अत्यावश्यक है? इसके मार्ग में जो मुख्य कठिनाइयाँ हैं, उनका उल्लेख करें, और उन्हें दूर करने के उपाय बताइए। (पंजाब १९५७)

Ex 4—Why is Family Planning essential in India? Mention the main difficulties in its way and suggest measures to remove them.

(Punjab 1957)

परिवार नियोजन या आयोजित पितृत्व का आशय यह है कि परिवार विषयक परिमितता या बच्चों की संख्या के विषय में जागरूकता हो। दूसरे शब्दों में इसका आशय इच्छानुसार बच्चे पैदा करना है, और अनावश्यक नहीं। इसके लिए जन्मनिरोध की कोई उचित विधि अपनानी होगी। पाश्चात्य देशों में यह चिरकाल से उनकी जनता के जीवन का अंग बन चुका है। इसके महत्त्व का डा० जलियन हक्सले सरीखे महान् विचारक ने भी समर्थन किया है।

भारत में हमने तो अब तक भी इस पर विचार नहीं किया था, किन्तु अब तो सिर पर आ पड़ी है। वह दिन दूर नहीं जब कि इसे राष्ट्रीय स्तर पर अपनाया जाएगा। इसे स्वास्थ्य, सामाजिक और आर्थिक दृष्टियों से ग्रहण करना अत्यावश्यक है। उन पर संक्षेपतः हम विचार करेंगे।

स्वास्थ्य सुधार विशेषतः माताओं और बच्चों के स्वास्थ्य की दिशा में अत्यावश्यक चरण है। नवजात शिशुओं और माताओं की उच्च मृत्यु दर शिशु जन्मों की निरंतरता एवं दुरवस्था का प्रत्यक्ष परिणाम है। इसलिए, माता के अच्छे स्वास्थ्य के लिए और बच्चों के बेहतर पालन-पोषण के लिए परिवार-नियोजन आवश्यक तथा उचित है। यह एक बड़ा भारी सामाजिक लाभ होगा।

इस समस्या के समर्थन में आर्थिक आधार तो इनसे भी अधिक सबल हैं। देश की जनसख्या पूर्वत: बड़े भारी आकार के बावजूद तेजी के साथ बढ़ रही है। उद्योगीकरण और कृषि-विषयक विज्ञान हमारी जनसंख्या सम्बन्धी समस्या की चुनौती के लिए पर्याप्त उपाय नहीं है क्योंकि सम्पत्ति-उत्पादन की वृद्धि को नित नए पैदा होने वाले बच्चे खा जाएंगे। उदाहरणार्थ, इस बात का अनुमान किया गया है कि जनसख्या का वार्षिक अतिरिक्त वृद्धि के लिए प्रति वर्ष ५ लाख टन अतिरिक्त खाद्यान्नों की आवश्यकता होगी।

काफी समय से जन्म दर की वृद्धि के बिना भी जनसख्या की वृद्धि हुई है। सरकार द्वारा जन-स्वास्थ्य के उपायों (जैसे अमरीका की सहायता से आरम्भ किया गया मलेरिया निरोधक उपाय) से मृत्यु-दर कम होना और इस तरह प्राकृतिक रूप से जीवन बढ़ जाना जरूरी है। इसलिए परिवार नियोजन द्वारा *जन्म-दर को घटाना जरूरी है।*

कठिनाइयाँ (Difficulties)—जो भी हो इसे शीघ्र एवं राष्ट्रीय आधार पर ग्रहण करने के लिए कहना तो सहज है, किन्तु करना बहुत कठिन है। सर्वप्रथम सबसे भीषण कठिनाई इसके विरुद्ध सामान्य धार्मिक पक्षपात है। परिवार नियोजन हमारी संस्कृति और परम्पराओं के विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त हमारी "कर्म" सिद्धान्त की मान्यता हमको परिवार के आकार के प्रति उदासीन बना देती है। इसलिए विद्यमान पक्षपात से संघर्ष करना तथा जनता को परिवार नियोजन वृत्ति के लिए *तैयार करना आवश्यक है।*

फिर, जन्म निरोध की ऐसी कोई विधि नहीं, जो व्यापक स्वीकृति योग्य हो, सहज सुबोध हो, प्रभावकारी और सुरक्षित हो और इससे भी अधिक समाज के निर्धन वर्गों की क्षमता के अन्तर्गत हो। हमारी जनता इतनी निर्धन है कि वह रासायनिक और यांत्रिक गर्भ निरोध का व्यय भार नहीं उठा सकती। अमरीका के विशेषज्ञ डा० अब्राहम स्टोन को भारत सरकार ने विशेष रूप से इस आशय से आमंत्रित किया था कि वह ऐसी उपयुक्त, सरल और सस्ती विधि की तजवीज करें कि जिसे जनता सहज ही अपना सके। उन्होंने "सुरक्षित-काल" (Safe period) की विधि की तजवीज की थी, जिसके लिए किसी प्रकार की यान्त्रिकता या रासायनिकता की आवश्यकता नहीं, प्रत्युत स्त्री में प्रति मास "सुरक्षित-काल" की विद्यमानता पर आधारित है, और उस काल में गर्भाधान का भय नहीं होता।

तीसरे, वित्त साधन का प्रश्न है। देश भर में परिवार नियोजन सम्बन्धी चिकित्सालयों को आरम्भ करने और गर्भ-निरोधी पदार्थों के वितरण में सहायता के लिए बड़े बड़े कोषों की आवश्यकता होगी।

इस सम्बन्ध में एक सुझाव यह दिया जा सकता है कि परिवार नियोजन को सरकारी अस्पतालों, सार्वजनिक स्वास्थ्य संस्थाओं, प्रसूति गृहों और शिशु कल्याण-केन्द्रों की सेवा का एक भाग बना देना चाहिए।

अन्त, हमारे देश की स्त्रियों का अज्ञान इस दिशा में बड़ा भारी बाधा है। हम माता को गर्भ निरोध वस्तु और छुपी हुई सूचनाएँ नहीं सौंप सकते। परिवार-नियोजन केन्द्रों में क्रियात्मक प्रदर्शन इस कठिनाई को थोड़ा हल कर सकते हैं।

परिवार नियोजन ग्रहण न करने में इतना बड़ा जोखिम है कि उस पर विजय पाने के लिए निश्चित उपाय होना चाहिए। यह वस्तुत: प्रसन्नता की बात है कि भारत सरकार ने अपने निश्चय की घोषणा करते हुए प्रकट किया है कि वह इसे लोकप्रिय बनाने की भरसक चेष्टा करेगी। वस्तुतः, विश्व भर में भारत ही पहला देश है, जिसने सरकारी स्तर पर परिवार-नियोजन को ग्रहण किया है। तद्नुसार प्रथम पंचवर्षीय योजना में परिवार-नियोजन के प्रोग्राम के लिए ६५ लाख रु० रखा गया था। इस प्रोग्राम के निम्नलिखित उद्देश्य हैं—(१) जिन कारणों से भारत में अत्यधिक जनसख्या वृद्धि हो

रही है, उनमें सर्वसाधारण को अवगत कराना ; (२) परिवार-नियोजन सम्बन्धी उचित उपायों की जानकारी प्राप्त करना और उन उपायों का सर्वसाधारण में प्रचार करना; और (३) सरकारी अस्पतालों, सार्वजनिक स्वास्थ्य-केन्द्रों आदि में परिवार-नियोजन सम्बन्धी सेवाएँ चालू करना। इससे सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं का अध्ययन करने के लिए कमेटियों की नियुक्ति के अतिरिक्त, "सुरक्षित-काल" की विधि को लोकप्रिय करने के लिए कुछ एक नमूने के केन्द्र जारी किए गए हैं।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में शुरू में परिवार-नियोजन का मुख्य आशय इसके लिए जनमत तैयार करना और मौजूदा जानकारी के आधार पर परिवार-नियोजन का कार्य आरम्भ करना था। लेकिन अब इस दिशा में स्थिति का सुधार होने से काफी विकास हुआ है, और अब "द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत इसका विकास करने का कोशिश है"। इस कार्य की पूर्ति के लिए ५ करोड़ रु० का प्रबन्ध किया गया है। द्वितीय योजना के काल में ३०० नागरिक तथा २,००० ग्रामीण परिवार-नियोजन केन्द्र खोल जाएँगे। केन्द्र में केन्द्रीय परिवार नियोजन आयोग की स्थापना की गई है, जो परिवार-नियोजन के कार्यक्रम का निर्देशन करेगा। प्रायः प्रत्येक राज्य में परिवार-नियोजन आयोग कार्य कर रहे हैं। बम्बई, मैसूर और कलकत्ता आदि कई जगहों पर परिवार नियोजन सम्बन्धी प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई है। प्रादेशिक परिवार-नियोजन केन्द्रों को चलाने के लिए भी सरकारी अनुदानों की व्यवस्था की जा रही है। समाचारपत्रों, फिल्मों, विज्ञापनों और पोस्टरों के द्वारा जनमत को परिवार-नियोजन की ओर आकर्षित किया जा रहा है जिससे सर्वसाधारण को इस दिशा में प्रशिक्षित किया जा सके। गर्भ निरोधक सामग्रियों की परख हो रही है और उचित एवं प्रभावकारी गर्भ-निरोधक सामग्रियों का प्रचार किया जा रहा है।

अभ्यास ५—देश की कृषि सम्बन्धी गतिविधि के आधार पर भारत में जनसंख्या वृद्धि की समस्या का निरूपण कीजिए।　　(बम्बई १९५५)

Ex. 5 – Discuss the growth of population in India in the context of our agricultural activity.　　(*Bombay 1955*)

१९२१ तथा ५१ के बीच जनसंख्या में ४४% वृद्धि हुई। लेकिन कृषि-क्षेत्र में कुल ५% विस्तार हुआ (उपर्युक्त प्रश्न ३ का उत्तर देखिए)। आबादी तथा कृषि-क्षेत्र की असमानता की पूर्ति जमीन से अधिक पैदावार करके दूर की गई। लेकिन यह बात माननी पड़ेगी कि कृषि-उत्पादन, विशेष रूप से खाद्यान्न का उत्पादन आबादी की तुलना में बहुत कम हुआ। इस प्रकार पिछली शताब्दी के अन्त में जो ४०-५० लाख का खाद्यान्न का आधिक्य था वह इस शताब्दी के मध्य में आकर भारी कमी में बदल गया। लेकिन १९५०-५१ से प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत इस कमी को दूर करने का प्रयास किया गया जिसके फलस्वरूप खाद्यान्न का उत्पादन अधिक हो गया है। इस स्थिति को बनाए रखने के लिए एक ओर तो खाद्यान्न के उत्पादन पर बल देना होगा और उसे बढ़ाना होगा तथा दूसरी ओर परिवार नियोजन जैसे उपायों द्वारा आबादी की वृद्धि को रोकना होगा।

अन्ध विश्वासों पर स्थिरता और सचाल उत्सवों (संस्कारों) के कारण न केवल भारी राष्ट्रीय क्षति हुई है, प्रत्युत पुरागामी तत्वों को अधिक बल मिला है ।

'कर्मवाद' म विश्वास के कारण लाग भाग्यवादी बन गए ह । इससे उनके आर्थिक उद्देश्य और उनकी प्रेरणा शक्ति नष्ट हो जाती है ।

जो भी हो, शिक्षा के विस्तार और यातायात एव परिवहन के विकास के साथ इन संस्थाओं का बन्धन क्षीण हो रहा है और उनके प्रभाव घट रहे ह । इतने पर भी उनके सवथा लोप होने में तो अभी बहुत समय लगेगा और तब तक य प्रथाए और संस्थाएँ देश की आर्थिक उन्नति म बाधक बनी रहगी ।

अध्याय ४

कृषि-उत्पादन

(Agricultural Production)

प्राकृतिक और मानवी साधनों का अध्ययन करने के बाद अब हम देश के लाखों लोगों के मुख्य व्यवसाय कृषि का अध्ययन करेंगे। ऐसा करते समय हमें यह समझ लेना चाहिए कि देश के आर्थिक जीवन मे कृषि का ठीक-ठीक क्या स्थान है, और कैसे वह उसकी अर्थ-नीति को प्रभावित करती है।

प्रश्न १—भारत के आर्थिक जीवन में कृषि के महत्त्व और उसकी प्रतिष्ठा को उचित उदाहरणों की सहायता से स्पष्ट करें। (लखनऊ वि० वि० १९५५)

Q 1—Carefully explain with the aid of suitable illustrations th importance and significance of agriculture in the economic life o India . (*Lucknow 1955*

यह सर्वविदित है कि अत्यधिक प्राचीन काल से भारत में लोगों का प्रमुख व्यवसाय कृषि रहा है, और जब कि प्राय अन्य सभी देशों में कृषि का महत्त्व पर्याप्त रूप मे कम हो गया है, हमारे देश में यह प्रबल बना हुआ है जैसा कि निम्न आंकडो से स्पष्ट है।

(१) १९५१ की जनगणना के अनुसार, २४ करोड ९१ लाख जनता (श्रमिक और उनके आश्रित) अथवा कुल जनसंख्या का ७० प्रतिशत प्रत्यक्षत. कृषि मे लगे हुए थे।

(२) देश के वार्षिक कुल सम्पत्ति-उत्पादन में कृषि का अंशदान लगभग आधा है। १९५६-५७ में यह अंशदान ४८ ६% था।

(३) कृषि से ही देश की जनसंख्या को भोजन मिलता है। विदेशो से केवल ५% प्रतिशत खाद्यान्नो की आवश्यकताएँ प्राप्त करनी होती हैं।

(४) कृषि न केवल जनसंख्या को ही अन्न देती है, प्रत्युत देश के निर्माणकारी उद्योगो को भी कच्चे पदार्थ प्रदान करती है। सूती वस्त्र जूट और खांड सरीखे उद्योग कृषि द्वारा उत्पादित कच्चे पदार्थों के मिलने के कारण विकसित हुए।

(५) कृषि-विषयक कच्चे पदार्थों ही से देश के आंतरिक और बाहरी दोनों व्यापारों का निर्माण होता है। हमारी निर्यात की मदो में जूट, चाय, कपास, मसाले तिलहन, तम्बाकू का प्रमुख स्थान है।

(६) सरकार का वित्त-सम्बन्धी ढांचा भी अधिकांशत. कृषि पर आधारित है।

(७) कृषि की सामाजिक और राजनीतिक प्रतिष्ठा भी पर्याप्त है। कृषि एक खुली हवा का व्यवसाय है और फलस्वरूप किसान मेहनती और आत्म-निर्भर

वर्ग के लोग हैं और वे राज्य की केन्द्रीय शक्ति हैं। वही वर्ग देश की रक्षा के लिए सैनिक प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त कृषक जनसख्या का, अपने स्थिर दृष्टिकोण और विचारो के साथ, समाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों म महान् प्रभाव है।

इस तरह तनिक भी सन्देह नही रह जाता कि भारत म कृषि भारतीय आर्थिक प्रणाली का केन्द्रीय राष्ट्रीय उद्योग है।

जो भी हो, हमने ऊपर जो कृषि के सर्वोपरि महत्त्व का अध्ययन किया है, वह अत्यधिक गम्भीर त्रुटि है। यही हमारे देश की निर्धनता तथा आर्थिक अस्थिरता के लिए जिम्मेदार है, क्योकि हमारे कृषि के तरीके बहुत ही पिछडे हुए हैं।

प्रश्न २—भारत की मुख्य कृषि फसलो का उल्लेख कीजिए। उनका महत्त्व स्पष्ट कीजिए और उनमें से प्रत्येक का क्षेत्रीय विभाजन प्रकट कीजिए।

Q 2—Give an account of the principal Agricultural Crops of India Explain their importance and indicate the regional distribution of each of them

भारत म कृषि-उत्पादन के दो असाधारण रूप म हैं—(१) अनेक प्रकार की फसलें (२) खाद्येतर फसलों की अपेक्षा खाद्य फसलों का अति आधिक्य। अयनवृत्त, उप-अयनवृत्त या समशीतोष्ण क्षेत्र की शायद ही कोई फसल हो जो देश के किसी न किसी भाग में नही बोई जाती। देश के बोय जाने वाले कुल भूमि क्षेत्र के लगभग ⅘ भाग पर खाद्य फसलें उगायी जाती हैं।

(क) खाद्य-फसलें (Food Crops)

चावल (Rice)—यह अनेक दृष्टियो से भारत की प्रमुख फसल है। यह अच्छे पानी वाले, नीची भूमि के अयनवृत्त सम्बन्धी क्षेत्रो म उत्पन्न होता है। १९५८-५९ में, चावल अधीन क्षेत्र ८१६ लाख एकड था, और कुल उत्पादन २९७ लाख टन हुआ था। चावल उत्पन्न करने वाले मुख्य प्रदेश क्रम स य हैं—बिहार, पश्चिमी बगाल, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, उडीसा और आन्ध्र प्रदेश।

बर्मा के भारत से अलग हो जाने के बाद से भारत म पर्याप्त चावल नही होता, इसलिए भारतीय जनसख्या की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विदेशों से चावल आयात करना पड रहा है।

गेहूँ (Wheat)—यह द्वितीय महत्त्वपूर्ण फसल है और पजाब तथा उत्तर प्रदेश का प्रधान खाद्य है। भोजन की दृष्टि से यह चावल से अधिक पौष्टिक है। १९५७-५८ में २९७ लाख एकड भूमि से ७७ लाख टन गेहूँ उत्पादन करने का अनुमान था। प्रति एकड प्राप्ति की दृष्टि से एक राज्य से दूसरे राज्य म बडी भारी भिन्नता है—बिहार में यह प्राप्ति ८८२ पौंड प्रति एकड है पजाब म ७२८ पौंड और हैदराबाद में २३१ पौंड।

मोटे अन्न (Millets—ज्वार, बाजरा और रागी)—य घटिया किस्म के मोटे अन्न हैं और फलत निर्धन लोगो के खाद्य हैं। १९५७ ५८ में ज्वार अधीन क्षेत्र ४१४ लाख एकड था, बाजरे का २४७ लाख और रागी का ५९ लाख एकड था।

और इनका उत्पादन क्रमश ८०·६ लाख, ३५·७ लाख और १९·२ लाख टन हुआ।

मक्की (Maize)—यह उत्तर भारत में गरीब वर्गों के लिए एक अन्य महत्त्वपूर्ण खाद्यान्न है और इसका डंठल चारे के काम आता है। १९५७-५८ में यह ९७·६ लाख एकड़ों में बोया गया, जिससे ३०·६ लाख टन का उत्पादन हुआ। इसके मुख्य उत्पादन क्षेत्र उत्तर प्रदेश और पजाब हैं।

दालें (Pulses)—ये देश भर में बहुतायत के साथ उत्पन्न की जाती हैं और लोगों की खुराक सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ हैं, विशेषत: इसलिए कि बहुत बड़ी जनसंख्या शाकाहारी है। १९५७-५८ में (चने के अतिरिक्त) ३२२ लाख एकड़ जमीन पर दालों की खेती होती थी और उत्पादन ४५ लाख टन था।

चना (Gram)—यह प्रमुख दाल है और उत्तर प्रदेश, पंजाब, मध्य प्रदेश और राजस्थान में मुख्यत: उत्पन्न होता है। १९५७-५८ में चना २२४ लाख एकड़ों में बोया गया था और इसका कुल उत्पादन ४७·५ लाख टन हुआ था।

दालों का चारा सम्बन्धी भी बहुत महत्त्व है। यह उनके फसलों सम्बन्धी वैज्ञानिक क्रम के महत्त्व से अतिरिक्त है, क्योंकि उनसे भूमि समृद्ध होती है।

जौ (Barley)—यह खाद्य फसल की अपेक्षा अधिक नकदी की फसल है क्योंकि इसका बियर (एक प्रकार की शराब) बनाने में उपयोग किया जाता है। इसके मुख्य उत्पादन-क्षेत्र हैं—उत्तर प्रदेश, और राजस्थान। जौ उत्पन्न करने वाले कुल एकड़ क्षेत्र का ⅔ इन प्रदेशों में है। १९५७-५८ में जौ ७५ लाख एकड़ में बोया गया था और इसका उत्पादन २२ लाख टन हुआ था।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में खाद्यान्न में काफी वृद्धि हुई है। खाद्यान्न की पैदावार १९५०-५१ में ४१७ लाख टन से बढ़कर १९५५-५६ में ५४६ लाख टन हुई। जहाँ १९५०-५१ में दालों और चने का उत्पादन ८३ लाख टन था, १९५५-५६ में वही १०२ लाख टन हो गया। इस प्रकार प्रथम पचवर्षीय योजना-काल में जहाँ १९५०-५१ में कुल खाद्यान्न उत्पादन ५०० लाख टन के लगभग था, वहाँ १९५५-५६ में बढ़कर ६४९ लाख टन हो गया। इस प्रकार प्रथम योजना-काल में खाद्यान्न के उत्पादन में प्राय ३०% की वृद्धि हुई।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना-काल में भी आशा की जाती है कि खाद्यान्न के उत्पादन में उन्नति होगी। आशा करनी चाहिए कि १९६०-६१ तक देश में खाद्यान्न का उत्पादन ७५० लाख टन तक होने लगेगा। द्वितीय योजना-काल में इस प्रकार १०० लाख टन अधिक खाद्यान्न उत्पन्न होने लगेगा। यह वृद्धि अनुमानतः १५% होगी। द्वितीय योजना का पुनरीक्षित खाद्यान्न सम्बन्धी लक्ष्य ८०५ लाख टन का उत्पादन है।

गन्ना (Sugarcane)—भारत में गन्ने का क्षेत्रफल संसार में सबसे बड़ा है। यह किसान की नकदी फसलों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। १९५७-५८ में देश में गन्ने की फसल ५० लाख एकड़ों में बोयी गयी थी। उत्तर प्रदेश, पंजाब और बिहार गन्ना-उत्पादन के मुख्य क्षेत्र हैं; पंजाब और पश्चिमी बंगाल में भी महत्त्वपूर्ण उत्पादन होता है। देश में गन्ना-अधीन कुल क्षेत्र का ६०% भाग से अधिक केवल उत्तर प्रदेश में है।

पंजाब और बिहार में से प्रत्येक में १०% गन्ना क्षेत्र हैं। इनके अतिरिक्त बम्बई, आन्ध्र प्रदेश और मैसूर में भी गन्ने की फसल होती है।

(ख) खाद्येतर रेशेदार फसलें
(B) Non Food Crops Fibres

कपास (Cotton)—यह मुख्य रेशेदार फसल है और विश्व में कपास उत्पन्न करने वाले देशों में भारत का स्थान तीसरा है, जिनमें अमरीका सबसे पहला है और रूस का दूसरा नम्बर है।

कपास विभिन्न प्रकार की जलवायु में उत्पन्न होती है यह बम्बई के रूक्ष और पश्चिमी बंगाल के नमदार दोनों क्षेत्रों में पैदा होती है। दक्षिण की चिपचिपी काली भूमि इसकी कृषि के लिए आदर्श है। भारत में बम्बई राज्य, कपास के उत्पादन की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है, यहाँ देश के समस्त कपास के उत्पादन का ५०% से अधिक उत्पन्न होता है। मैसूर मध्य प्रदेश और पंजाब में भी पर्याप्त मात्रा में कपास का उत्पादन होता है। इन प्रदेशों में सारे देश की कपास के उत्पादन का प्राय २०% कपास उत्पन्न होती है।

अभी कुछ दिनों पूर्व तक अधिकांश भारतीय कपास छोटे रेशे की होती थी, जो केवल मोटा वस्त्र बनाने के लिए उपयुक्त है। विभाजन के कारण हमारे कपास-उत्पादन पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा है। इसके फलस्वरूप न केवल आन्तरिक आवश्यकताओं के लिए कुल उत्पादन ही अपर्याप्त है प्रत्युत अब अपनी मिलों को चालू रखने के लिए विदेशों से आयात की बड़ी भारी आवश्यकता हो गई है।

जूट (Jute—पटसन)—दूसरी महत्त्वपूर्ण रेशेदार फसल जूट है, जिसे उसके रंग और उच्च नकद मूल्य के कारण 'सुनहरी तार' कहते हैं। अविभाजित भारत में इसके उत्पादन में विश्व एकाधिकार प्राप्त था।

पश्चिमी बंगाल, आसाम, बिहार और उड़ीसा इसके मुख्य उत्पादन-क्षेत्र हैं। कुल फसल का आधा अकेले पश्चिमी बंगाल में होता है और आसाम तथा बिहार प्रत्येक में २०% पटसन उत्पन्न होता है।

१९४८-४९ में कुल क्षेत्र ७,६६,००० एकड़ था और प्राप्ति लगभग २० लाख गाँठें थी, जो हमारे जूट-उद्योग की आवश्यकताओं के लिए सर्वथा अपर्याप्त है। अधिक जूट उत्पन्न करने के यत्न किए गए हैं और किए जा रहे हैं। निम्न आँकड़ों से भारत सरकार के पटसन सम्बन्धी उद्योग और प्रयत्नों की सफलता को आँका जा सकता है। ट्रावनकोर, मैसूर और उत्तर प्रदेश में जूट की कृषि के प्रयोगों के परिणाम अच्छे दिखाई दिए हैं। जहाँ विभाजन के वर्ष में भारतीय संघ में केवल १७ लाख गाँठें उत्पन्न हुई थी वहाँ १९५१-५२ में ४६ लाख गाँठें उत्पन्न की गईं। १९५८-५९ में लगभग ५१.८ लाख गाँठें उत्पन्न की गई और १८.३ लाख एकड़ भूमि में पटसन का उत्पादन हुआ। प्रति एकड़ उत्पादन में वृद्धि के अतिरिक्त माल की क्वालिटी सुधारने के ...

अन्य खाद्येतर फसलें (Other Non-food Crops)

तिलहन (Oilseeds)—भारत में अनेक प्रकार के तिलहन पैदा होते हैं, जैसे मूंगफली, अलसी, तरे और रेंडी। पहले इनका मुख्यतः निर्यात किया जाता था, यद्यपि वनस्पति घी, साबुन, चिकनाई के तेल आदि बनाने के लिए आन्तरिक माँग में वृद्धि हो रही है।

मूंगफली (Groundnut)—तिलहनों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। १९५८-५९ में मूंगफली के अधीन प्राय १४५ लाख एकड़ भूमि थी और इसका उत्पादन प्रायः ४८ लाख टन था। यह मुख्यत. बम्बई, आन्ध्र प्रदेश, मद्रास, मैसूर और उत्तर प्रदेश में पैदा होती है। इन प्रदेशों मे सारे उत्पादन का ५०% उत्पन्न होता है। अलसी मुख्यत मध्य प्रदेश, बम्बई, राजस्थान और बिहार में उत्पन्न होती है। तरे (rape) और सरसों के तिलहन उत्तरी भारत में मुख्यत. पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में पैदा होते हैं।

तम्बाकू (Tobacco)—इसे भारत मे सर्वप्रथम पुर्तगालियों ने प्रचलित किया था। वर्त्तमान में, उत्पादन की दृष्टि से अमरीका और चीन के बाद भारत का तृतीय स्थान है। जितना तम्बाकू पैदा होता है, उसका अधिकांश आन्तरिक रूप में खप जाता है। अधिकांश भारतीय तम्बाकू की पत्ती मोटी है और फलस्वरूप सिगरेट बनाने के काम नही आ सकती। तम्बाकू के सम्बन्ध में हमारी समस्या उत्पादन बढ़ाने की नहीं है बल्कि उसकी क्वालिटी सुधारने की है। अब तम्बाकू की बढ़िया पत्ती उगाने के विषय में खोज हो रही है, जिससे हमारे यहाँ सिगरेट-उद्योग का विकास हो सके।

तम्बाकू की वार्षिक खेती दस लाख एकड भूमि पर होती है। कुल उत्पादन का आधा भाग आंध्र मे होता है। इसके बाद बम्बई, मद्रास तथा बिहार का नाम आता है। १९५०-५१ में २.७७ लाख टन तम्बाकू का उत्पादन हुआ। १९५५-५६ में उत्पादन २.५६ लाख टन हो गया और १९५६-५७ में तीन लाख टन हुआ। द्वितीय योजना में १९६०-६१ तक उत्पादन का लक्ष्य भी तीन लाख टन है। १९५७-५८ में अनायास ही तम्बाकू का उत्पादन गिर गया था।

नशीली वस्तुएं (Beverages)

चाय (Tea)—विश्व भर में, चीन के बाद, भारत में सबसे अधिक चाय का उत्पादन होता है। यदि केवल निर्यातों को ही लिया जाए, तो भारत का सर्वोपरि स्थान है। इसका तीन-चौथाई उत्पादन निर्यात किया जाता है।

देश भर के बोये जाने वाले क्षेत्र मे यद्यपि चाय १/२% पर भी नहीं बोयी जाती तथापि आसाम और पश्चिमी बंगाल की अर्थ-नीतियों और साथ ही देश के विदेशी व्यापार मे इसकी स्थिति, वस्तुत अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। यह भारतीय निर्यात व्यापार की सबसे बड़ी द्वितीय मद है। १९५७-५८ में १२० करोड़ रु० की चाय का निर्यात हुआ था। पिछले कई वर्षों से राजकोष को इस पर शुल्क द्वारा १० करोड़ रु० वार्षिक का लाभ हुआ है।

आसाम और पश्चिमी बंगाल चाय के मुख्य उत्पादन-क्षेत्र हैं। अन्य उत्पादन-क्षेत्र ये हैं—पंजाब (कांगड़ा घाटी), उत्तर प्रदेश (देहरादून), मद्रास और केरल।

१९५०-५१ में ६,०७० लाख पौंड से बढ़कर १९५५-५६ म ६ ४४० लाख पौंड चाय उत्पन्न हुई। द्वितीय योजना म यह मात्रा ७ ००० पौंड होगी अर्थात ६% अधिक।

कहवा (Coffee)—यह मैसूर और कुर्ग तथा मद्रास म नीलगिरि पर्वतो म पैदा होता है। १९५८ ५९ म कहवा अधीन क्षेत्र लगभग २ ५ लाख एकड़ है जिसम प्राय ४३,००० टन कहवा उत्पन्न हुआ। ब्राजील के सस्ते कहवा ने हमारे कहवा सम्बन्धी योरोपीय निर्यात पर विपरीत प्रभाव डाला है। वर्तमान में इसकी खपत को लोकप्रिय करने के यत्न हो रहे हैं और देश के बडे बडे नगरो में काफी हाउस खोले जा रहे हैं।

अन्य फसलें रबड़ (Other Crops Rubber)—यह मुख्यत दक्षिण भारत के केरल प्रदेश (७०%) मद्रास और मैसूर राज्यो म उत्पन्न होता है। पहले इसकी अधिकाश मात्रा को निर्यात कर दिया जाता था किन्तु १९३६ म मोटरा के टायर आदि बनाने के लिए कलकत्ता के निकट एक बडा भारी कारखाना खोला गया था। अब रबड का उत्पादन हमारी आन्तरिक आवश्यकताओ को भी पूरा नही करता। इसलिए रबड के उत्पादन म वृद्धि करने के प्रयत्न किए जा रहे हैं। १९५७ म २ ३८ लाख एकड भूमि पर रबड पैदा किया जाता था और २८ ००० टन कच्चा रबड उत्पन्न होता था। हमारी आन्तरिक मांग ३१,००० टन रबड की है।

मसाले (Spices)—यद्यपि मसाले बहुत थोडे क्षेत्रफल म उत्पन्न होते हैं तथापि भारत के दक्षिण पश्चिम तट के मैदानो की अर्थ व्यवस्था म इनका महत्वपूर्ण स्थान है। इन तटवर्ती मैदानो म इनका उत्पादन होता है। पिछले तीन वर्षों म इनसे २२ ६ करोड रुपया विदेशी विनिमय म प्राप्त हुआ था। इनम काली मिर्च सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

चारे की फसलें (Fodder Crops)—इस तथ्य के बावजूद कि देश की महान् पशु जनसख्या के लिए चारे की फसलें अत्यावश्यक हैं तिस पर भी उनके लिए अत्यधिक अपर्याप्त क्षेत्र है (कुल बोए जाने वाले क्षेत्र का कठिनाई से ४%)। ये फसलें मुख्यत पजाब, उत्तर प्रदेश और बम्बई में उत्पन्न होती हैं। कृषि विभाग ने राज्यो में बरसीम घास की कृषि को लोकप्रिय बनाया है जो अत्युत्तम चारा है।

अध्याय ५

भूमि की समस्याएँ

(Problems of Land)

कृषि में भूमि बुनियादी (आधारमूलक) अंश है। इसलिए यह सर्वथा उचित है कि हम देश के भूमि-साधनों और उनकी मुख्य समस्याओं के परीक्षण के साथ-साथ भारतीय कृषि का अध्ययन आरम्भ करें।

भूमि को उपयोग में लाना (Land Utilization)—इस बात की जान लेना बड़ा जरूरी है कि देश की कुल भूमि कितनी है तथा उसे कितने भिन्न कार्यों में उपयोग किया जाता है।

भूमि उपयोगिता आँकड़े (१९५६-५७) के अनुसार इस प्रकार हैं—

	अनुमानतः (करोड़ एकड़ में)
सारा भौगोलिक क्षेत्र	··· ८०.६३
वर्गीकृत क्षेत्र	··· ७१.९७
वन	··· १२.५४
(वह भूमि) जो कृषि-कार्यों के लिए उपलब्ध नहीं है	··· १२.५५
बिना काश्त वाली भूमि (उपजाऊ होने के लिए छोड़ी गई भूमि के अतिरिक्त)	··· ९.७०
उपजाऊ होने के लिए छोड़ी गई चालू भूमि	··· २.९४
उपर्युक्त के अतिरिक्त इस प्रकार की भूमि	··· २.९३
बोया गया शुद्ध क्षेत्र	··· ३२.०७
बोया गया क्षेत्र	··· ३६.६६

उपर्युक्त आँकड़ों से यह स्पष्ट है कि कुल ८०.६३ करोड़ एकड़ भूमि तथा वर्गीकृत ७१.९७ करोड़ एकड़ में से सिर्फ ३६.६६ करोड़ एकड़ भूमि पर खेती होती है। इसके अतिरिक्त पर्याप्त विस्तृत भूमिक्षेत्र कृषि-योग्य है लेकिन खेती न होने के कारण बेकार पड़ा है।

प्रश्न १—भारत में कृषि के क्षेत्रफल को विस्तृत करने की गुंजाइश पर विचार कीजिए।

अथवा

भारत में भूमि-सुधार और विकास के क्षेत्र पर विचार कीजिए।

Q 1—Discuss the scope of extending the area of cultivation in India.

Or

Discuss the scope of land reclamation and development in India.

कृषि योग्य परती भूमियों की सीमा और प्रकार (Extent and Kinds of Cultivable Waste Lands)—भारत में भूमि उपयोग के विवरण पर दृष्टिपात करते ही मालूम हो जाता है कि भारत में कुल भूमि का एक बहुत बड़ा अनुपात (१६ प्रतिशत) बेकार पड़ा है यद्यपि वह कृषि योग्य है।

भूमि सुधार का क्षेत्र और विधियाँ (Scope and Methods of Reclamation)—भूमि सुधार का कार्य सहज नहीं है। छोटे मोटे क्षेत्रों को जहाँ-तहाँ मिलाया जा सकता है किन्तु कृषि अधीन क्षेत्र में ठोस वृद्धि की किसी भी योजना के लिए भूमि-सुधार के कार्य को संगठित आधार पर करना होगा। केवल राज्य के आयोजन से ही इस बात की आशा की जा सकती है। इस दिशा में सर्वोपरि अत्यावश्यक चरण यह जान पड़ता है कि सब उपलब्ध भूमियों को उपयोगी बनाने के लिए शीघ्र ही भूमि की नाप जोख की जाए जिससे कि कृषि-योग्य क्षेत्रों की खोज हो सके और आवश्यक भूमि सुधार सम्बन्धी उपायों के अनुसार उनका वर्गीकरण किया जा सके।

(१) कृषि योग्य परती भूमियों का सुधार (Reclamation of Cultivable Wastes)—इनमें से अधिक से अधिक २ से २½ करोड़ एकड़ परती भूमि ऐसी होगी जिसे आर्थिक दृष्टि से कृषि अधीन बनाया जा सकेगा।

भूमि को खेती के योग्य बनाने का योजना व कार्यक्रम को तीव्र गति से चलाने की जरूरत है। जिन क्षेत्रों में भूमि को कृषि योग्य बनाने के लिए बहुत परिश्रम की आवश्यकता है वहाँ ऐसी भूमि को केन्द्रीय अथवा राज्य ट्रैक्टर संगठन को सौंप देना चाहिए। लेकिन जहाँ इस काम को छोटे औजारों अथवा ढोरों की मदद से ही किफायत से पूरा किया जा सके वहाँ जमीन को जमीन रहित अथवा कम जमीन वाले किसानों में बाँट देना चाहिए। उन्हें इस काम में राज्य की ओर से भी सहायता मिलनी चाहिए। लेकिन जिन गाँवों में कृषि योग्य छोटी जोत हो उन्हें सुधारने के लिए सरकार द्वारा नहरों और तकावी के रूप में सहायता मिलनी चाहिए। इस काम को पूरा करने के लिए उन्हें कुएँ बनाने के लिए सहायता अथवा ढोर खरीदने, औजार लाने खाद तथा बीज मोल लेने के लिए उधार का प्रबन्ध करना चाहिए और कुछ वर्षों के लिए इस प्रकार कृषि योग्य बनाई गई भूमियों पर कर (राजस्व) से मुक्ति होनी चाहिए। जहाँ मुख्य कठिनाई पानी की कमी है वहाँ सिंचाई का प्रबन्ध करना चाहिए। जिन क्षेत्रों में मलेरिया का भयंकर प्रकोप हो उन क्षेत्रों में भूमि को कृषि-योग्य बनाने से पूर्व मलेरिया की रोकथाम करने का काम ज्यादा जरूरी होगा।

(ख) जंगली घास फूस वाली भूमियों का सुधार (Reclamation of Weed-infested Lands)—तुलनात्मक दृष्टि से इस प्रकार की भूमियों को पुनः कृषि-योग्य बनाना अपेक्षाकृत सहज है। इनमें से अधिकांश भूमियाँ निश्चित वर्षा के क्षेत्रों में हैं और उनकी भूमियाँ बहुत अच्छी हैं। यदि अनुमानित एक करोड़ एकड़ों का सुधार किया जा सके, तो इससे देश के खाद्य-साधनों में ३० लाख टन की वार्षिक वृद्धि हो जाएगी।

(ग) ऊसर अथवा अलकतार वाली भूमियों को भी भूमि-सुधार की उचित कार्यवाहियों तथा भूमि संरक्षण द्वारा सुधारा जा सकता है।

सरकार के प्रस्तावित तथा प्रयोग में लाए गए उपाय (Steps taken and proposed by the Government)—सरकार ने भूमि-सुधार की दिशा में जो क्रियात्मक पग उठाया, वह था १९४७ मे अमरीकी सेना के त्यक्त २०० ट्रैक्टरों से केन्द्रीय ट्रैक्टर सघ की स्थापना करना । कुछेक राज्य-सरकारो ने भी अपने निजी ट्रैक्टर सघ स्थापित किए है । केन्द्रीय तथा राज्य ट्रैक्टर संघों ने अभी तक इन क्षेत्रो में मुख्यत भूमि-सुधार किया है । केन्द्रीय ट्रैक्टर सगठन ने जिन राज्यो मे लाखों एकड़ भूमि को कृषि-योग्य बनाया है, वे इस प्रकार है—मध्य प्रदेश, तत्कालीन मध्य भारत एव भोपाल और उत्तर प्रदेश म तराई भाबर (नैनीताल) ।

योजना-काल में भूमि-सुधार का कार्यक्रम (Programme of Reclamation During the Plan)—प्रथम पचवर्षीय योजना मे भी भूमि-सुधार और भूमि-विकास के लिए विस्तृत कार्यक्रम रखा गया था । २५ करोड और १० करोड रु० की दो राशियां राज्यो की और केन्द्रीय योजना मे लगभग ७४ लाख एकड भूमि-सुधार के लिए नियत की गई थी ।

केन्द्रीय ट्रैक्टर सगठन ने प्रथम पचवर्षीय योजना-काल में ११.८६ लाख एकड भूमि को कृषि योग्य बनाया, जब कि प्रथम योजना का तत्सम्बन्धी लक्ष्य केवल ११.१ लाख एकड भूमि-सुधार था जो इस प्रकार विभिन्न प्रदेशों मे वितरित था—३,६६,५६४ एकड भूमि मध्य प्रदेश, २,०८,२६७ एकड भूमि उत्तर प्रदेश; २,८६,६७४ एकड भूमि मध्य भारत और २,६८,१८७ एकड भूमि भोपाल ।

प्रथम पचवर्षीय योजना में ३० लाख एकड भूमि पर ढाल और पानी की व्यवस्था का भी आयोजन था । साथ ही ३४ लाख एकड़ भूमि पर भारी मशीनों के द्वारा कृषि करने की व्यवस्था का उपबन्ध किया गया था । द्वितीय योजना-काल मे आशा है कि १५ लाख एकड भूमि कृषि योग्य बनाई जाएगी और २० लाख एकड़ भूमि को सुधारा जाएगा ।

१९५७-५८ मे मध्य प्रदेश, आसाम और बिहार मे ६६,२४९ एकड काम और लम्बी घास से घिरी हुई भूमि को कृषि योग्य बनाया गया । इस प्रकार केन्द्रीय ट्रैक्टर सगठन ने सब मिलाकर प्राय १६ लाख एकड भूमि को (१९४८ से १९५७ तक) कृषि योग्य बनाया है । और केन्द्रीय ट्रैक्टर सगठन के जगलनाशक उपसगठन ने आसाम २,३८७ एकड जगली भूमि और मध्य प्रदेश मे ३६,८८८ एकड जंगली भूमि को कृषि योग्य बनाया ।

भूमि-सम्बन्धी समस्याएं (Problems of Soil)—उचित कृषि-कार्य की दृष्टि से भूमि-सम्बन्धी अनेक समस्याएं है । हमे इनका अध्ययन भी करना है ।

(१) उपजाऊपन में गिरावट (Declining Fertility)—सबसे पहली बात है जमीन की उत्तरोत्तर गिरती हुई उत्पादन-शक्ति । भूमि का उपजाऊपन बनाए रखने की समस्या के मूल में खाद तथा उर्वरक आदि का उपबन्ध करना है, जिससे जो कुछ हम फसलो के रूप मे प्राप्त करते हैं वह खाद के रूप मे पुन जमीन को प्राप्त हो जाए । खेती के क्षेत्र को ध्यान में रखते हुए रासायनिक खादों की खपत बहुत कम है । लेकिन कठिनाई यह है कि गोबर आदि के खाद का अधिकाश भाग बेकार चला

जाता है। गोबर के खाद का ४० % ही इस उपयोग म आता है, शेष को ईंधन के रूप में जलाया जाता है अथवा इकट्ठा करने के समय नष्ट हो जाता है। मूत्र आदि को बेकार जाने देते हैं। भारत मे पर्याप्त मात्रा म शहरी गन्दगी उपलब्ध होती है। इस किस्म का कूडा काफी उपयोग म आ सकता है। लेकिन गोबर आदि भारी मात्रा में जलाया जाता है। भूमि और पानी की भारी कमी होने के कारण हरी खाद के उपयोग करने की गुजाइश बडी सीमित है। गोबर की खाद को ईंधन के रूप म उपयोगी करने से रोककर ईंधन के लिए कोई अन्य प्रबन्ध करना चाहिए। हवा तथा वर्षा से होने वाली हानि से रक्षा के लिए खाद के गडडो का प्रचार करना चाहिए। मूत्र का भी उचित उपयोग करना चाहिए। गोबर आदि की खाद की ढुलाई का उचित प्रबन्ध भी जरूरी है। रासायनिक खादो के भी अधिकाधिक प्रचार करने की आवश्यकता है।

(२) भारतीय भूमि की शुष्कता (Dryness of the Indian Soil) -यह तो हम पहले ही देख चुके हैं कि भारतीय भूमि अपेक्षाकृत शुष्क है। इसलिए अपनी भूमि को सम्पन्न करने के लिए हम सिंचाई की सुविधाओं का उचित प्रबन्ध करना होगा।

(३) दलदल (Marshes)—कृषि योग्य बेकार भूमि के कुछ भाग हल के नीचे नहीं है। इसका कारण है उनका दलदल जैसा बन जाना। इन्हे खेती योग्य बनाने के लिए, नाली आदि के द्वारा पानी निकालने के उपायो को काम म लाना होगा।

(४) ऊसर भूमि—बहुत सी भूमि क्षार तथा लवण आदि के कारण खेती के अयोग्य हो गई है। य क्षार आदि फसलो के विकास म बाधक होत ह। इसलिए क्षार वाली भूमि के सुधार का कार्य शुरू करना चाहिए। एक उपाय तो यह है कि गहरा हल चलाया जाए जिससे क्षार आदि पलटकर जमीन के नीचे चल जाएँ। इसके अतिरिक्त जमीन की परत का ऊपरी भाग खुरचना, क्षार विरोधी वस्तुओं का प्रयोग, ऐसी फसलें लगाना जो क्षार आदि के आघात सह सके तथा समुद्र के जल स हानि की सम्भावना वाली भूमि की रक्षा के लिए पुश्ते बँधवाना।

(५) भूमि क्षय (Soil Erosion)—भूमि की ऊपरी परत पर स आँधी, वर्षा आदि के भीषण प्रकोप के कारण बहुत से उपजाऊ तत्त्व नष्ट हो जाते हैं और इस प्रकार उवरता का क्षय हो रहा है। इसी का नाम भूमि क्षय है। यदि इस भीषण रोग का मुकाबला नही किया गया, तो इससे भारतीय कृषि को भारी धक्का पहुँचेगा।

प्रश्न २—भूमि-क्षय क्या होता है ? इससे भारत में कृषि को कैसे हानि पहुँचती है ? इस समस्या के निराकरण के लिए आप किन उपायों को तजवीज करेंगे ?

Q 2—What is soil erosion ? How does it harm agriculture in India ? What measures do you suggest for tackling the problem ?

अर्थ (Meaning)—वर्षा अथवा बाढा के कारण भूमि की ऊपरी सतह क बह जाने को भूमि क्षय कहते हैं। इसी प्रकार भूमि की ऊपरी सतह प्रबल आँधियो द्वारा भी क्षय हो सकती है।

भूमि क्षय दो प्रकार का है—(क) पपडी कटाव, और (ख) नालियो या खड्डा

के रूप में कटाव। भूमि की ऊपरी सतह (पपड़ी) हटने को पपड़ी-कटाव कहते हैं; और जब वर्षा या बाढ़ों से समतल खेतों में नालियाँ या खड्डे हो जाते हैं तो उसे नाली-कटाव कहते हैं। उदाहरणार्थ, पंजाब के उप पहाड़ी जिला होशियारपुर में भूमि-कटाव तेज पहाड़ी नालों के कारण होता है, जिन्हें 'चोए' कहते हैं। ये भूमि की रासायनिक रूप में समृद्ध ऊपरी पपड़ी को बहा ले जाते हैं और उसकी जगह रेत छोड़ जाते हैं जिससे भूमि बाँझ हो जाती है।

कारण (Causes)—(१)— भूमि-कटाव का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण वनों का विध्वंस असम भूमियों, मरुस्थल-सीमान्तों तथा भूमि-कटाव योग्य अन्य-क्षेत्रों से हरियाली का विनाश है। हरियाली आँधी और पानी से भूमि की रक्षा करती है। किन्तु जब इस प्रकार की हरियाली नष्ट हो जाती है, तो रेतीली भूमि-सतहों पर वायु पूर्णतया प्रभावित हो जाती है और रेत उड़ने लगती है। इस प्रकार मरुस्थल के सीमान्त इलाकों के बड़े-बड़े क्षेत्र रेत-संग्रह के कारण अनुत्पादक बन जाते हैं। अधिकांशतः, इस विधि से राजस्थान का भारतीय मरुस्थल गत ५० वर्षों से लगभग आध मील प्रति वर्ष के हिसाब से फैलता जा रहा है और प्रतिवर्ष दिल्ली की दिशा में, लगभग ५० वर्गमील उपजाऊ भूमि को हड़प रहा है।

(२) पशुओं और विशेषतः भेड़ बकरियों के बेरोकटोक चरने के कारण भूमि की सतह नंगी हो जाती है और अधिक भूमि-कटाव प्रारम्भ हो जाता है।

(३) दोषपूर्ण भूमि उपयोग के चलनों का भी यही प्रभाव होता है, जैसे—बाँधों के प्रबन्ध बिना ढलानों पर हल चलाना। जब कभी वर्षा होती है अथवा प्रबल रूक्ष हवाएँ चलती हैं, तो भूमि-सतह नष्ट हो जाती है। तीन सदियों पहले, बीजापुर का जिला 'दक्षिण का सब्जा' कहलाता था, किन्तु आज वह भीषण दुर्भिक्ष-क्षेत्र है। इसका मुख्य कारण भूमि-कटाव है, जो हवा के कारण हुआ। उत्तर प्रदेश में कृषिगत क्षेत्र के लगभग १० लाख एकड़ प्रतिवर्ष वर्षाकालीन वायु से बंजर हो जाते हैं। वर्षाकाल में इस क्षेत्र में यदा-कदा हल चलाया जाता है, और इस प्रकार भारी वर्षा के जुलाई तथा अगस्त मासों में वर्षा-जल के प्रभाव से उस भूमि में क्षय प्रारम्भ हो जाता है।

सीमा (Extent)—भारत में भूमि-कटाव की सीमा का ज्ञान तो नहीं, किन्तु भूमि-कटाव क्षेत्र तथा उत्पादन में क्षति तो निश्चय ही अत्यधिक बड़ी होगी। अमरीका तक में, जहाँ कृषि-विधियों का उच्च विकास हो चुका है, भूमि कटाव से प्रति वर्ष लगभग ५ लाख एकड़ भूमि की हानि होती है। यह हानि उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल और पंजाब में विशेष रूप से गम्भीर है। कहा जाता है कि लगभग ८० लाख एकड़ भूमि उत्तर प्रदेश और पंजाब के विशेषतः उप-पहाड़ी जिलों में भूमि कटाव के कारण बेकार हो गई है। पंजाब के होशियारपुर जिले में 'चोओं' के कारण भूमि-कटाव से कृषिगत क्षेत्र का १/४ भाग कृषि कार्य के अयोग्य बन गया है। उत्तर प्रदेश में भी एक ज़िला है, जहाँ खड्डा वाली एक लाख एकड़ भूमि है और वहाँ एक हजार एकड़ भूमि प्रति वर्ष भूमि-कटाव के कारण नष्ट हो जाती है।

इससे होने वाली हानि—भूमि-कटाव से हुई क्षति मुख्यतः द्विमुखी है।

प्रथमावस्था म पोषक रसायन तत्वो के निरन्तर हटते रहने से भूमि की उत्पादन-शक्ति म बडी भारी कमी हो जाती है। ये तत्व सतह के ऊपरी भाग म कुछ इचो तक ही स्थिर रहते ह।

दूसरे, न केवल उर्वरता ही कम हो जाती है, प्रत्युत कृषि ग्रधीन क्षेत्र भी भूमि-कटाव के कारण क्रम से कम होता जाता है। खड्ड बनते रहने के कारण वह क्षेत्र कृषि के ग्रयोग्य हो जाता है।

ग्रौपचारिक उपाय (Remedial Action)—भूमि क्षय को दूर करने के लिए निम्न महत्त्वपूर्ण उपाय ग्रावश्यक हैं —

वैज्ञानिक वन-प्रबन्ध द्वारा वनोत्पादन और वनों का सरक्षण सर्वोपरि महत्त्व-पूर्ण उपाय है। पहाडी प्रदेशो पर पेड काटना रोका जाए ग्रौर एस ढलानो तथा खेतों के ग्रास पास के क्षेत्रो ग्रौर साथ ही कृषिगत भूमि पर ग्रधिक पेड उगाए जाएँ।

कतिपय क्षेत्रो में से होकर निकलने वाली नदियो के कारण वहा निरन्तर बाढें ग्राती रहती हैं। इस सम्बन्ध म बाढ के नियन्त्रण के उपाय करने की जिम्मेदारी सरकार पर है।

वनोत्पादन ग्रौर नियन्त्रित चरागाहो से बाढो को कम करने म बहुत समय लग जाएगा। इसलिए इससे पूर्व पहाडी नाला (चाग्रो) को कतिपय निर्मित मार्गों की राह बहाने का प्रबन्ध होना चाहिए। इस प्रकार, विपरीतावस्था म उनसे जो बुराई होगी, वह कम हो जाएगी।

किसाना को बाँधों के निर्माण के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए विशेषत उन स्थानो पर जहा ढलान हैं जिसम पानी को भूमि से मिट्टी बहाकर ले जाने से रोका जा सके ग्रौर वर्षा जल के सोखे जाने का विश्वास हो। खेतो के किनारो पर खाइयाँ भी खोदी जा सकती हैं ताकि भारी वर्षा का जल सग्रहीत किया जा सके।

सरकारी उपाय (Govt Measures)—प्रसन्नता की बात है कि केन्द्रीय ग्रौर राज्य सरकारें भूमि की इस समस्या के विषय म जागरूक हो गई है। कुछ राज्यो में गत कुछ वर्षों से भूमि कटाव को नियन्त्रित करने के उपाय किए जा रहे ह किन्तु ग्रभी तक राष्ट्रीय ग्राधार पर इस समस्या को हल नही किया गया है।

सिंचाई
(Irrigation)

ग्रब हम सिंचाई की समस्या पर विचार करेंगे। जैसा कि हम बता भी चुके हैं, भारतीय कृषि के लिए सिंचाई का बहुत ग्रधिक महत्त्व है। भारत में १३ ५६० लाख एकड फुट पानी के स्रोत ह जिनम से केवल ४,५०० लाख एकड फुट पानी का ही प्रयोग हो सकता है। ग्रब तक केवल ८८० लाख एकड फुट पानी का ही जो कि समस्त जल स्रोतो का केवल ६ ५% है ग्रौर प्रयोग योग्य जल स्रोत का केवल १९ ८% है प्रयोग हो रहा है। दोनो पचवर्षीय योजनाग्रो में जिन बहुद्देशी जल योजनाग्रो का प्रारम्भ किया गया है, उनके पूरा हो जाने पर समस्त जल स्रोत का ११% पानी प्रयोग म ग्रा न लगेगा।

के रूप में कटाव। भूमि की ऊपरी सतह (पपडी) हटने को पपडी-कटाव कहते हैं; और जब वर्षा या बाढ़ों से समतल खेतों में नालियाँ या खड्डे हो जाते हैं तो उसे नाली-कटाव कहते है। उदाहरणार्थ, पजाब के उप पहाडी जिला होशियारपुर म भूमि-कटाव तेज पहाडी नालो के कारण होता है, जिन्हे 'चोए' कहते हैं। ये भूमि की रासायनिक रूप मे समृद्ध ऊपरी पपडी को बहा ले जाते हैं और उसकी जगह रेत छोड़ जाते हैं जिससे भूमि बाँझ हो जाती है।

कारण (Causes)—(१)— भूमि-कटाव का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण वनो का विध्वस असम भूमियो, मरुस्थल-सीमान्तो तथा भूमि-कटाव योग्य अन्य-क्षेत्रों से हरियाली का विनाश है। हरियाली आँधी और पानी से भूमि की रक्षा करती है। किन्तु जब इस प्रकार की हरियाली नष्ट हो जाती है, तो रेतीली भूमि-सतहों पर वायु पूर्णतया प्रभावित हो जाती है और रेत उडने लगती है। इस प्रकार मरुस्थल के सीमान्त इलाको के बड़े-बड़े क्षेत्र रेत-सग्रह के कारण अनुत्पादक बन जाते हैं। अधिकाशत., इस विधि से राजस्थान का भारतीय मरुस्थल गत ५० वर्षों से लगभग आध मील प्रति वर्ष के हिसाब से फैलता जा रहा है और प्रतिवर्ष दिल्ली की दिशा में, लगभग ५० वर्गमील उपजाऊ भूमि को हड़प रहा है।

(२) पशुओ और विशेषत. भेड बकरियो के बेरोकटोक चरने के कारण भूमि की सतह नगी हो जाती है और अधिक भूमि-कटाव प्रारम्भ हो जाता है।

(३) दोषपूर्ण भूमि उपयोग के चलनों का भी यही प्रभाव होता है, जैसे—बाँधो के प्रबन्ध बिना ढलानो पर हल चलाना। जब कभी वर्षा होती है अथवा प्रबल रूक्ष हवाएँ चलती हैं, तो भूमि-सतह नष्ट हो जाती है। तीन सदियों पहले, बीजापुर का जिला 'दक्षिण का मक्का' कहलाता था; किन्तु आज वह भीषण दुर्भिक्ष-क्षेत्र है। इसका मुख्य कारण भूमि-कटाव है, जो हवा के कारण हुआ। उत्तर प्रदेश में कृषिगत क्षेत्र के लगभग १० लाख एकड प्रतिवर्ष वर्षाकालीन वायु से बजर हो जाते हैं। वर्षा-काल मे इस क्षेत्र मे यदा-कदा हल चलाया जाता है, और इस प्रकार भारी वर्षा के जुलाई तथा अगस्त मासो में वर्षा-जल के प्रभाव मे उस भूमि मे क्षय प्रारम्भ हो जाता है।

सीमा (Extent)—भारत में भूमि-कटाव की सीमा का ज्ञान तो नही, किन्तु भूमि-कटाव क्षेत्र तथा उत्पादन म क्षति तो निश्चय ही अत्यधिक बडी होगी। अमरीका तक में, जहाँ कृषि-विधियों का उच्च विकास हो चुका है, भूमि-कटाव से प्रति वर्ष लगभग ५ लाख एकड भूमि की हानि होती है। यह हानि उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बगाल और पजाब म विशेष रूप से गम्भीर है। कहा जाता है कि लगभग ८० लाख एकड भूमि उत्तर प्रदेश और पजाब के विशेषत उप-पहाडी जिलो मे भूमि-कटाव के कारण बेकार हो गई है। पजाब के होशियारपुर जिले में 'चोओं' के कारण भूमि-कटाव से कृषिगत क्षेत्र का ⅓ भाग कृषि कार्य के अयोग्य बन गया है। उत्तर प्रदेश में भी एक जिला है, जहाँ खड्डों वाली एक लाख एकड भूमि है और वहाँ एक हजार एकड़ भूमि प्रति वर्ष भूमि-कटाव के कारण नष्ट हो जाती है।

इससे होने वाली हानि—भूमि-कटाव से हुई क्षति मुख्यत. द्विमुखी है।

प्रथमावस्था म पोषक रसायन तत्त्वो के निरन्तर हटते रहने से भूमि की उत्पादन-शक्ति में बडी भारी कमी हो जाती है। ये तत्त्व सतह के ऊपरी भाग मे कुछ इचो तक ही स्थिर रहते ह।

दूसरे, न केवल उर्वरता ही कम हो जाती है प्रत्युत कृषि अधीन क्षत्र भी भूमि-कटाव के कारण कम से कम होता जाता है। खड्ड बनते रहने के कारण वह क्षेत्र कृषि के अयोग्य हो जाता है।

औपचारिक उपाय (Remedial Action)—भूमि क्षय को दूर करने के लिए निम्न महत्त्वपूर्ण उपाय आवश्यक हैं —

वैज्ञानिक वन-प्रब ध द्वारा वनोत्पादन और वनों का सरक्षण सर्वोपरि महत्त्वपूर्ण उपाय है। पहाडी प्रदेशो पर पेड काटना रोका जाए और ऐसे ढलानो तथा खेतों के आस-पास के क्षत्रो और साथ ही शुष्कित भमि पर अधिक पेड उगाए जाएँ।

कतिपय क्षेत्रो मे से होकर निकलने वाली नदियो के कारण वहा निरन्तर बाढें आती रहती हैं। इस सम्बन्ध मे बाढ के नियन्त्रण के उपाय करने की जिम्मेदारी सरकार पर है।

वनोत्पादन और नियन्त्रित चरागाहो से बाढो को कम करने म बहुत समय लग जाएगा। इसलिए इससे पूव पहाडी नाना (चाओ) को कतिपय निर्मित मार्गों की राह बहाने का प्रबन्ध होना चाहिए। इस प्रकार, विपरीतावस्था मे उनसे जो बुराई होगी, वह कम हो जाएगी।

किसानो को बाँधों के निर्माण के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए विशेषत उन स्थानो पर जहाँ ढलान हैं जिससे पानी को भूमि से मिट्टी बहाकर ले जाने से रोका जा सके और वर्षा जल के सोखे जाने का विश्वास हो। खेतो के किनारो पर खाइयाँ भी खोदी जा सकती हैं ताकि भारी वर्षा का जल सग्रहीत किया जा सके।

सरकारी उपाय (Govt Measures)—प्रसन्नता की बात है कि केन्द्रीय और राज्य सरकारें भमि की इस समस्या के विषय म जागरूक हो गई हैं। कुछ राज्यो में गत कुछ वर्षों से भूमि-कटाव को नियन्त्रित करने के उपाय किए जा रहे ह किन्तु अभी तक राष्ट्रीय आधार पर इस समस्या को हल नही किया गया है।

सिचाई
(Irrigation)

अब हम सिचाई की समस्या पर विचार करेंगे। जैसा कि हम बता भी चुके हैं, भारतीय कृषि के लिए सिचाई का बहुत अधिक महत्त्व है। भारत में १३,५६० लाख एकड फीट पानी के स्रोत है जिसम से केवल ४५०० लाख एकड फीट पानी का ही प्रयोग हो सकता है। अब तक केवल ८८० लाख एकड फीट पानी का ही जो कि समस्त जल स्रोतो का केवल ६ ५% है और प्रयोग योग्य जल स्रोत का केवल १९ ५% है प्रयोग हो रहा है। दोनो पचवर्षीय योजनाओ मे जिन बहुउद्देशी जल योजनाओ का प्रारम्भ किया गया है, उनके पूरा हो जाने पर समस्त जल स्रोत का ११% पानी प्रयोग में आने लगेगा।

प्रश्न ३—इस विचार की व्याख्या और परीक्षा कीजिए कि "जल सो
भी अधिक मूल्यवान है।" (पटना १९५७ सप्लीमे

अथवा

भारतीय अर्थ-व्यवस्था में सिचाई का क्या महत्त्व है ? (पटना १९

Q 3—Explain and examine the view that "Water is r
precious than gold" (*Patna 1957 Su*

Or

What is the importance of irrigation in the Indian Econo
life (*Patna 1.*

भारतीय भूमि की मुख्य विशेषता यह है कि वह रूक्ष है; और जब तक
पानी न दिया जाए, उससे अधिक प्राप्ति नहीं होती और देश के कई भागों में तो
प्राय. कुछ भी प्राप्ति नहीं होती। सर चार्ल्स ट्रैवेलियन (Sir Charles Trevely
ने इसी सम्बन्ध में टिप्पणी करते हुए कहा है, "भारत में सिंचाई ही सर्वस्व है; जल
से भी अधिक मूल्यवान है।" निम्न विचारो के आधार पर भारत मे सिचाई का म
प्रकट होता है—

इस देश में अनेक ऐसे भाग हैं जैसे राजस्थान और पंजाब के दक्षिणी
जहां सामान्य वर्षा भी फसलों के लिए अपर्याप्त है। इन भागों में केवल सिचा
बल पर ही फसलों का भरोसा हो सकता है। दक्षिण में वर्षा का अत्यधिक अ
और गलत विभाजन है। इस प्रकार, यदि कृषि करनी हो, तो ऐसे क्षेत्रों में भी सि
की आवश्यकता है। उत्तर प्रदेश, बिहार और उड़ीसा में पर्याप्त वर्षा होती है,
केवल तभी, जब वह सामान्य हो। फलतः दुर्भिक्षों के विरुद्ध सावधानी के तौर पर
क्षेत्रों में भी सिंचाई-प्रबन्ध होना चाहिए।

गन्ना और चावल जैसी कई फसलें हैं, जिन्हें न केवल पर्याप्त प्रत्युत निया
और नियन्त्रित जल-पूर्ति की आवश्यकता होती है और यह केवल कृत्रिम सिचाई
दे सकती है।

इसके अतिरिक्त, चूंकि भारत के अधिकांश भागों में ग्रीष्म ऋतु में ही
होती है, इसलिए शीतकाल की फसलें तभी उगाई जा सकती हैं जबकि शीतकाल
जल की व्यवस्था हो सके।

जनसंख्या-वृद्धि में वेगपूर्वक उन्नति के फलस्वरूप भूमि पर जनसंख्या के ब
हुए दबाव ने प्रस्तुत कृषि-योग्य बेकार भूमियों का सुधार करने की आवश्यकता
कर दी है। इनका सुधार केवल तभी हो सकता है जबकि उनके लिए जल की उ
व्यवस्था हो।

पहले से कृषि-अधीन क्षेत्रों से प्राप्ति में तभी वृद्धि की जा सकती है जबकि ज
पूर्ति की व्यवस्था हो। इसके अतिरिक्त, जहाँ सिचाई की व्यवस्था है, वहाँ कि
को अपनी कृषि के तरीकों को उन्नत करने का अपेक्षाकृत अधिक प्रलोभन होगा।

ज्योंही देश में सिंचाई की सुविधाओं का विस्तार होगा, त्योंही अनेक क्षे
में दुहरी फसलें उगाई जाने लगेंगी और परती भूमि से भी अधिक खाद और सिंच
के द्वारा फसलें प्राप्त होने लगेंगी।

सक्षेप म, सिंचाई ही एकमात्र साधन है, जिससे भारत मे भूमि की उत्पादन शीलता को उन्नत किया जा सकता है। यदि भूमि के उत्पादन मे वृद्धि और किसानो को नवीन नियोजन प्रदान करना अभीष्ट है तो सिंचाई देश की कायापलट कर सकती है। भारत मे कृषि की दृढता, विस्तार और समृद्धि के लिए सिंचाई ही एकमात्र साधन है।

प्रश्न ४—भारत में प्रचलित विभिन्न सिंचाई विधियो का सक्षेप में उल्लेख कीजिए और उनमें से प्रत्येक के दोष बताइए। (पंजाब १९५८)

Q 4—Give a brief account of the various methods of irrigation *practised in India, and point out their drawbacks* *(P U 1957)*

सिंचाई के साधन (Means of Irrigation)—भारत म मुख्यत प्रचलित सिंचाई के तीन साधन है—नहरें कुएँ, नलकूप तथा तालाब।

उपर्युक्त तीनो साधनो द्वारा सिंचित क्षेत्रफल १९५५ ५६ मे ५६२ लाख एकड था, जिसमे २३२ लाख एकड भूमि नहरो द्वारा सीची जाती थी १०६ लाख एकड भूमि तालाबो द्वारा सीची जाती थी और १६६ लाख एकड भूमि कुओ से सीची जाती थी। इसके अतिरिक्त ५५ लाख एकड भूमि अन्य साधनो द्वारा सीची जाती थी। इस प्रकार देश की १९% भूमि पर सिंचाई की सुविधाएँ प्राप्त थी।

नहरें (Canals)—भारत मे नहरी सिंचाई सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है और ये ५ करोड ६२ लाख एकडो के कुल सिंचाई क्षेत्र मे से २ करोड ३० लाख एकडो अर्थात्, कुल के आधे भाग, की सिंचाई करती हैं। य नदियो से अथवा पहाडो म से बाँधो द्वारा एकत्रित जल सचय से निकाली जाती हैं। पहली प्रकार का उत्तर भारत में विकास हुआ है जहाँ सारे वर्ष नदियाँ बहती हैं। दूसरी प्रकार दक्षिण मे ग्रहण की गई है, जहाँ सूखे मौसम मे नदियाँ सूख जाने के कारण कृत्रिम जल सचय आवश्यक हो जाता है। २२९८०

नदी नहरो के दो प्रकार हैं—(२) बाढी नहरें, और (२) बारहमासी नहरें। पजाब, उत्तर प्रदेश और मद्रास डैल्टा क्षेत्र की बडी भारी नहर प्रणालियाँ बारहमासी हैं।

उत्तर प्रदेश, मद्रास की तटवर्ती घाटियो और पजाब की समृद्धि का कारण उनकी विलक्षण नहर-प्रणालियाँ हैं।

कुएँ (Wells)—नितरे जल के कुएँ अत्यधिक प्राचीन और सिंचाई के महत्वपूर्ण साधन हैं। इनसे १ करोड ६६ लाख एकडो, अर्थात् देश के कुल सिंचाई क्षेत्र के एक चौथाई भाग की सिंचाई होती है। वह देश के भू गर्भ के जल साधनो का उपयोग करते हैं और यह उत्तर प्रदेश, मद्रास और पजाब में अधिकतर खोदे गए हैं। सारे देश में सब मिलाकर २५ लाख कुएँ हैं, जिनम से आधे अकेले उत्तर प्रदेश म हैं।

उपयोगिता की दृष्टि से कुओ की सिंचाई बढिया किस्म की होती है और नहरी सिंचाई की अपेक्षा अधिक अच्छी होती है।

नलकूप (Tubewells)—देश के भूगर्भ स्थित जल का उपयोग करने के लिए हाल ही में नलकूपो की एक नवीन विधि का आविष्कार हुआ है। ये बिजली से कार्य करते हैं (विशेषत जल-विद्युत् से) और इस प्रकार न केवल तल कुओ (*surface*

well) की अपेक्षा सस्ते हैं अपितु वह भू गर्भ स्थित उस जल का प्रयोग भी सम्भव बनाते हैं जो अन्यथा बेकार ही पडा रहता है। जहाँ साधारण कुओं से केवल २०-४० फीट पर ही पानी मिल जाता है; नलकूपों से गहरी सतह का पानी मिलता है और उनसे अपेक्षाकृत बडे क्षेत्रों की (प्राय: ३००-४०० एकड) सिंचाई सम्भव हो जाती है।

तालाब (Tanks)—ये दक्षिण में सिंचाई के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन हैं, हालाँकि उत्तर में इनका प्राय: अभाव ही है। इनका मुख्य गुण इस बात में है कि इन से दक्षिण भारत म सिंचाई सम्बन्धी वैकल्पिक विधि प्राप्त होती है जहाँ चट्टानी धरती और नदियों की भिन्न अवस्थाओं के कारण नहरो और कुओं के द्वारा सिंचाई सम्भव नहीं है।

तालाबो के द्वारा सिंचाई में दो मुख्य दोष हैं। पहला दोष तो यह है कि तालाबो में शीघ्र ही रेत जमा हो जाती है, इसलिए उन्हें प्रतिवर्ष साफ कराना पड़ता है। और दूसरा दोष यह है कि जब वर्षा नहीं होती तो तालाब भी सूख जाते हैं। इस प्रकार आवश्यकता के समय ही तालाब धोखा दे जाते हैं।

सब मिलाकर सारे देश में तालाबो से १०६ लाख एकड भूमि को पानी मिलता है। इसमें से ३० लाख एकड़ भूमि तो आन्ध्र प्रदेश और मद्रास राज्य में ही है।

भारत में, सिंचाई-सुविधाएँ कृषि-अधीन क्षेत्र के केवल ⅕ भाग तक ही सीमित हैं। यह सर्वथा अपर्याप्त अनुपात है। देश में कृषि-सम्बन्धी विकास की दृष्टि से यह आवश्यक है कि अधिकाधिक सिंचाई-साधनों का निर्माण किया जाए।

प्रश्न ५—भारत की ्रमुख बहुद्देश्यी नदी-घाटी योजनाओं का वर्णन कीजिए। भारतीय कृषि और उद्योगों पर उनके प्रभाव का उल्लेख कीजिए।

(पंजाब '५५, '५६ सप्लीमेण्टरी; लखनऊ '५४, आगरा १९५५, पटना '५७)

Q. 5—Describe the principal multi purpose river valley projects in India. Point out their influence on Indian agriculture and industries.

(Punjab '55, '56 Supp., Lucknow '54, Agra 1955; Patna 1957)

भाखडा-नंगल योजना (Bhakhra-Nangal Project)—यह पंजाब में है और कहा जाता है कि भारत की सिंचाई और साथ साथ जल-विद्युत् उत्पादन की यह सबसे बड़ी योजना है। इसकी अनुमानित लागत १७० करोड रु० है। यह पंजाब और राजस्थान की सूखी भूमियों के ५७ लाख एकड़ों की सिंचाई करेगी। इसके अतिरिक्त इस योजना से ३७ लाख एकड अतिरिक्त भूमि को जल मिलेगा।

अनुमान किया गया है कि इस योजना की सिंचाई-सुविधाओं की सहायता से ८.५ लाख टन अतिरिक्त खाद्यान्नो कपास की अतिरिक्त ५.६ लाख गाँठो, अतिरिक्त १.५ लाख टन गन्ने और ०.३ लाख टन अतिरिक्त दालो और तिलहनों का उत्पादन होगा।[1] केवल खाद्यान्नो तथा कपास के अतिरिक्त उत्पादन से ही विदेशी विनिमय में १०५ करोड रु० वार्षिक की बचत होगी।

---

1. India 1959, p. 297.

किया जाएगा। बोकारो और चन्द्रपुरा में उष्ण बिजलीघर के अतिरिक्त सभी बाँधों पर विद्युत्-उत्पादन की भी व्यवस्था होगी। कुल विद्युत्-उत्पादन ६ लाख किलोवाट होगा, जिसमे से १ लाख किलोवाट जल-विद्युत् होगी और शेष तापीय विद्युत्-शक्ति (thermal electricity) होगी।

इस क्षेत्र की कोयला-खानों को भी बिजली उपलब्ध हो जाएगी। यह घाटी समूचे भारत के ८० प्रतिशत कोयले, ६० प्रतिशत लोहे, समूचे ताँबे, ७० प्रतिशत क्रोमाइट और अभ्रक, ५० प्रतिशत अग्नि मिट्टी, लगभग ५० प्रतिशत चीनी मिट्टी और असबेस्टोस की खनिज सम्बन्धी कोशागार है। सस्ती शक्ति की व्यवस्था से वृहद् उद्योगों तथा विद्युत् रासायनिक उद्योग को आरम्भ करना सहज हो जाएगा। कुछ समय पश्चात् भारत में इस घाटी को वही प्रतिष्ठा प्राप्त हो जायगी जो जर्मनी में रूर घाटी (Ruhr Valley) को है।

कृषि विषयक अतिरिक्त उत्पादन के विषय मे अनुमान किया गया है कि इस योजना की सिंचाई-सुविधाओं से ५६ लाख मन अतिरिक्त चावल और ३६ लाख मन अतिरिक्त रबी की फसलें उत्पन्न होगी।

प्रस्तुत सम्पूर्ण योजना को क्रियात्मक रूप देने के लिए दामोदर घाटी कार्पोरेशन एक्ट (Damodar Valley Corporation Act) स्वीकार किया गया था, जिसके अधीन जुलाई १९४८ में एक स्वायत्तशासी सार्वजनिक निगम (Corporation) स्थापित किया गया था।

अनुमान है कि समस्त दामोदर घाटी योजना पर १०५ करोड रु० व्यय होगा। योजना का अधिकांश भाग पूरा हो चुका है। चारों बाँध तैयार हो गये हैं। और उनके जल विद्युत् कारखाने भी प्राय तैयार हैं। दुर्गापुर बाँध को तैयार हुए कई वर्ष हो चुके हैं। बोकारो उष्ण बिजलीघर की कार्यक्षमता १.५ लाख कि० वा० बिजली है। वह १९५३ से ही कार्य कर रहा है। आशा है कि १९५९ के अन्त तक एक अन्य बिजली घर जिसकी बिजली उत्पादन क्षमता ७५,००० कि० वा० होगी, तैयार हो जाएगा। उसी समय अर्थात् निकट भविष्य में १.५ लाख कि० वा० बिजली का एक अन्य बिजलीघर दुर्गापुर म बिजली तैयार करने लगेगा। चन्द्रपुरा मे एक तीसरा उष्ण बिजलीघर तैयार हो रहा है। उसकी बिजली उत्पादन-क्षमता १.२५ लाख कि० वा० होगी और वह केवल रेलवे-व्यवस्था को बिजली सप्लाई करेगा। इस सारी योजना के पूर्ण हो जाने पर यह घाटी, जो अब तक दुख और क्लेशों की घाटी है, सुख और समृद्धि की घाटी मे बदल जाएगी।

महानदी घाटी योजना (The Mahanadi Valley Project)—उड़ीसा में महानदी घाटी योजना तीन बाँधों का निर्माण करने के लिए बनाई गई है। एक हीराकुड मे, दूसरा, १३० मील नीचे टिकड़पाड़ा में; और तीसरा, कटक के निकट नाराज में। इनमें से प्रत्येक की निजी नहर-प्रणाली एवं जल-विद्युत् कारखाना होगा। प्रस्तुत सम्पूर्ण योजना से आशा की जाती है कि २५ लाख एकड भूमि की सिंचाई होगी और ५ लाख किलोवाट बिजली पैदा की जाएगी। इस विद्युत्-शक्ति से इस घाटी के मैंगेनीज़, लोहे, कोयले और बॉक्साइट के भण्डारों को उपयोग में लाया जा

निर्माण की व्यवस्था है। योजना के पूरी हो जाने पर दोनों राज्यों की ११ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी। इसके अतिरिक्त योजना से ६२,००० कि० वा० बिजली भी प्राप्त होगी। यद्यपि सम्पूर्ण योजना अनुमानतः १९६२ तक पूरी होगी, फिर भी सिंचाई और बिजली शक्ति का उत्पादन १९५९-६० तक प्रारम्भ हो जाएँगे। इस समस्त योजना के प्रथम चरण पर अनुमानत. ६३·६ करोड़ रुपये का व्यय होगा।

मयूराक्षी योजना (The Mayurakshi Project)—पश्चिमी बंगाल में मयूराक्षी नदी के किनारे पर एक सिंचाई योजना का सूत्रपात किया गया है। उक्त योजना ४,००० कि० वा० बिजली भी उत्पन्न करेगी। इस योजना का प्रथम चरण १९५१ मे ही पूरा हो गया था। इसके पश्चात् १९५५ में १५५ फीट ऊँचा और २,१७० फीट लम्बा कनाडा बाँध तैयार हुआ। (कनाडा की सहायता से इस योजना को पूरा किया गया है, इसीलिए इस बाँध का नाम कनाडा बाँध रखा गया है।) इस योजना के अन्तर्गत निर्मित नहरों से ७·२ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होगी। इस योजना का अनुमानित व्यय १६ करोड़ रु० है।

कोसी योजना—प्रतिवर्ष निरन्तर बाढ़ आने के कारण उत्तरी बिहार में इस नदी का नाम कोसी अर्थात् 'भूखों की जननी' पड़ गया है। इससे प्रति वर्ष १० करोड़ रुपये की हानि का अनुमान है। इसलिए इसकी बाढ़ को रोकना तथा मानवोपयोगी बनाना बड़ा जरूरी है। इसलिए १९५३ में तैयार की गई योजना के अनुसार इस पर काम शुरू किया गया। इस नदी का एक भाग नेपाल में पड़ता है। इसलिए अप्रैल १९५४ में भारत-नेपाल करार हुआ। मौजूदा काम नदी की भयंकर बाढ़ को रोककर नेपाल तथा उत्तरी बिहार के इलाके की रक्षा करना है। इस योजना में ये बातें शामिल हैं—(क) हनुमान नगर के पास भारत-नेपाल सीमा पर ३ मील लम्बा बाँध तैयार होगा; (ख) नदी के दोनों ओर ७० मील लम्बे तट बाँध बनेंगे; (ग) ४ व्यपवर्तन (diversion) नहरें; तथा (घ) भीमनगर से नहर निकाली जाएँगी। इस सारी योजना पर ४५ करोड़ रु० के खर्च का अनुमान है। बाढ़ से बचत के अलावा इससे १४ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई तथा २१,००० लाख कि० वा० बिजली तैयार होगी। यह योजना १९६२ की जून तक पूरी होगी।

ऊपर वर्णित बहुद्देश्यी योजनाओं के अतिरिक्त देश में कई छोटी और बड़ी सिंचाई और जल-विद्युत् योजनाओं पर भी काम हो रहा है। उनके बारे में थोड़ी जानकारी प्राप्त करना लाभदायक होगा।

रिहंद योजना (The Rihand Project)—उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले में रिहंद योजना का मुख्य उद्देश्य बिजली तैयार करना है। इस योजना पर प्रायः ४६ करोड़ रु० के व्यय का अनुमान है। इस योजना के अधीन ३०० फीट ऊँचा बाँध बनेगा। उक्त बाँध के ऊपर एक विशाल बिजलीघर का निर्माण हो रहा है। इस योजना के ऊपर १९५४ के उत्तरार्द्ध में काम शुरू हुआ था। आशा है कि यह योजना १९६१ तक पूरी हो जाएगी। तब इससे पूर्वी उत्तर प्रदेश के लिए २.५ लाख कि० वा० बिजली मिलेगी, जिससे छोटे और बड़े कुटीर उद्योग विकसित हो सकेंगे। साथ

ही इस बिजली से अनेक नलकूप चलेंगे जिनसे उत्तर प्रदेश की १४ लाख एकड भूमि को और बिहार की ५ लाख एकड भूमि को सिंचाई सुविधाएँ प्राप्त होगी।

कोयना योजना (The Koyna Project)—कोयना योजना बम्बई राज्य की सबसे बडी योजना है। इस योजना पर १९५४ मे ही कार्य शुरू हो गया था। इसके पहले चरण म ३८ करोड रु० व्यय होने का अनुमान है। इस योजना से बम्बई, पूना, महाराष्ट्र और कर्नाटक के क्षेत्रों को औद्योगिक विकास के लिए २.४ लाख कि० वा० बिजली प्राप्त होगी। इस योजना के अधान कोयना नदी के आर-पार २०८ फीट ऊँचे बाँध का निर्माण होगा और एक सुरग बनेगी जो नदी के पानी के बहाव के रुख को व्यपवर्तित (diversion) करेगी। इसकी सहायता से पानी की धार को १,५७० फीट की ऊँचाई से गिराया जाएगा। फलस्वरूप जलविद्युत् तैयार की जाएगी। यह जलविद्युत् का कारखाना जमीन के अन्दर होगा।

काकरापारा योजना (The Kakrapara Project)—बम्बई म एक अन्य बाँध की योजना भी है। इसका नाम है काकरापारा बाँध। यह लोअर ताप्ती घाटी के विकास के लिए बनाई गई है। इस योजना के पूरा होने पर ६½ लाख एकड भूमि पर सिंचाई हो सकेगी। काकरापारा बाँध जून १९५३ में चालू किया गया। इस योजना की नहरें १९६३ तक तैयार हो जाएँगी।

भद्रा बाँध (The Bhadra Reservoir) मैसूर मे भद्रा जलाशय है। इसकी सहायता से लक्कवाली स्थान मे भद्रा नदी पर एक ऊँचा बाँध बनाने की योजना है। इस पर २४.४२ करोड रु० व्यय होगा। पूरा होने पर इससे शिमोगा तथा चीतल दुर्ग के जिलो की २.३४ लाख एकड भूमि को सिंचाई सुविधाएँ प्राप्त होगी। इस योजना का एक भाग बिजली घर का निर्माण भी है जिससे ३३,००० कि० वा० बिजली प्राप्त होगी। यह योजना अनुमानत १९६१ तक पूरी हो जाएगी।

लोअर भवानी योजना (The Lower Bhawani Project)—यह योजना मद्रास राज्य म १९५६ मे पूर्ण कर ली गई थी। इस पर १० करोड रु० का व्यय हुआ था। इस योजना से कोयम्बटूर जिले म २ लाख एकड भूमि की सिंचाई होती है। इसके अन्तर्गत २०० फीट ऊँचा बाँध भी है।

नागार्जुन सागर योजना (The Nagarjun Sagar Project)—आन्ध्र प्रदेश की यह नए ढग की योजना है, जो मुख्यत सिंचाई योजना है। इसके अन्तर्गत नलीकोडा (आन्ध्र प्रदेश) म कृष्णा नदी पर एक विशाल बाँध बनाने की योजना है। बाँध के दोनो ओर से निकलने वाली नहरो से आन्ध्र प्रदेश के १८ लाख एकड भूभाग को सिंचाई सुविधाएँ प्राप्त होगा। इस योजना के प्रथम चरण पर ही ८९.६ करोड रु० के व्यय का अनुमान है।

मचकुण्ड जलविद्युत योजना (The Muchh Kund Hydel Project)—प्रथम पचवर्षीय योजना के पश्चात् आन्ध्र प्रदेश मे यह सबसे बडी जलविद्युत् योजना प्रारम्भ की गई है। इस योजना के अन्तर्गत मचकुण्ड नदी के पानी का प्रयोग किया जाएगा। यह नदी आन्ध्र और उडीसा के बीच सीमा बनाती है। इस योजना से नदी के दाहिने हाथ पर डूडोमल प्रपात की सहायता से बिजली तैयार करने की योजना

है। यह प्रपात ८५० फीट की ऊँचाई से गिरता है। इस योजना का पहला चरण पूरा हो चुका है, जिसमें ५१,००० कि० वा० बिजली पैदा होती है। पूरी योजना के तैयार हो जाने पर १,१४,७५० कि० वा० बिजली तैयार होगी।

उक्त योजना को आन्ध्र और उड़ीसा राज्य मिलकर पूरा कर रहे हैं। अनुमान है कि कुल योजना पर २७ ३ करोड़ रु० व्यय होंगे।

राजस्थान नहर योजना (Rajasthan Canal Project)—पंजाब में राजस्थान को सींचने के लिए ६६ ५ करोड़ रु० की एक नहर योजना तैयार की गई है। सतलुज नदी पर एक बाँध का निर्माण हो रहा है। इस योजना के पूरा होने पर बीकानेर, जैसलमेर, गंगानगर आदि राजस्थान के जिलों को सिंचाई की सुविधाएँ प्राप्त हो जाएँगी।

प्रथम पंचवर्षीय योजना ने नदी घाटी योजनाओं को सर्वाधिक उच्च स्थान दिया था। कुल व्यय का लगभग $\frac{1}{3}$ भाग इन नदी-घाटी योजनाओं के लिए रखा गया था। इसके अतिरिक्त, १५३ करोड़ रु० इन पर पहले ही खर्च हो चुका था और ५१८ करोड़ रुपये (जमा ४० करोड़ रु० ५ नयी मुख्य योजनाओं के लिए) की अतिरिक्त व्यवस्था की गई थी। अनुमानतः, इस योजना-काल की अवधि में छोटी-बड़ी योजनाओं से ६३ लाख एकड़ भूमि को सिंचाई की सुविधा मिली। द्वितीय योजना-काल में अनुमानतः १ २ करोड़ एकड़ भूमि को सिंचाई की सुविधाएँ प्राप्त होंगी। प्रथम योजना-काल में ११ लाख कि० वा० बिजली का उत्पादन बढ़ा। इस प्रकार १९५६ के अन्त तक देश में ३४ लाख कि० वा० बिजली तैयार होने लगी थी। आशा है कि द्वितीय योजना के पूरा होने पर देश में ६९ लाख कि० वा० बिजली का उत्पादन होने लगेगा।

इन सब योजनाओं से निश्चय ही देश की आर्थिक कायापलट हो जाएगी। देश की व्यापक गरीबी से लड़ने के लिए ये योजनाएँ ही हमारे वास्तविक अस्त्र-शस्त्र सिद्ध होंगे।

भाग (ख)—इन योजनाओं का कृषि और उद्योग पर जो प्रभाव होगा, वह स्पष्ट ही है। दोनों को ही भारी लाभ पहुँचेगा। कृषि-योग्य बेकार भूमियों के बड़े-बड़े क्षेत्रों का सुधार हो जाएगा, पहले कृषि योग्य भूमियों में दृढ़ और समृद्ध कृषि सम्भव होगी, और बाढ़-नियन्त्रण से भूमि-कटाव रुक जाएगा। सस्ती बिजली की सहायता से वृहद् और लघु उद्योगों तथा यातायात का विकास हो सकेगा। इन योजनाओं से देश की रोजगार समस्या का भी समाधान होगा। इन योजनाओं की क्रियान्विति में प्रायः २२½ लाख व्यक्तियों को रोजगार मिल रहा है। शक्ति सम्बन्धी योजनाओं के पूरा होने पर और अधिक व्यक्तियों को काम मिलेगा। उस समय अनेक पुराने उद्योग पुनः चालू होंगे, उनका विकास होगा और अनेक नये उद्योग विकसित होंगे। अनुमान लगाया गया है कि कोयना और रिहन्द जैसी योजनाओं से जब बिजली मिल जाएगी तो प्रायः ५ लाख अतिरिक्त व्यक्तियों को काम मिलना सरल होगा। (प्रत्येक योजना के विशिष्ट लाभ उस योजना के वर्णन के साथ-साथ गिना दिए गये हैं)।

अभ्यास १—भारत की किसी एक मुख्य बहुद्देश्यी नदी घाटी योजना की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिए। (ज० और क० वि० वि० १९५८, पटना १९५७)

Ex 1—Give a critical estimate of any one of the principal multi-purpose river valley projects of India
(*J & K Univ 58 and Patna '57*)

अभ्यास २—भारत में इस समय छोटी सिंचाई योजनाओं पर क्यों अधिक बल दिया जा रहा है? (लखनऊ १९५३)

Ex 2—Why is so much stress laid today on minor irrigation works in India? (*Lucknow '53*)

देश के लिए बड़ी सिंचाई योजनाओं का भी महत्व है और छोटी सिंचाई योजनाओं का भी। बड़ी योजनाएँ नदियों के उस फालतू पानी का प्रयोग करती हैं जो अन्यथा व्यर्थ हो जाता है। इनसे बड़े भूमिक्षेत्रों को लाभ पहुँचता है। इनसे सूखा के वर्ष में भूमियों को निश्चित जल की पूर्ति होती रहती है। बड़ी सिंचाई योजनाएँ प्रायः बहु उद्देश्यों के लिए भी प्रयोग की जा रही हैं।

किन्तु लघु सिंचाई योजनाओं का भी अपना महत्त्व है। उन पर कम पूँजी की आवश्यकता होती है, उनसे शीघ्र फल मिलने लगते हैं, और उनको पूरा करने के लिए स्थानीय अधिकारी ही पर्याप्त होते हैं। देश की खाद्य समस्या की गम्भीरता को ध्यान में रखते हुए, विशेषकर देश के सामने विदेशी विनिमय की कमी के कारण, हमारे लिए छोटी सिंचाई योजनाओं को कार्यान्वित करना अधिक उचित होगा। इसलिए इस समय छोटी सिंचाई योजनाएँ अधिक लोकप्रिय हैं। क्षेत्रीय विकास योजनाओं और राष्ट्रीय विकास सेवाओं को विकसित करने के उद्देश्य से भी लघु सिंचाई योजनाओं पर ही इस समय अधिक बल दिया जा रहा है। छोटी योजनाओं से एक लाभ यह भी है कि इनको कार्यान्वित करते समय किसानों में आत्म त्याग, श्रमदान और परस्पर सहयोग की भावना का विकास होगा।

अध्याय ६

भूमि की समस्याएँ (क्रमशः)—कृषि की इकाई

(Problems of Land (continued)—Unit of Cultivation)

प्रश्न १—भारत में कृषि-सम्बन्धी जोत के उप-विभाजन तथा खण्ड-विभाजन की स्थिति समझाइए। इनका कृषि कार्यक्षमता पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

Q. 1—Give an idea of the extent to which Sub-division and Fragmentation of agricultural holdings have gone in India and discuss how they affect the efficiency of agriculture.

उप-विभाजन का विस्तार (Extent of Sub-division)—यद्यपि योजना कमीशन ने स्वीकार किया है कि "जोतों की आकार-विषयक सूचना (उनके स्वामित्व और खेतीबाड़ी दोनों से सम्बन्धित) नितान्त अपूर्ण और दोषपूर्ण है" लेकिन इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि निरन्तर उप-विभाजन की रीति के आधार पर, भारत में जोतों का आकार अत्यधिक छोटा हो गया है। कुछ राज्यों में औसत जोतें इस प्रकार हैं—पश्चिमी बंगाल ४.४ एकड़, मद्रास ४.५ एकड़; आसाम ४.८ एकड़; उड़ीसा ४.६ एकड़, और मैसूर ६.२ एकड़। कृषि-प्रधान उत्तर प्रदेश के राज्य में सब से कम औसत—२.५ एकड़ है। बम्बई और पंजाब में तुलनात्मक दृष्टि से ऊँची औसतें हैं—क्रमशः १२.३ और १० एकड़ों की।

किन्तु इन कम औसतों से भी यह पूरा-पूरा ज्ञान नहीं हो पाता कि अधिकांश जोतें किस सीमा तक छोटी हैं। ये आखिर हैं तो औसतें ही और इनमें बड़ी जोतें भी शामिल हैं। हाल ही में योजना आयोग ने लिखा था कि भारत में ३४% जोतें एक एकड़ से भी छोटी हैं; ६४% जोतें ५ एकड़ से भी छोटी हैं और केवल १% जोतें ५० एकड़ से बड़ी हैं।

उप-विभाजन और खण्ड-विभाजन के दोष (Evils of Sub-division and Fragmentation)—उप-विभाजन और खण्ड-विभाजन सर्वथा हानिकर है। उप-विभाजन का इस आधार पर समर्थन किया जाता है कि कुछ ही लोगों के हाथों में केन्द्रीकरण के विपरीत इससे अनेक में सम्पत्ति का विस्तृत वितरण हो जाता है। किसी सीमा तक यह एक सामाजिक लाभ है, किन्तु निश्चय ही यह लाभ कृषि-सम्बन्धी कुशलता की हानि करके प्राप्त किया जाता है। खण्ड-विभाजन के लिए कुछ आर्थिक लाभों का भी दावा किया जाता है, जैसे—एक फसल की असफलता के विरुद्ध बीमा, कुछ फसलों की बाजार-कीमतों में परिवर्तनों के विरुद्ध रक्षा, फसलों की अदला-बदली के लिए अधिक क्षेत्र। जो भी हो, इतनी अच्छाइयों के बावजूद भी उप-विभाजन और उससे भी अधिक खण्ड विभाजन के अनिवार्य परिणामों की अत्यधिक गम्भीर हानियों की तुलना में ये लाभ उपेक्षणीय हैं।

उप विभाजन की हानियाँ (Disadvantages of Sub division)—उप विभाजन और खण्ड विभाजन की बुराई, सभी अवस्थाओं में भारतीय कृषि की मुख्य और आधारमूलक त्रुटि है। यह भूमि के कुशल उपयोग को वस्तुत असम्भव बना देती है।

छोटी जोतो पर साधारण किसान के तुच्छ उपकरणों तक का उपयोग सम्भव नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, दो एकड के जोत के स्वामी किसान को एक जोडी बैल तथा हल रखने होते हैं और यह सामान्यत १० एकड के क्षेत्र में काम करने योग्य होते हैं। इस अवस्था में वह अधिकांश समय के लिए बेकार रहेंगे हालांकि बैलो और किसानो का व्यय ज्यो का त्यो रहेगा।

कई एक निश्चित लागतें भी होती हैं जो किसानो को लगानी ही पडती हैं। ज्यो ज्यो जोतो का आकार न्यून (निसन्देह एक नियत बिन्दु से नीचे) होता है त्यो-त्यो इस प्रकार की स्थायी लागतो का अनुपात उत्पादित जिंस के मूल्यानुसार अधिकाधिक हो जाता है।

अस्थायी लागतें निश्चित अनुपात में रूपान्तरित नही होती। और अत्यधिक छोटी जोतो की दशा में इस प्रकार की लागतें लगाना लाभकर भी नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ बाडें लगाने का व्यय निष्फल होगा।

जब छोटी जोतो के कारण विभिन्न स्थायी और साथ ही साथ अस्थायी लागत नहीं लगायी जाती, तो कृषि कार्य अयोग्य एवं हानिकर बन जाता है। तनिक बाडें लगाने का उदाहरण ले लीजिए। समुचित बाडो के बिना न तो पास पडोस के क्षेत्रो से पशुओ के हमले से रक्षा हो सकती है और न ही चोरो से। इससे भी अधिक गम्भीर स्थिति यह है कि कृषि कार्य अथवा फसलो की अदला बदली की कोई भी नयी प्रणाली सम्भव नहीं होगी, क्योकि बाडो के अभाव मे, पास पडोस के बजर खेतो के पशु फसलो को हानि पहुँचाएंगे। इस प्रकार साहसी और प्रगतिशील किसान के लिए अपने विचारो को सक्रिय रूप देना असम्भव होगा।

छोटी जोतो के कारण मेड़ो और मार्गों आदि में भी बहुत सा क्षेत्र बेकार जाता है।

इस प्रकार, उप विभाजन की चालू विधि से उत्पन्न छोटी जोतें भारतीय कृषि के यन्त्रीकरण मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण कठिनाई हैं।

खण्ड विभाजन की बुराइयाँ (Evils of Fragmentation)—उप-विभाजन का साथी विवेकहीन खण्ड विभाजन सबसे बढकर छोटी जोतो की इन सारी हानियो को तीव्र कर देता है। डा० मान का कथन है कि "वस्तुत, इसमे अत्यधिक छोटी जोतो की सभी बुराइयाँ हैं, क्योकि यह मशीनो और श्रम बचत की विधियो के उपयोग को रोकती है, और इसके विपरीत, बडी जोत इसलिए बुरी है, क्योकि वह उस हस्त-श्रम द्वारा वास्तविक विस्तीर्ण कृषि कार्य में बाधक है जो छोटी जोतो के लिए बडा लाभ है।"

वस्तुत कुछ एक अतिरिक्त कमियाँ हैं जो खण्ड विभाजन से उत्पन्न होती हैं। प्रथमत भूमि साधनो की बडी भारी हानि केवल इसलिए होती है कि अनेक अवस्थाओ म एक एक विभाजित खण्ड इतना छोटा होता है कि उसमे कृषि नही हो

सकती और इसलिए भी कि विभिन्न स्वामियों के खण्डों को अलग-अलग करने के लिए सीमाएँ लगानी पड़ती हैं। यह अनुमान किया गया है कि पंजाब में अत्यधिक छोटे क्षेत्र-खण्डों के कारण ६ प्रतिशत भूमि बेकार हो जाती है और अतिरिक्त १ प्रतिशत इन क्षेत्र-खण्डों को जुदा करने के लिए आवश्यक सीमाओं पर बेकार हो जाती है। यह ७ प्रतिशत की हानि कोई कम नहीं है, जबकि हमें मालूम है कि हमारा खाद्य में वार्षिक घाटा भी लगभग उतना ही है।

दूसरे, खण्ड-विभाजन के फलस्वरूप पूंजी और श्रम में भी बड़ा भारी व्यय होता है। उत्तर प्रदेश में श्री मिश्र की जांच से प्रगट हुआ है कि प्रत्येक ५०० मीटर के फासले के लिए शारीरिक श्रम और हल जोतने का कृषि-कार्य सम्बन्धी व्यय ५·३ प्रतिशत, खाद लाने का व्यय २० प्रतिशत से ३५ प्रतिशत तक, और फसलों का सवाहन १५ प्रतिशत से ३२ प्रतिशत तक बढ़ जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि खण्ड-विभाजन से सब भांति व्यय में वृद्धि होती है।

तीसरे, खण्ड-विभाजन के कारण ग्राम से खेतों की दिशा में और एक खण्ड से दूसरे में जाने में समय, श्रम और पशु-शक्ति भी बहुत नष्ट होती है। समय बचाने के लिए, किसान पगडण्डियों से दूसरों के खेतों में से होकर अपने क्षेत्रों तक जाता है। इससे, सीमाओं तथा मार्ग के अधिकार सम्बन्धी झगड़ों के साथ ग्रामीणों में निरन्तर झगड़े होते हैं, और बहुधा मुकदमेबाजी में पड़कर बड़ा भारी व्यय होता है।

इसके अतिरिक्त, अत्यधिक खण्ड-विभाजन की दिशा में सिंचाई प्रायः असंभव हो जाती है, क्योंकि पानी केवल उन्हीं मार्गों से ले जाया जा सकता है जो दूसरों के खेतों से होकर निकलते हैं। यह अत्यधिक अशांति का एक अन्य कारण है और इससे गाँव वालों में झगड़े पैदा होते हैं।

पुनः जब विभिन्न भूमि-खण्ड एक-दूसरे से बहुत फासले पर होते हैं, तो किसान का अपनी जोतों पर मौजूद रहना असम्भव हो जाता है। इस प्रकार किसान की व्यक्तिगत उपस्थिति, जो लाभप्रद कृषि-कार्य के लिए अत्यावश्यक है, सम्भव नहीं हो पाती। उसके पशु भी ग्राम में उसके घर पर ही रहेंगे, और वहाँ से खेतों तक गोबर पहुँचाने में भारी व्यय होगा।

डा० मान (Dr Mann) ने इन हानियों को संक्षेप में इस प्रकार उपस्थित किया है। उनका कथन है कि खण्ड-विभाजन "उद्यम को नष्ट करता है, इसके कारण बड़ी भारी मात्रा में श्रम बेकार जाता है, सीमाएँ और मेड़ें बनाने के कारण भूमि की बहुत भारी हानि होती है, जोतों पर विस्तृत और लाभप्रद कृषि-कार्य असम्भव हो जाता है जो विपरीत दशा में सम्भव होता।"

प्रश्न २—भारत में जोतों के उप-विभाजन और खण्ड विभाजन की व्याख्या कीजिए। (ज० और क० वि०, १९५३)

Q. 2—Account for the Sub-division and Fragmentation of holdings in India *(J. & K. U. 1953)*

जनसंख्या में शीघ्र वृद्धि (Rapid Increase in Population)—भारत में जनसंख्या की दर में असाधारण वेग इसका मूल कारण है। जब जनसंख्या ४ से

५ करोड प्रति दशाब्दी की दर से बढ रही है तो यह स्वाभाविक है कि औसत जोत कम होती जाएगी। इस कारण को अन्य अनेक देशो की भाँति उद्योगो के तत्कालीन विकास के साथ दूर किया जा सकता था जिससे अतिरिक्त जनसख्या इस प्रकार के आर्थिक विकास द्वारा उत्पादित नियोजन म खपाई जा सके। भारत म इसके विपरीत औद्योगिक प्रगति भी अत्यधिक धीमी रही है। फलस्वरूप कृषि पर जनसख्या का दबाव और भी अधिक हो गया और इसके कारण-स्वरूप जोतें और भी छोटी छोटी होनी गई। १९५३ की जनगणना रिपोर्ट के अनुसार प्रति व्यक्ति कृषि भूमि २५% कम हुई, अर्थात् १९२१ मे १११ से गिरकर १९५१ मे ८४ रह गई।

व्यक्तिवाद की भावना और सयुक्त परिवार प्रथा का अन्त (Spirit of Individualism and Break-up of Joint Family System)—पश्चिम के साथ सम्बन्ध और पश्चिमी शिक्षा के प्रसार ने लोगो में व्यक्तिवाद की भावना को जन्म दिया है। इस प्रकार सम्पत्ति के विभाजन की प्राय व्यापक भावना पैदा हो गई।

उत्तराधिकार के नियम (Laws of Inheritance)—हिंदुओ और मुसलमानो दोनों में पैतृक सम्पत्ति के विभाजन के लिए उत्तराधिकार के नियम अत्यधिक अनुकूल है। अंग्रेजी राज्य से पूर्व सामान्य रूप मे सयुक्त कृषि कार्य का चलन था। किन्तु व्यक्तिवाद की भावना के उदय के साथ सयुक्त कृषि-कार्य ने उप विभाजन को स्थान दे दिया। इसलिए, ये नियम, पारिभाषिक रूप मे उप विभाजन के लिए उत्तरदायी नही, किन्तु वे ऐसे साधन रूप में हुए हैं कि जिन्होने उप विभाजन को सुविधाजनक बनाया है।

देशी उद्योगो का ह्रास (Decline of Indigenous Industries)—देशी उद्योगो के ह्रास के कारण सब विस्थापित व्यक्तियो को अपने जीवन-यापन के लिए भूमि का आश्रय लेना पडा। इनम से अनेक ने मजदूरी के रूप मे नही प्रत्युत काश्तकार के रूप में खेती को किया। इस प्रकार जोतो का उप-विभाजन होता रहा।

एक अन्य अश जिसका वही परिणाम हुआ, वह था कृषि-विषयक ऋण की वृद्धि। इसके फलस्वरूप साहूकारो के हाथो भूमि खण्डो की बिक्री के लिए भूमिगत सम्पत्ति के अबाध विभाजन हुए। अंग्रेजी राज्य के आगमन से शान्ति और सुरक्षा की स्थापना हुई और ब्रिटिश न्यायाधीशो द्वारा भूमि मे निश्चित अधिकारो को स्वीकृति के आधार पर मध्य वर्ग के लोगो तथा साहूकारो को भूमि-क्रय की दशा में प्रोत्साहन मिला। इसके कारण जोतो के स्वामियो की सख्या मे वृद्धि हुई और औसत जोतो के क्षेत्रफल मे कमी।

इस प्रकार, सार रूप म हम कह सकते है कि उद्योगों के क्रमिक विकास के अभाव में जनसंख्या की गतिशील वृद्धि, सयुक्त-परिवार प्रथा का अन्त और उत्तराधिकार के नियमों द्वारा प्राप्त सहायता के आधार पर इन सब अशो के फलस्वरूप उप-विभाजन और खण्ड-विभाजन की वर्तमान चिन्ताजनक स्थिति उत्पन्न हुई है।

प्रश्न ३—आर्थिक जोत का क्या आशय है ? आर्थिक जोत का उचित आकार किन अशो पर निर्भर करता है ?

Q. 3—What is meant by an economic holding? Discuss the factors on which the size of an economic holding depends.

अर्थ—आर्थिक जोत क्या है, इसका उत्तर सहज नहीं है। वास्तव में, इस शब्द के अनेक भ्रममान अर्थ किए गए हैं। कीटिंग (Keatinge) के कथनानुसार आर्थिक जोत उसे कहते हैं, "जो एक मनुष्य को स्वतः अपने और अपने परिवार के लिए आवश्यक भुगतान करने के बाद, युक्तियुक्त सुविधा प्राप्ति के हेतु पर्याप्त उत्पादन का अवसर प्रदान करती है।" डा० मान (Dr. Mann) कहते हैं कि "आर्थिक जोत खेत की वह इकाई है जो किसी सामान्य परिवार को सन्तोषजनक जीविकोपार्जन दे सके, जिसमें सन्तोषजनक जीवन-स्तर कायम रखा जा सके।" स्टैनले जेवन्स (Stanley Jevons) किसी जोत को केवल तभी आर्थिक कहते हैं, जबकि वह किसान को न केवल "न्यूनतम स्तर" का, और न ही "युक्तियुक्त स्तर" का अपितु "उच्च जीवन-यापन स्तर" का विश्वास प्रदान करती है।

सूक्ष्म दृष्टि से, एक आर्थिक जोत का अर्थ यह होना चाहिए कि खेत का आकार वह हो जो उत्पादन के अन्य अंशो (जैसे, कृषि-विषयक मशीनें, पशु, सिंचाई, मजदूरी, श्रम) के साथ हमें उत्पादन की दृष्टि से उत्तम परिणाम प्राप्त करने योग्य बनावे। दूसरे शब्दों में आर्थिक जोत ऐसी जोत के आकार का समर्थन करती है, जो विशिष्ट फसल और उसकी मात्रा तथा उत्पादन के अन्य अंशों के प्रकार के सापेक्ष हो। यह दृष्टिकोण आर्थिक जोत के आकार को उत्पादन-सम्बन्धी प्रति इकाई की लागत की दृष्टि से आंकता है।

आर्थिक जोत का आकार (Size of an Economic Holding)—किसी आर्थिक जोत का क्या आकार होगा, यह कई अंशो के मेल पर निर्भर करता है।

भूमि का ऐसा कोई विशिष्ट क्षेत्रफल बताना तो बड़ा कठिन है कि जिसे हम आर्थिक जोत कह सकें। डा० मान (Dr. Mann) दक्षिण के ग्राम में ऐसी जोत के आकार को २० एकड़ उचित बतलाते हैं। कीटिंग (Keatinge) दक्षिण के ग्राम के लिए इस आकार को ४० से ५० एकड़ उचित या आर्थिक कहते हैं, बशर्ते कि वह एक इकाई हो और उसमें सिंचाई के लिए कुआं हो और मकान हो। सर टी० विजय राघवचार्यर के अनुसार "परिवार के न्यूनतम जीवन-निर्वाह के लिए जोत का आकार ४ से ६ एकड़ तक का है।" स्टैनले जेवन्स (Stanley Jevons), जिनके आर्थिक जोत के विचार का हम पहले अध्ययन कर चुके हैं, इसे उत्तर प्रदेश की दृष्टि से ३० एकड़ उचित बतलाते हैं।

पारिवारिक जोत जैसे नए विचार को योजना आयोग ने मान लिया है। भूमि-सुधार आयोग की एक समिति ने इसकी परिभाषा ऐसे भू-क्षेत्र से की है जिससे प्रति वर्ष कुल औसत आमदनी १,६०० रु० हो अथवा शुद्ध वार्षिक आय (इसमें परिवार के श्रमिकों का पारिश्रमिक भी शामिल है) १,२०० हो तथा एक हल से कम इकाई न हो।[1]

---

१. Draft Outline, Second Five-Year Plan, p. 77.

आर्थिक जोत के प्रभावी अंश (Factors Governing an Economic Holding)—किसी एक आकार को आर्थिक कह सकने से पूर्व हम अनेक अंशो पर विचार करना होगा ।

भूमि की उर्वरता स्पष्ट ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है । ५० एकड व्यर्थ मरुस्थल भूमि की अपेक्षा ५ एकड अच्छी उपजाऊ भूमि से किसान को अपेक्षाकृत अधिक आय की प्राप्ति हो सकती है ।

केवल उर्वरता ही पर्याप्त नही है । उस भूमि में सिंचाई की सुविधाएँ भी होनी चाहिएँ । यदि भूमि को केवल वर्षा पर ही, जो अपर्याप्त और अनिश्चित भी हो सकती है, निर्भर रहना होगा, तो उस दशा म बडे क्षेत्र की आवश्यकता होगी ।

कृषि की कला (The Technique of Cultivation)—आर्थिक जोत का आकार प्रयोगाधीन कृषि-विषयक मशीनो की सख्या और प्रकार पर भी निर्भर करता है । ट्रैक्टर द्वारा कृषि के लिए जोत का आकार बडा और इतना पर्याप्त होना चाहिए कि क्षेत्र की सब मशीनें काम म लगी रहे ।

तिस पर कृषि का स्वरूप भी एक अंश है, अर्थात्, क्या वह जीवन-निर्वाह या बाजार मे बिक्री के लिए की जाती है, और क्या उसम फल और सब्जियो के बाग है, अथवा, क्या उसम विस्तारपूर्वक काय होता है या केवल घटिया फसलें उगाने में प्रयोग किया जाता है और वह भी विस्तारपूर्वक ही ।

बाजार से दूरी, किसान का सामाजिक स्तर, (अर्थात्, क्या वह स्वामी है या केवल अस्थायी किसान है) और काम म लगे आदमियों की सख्या कुछ एक अन्य महत्वपूर्ण अंश है जिन पर आर्थिक जोत का आकार निर्भर करता है ।

क्योंकि अमरीका और कैनेडा जैसे देशो म 'आर्थिक' जोत शब्द का प्रयोग अनुकूलतम क्षेत्र के अर्थ में किया जाता है और केवल युक्तियुक्त जीवन यापन स्तर प्रदान करने के अर्थ में ही नही किया जाता, इसलिए ऐसे देशो मे आर्थिक जोत का परीक्षण उत्पादन विषयक प्रौद्योगिक क्षमता म निहित होता है, और उसे प्रति इकाई की उत्पादन-लागत से आंका जाता है । उस आशय की आर्थिक जोत ऐसी होनी चाहिए कि जिसके उत्पादन की लागत न्यूनतम होगी ।

इसी धारणा के अनुसार, कुछ एक अन्य अंशो पर भी विचार करना होगा । ऐसा आदर्श प्रबन्ध करना आवश्यक होगा कि जिसम उत्पादन के विभिन्न अंश आदर्श अनुपातो के आधार पर मिले हो । कृषि के निजी स्वरूप को दृष्टि में रखते हुए, एक अत्यधिक बडा क्षेत्र आवश्यक रूप से लाभकारी नही है, जैसा कि उद्योगो के विषय में भी सामान्यतया होता है । कई ऐसी फसलें हैं, जिनमें अधिक मशीनो के उपयोग की आवश्यकता नही होती और इस प्रकार, उनकी दृष्टि से सबसे अधिक उपयुक्त अपेक्षाकृत छोटा होगा । उदाहरण के लिए गेहूँ की कृषि में अपेक्षाकृत बडा आकार और जडीय फसलो में छोटा आकार लाभदायक होगा ।

यदि फसल के लिए विस्तीर्ण और अधिक विशिष्ट रूप की कृषि की आवश्यकता है, और यदि फसल विशेष प्रकार की है, तो उसके लिए भी बडा क्षेत्र सर्वाधिक लाभकारी होगा ।

सर्वाधिक लाभकारी आकार ऐसे बड़े क्षेत्रों का होगा जहाँ अकुशल और सस्ता श्रम सहज उपलब्ध हो और मालिकों तथा श्रमिकों के बीच प्रबन्ध-कुशलता का भेद भी विचारणीय हो। इसी कारण ही चाय, कहवा और रबड़ के बगीचों के आकार सामान्यतया अत्यधिक बड़े होते हैं।

भूमि का मूल्य एक अन्य महत्त्वपूर्ण और आवश्यक अंश है। आस्ट्रेलिया और कैनेडा जैसे नये देशों में, जहाँ भूमि सस्ती है, और जहाँ विस्तीर्ण कृषि-कार्य की आवश्यकता नहीं है, विशाल स्तर के जोत अधिक लाभदायक हैं। भूमि के ऊँचे मूल्य के कारण भारत जैसे देशों में आर्थिक जोतों का आकार छोटा होगा।

वर्तमान समय में, भारत में ऐसी अवस्थाएँ हैं कि किसानों के लिए न्यूनतम जीवन-यापन स्तर की दृष्टि से आर्थिक जोतें हस्तगत करने में बहुत समय लग जाएगा। आदर्श जोत की दृष्टि से आर्थिक जोत हमारे लिए केवल शास्त्रीय चर्चा है और केवल क्रान्ति ही उसे ला सकती है। निःसंदेह आर्थिक जोतों की समस्या के हल की दिशा में एक मार्ग और भी है और वह है सरकारी कृषि का।

प्रश्न ४—जोतों के उप-विभाजन तथा खण्ड-विभाजन से क्या हानियाँ हैं? इन दोषों को दूर करने के लिए क्या उपाय किए गए हैं? (इलाहाबाद १९५६)

Q 4—What are the evils of fragmentation and sub-division of holdings? What measures have been taken so far to remove these evils? *(Allahabad 1956)*

जब तक भूमि के उप-विभाजन और खण्ड-विभाजन की बुराइयों का इलाज करने के लिए समुचित और प्रभावी कार्यवाही नहीं की जाएगी, भारत में कृषि-व्यवसाय हानिकारक ही रहेगा। कुशल कृषि-कार्य के लिए यह अत्यावश्यक है कि जोतें संगत आकार की हों और सुदृढ़ इकाइयों में हों।

जोतों की चकबन्दी (Consolidation of Holdings)—जोतों की चकबन्दी का अर्थ यह है कि एक स्वामी के फैले क्षेत्रों का उस क्षेत्र के अन्य किसानों के विभाजित खण्डों के साथ परिवर्तन करके एक ठोस क्षेत्र में पुनः स्थापन करना। इस चकबन्दी का अभिप्राय यह है कि खेतों के छोटे-छोटे खण्डों के स्थान पर बड़ी जोतें स्थापित की जाएँ। चकबन्दी से यह लाभ भी होगा कि गाँव में पंचायती ज़मीनों की स्थापना होगी। सड़कों, नालियों, खाद के गड्ढों, स्कूलों और खेल के मैदानों के लिए उचित भूमि-खण्डों की व्यवस्था हो सकेगी। इस दिशा में सर्वप्रथम प्रभावी कार्य सन् १९२१ में मि० कालवर्ट ने पंजाब में किया था। चकबन्दी स्वेच्छा या अनिवार्य रूप में हो सकती है। पंजाब में, यह स्वेच्छा के आधार पर सहकारी चकबन्दी समितियों द्वारा प्रारम्भ की गई थी।

तिस पर भी, यह अनुभव किया गया था कि स्वेच्छापूर्वक चकबन्दी की गति बहुत धीमी है। इसे गतिशील करने के लिए कुछेक अनिवार्य उपायों की आवश्यकता थी। १९२८ में, सर्वप्रथम मध्य प्रदेश में अनिवार्य चकबन्दी को प्रचलित किया गया। पंजाब ने १९३७ में उसका अनुकरण किया और जोतों की चकबन्दी का अधिनियम स्वीकार किया। इस अधिनियम के अनुसार, यदि भू-स्वामियों का दो तिहाई, जिनकी

ग्राम में ⅔ से कम भूमि न हो, चकबन्दी चाहता है, तो शेष अल्प सख्या को भी उनके साथ चलना होगा और वे बाधक नही बन सकेंगे। चकबन्दी को सहज करने के लिए कई जिलो में विशेष चकबन्दी अफसर नियुक्त किए गए थे।

अभी हाल ही तक, पजाब, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और बडौदा (जो अब बम्बई राज्य म है) के सिवा अधिकाश राज्यो मे चकबन्दी की दिशा मे अधिक प्रगति नही हुई। जो भी हो, १९४७ मे, बम्बई राज्य ने अनिवार्य चकबन्दी का कानून पास करके नेतृत्व किया। अपनी ओर से चकबन्दी सम्बन्धी पहल की और लोगो की तत्सम्बन्धी प्रार्थना का इन्तजार नही किया। पजाब ने १९४८ म अनुकरण किया और उसके बाद पेप्सू मे स्वतन्त्र भारत की प्रथम और द्वितीय पचवर्षीय योजनाओ म इस बात पर बल दिया गया कि जोतो की चकबन्दी होनी ही चाहिए। प्रथम योजना काल में बम्बई मे २१ लाख एकड, मध्य प्रदेश म २९ लाख एकड, पजाब म ४८ लाख एकड तथा उत्तर प्रदेश मे ४४ लाख एकड भूमि की चकबन्दी हो सकी। द्वितीय योजना म ३६० लाख एकड भूमि की चकबन्दी करने का लक्ष्य है, जिसके लिए ४५० लाख रु० का उपबन्ध किया गया है। योजना आयोग का आदेश है कि कृषि की उन्नति के रूप म चकबन्दी को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। द्वितीय योजना काल म १९५७ के अन्त तक कुल १४८ ७ लाख एकड भूमि चकबन्दी में आ चुकी थी। इसमें से केवल पजाब मे ८५ ८ लाख एकड भूमि की चकबन्दी हुई, इसके पश्चात् मध्य प्रदेश का नम्बर है जिसमें ३० लाख एकड भूमि की चकबन्दी हुई। किन्तु आन्ध्र प्रदेश, असम, बिहार, मद्रास, उडीसा, पश्चिमी बगाल और राजस्थान राज्यो मे इस दिशा में प्राय. कुछ भी प्रगति नही हुई है।[1]

यह देखकर बडा उत्साह मिलता है कि औसत काश्तकार अब चकबन्दी के फायदो को समझने लगा है और अब देश के अधिकाश भाग में इस कार्य की पूर्ति के लिए उस पर अधिक दबाव डालने की जरूरत नही। बहुत सी त्रुटिया के बावजूद, जो कि इसके साथ जुडी हुई है, जोतो की चकबन्दी का कार्य हाल के वर्षों म पजाब में सबसे लोकप्रिय कदम साबित हुआ है।

नए खण्ड विभाजन की रोकथाम (Prevention of Fresh Fragmentation)—तिस पर भी इस बात का भय है कि यदि उत्तराधिकार के वर्तमान कानून बने रहने दें और खण्ड विभाजन की प्रचलित प्रथा भी अपरिवर्तित रूप म जारी रहती है तो इतने यत्न से किया चकबन्दी का कार्य एक ही पीढी मे नष्ट भी हो सकता है। इसलिए खण्ड विभाजन की रोकथाम के लिए कुछ विशिष्ट व्यवस्थाएँ करनी होगी। फलस्वरूप प्राय प्रत्येक राज्य म स्वीकृत विधियो के अनुसार एक न्यूनतम क्षेत्र की स्थापना की गई है, जिसे वे "प्रामाणिक क्षेत्र" कहते हैं। भूमि का किसी प्रकार का विभाजन, परावर्तन आदि, जिसका प्रभाव एक क्षेत्र को कम करना हो, की स्वीकृति नही। उदाहरण के लिए उत्तर प्रदेश मे कम से कम ३⅛ एकड का जोत प्रामाणिक माना जाएगा, दिल्ली मे ८ स्टैण्डर्ड एकड की जोत प्रामाणिक होगी, आन्ध्र प्रदेश के हैदराबाद भाग म ६० एकड का क्षेत्र प्रामाणिक होगा, मध्य

१. India 1959, p 275

प्रदेश के क्षेत्र में १५ एकड़ का क्षेत्र प्रामाणिक होगा और भोपाल क्षेत्र में पांच एकड़ की जोत प्रामाणिक मानी गई है।

विभिन्न अपखण्डो की चकबन्दी के बावजूद भी भारत में औसत जोतें अत्यधिक छोटी और अनार्थिक ही रहेगी और भूमि पर जनसंख्या के नित्य-प्रति बढ़ने वाले दबाव के कारण और अधिक उप-विभाजन का भी भय नितान्त वास्तविक होगा। इस प्रकार की स्थिति मे तीन उपाय अनिवार्य हैं—

(क) वर्त्तमान आर्थिक जोतों का संरक्षण; (ख) वर्त्तमान छोटी जोतों का विस्तार करना; और (ग) सहकारी कृषि-कार्य।

वर्त्तमान आर्थिक जोतों का सरक्षण—(Preservation of Existing Economic Holdings)—बम्बई, उत्तर प्रदेश और हैदराबाद मे आर्थिक जोतो के सरक्षण की दिशा मे कानून पास करके पहल की थी। १६५० मे हैदराबाद में न्यूनतम आकार की आर्थिक जोत की स्पष्ट व्याख्या की गई और ऐसी जोतो के मालिकों को आदेश दिया गया कि वे अपनी जोतो की रजिस्ट्री करावें। जहाँ किसी जोत की रजिस्ट्री हुई नहीं कि फिर उसका उप-विभाजन या खण्ड विभाजन सम्भव नही था। उत्तर प्रदेश और बम्बई ने भी न्यूनतम आर्थिक जोत की सीमा निर्धारित कर दी। उसके नीचे जोत का उपविभाजन नही करने दिया जाएगा। अब तो प्राय: प्रत्येक राज्य ने न्यूनतम *जोत का आकार निश्चित कर दिया है, यद्यपि यह न्यूनतम सीमा विभिन्न राज्यो में भिन्न है।*

जोतों का विस्तार (Enlargement of Holdings)—अनार्थिक जोतो के आकार में वृद्धि करने के लिए हाल ही के वर्षों में जिस विधि का सुझाव और अनुसरण किया जा रहा है, वह जोतो के आकार की अधिकतम और न्यूनतम सीमा को नियत करना है जिसे एक मालिक को रखने की स्वीकृति होती है। इससे जोतों में इस प्रकार वृद्धि होगी। जोतों की उच्च-सीमा स्थिर करने से उसका अवशिष्ट अनार्थिक जोतो के उत्कर्ष के लिए उपलब्ध होगा। जोतो की न्यूनतम सीमा निर्धारित करके अनार्थिक जोतो का और अधिक उपविभाजन नही होगा। हम पहले ही बता चुके हैं कि कुछ राज्यो ने न्यूनतम जोतों का आकार निर्धारित कर दिया है और उस *आकार से कम जोत रहने ही नही दिए जाएँगे।*

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि अभी हाल ही में यह पता लगाया गया है कि जोतो के न्यूनतम और उच्चतम आकारो का उपबन्ध करके भी सब राज्यों में वर्तमान अनार्थिक जोतो को आर्थिक जोतो के रूप मे परिवर्तित नहीं किया जा सकेगा।

सहकारी कृषि (Co-operative Farming)—किन्तु हम भली भाँति जानते हैं कि देश के वर्तमान अधिकाश जोत बहुत ही छोटे और अनार्थिक हैं। इन जोतो की समस्या को सहकारी कृषि के उपाय से ही सुलझाया जा सकता है। सहकारी कृषि का अर्थ है, संयुक्त खेती करना।

सहकारी कृषि-कार्य या तो बन्धन-रहित रूप का हो सकता है अथवा रूसी ढंग का सामूहिक कृषि-कार्य। भारत मे हम उत्तर-कथित अर्थात् रूसी सामूहिक कृषि का समर्थन नही करेंगे क्योंकि वह किसानो को भूमि के स्वामित्व-अधिकारों से वंचित

कर देता है। जो कोई किसानो को उनके स्वामित्व अधिकारो से वंचित करेगा, उसका कठोरतापूर्वक सामना किया जाएगा। इसे दृष्टि में रखते हुए, सयुक्त कृषि भी केवल इसी योजना की स्वीकृति का अवसर है जो उनके भूमि के अधिकारो को स्वीकार करती हो। सर्वप्रथम सेवा सहकारिता कृषि कार्य (service co-operatives)[1] चाहे वह बन्धन-रहित प्रकार का ही हो, महान् अग्रणी चरण होगा। उसके बाद हम उसके उन्नत स्वरूप को ग्रहण कर सकते है, अर्थात् सहकारी सयुक्त कृषि प्रणाली (Co-operative Joint Farming System)। किन्तु अभी से यह सोचना बहुत दूर की बात है।

अधिकाश राज्यो में जमीदारी का उन्मूलन हो रहा है और कृषि-योग्य बेकार बड़े बड़े क्षेत्र, दलदल तथा घास पटी भूमियो का सुधार किया जा रहा है। इस प्रकार की सब अवस्थाओ में सहकारी कृषि कार्य को प्रोत्साहन देने के लिए अनेक व्यवस्थाएँ की गई हैं। जो भी हो, यह स्पष्टतया कहना होगा कि सम्पूर्ण समस्या अति विशाल और कठिन है और सतोषप्रद निराकरण मे काफी समय लगेगा।

सहकारी कृषि-कार्य (Co operative Farming)

जैसा कि हम देख चुके है भारत मे जोतो का आकार बहुत छोटा है। आज इस मशीन के युग में छोटे काश्तकारो का युग उठ गया लगता है। आज तो लाभकारी होने के लिए जोत का आकार काफी बडा होना चाहिए। हम इस कार्य को सिर्फ सहकारी कृषि द्वारा ही पूरा कर सकते हैं।

सहकारी कृषि कार्य का अर्थ (Meaning of Co operative Farming)— सहकारी कृषि कार्य को विभिन्न अर्थशास्त्री विभिन्न अर्थों मे स्वीकार करते हैं। सत्य यह है कि 'सहकारी कृषि' के अर्थों की अनिश्चितता के कारण और इन शब्दो की स्पष्ट परिभाषा के अभाव मे ही अर्थशास्त्रियो मे सहकारी कृषि कार्य के गुण दोषों के ऊपर तर्क वितर्क है। मोटे तौर पर तीन प्रकार से सहकारी कृषि हो सकती है।

प्रथमत, सहकारी सयुक्त कृषि (Co-operative Joint Farming) का प्रचलन है। इस प्रथा के अधीन कई कृषक अपनी जमीनो को एक साथ मिलाकर सयुक्त रूप में कृषि करते हैं। इस प्रणाली मे जमीन का स्वामित्व ज्यो का त्यो व्यक्तिगत बना रहता है, और सयुक्त कृषि से होने वाली आय का जब बँटवारा होता है तो प्रत्यक की भूमि का आकार और स्वामित्व ही उस बँटवारे का मुख्य आधार होता है। इस प्रकार, इस प्रकार की सयुक्त सहकारी कृषि मे व्यक्तिगत स्वामित्व और सयुक्त कृषि का प्राधान्य रहता है। सदस्य, सयुक्त जोत (pooled land) पर मिल-जुल कर एक निर्वाचित प्रबन्ध समिति के अधीन कार्य करते हैं, प्रत्येक सदस्य को अपने नैत्यिक श्रम के लिए मजदूरी मिलती है, सयुक्त कृषि फार्म की सयुक्त उपज को एक साथ बेचा जाता है, और बिक्री से प्राप्त आय को स्वामित्व लाभ, मजदूरी, बीज की कीमत सिचाई और खाद की कीमत चुकाने के बाद सभी सदस्यो में उनकी

---

[1] For the meaning of 'service co operatives' see below the section under 'co operative farming

व्यक्तिगत मजदूरी के अनुपात मे बाँट दिया जाता है। संयुक्त कृषि समाज (Joint *Farming Society*) *के मुख्य कार्य ये हैं कि वह फसलों के उगाने की व्यवस्था करे,* और यह निर्णय करे कि कौन-कौन फसलें बोनी हैं। यह सब कार्य संयुक्त आधार पर होता है।

द्वितीयत, सहकारी सामूहिक कृषि संस्थाएँ (Co-operative Collective Farming Societies) होती हैं। इनमें सदस्यों की जोतों के अतिरिक्त उनके सब साधन भी मिला लिये जाते हैं; और आय के वितरण के लिए जोतों का व्यक्तिगत स्वामित्व महत्त्वहीन हो जाता है। सामूहिक कृषि संस्था की आय का वितरण प्रत्येक सदस्य के श्रम की मात्रा के अनुपात में होता है। रूस और अन्य साम्यवादी देशों में प्रचलित कोलखोज प्रथा (Kolkhoz System) के साथ सामूहिक प्रथा को गड़बड़ाना नहीं चाहिए, क्योंकि साम्यवादी देशों में न तो स्वैच्छिक सदस्यता है और न कोलखोज का प्रबन्ध लोकतन्त्रीय है।

तृतीयतः, कृषि सम्बन्धी अनेक कामों में भी जैसे निराई, कटाई, खलिहान सम्बन्धी कार्यों, खाद देना, सिंचाई और माल की बिक्री आदि में भी सहकारिता के आधार पर कार्य होता है। विशिष्ट कृषि-कार्यों के लिए सहकारी संस्थाएँ प्रबन्ध करती हैं; और इन संस्थाओं को सेवा सहकारी संस्थाएँ (Service Co-operatives) कहते हैं। सहकारिता अर्थशास्त्र के जर्मन विशेषज्ञ डा० ओटो शिलर (Dr. Otto Shiller) *ने सेवा सहकारिता को 'सहकारिता के आधार पर व्यक्तिगत कृषि-कार्य'* माना है।

प्रश्न ५—भारत में सहकारी कृषि-कार्य के पक्ष और विपक्ष में अपने विचार प्रकट कीजिए। क्या आप भारत में सहकारी कृषि कार्य का समर्थन करते हैं?

(राजस्थान १९५८; दिल्ली १९५९)

Q. 5—Fully examine the case for and against Co-operative Farming in India. Do you support Co-operative Farming for India?

(Rajasthan '58; Delhi '59)

सारे देश मे और समाचार-पत्रों में भी सहकारी कृषि सम्बन्धी अर्थशास्त्र के पक्ष-विपक्ष में विचार हो रहा है। यह आन्दोलन विशेष रूप से जनवरी १९५९ से ज़ोर पकड़ गया है जब से कि अखिल भारतीय कांग्रेस की कार्यकारिणी ने संकल्प रूप में इसे स्वीकृत किया है, और भारतीय ससद् ने भी इस पर अपनी स्वीकृति की मुहर *लगा दी है। भारतीय कृषि को सहकारिता के आधार पर सगठित करने सम्बन्धी* संकल्प से जितने अधिक लोग प्रभावित होंगे, उतने लोग शायद आज तक किसी अन्य एक विकास योजना से प्रभावित नहीं हुए होंगे। इस प्रश्न के आर्थिक पहलू तो हैं ही, साथ ही इस वाद-विवाद मे सहकारिता के समर्थकों और विरोधियों की भावनाओं को भी काफी उभार मिला है। इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि इस प्रश्न पर निष्पक्ष दृष्टि से विचार किया जाए।

सहकारी कृषि-कार्य का विचार नया नहीं है। प्रथम पचवर्षीय योजना में कई प्रकार से छोटे-छोटे किसानों को प्रोत्साहित किया गया था कि वे सहकारी कृषि

संस्थाओं का निर्माण करें। राज्य सरकारों से भी प्रार्थना की गई थी कि वे सहकारी कृषि सम्बन्धी कार्यक्रम तैयार करें; किन्तु प्रथम योजना काल में इस दिशा में विशेष प्रगति नहीं हो सकी। द्वितीय योजना के प्रवर्तकों ने यह मान लिया था कि सहकारिता के आधार पर कृषि के सम्बन्ध में पूर्ण मतैक्य है अतः द्वितीय योजना में इस बात पर बल दिया गया कि देश में यथाशीघ्र सहकारी कृषि का विकास होना चाहिए, और इस दिशा में राज्यों से व्यावहारिक कदम उठाने को कहा गया। परन्तु अभी तक प्रगति केवल नाम मात्र की है। हम इस दिशा में अधिक प्रगति नहीं कर सके हैं, इसका एक मुख्य कारण यह है कि संयुक्त सहकारी कृषि के बारे में सर्वसाधारण में अनेक ग़लतफ़हमियाँ हैं। हम अब सहकारी कृषि के पक्ष और विपक्ष में विचार करेंगे।

सहकारी कृषि-कार्य का समर्थन (Case for Co-operative Farming)—भारतीय कृषि-प्रणाली में अल्प प्राप्तियों के लिए उत्तरदायी जोतों का छोटा और अनार्थिक आकार ही सर्वाधिक गम्भीर दोष है। इसीलिए हमारे कृषक वर्ग जो देश की जनसंख्या का ⅔ भाग है, गरीब हैं। जब तक हम जोतों के आकार में वृद्धि नहीं करेंगे, तब तक न तो हमारी भूमि से पैदावार बढ़ेगी, न हम सारी जनसंख्या की उदर पूर्ति कर सकेंगे और न उद्योगों को कृषिजन्य कच्चा माल दे सकेंगे। हम जोतों के आकार को अन्य उपायों से भी बढ़ा सकते हैं, परन्तु सहकारिता के आधार पर उद्देश्य सिद्धि अच्छी होगी।

कुछ वैकल्पिक उपाय निम्नलिखित हैं—(१) राज्य द्वारा कृषि (State Farming); (२) पूँजीवादी कृषि (Capitalist Farming) और (३) सामूहिक कृषि (Collective Farming)। हमको याद रखना चाहिए कि अपनी वर्तमान परिस्थितियों में राज्य द्वारा कृषि-कार्य उचित नहीं होगा। हाँ, अनुसन्धान या प्रदर्शन के लिए राज्य कुछ फार्म स्वयं चला सकता है। राज्य ऐसी स्थिति में भी स्वयं कृषि करा सकता है जहाँ जमीन राज्य के स्वामित्व में हो। फिर भी कृषि को राज्याधीन उद्योगों की भाँति नहीं चलाया जा सकता। पूँजीवादी कृषि का मुख्य उद्देश्य प्रायः स्वलाभ होता है, न कि कृषक का हित। पूँजीवादी कृषि में पूँजीवाद के दोष निहित हैं। इसलिए वर्तमान अवस्था में पूँजीवादी कृषि का समर्थन नहीं किया जा सकता। वस्तुतः जमींदारियों को समाप्त करके हमने पूँजीवादी कृषि व्यवस्था को समाप्त कर दिया है। हमारे देश के लिए सामूहिक कृषि भी उचित नहीं रहेगी क्योंकि सामूहिक कृषि में भूमि स्वामित्व समाप्त कर दिया जाता है जबकि भारत में कृषकों के हृदयों में भूमि स्वामित्व की भारी चाह है। अतः हमारे सामने ऐसी कृषि व्यवस्था चालू करने की समस्या है जिससे कृषि-उत्पादन बढ़ सके किन्तु साथ ही जिससे हमारी मौलिक सामाजिक संस्थाओं का रूप विकृत न हो। अतः वर्तमान परिस्थितियों में ऐसी कृषि प्रणाली ही उचित और ग्राह्य होगी जिसमें कृषकों के भूमि स्वामित्व अधिकार बने रहें और सहकारिता के आधार पर कृषि उत्पादन बढ़ाया जा सके।

इस प्रकार सहकारी कृषि में हमको दूर दूर बिखरी हुई छोटी जोतों को मिलाने की सुविधा प्राप्त हो जाती है, जिससे कृषकों को बड़े फार्मों के सब लाभ प्राप्त हो

सकें। इससे, किसान लोग कम लागत पर अपने लाभ का प्रतिशत बढ़ा सकेंगे, क्योंकि उनको सस्ता प्रत्यय प्राप्त होगा, सस्ते दामों पर कच्चे माल बीज आदि मिलेंगे; अच्छे मवेशी मिलेंगे और उनको अच्छी कीमतें बाजार में अपने तैयार माल के लिए मिलेंगी। इन लाभों के साथ-साथ किसानों की अपनी जोतों के प्रति मोह और लालच बना रहेगा क्योंकि वे निरन्तर अपनी भूमि के स्वामी बने रहेंगे। उपर्युक्त अनेक लाभों के अतिरिक्त बड़े बड़े सहकारी फार्मों से निम्नलिखित लाभ भी होंगे—

(१) प्राप्त कृषियोग्य भूमि का बेहतर प्रयोग होगा। अनुमान लगाया गया है कि खेतों के बीच में से मेड़ें या सीमाएँ हटा देने भर से ५० लाख एकड़ भूमि अतिरिक्त प्राप्त हो जाएगी जिस पर कई करोड़ मन अतिरिक्त अनाज पैदा होगा।

(२) हमारी श्रम-शक्ति का आर्थिक प्रयोग होगा, क्योंकि अभी तक देहातों में छोटे-छोटे खेतों में समस्त श्रम शक्ति का आर्थिक प्रयोग सम्भव नहीं हो सका है।

(३) अनुकूलतम आकार के संयुक्त फार्मों पर पूंजी का अधिक आर्थिक उपयोग सम्भव होगा। अर्थात् बैलों, मशीनों और सिंचाई सुविधाओं का पूर्ण आर्थिक उपयोग हो सकेगा।

(४) सहकारी फार्म वैज्ञानिक खोजों और तकनीकी अनुसन्धानों का अनेक छोटे-छोटे कृषकों की अपेक्षा कहीं अधिक आर्थिक उपयोग करने में समर्थ होंगे।

(५) सहकारी कृषि-व्यवस्था में अधिक वैज्ञानिक व्यवस्था और योजना के अनुसार फसलें बोई जा सकेंगी।

(६) सहकारी फार्म, बड़े होने के कारण अपने कृषकों और श्रमिकों के लिए सामाजिक सुरक्षा, बेहतर आवास, अधिक शैक्षिक सुविधाएँ और चिकित्सा सुविधाएँ प्रदान कर सकेंगे।

(७) संगठित सहकारी फार्मों के द्वारा विश्वसनीय कृषि सम्बन्धी आँकड़े प्राप्त किए जा सकेंगे जिनका इस समय प्रायः नितान्त अभाव है और जो कृषि और खाद्यान्न सम्बन्धी नीति के निर्माण में नितान्त आवश्यक हैं।

(८) सहकारी कृषि के प्रचलन से राज्य और कृषक वर्ग के बीच सीधा सम्पर्क स्थापित होगा, क्योंकि प्रशासन को अनेक छोटे-छोटे किसानों से सम्पर्क बनाने की अपेक्षा थोड़ी सी बड़ी इकाइयों के साथ सम्पर्क बनाना सरल होगा। इस प्रकार सहकारी संस्थाओं के द्वारा सरकार को खाद्यान्न इकट्ठा करने या अच्छे बीज वितरित करने, या खाद के बारे में सूचना देने सम्बन्धी अनेक नीतियों को क्रियान्वित करना सरल होगा।

(९) उपर्युक्त स्पष्ट आर्थिक लाभों के अतिरिक्त, कृषि कार्य में सहकारिता के सहयोग से सामाजिक और नैतिक क्षेत्र में भी सर्वसाधारण का हित होगा। सहकारिता की भावना, लोगों में सामाजिक सहअस्तित्व की भावना, जातीय भावना, लोकतन्त्रीय भावना और सबसे महत्त्वपूर्ण सामाजिक सुरक्षा की भावना को जाग्रत करेगी। *इसीलिए कहा जाता है कि सहकारिता ही पूर्ण प्रजातन्त्र का प्रयोग है।* सहकारिता वर्ग-विभेदों को समाप्त करती है, और यह स्वार्थ एवं लालच जैसी कुत्सित सामाजिक दुर्भावनाओं को भी समाप्त करती है। साथ ही वह राज्य-समाजवाद

(State Socialism) के ऐसे दोषो को समाज से दूर रखती है जिनसे कृत्रिम एकता, नौकरशाही और केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को बढावा मिलता है। इस प्रकार कह सकते हैं कि सहकारिता, पूँजीवाद और राज्य-समाजवाद के बीच का स्वर्णिम मार्ग है जिस पर चलकर देश की उन्नति होगी।

सहक री कृषि काय के दोष (Case against Co operative Farming)— किन्तु इसका दूसरा पक्ष भी है। सहकारी कृषि के माग म अनेक कठिनाइयाँ गिनाई गई है। ये कठिनाइयाँ दो प्रकार की ह। प्रथमत, कुछ लोग सहकारिता के विचार के ही विरोधी हैं। द्वितीयत कुछ लोग सहकारी कृषि के प्रारम्भ करने म कतिपय कठिनाइयो के कारण झिझकते हैं।

(१) सहकारी कृषि के विरुद्ध पहला आक्षेप यह है कि इसम कृषक अपना व्यक्तित्व, उपक्रम और पहल या आरम्भक और साहस खो देता है उसकी उत्तरदायित्व की भावना का विनाश हो जाता है और वह केवल पारिश्रमिक पाने वाला गुलाम मात्र बन जाता है। इससे उत्पादन पर विपरीत प्रभाव पडता है। इस प्रकार सहकारी कृषि का एक बहुत बडा लाभ यूँ ही चला जाता है।

परन्तु यह जान लेना चाहिए कि प्राय भारत म औसत कृषक भी स्वतन्त्र नही है। यदि वह भाटकी किसान है तो भी वह जमीदार के दबाव म रहता है। उस के साधन सीमित हैं और उसके पास छोटी सी जोत है। उसे भारी सूद पर ऋण लेना पड़ता है। उसे जबरदस्ती कुछ समय के लिए बेकार रहना पडता है। भूमिविहीन कृषक की स्थिति तो और भी खराब है, छोटा किसान तो साहूकार की दया पर आश्रित रहता है। किन्तु किसी सहकारी सस्था की सदस्यता से कृषक की उपर्युक्त कठिनाइयाँ समाप्त हो जाएँगी। सत्य यह है कि सहकारी कृषि से कृषक को अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त होगी। यही नहीं, अपने साथियो के साथ कन्धे से कन्धा भिडा कर काम करने म कृषक के अन्दर ऐसी उत्तरदायित्व की भावना का भी उदय होगा जिसका आजकल समाज म प्राय अभाव है। इजराइल आदि कई देशो का अनुभव बताता है कि सयुक्त कृषि से उत्पादन बढता है।

(२) द्वितीयत, कहा जाता है कि किसान के हृदय म अपनी भूमि के लिए अकथ प्यार है और वह आसानी से अपनी भूमि को दूसरो के हाथो म नही देगा। इसलिए सरकार को तरह-तरह के दबाव और प्रलोभन देने होग तब कही सहकारी सस्थाएँ चल पायेंगी। इस प्रकार सहकारी कृषि को चलाने के लिए सरकारी दमन का आश्रय लेना होगा।

(३) सहकारी कृषि के विरुद्ध एक आक्षेप यह भी है कि इससे देहातो मे बेकारी बढेगी। जोतो को मिलाकर, कृषि कार्य को गहन करके और फार्म को मशीनो द्वारा जोतने बोने से सम्भव है कि श्रमिको की माँग कम हो जाए। इस आलोचना में कुछ सार है, किन्तु सहकारी कृषि के साथ साथ लघु कुटीर उद्योग-धन्धे भी विकसित होगे और उनमें काफी सख्या में श्रमिको की खपत हो जाएगी और हम तो सहकारी कृषि के साथ साथ सेवा सहकारी सस्थाएँ भी चलाने की सोच रहे हैं। तब देहातो में अनेक श्रमिको को तकनीकी योग्यता प्राप्त होगी और तब देहातो की आर्थिक दृष्टि

से कायापलट हो ही जाएगी। ऐसी स्थिति में सहकारी कृषि से देहाती रोजगार की समस्या में सुधार होगा और रोजगार के नए-नए अवसर मिलेंगे।

(४) एक अन्य आपत्ति सहकारी कृषि के विरुद्ध यह है कि सहकारी कृषि का प्रबन्ध करने के लिए और सहकारी फार्मों का संगठन करने के लिए हमारे पास प्रशिक्षित कर्मचारियों का सर्वथा अभाव है। यह भी कहा जाता है कि सहकारी कृषि की समस्याएँ इतनी अधिक और गम्भीर हैं कि हमारे पास अनेक सहकारी कृषि फार्मों को चलाने के लिए यकायक इतने सुदक्ष अफसर कहाँ से आएंगे। जब देश में सहकारी प्रत्यय संस्थाओं और सहकारी बाजार संस्थाओं को भी चलाने के लिए अनुभवी व्यक्तियों का अभाव है, तो फिर जटिल सहकारी फार्मों को चलाना आसान नहीं होगा।

इसके जवाब में कहा जा सकता है कि सारे देश में एक साथ ही सहकारी कृषि फार्म नहीं खोल दिए जाएँगे। शनैः शनैः प्रगति होगी। किसानों को सहकारिता की शिक्षा दी जाएगी ताकि वे स्वयं सहकारी फार्मों को सुचारु रूप से चला सकें। सहकारिता सम्बन्धी प्रशिक्षण देने के लिए देश के कई केन्द्रों में प्रशिक्षणालय खोले जा रहे हैं, जहाँ कर्मचारियों को सहकारिता के सम्बन्ध में प्रशिक्षण दिया जा रहा है।

(५) पुन. एक कठिनाई यह भी बताई जा रही है कि कृषि के लाभ को सहकारी कृषकों में बाँटना कठिन होगा और उनमें असन्तोष होगा। प्रथम तो लाभ का निर्णय करना ही कठिन होगा। उद्योगों की तरह से खेती का लाभ आँकना सरल नहीं है। योजना आयोग के सामने कहा गया था कि सहकारी फार्म में कठिन परिश्रम करने वाले सहकारी भाई को भी उतनी ही मजदूरी मिलती है जितनी कि कम काम करने वाले भाई को। सहकारी कृषि के कार्यकर्ताओं ने कहा था कि यह हिसाब लगाना नितान्त कठिन है कि सारे वर्ष में किसने कम काम किया और किसने अधिक और काम के परिमाण के अनुसार मजदूरी चुकाना प्रायः असम्भव है। इन कठिनाइयों से पक्षपात और कुनबापरस्ती को बढ़ावा मिलेगा।

इन कठिनाइयों के बावजूद, हम एक आवश्यक सुधार करके रहेंगे। हम सहकारी कृषि का परीक्षण करेंगे। जो कठिनाइयाँ सामने आवेंगी उन पर विजय पाने का प्रयत्न करेंगे। शनै. शनैः सभी समस्याएँ स्वत सरल हो जाएंगी।

(६) यह भी कहा गया है कि सहकारी कृषि, भारतीय परम्पराओं के विरुद्ध है। वे इसके प्रमाण में यह उदाहरण पेश करते हैं कि भारत में अभी तक कहीं भी सहकारिता सफल नहीं हुई। यह भी कहा जाता है कि भारतीय कृषक स्वभावतः रूढ़िवादी वह नई चीजों को पसन्द नहीं करता।

किन्तु यह कहना ठीक नहीं है। भारतीय किसान नितान्त रूढ़िवादी नहीं है। हम तो देखते हैं कि जब भारतीय किसान किसी नई चीज से या नए प्रयोग से प्रभावित हो जाता तो वह उस नई चीज को अवश्य अपना लेता है। हाल ही में भारतीय कृषकों ने वैज्ञानिक और रासायनिक खादों का प्रयोग बड़े पैमाने पर शुरू कर दिया है।

७) कई देशों का अनुभव बताता है कि छोटी जोतों से प्रति एकड़ बड़ी

जोतो की अपेक्षा अधिक उत्पादन होता है। इसलिए इस समय तो वाद-विवाद को एक तरफ रखकर पहले सहकारी कृषि का प्रचार करना चाहिए। इस समय तो भारतीय कृषि और भारतीय अर्थ-व्यवस्था की रक्षा का एकमात्र उपाय सहकारी कृषि ही है।

अभ्यास १—भारत में सहकारी कृषि का परीक्षण कहां तक सफल रहा है? इसके मार्ग में क्या-क्या कठिनाइयाँ हैं? (दिल्ली १९५७)

Ex 1—*How far has co operative farming succeeded in India? What are the difficulties in its way?* (*Delhi 1957*)

कुछ लोगों का मत है कि भारतीय कृषि की समस्त कमियों का एकमात्र इलाज सहकारी कृषि है। *किन्तु दुर्भाग्यवश भारत में अभी तक सहकारी कृषि आन्दोलन को सफलता नहीं मिली है।* हाल ही में योजना आयोग (Planning Commission) ने देश की २२ सहकारी कृषि समितियों के कार्यकलापों का लेखा-जोखा प्रकाशित किया है। उस रिपोर्ट से बड़ी निराशा हुई है। रिपोर्ट में बताया गया था कि सहकारी कृषि समितियों की स्थापना करते समय भूमियों के स्वामी प्राय अनुपस्थित थे, क्योंकि वे भूमि सुधार व्यवस्थापन के अधीन अपने किसान आसामियों को हक नहीं देना चाहते थे। अधिकतर सदस्य सहकारिता के प्रारम्भिक उसूलों की भी चिन्ता नहीं करते थे। अधिकांश सदस्य फार्म पर काम भी नहीं करते थे। वे अधिक से अधिक देखभाल और निरीक्षण का काम ही करते थे और काम करने के लिए भाड़े के मजदूर रखते थे। आयोग ने यह भी कहा था कि अनेक सहकारी कृषि संस्थाओं में एक-दो तो वास्तविक भूस्वामी थे और शेष नकली और जाली नाम के सदस्य थे। ऐसी सहकारी संस्थाओं में सारा काम-काज श्रमिकों के द्वारा होता था।

Or,

Examine the possible advantages & disadvantages of the system.
(Calcutta Hons. 1952)

श्री तरलोक सिंह आई० सी० एस० ने अपनी किताब "पावर्टी एण्ड सोशल चेंज" (Poverty and Social Change) में मूलतः सहकारी ग्राम-प्रबन्ध प्रणाली का समर्थन किया था। देश की भूमि-सम्बन्धी भीषण समस्या ने लोगों को अनेक उपाय सुझाने की प्रेरणा की। कुछ ने सामूहिक कृषि-कार्य की रूसी प्रणाली का सुझाव दिया, जब कि अन्यों ने इसे अत्यधिक कठोर मानते हुए बन्धनहीन प्रकार के स्वेच्छापूर्वक सहकारी कृषि-कार्य का समर्थन किया। तरलोक सिंह ने मध्य मार्ग का समर्थन किया जो वस्तुतः सहकारी ग्राम-प्रबन्ध का प्रतिनिधित्व करता है। पर्याप्त विचार-विनिमय के बाद योजना कमीशन ने भी इस प्रणाली को देश के लिए आदर्श माना है और इसको भूमि-नीति का केन्द्रीय लक्ष्य घोषित किया है।

यह क्या है अथवा इसके अंग (Its Features or what it is?)—इसके अधीन, ग्राम की सारी भूमि एक साथ मिला दी जाती है और उसका प्रबन्ध ग्राम-प्रबन्ध-सभा को सौंपा जाता है (पंचायत, गाँव-सभा अथवा अन्य किसी ग्राम-संस्था को, जो उसे कर सकती हो)। यह सभा फसलों के उगाने, फसलों की अदला-बदली की प्रणाली का निश्चय करेगी। वही सभा उन्नत किस्म के बीजों, खादों और रासायनिक खादों तथा कृषि-विषयक मशीनों के लिए वित्त-प्रबन्ध और उनकी पूर्ति की व्यवस्था करेगी और साथ ही सहायक तथा स्थानीय उद्योगों का संगठन करेगी। वास्तविक कृषि के उद्देश्यों के लिए ग्राम के समूचे क्षेत्रफल को एक कृषि-क्षेत्र मानकर कृषि करना आवश्यक नहीं होगा, प्रत्युत उचित गुट्ट बनाए जाएँगे, जिन्हें प्रबन्ध सभा या तो व्यक्तिगत परिवारों अथवा परिवारों के समूहों को सौंपेगी। यह स्थानीय अवस्थाओं और आवश्यकताओं पर निर्भर करेगा। जिन शर्तों पर इन गुट्टों को देना होगा, वह ऐसी होंगी कि उनमें लेने वालों के लिए उचित आकर्षण हो। गाँव की बेकार भूमियों, जोहड़ों, मछली-गृहों, वनों और छोटे सिंचाई-कार्यों का प्रबन्ध भी वही सभा करेगी।

यह प्रणाली सहकारी कृषि-कार्य समिति के बन्धनहीन प्रकार से सर्वथा भिन्न है। बन्धनहीन प्रकार के सदस्य इच्छापूर्वक अपनी भूमियों को वापिस ले सकते हैं, जब कि सहकारी ग्राम-प्रबन्ध भूमियों को सदैव के लिए ले लेता है। व्यक्तियों का भूमि-सम्बन्धी स्वामित्व सुरक्षित रखा जाता है किन्तु भिन्न रूप में। इसे कुल भूमि में एक अंश स्वीकार किया जाता है, किन्तु वह उस विशिष्ट भूमि-खण्ड के विषय में नहीं होता जो कि उसका था। यह तो केवल संयुक्त पूँजी कम्पनी के एक अंश के समान है, जिसमें एक हिस्सेदार, यद्यपि अपने अंश पर लाभों का अधिकारी होता है, व्यवसाय की विशिष्ट पूँजी पर हाथ रखकर उसे अपनी निजी नहीं कह सकता। इस प्रकार यह जान पड़ता है कि यह प्रणाली रूसी सामूहिक कृषि-कार्य और बन्धनहीन सहकारी कृषि-कार्य में कितना अच्छा सुखद मार्ग है। सामूहिक कृषि-कार्य से इसकी श्रेष्ठता और इसलिए, तुलनात्मक दृष्टि से भारतीय अवस्थाओं के लिए

अधिक उपयुक्तता इस बात मे है कि यह ग्रामीण समाज के दो मुख्य अगो का मान करती है—स्वामित्व का सिद्धान्त और समान उत्तराधिकार का अधिकार। इस तरह, यद्यपि यह सामूहिक कृषि-कार्य के समान हो प्रभावी और सामाजिक दृष्टि से लाभकर है, तथापि यह कहीं अधिक क्रियात्मक है।

अब हम इस बात पर विचार करते हैं कि सहकारी ग्राम प्रबन्ध समिति की उत्पाद या आय किस प्रकार विभाजित की जाएगी। इसे दो विस्तृत भागो मे विभाजित किया जाएगा। प्रथमत, स्वामियो के स्वामित्व अधिकारो के मुआवज़े का प्रत्येक फसल पर स्वामित्व लाभाशो द्वारा भुगतान किया जाएगा। दूसरे, वे सब, जो भूमि पर कार्य करते हैं, चाहे मालिक हो या अन्य, उन्हे उनके किए काम के अनुसार भुगतान किया जाएगा।

लाभ—इसके अगो के उक्त स्पष्टीकरण से इस प्रणाली के लाभ प्रकट ही हैं। जोतो और प्रबन्ध की आदर्श प्रणाली को सर्वप्रथम यह विश्वास देना होगा कि उसमे कृषि-विषयक उत्पाद मे वृद्धि और ग्राम अर्थ-व्यवस्था म सुधार एव बहुरूपता होगी; दूसरे सामाजिक दृष्टि से, सम्पत्ति और आय की असमानता मे कमी करनी होगी और ग्राम जनसख्या के भिन्न वर्गों के लिए समान स्तर और उन्नति के अवसर का वचन देना होगा। निम्न वर्णन से यह सहज ही समझ म आ जाएगा कि इस प्रणाली के अधीन इन दोनो उद्देश्यो में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है।

सहकारी ग्राम-प्रबन्ध प्रणाली के कारण उत्पादन में वृद्धि और कुशलता होगी। भारत मे फसलो की वर्तमान न्यून प्राप्ति का बडा कारण छोटी और बिखरी हुई जोतें हैं। इस प्रणाली से भूमि-प्रबन्ध की इकाई को बडा करके विभिन्न प्रकार की बचतें होगी। उन्नत प्रयोगो और तकनीकी कुशलता के कार्यों को आसानी के के साथ अपनाया जाएगा, अधिक पूर्त्तियो और अर्थ-प्रबन्धो की व्यवस्था होगी और भूमियो को उनके मालिको के निजी कारणो के आधार पर कृषि-हीन या बेकार नहीं रहने दिया जाएगा। फसलो का आयोजन भी क्रियात्मक आधार पर किया जाएगा।

तीसरे, इससे विद्यमान ग्रामीण सघर्षो का अन्त हो जाएगा, जैसे, जमीदारो और किसानो; मालिको और कृषि-श्रमिको के लिए पारस्परिक झगडे। हाल ही के भूमि-सुधार और न्यूनतम मजदूरी सम्बन्धी कानून ने, वस्तुत, देहाती समुदाय मे स्वार्थो सम्बन्धी सघर्षो को तीव्र कर दिया है, जिससे उत्पादन पर विपरीत प्रभाव पडा है। इसके विपरीत यह प्रणाली शान्ति स्थापित करेगी।

और यह प्रणाली, जैसा कि पूर्वत स्पष्ट किया जा चुका है, भूमि-नीति सम्बन्धी अनेक विधियो की अपेक्षा कहीं अधिक क्रियात्मक है।

हानियाँ—प्रस्तुत प्रणाली के विरुद्ध कुछ आपत्तियाँ भी उठाई गई हैं। प्रथमत, यह कहा जाता है कि हमारे ग्राम अभी इस प्रकार के आधारमूलक और क्रान्तिकारी स्वरूप के पुन. सगठन के लिए परिपक्व दशा में नहीं हैं। तिस पर, इससे ग्राम-जनसख्या की बहुत बडी तादाद कृषि से बच जाएगी और इस प्रकार वह बेकार हो जाएगी। अत्यधिक वामपक्षी विचारधारा के व्यक्तियो की आपत्ति है कि स्वामित्व-लाभाश की व्यवस्था से यह प्रणाली भूमि से अनुपस्थित लोगो के उन हितो को स्थिर

रखती है कि जो कृषि करने वाले के होने चाहिएँ। अन्ततः, राज्य अथवा सहकारी उद्यमों के विरुद्ध यह सामान्य आपत्ति है कि विशुद्ध व्यक्तिगत उपक्रम के मुकाबले इस प्रणाली में उच्च उत्पादन के लिए उत्साह नहीं होता।

योजना कमीशन इन कठिनाइयों और आरोपों के विषय में पूर्णतया सजग है। तदनुसार, उसने सुझाव दिया है कि इस प्रणाली को विभिन्न स्तरों में क्रमशः लागू किया जाए। सर्वप्रथम, ग्राम सभा (पंचायत आदि) को ग्राम की बेकार भूमियों का प्रबन्ध दायित्व लेना चाहिए। जो छोटे और मध्य-स्तर के भू-स्वामी अपनी भूमि को पट्टे पर देना चाहते हों, वे ग्राम सभा को अपनी भूमियाँ दें और ग्राम सभा उसकी कृषि का प्रबन्ध करे। उन बड़े भू-स्वामियों की भूमियों का दायित्व भी ग्राम सभा को ले लेना चाहिए जो राज्य द्वारा स्वीकृत भूमि-प्रबन्ध सम्बन्धी कानून द्वारा निर्धारित कुशलता से अपनी भूमियों की कृषि नहीं करते।

इसके अलावा, प्रारम्भिक रूप में ग्राम की कुल भूमि पर अकेली इकाई के रूप में कृषि-कार्य न किया जाए। पूर्वत. लिखित के अनुसार, उसे भूमि के गुट्टों में बाँटा जा सकता है कि जिसे परिवारों या समूहों को सौंपा जाए। ज्यों-ज्यों कार्य-पद्धति का विकास होता जाएगा और अन्य व्यवसायियों की मनुष्य-शक्ति सम्बन्धी आवश्यकताओं में वृद्धि होगी, त्यों-त्यों भूमि में अधिक बड़े गुट्ट सहयोगपूर्वक बनाए जा सकेंगे।

इसके बाद जिन ग्रामों में बहुसंख्या संयुक्त ग्राम-प्रबन्ध के पक्ष में हो, उनमें इस प्रकार की प्रणाली को अपनाया जा सकता है और अल्पसंख्यकों के विरोध को रद्द किया जा सकता है।

स्वामित्व लाभांशों के विपरीत आपत्ति के विषयों में, योजना कमीशन ने अपनी अंतिम सूचना में स्पष्टतया कहा है कि स्वामित्व के अधिकार, सम्बन्धित राज्य सरकार द्वारा स्वीकृत भूमि-सुधार सम्बन्धी कानून के अनुसार निश्चित होंगे, और पुरानी विशेषाधिकार की स्थिति के आधार पर नहीं। इसी प्रकार स्वामित्व लाभांश राज्य के काश्तकारी कानून के आधार पर होंगे।

(२) महलवारी भूमि अधिकार (Mahalwari Tenure)—इस प्रथा के अधीन, ग्राम भूमि को जिसे पारिभाषिक रूप में 'महल' कहते हैं, ग्राम-समुदाय की संयुक्त सम्पत्ति माना जाता है। पारिभाषिक रूप में ग्राम-समुदाय को "साझीदारों की सभा" कहा जाता है। भूमि लगान के भुगतान का दायित्व यही नहीं कि प्रत्येक और हर साझीदार का व्यक्तिगत रूप में है, प्रत्युत, वैध रूप में संयुक्त भी है। वस्तुतः हर साझीदार स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी भूमि का अधिकारी होता है और केवल अपनी निजी जोत की मालगुजारी के लिए उत्तरदायी समझा जाता है।

यदि कोई स्वामी अपनी भूमि छोड़ देता है तो उसे साझीदारों की सभा समग्र रूप में ले लेगी। कानून और रीति दोनों में ग्राम समुदाय के अधिकारों की सावधानी के साथ रक्षा की जाती है, वे "साझे" ग्राम अर्थात् शामलात के स्वामी होते हैं, और उसमें उस ग्राम के पेड़, घास आदि सबका समावेश होता है। इसके अतिरिक्त, वे *ग्राम-भवनों की भूमि के भी मालिक होते हैं।*

अधिकतर ऐसा भूमि-अधिकार पंजाब, मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश के आगरा डिवीजन में प्रचलित है। इस प्रणाली के अधीन मालगुजारी के बन्दोबस्त अस्थायी होते हैं; *जैसे, पंजाब में प्रति ४० वर्ष में।*

एक आदर्श महलवारी ग्राम में, साझीदार खुद किसान होते हैं, अर्थात्, किसान स्वामी। जो भी हो, कुछ भूमियों पर काश्तकारों द्वारा या नकद लगान के आधार पर अथवा बटाई पर कृषि होती है। *यह खेद का विषय है कि महलवारी ग्रामों में काश्त-*कारों द्वारा कृषिगत भूमि का अनुपात बढ़ रहा है, जबकि जोतों का आकार निरन्तर घट रहा है।

भारतीय अवस्थाओं के अधीन प्रत्यक्ष किसान के लिए उचित आकार की जोतों के साथ कृषक स्वामित्व का होना एक आदर्श प्रथा है और महलवारी प्रथा यह प्रदान करती है। किन्तु चूंकि औसत जोत इस प्रकार के ग्रामों में अत्यधिक छोटी हो गई है, इसलिए इसका अच्छा परिणाम नहीं मिलता। या तो जोतों का आकार जैसे भी हो, उन्नत किया जाए अथवा बेहतर परिणामों के लिए सहकारी कृषि कार्य को प्रयोग में लाया जाए।

(३) रैयतवारी भूमि अधिकार (Ryotwari Tenure)—रैयतवारी प्रथा के अधीन, प्रत्येक रजिस्ट्रीशुदा भूमि का असामी क्रियात्मक रूप में उसका स्वामी स्वीकार किया जाता है। और वह सीधे सरकार को राजस्व अदा करता है। वह अपनी जमीन को किराए पर देने, या उपहार, विक्रय अथवा बन्धक द्वारा हस्तान्तरण करने में स्वतन्त्र होता है। *उसे सरकार द्वारा तब तक बेदखल नहीं किया जा सकता* जब तक कि वह नियत कर अदा करता रहता है।

रैयतवारी और जमींदारी प्रथाओं के बीच इस बात का अन्तर है कि जहाँ जमींदारों के पास बड़ी बड़ी जोतें होती हैं और उन्हें उनका वैध स्वामी स्वीकार किया जाता है और अधिकांशतः स्वतः अपनी भूमियों पर कृषि नहीं करते, वहाँ रैयतवारी प्रणाली के अधीन, रैयत अर्थात् किसान केवल मात्र छोटे-मोटे असामी

होते हैं और स्वामियों जैसे वैध एवं विशिष्ट उच्च स्थिति का उपभोग नहीं करते। जो भी हो, वस्तुतः, रैयतों का स्तर कृषक स्वामियों के ही समान है।

यह भूमि-अधिकार बम्बई और मद्रास के अधिकांश भाग में प्रचलित है। इस प्रणाली के अधीन भी बन्दोबस्त एक नियत अवधि के लिए होता है, २०, ३० या ४० वर्ष पश्चात्।

इस प्रथा का गुण यह है कि इसमें किसान का सरकार के साथ सीधा सम्बन्ध होता है, और इसमें जमींदारी प्रथा की तरह बीच-बिचौलिए नहीं हैं। जो भी हो, रैयतों में भूमि को किराए पर देने का चलन बढ़ता जा रहा है, और इस प्रकार यह लाभ कम होने लगा है। फिर भी इस दिशा में इतनी बुरी अवस्था नहीं कि जिस जमींदारी क्षेत्रों में देखने में आती थी।

इस प्रणाली में दो दोष हैं। प्रथमावस्था में, चूंकि कर-निर्धारण प्रत्येक असामी पर व्यक्तिगत रूप में है, इसलिए इसके कारण ग्राम-जीवन का सामूहिक आधार नष्ट हो गया है और उसके परिणामस्वरूप ग्राम-समुदाय का पतन हुआ है। महलवारी प्रथा के विपरीत मालगुजारी के निर्धारण की विधि यद्यपि एक नियत अवधि के लिए है तथापि भिन्न है। उसमें मालगुजारी नियत करने के लिए बन्दोबस्त अफसरों को काफी स्वतन्त्रता प्रदान की गई है।

भूमि-अधिकारों का सुधार (Reform of Tenures)—अब तक हम देख चुके हैं कि देश में पाए जाने वाले भिन्न भूमिअधिकारों, विशेषतः जमींदारी भूमि अधिकार में कैसी भीषण बुराइयाँ हैं। किसी भी भूमि-अधिकार की प्रथा को राज्य और भूमि को वास्तविक [illegible] वाले के बीच सीधा सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए, उसे कृषक की सुदृढ़ता में वृद्धि करनी चाहिए और देश के भूमि-साधनों की आर्थिक उपयोगिता के लिए गारण्टी देनी चाहिए।

यह प्रसन्नता की बात है कि प्रथम अत्यावश्यक चरण, अर्थात्, जमींदारी प्रथा का उन्मूलन, देश के प्रायः उन सभी भागों में, जहाँ यह प्रचलित थी, पूर्वतः उठाया जा चुका है। राज्य और वास्तविक किसान के बीच जो बिचौलिये स्वार्थ उत्पन्न हो गए थे उनका अन्त हो चुका है, अथवा हो रहा है। प्रभावी रूप में, इसका अर्थ जमींदारी क्षेत्रों में रैयतवारी प्रथा को विस्तार प्रदान करना है।

किन्तु इससे अधिक आर्थिक जोतों की प्राप्ति नहीं होगी जो वास्तव में कृषि-विषयक कुशलता के लिए इतनी आवश्यक है। इस प्रकार जोतों की प्रणाली को सहकारिता का आधार प्रदान करना और भी आवश्यक होगा। यह तभी हो सकता है जब कि सहकारी कृषि-कार्य समितियों में सगठित होने वाले किसानों को अनेक रियायतें तथा प्रलोभन दिए जाएं। इस प्रकार की सहकारी कृषि-कार्य इकाइयों को तकनीकी तथा आर्थिक सहायता भी उपलब्ध होनी चाहिए।

सर्वप्रथम, बन्धन-रहित किस्म की सहकारी कृषि-कार्य समितियाँ भी ठीक ही रहेंगी, किन्तु अन्तिम लक्ष्य, जैसा कि योजना कमीशन ने सुझाव दिया है, देश भर में सहकारी ग्राम-प्रबन्ध प्रणाली को ग्रहण करना होना चाहिए, जिससे कि देश के भूमि-साधनों का सर्वोत्तम उपयोग किया जा सके और हमें ग्रामीण समुदाय का जनतान्त्रिक, ओजस्वी और सामाजिक दृष्टि से न्यायपूर्ण आदर्श भी प्राप्त हो सके।

प्रश्न २—काश्तकारी समस्या के स्वरूप का स्पष्टीकरण कीजिए। इसके दोष स्पष्ट कीजिए। भारत में उनका निराकरण करने के लिए किन आधारों पर यत्न किया गया है?

Q. 2—Explain the nature of the tenancy problem Bring out its evils On what lines have they been sought to be solved in India?

जब भूमि पर स्वत स्वामी द्वारा कृषि करने के बजाय, उसे किसी अन्य को किराए पर दे दिया जाता है, तो उसे काश्तकारी कृषि कहते हैं, और जो लोग भूमि को किराए पर लेते हैं, उन्हे किराएदार किसान (tenants) या काश्तकार कहते हैं। किराएदार किसान या काश्तकार दो मे से यह हो सकता है—(क) दखीलकार काश्तकार, अथवा (ख) बेदखीलकार काश्तकार, जिन्हे अस्थायी किसान (tenant-at-will) भी कहते हैं। दखीलकार काश्तकारों को भूमि पर कृषि करने का स्थायी अधिकार होता है जिसे वे जमीदारो से प्राप्त करते हैं। उनके द्वारा चुकाया जाने वाला लगान स्थायी होता है, और जब तक वे उसका भुगतान करते रहते है, उन्हे बेदखल नही किया जा सकता। इसके अलावा, दखीलकारी के अधिकार एक पीढी से दूसरी तक जाते हैं और भूमि को किराए पर भी दिया जा सकता है और बन्धक भी रखा जा सकता है। दखीलकार काश्तकार भूमि म सुधार करने के लिए स्वतन्त्र होता है। सक्षेपत, वह एक प्रकार से उप-स्वामित्व के अधिकार का भोग करता है।

अस्थायी किसान या बेदखीलकार काश्तकार की अवस्था इससे बहुत ज्यादा घटिया होती है। उसे भूमि को या तो स्थायी नक्द लगान अथवा बटाई (मालिक और किराएदार के बीच वार्षिक पैदावार म पूर्वत निश्चित विभाजन का अनुपात) पर दिया जाता है। उसे जमीदार बेदखल कर सकता है, चाहे वह लगान का भुगतान करने म नियमित ही क्यो न हो।

हम प्रथमावस्था मे, काश्तकार को दृष्टि म रखते हुए और द्वितीयावस्था म समाज और देश के दृष्टिकोण से काश्तकारी समस्या का अध्ययन करेंगे और देखेंगे कि क्या प्रचलित काश्तकारी प्रथा के अधीन, काश्तकार के साथ न्यायपूर्ण व्यवहार होता है या नही और क्या कृषि विषयक उत्पादन और कुशलता के विषय म इस प्रणाली से हम अच्छा परिणाम प्राप्त होता है। ये हैं वे अत्यावश्यक प्रश्न जिन पर इस प्रणाली के अन्तर्गत विचार किया जाएगा।

इस समय देश म जो काश्तकारी प्रथा प्रचलित है, वह दोनों दृष्टियों से घोर आपत्तिजनक है। काश्तकार, विशेषत अस्थायी या बेदखीलकार काश्तकार इसका शिकार है और अत्यधिक शोषण के कारण दयनीय प्राणी और सहानुभूति का पात्र है। किन्तु, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं हम केवल उसी अकेले के लिए ही इस समस्या के विषय म चिंतित नही है। सम्पूर्ण समाज ही इस प्रथा द्वारा प्रभावित है। वर्तमान काश्तकारी कृषि-प्रथा निश्चित रूप से कृषि-विषयक कुशलता को नीचे की ओर ले जाने के लिए उत्तरदायी है। इसके अतिरिक्त, इसके कारण ग्रामीण समाज के दो भाग, अर्थात् कुछ जमीदारो और काश्तकारो के सम्पूर्ण जन समूह म कृषि-आय का अन्यायपूर्ण विभाजन होता है। इस प्रकार के सामाजिक अन्याय से अवश्य

ही असन्तोष उत्पन्न होगा और वह सामाजिक तथा राजनीतिक क्रान्तियों के उदय में सहायक बनेगा।

संक्षेप में काश्तकारी प्रथा के निम्नलिखित दोष हैं :—

(१) काश्तकार से अत्यधिक लगान लिया जाता है। जमींदार के लिए अत्यधिक लगान वसूल करना इसलिए सम्भव हुआ कि कृषि योग्य भूमि कम है और जनसंख्या का दबाव निरन्तर बढ़ रहा है। इसलिए ज़मीनों के टुकड़ों के लिए खुली हुई प्रतिस्पर्द्धा है।

(२) मौजूदा काश्तकारों को ज़मीनों पर अधिकार नहीं है। बेदखलीकार काश्तकार को, ज़मींदार किसी भी समय बेदखल करा सकता है। इसीलिए काश्तकार भूमि की उन्नति में कोई दिलचस्पी नहीं लेता और फलस्वरूप भूमि की उपज में वृद्धि नहीं होती।

(३) अत्यधिक लगान के अतिरिक्त, किसानों को बेगार और कई प्रकार के अन्य अवैध भुगतान करने पड़ते हैं। उदाहरणार्थ किसानों को नज़राने देने पड़ते हैं, या जमींदार के लड़के-लड़कियों के विवाहों पर उपहार देने पड़ते हैं।

भूमि-अधिकार सम्बन्धी सुधार (Tenancy Reform)—हाल के कुछ वर्षों में भूमि अधिकार की समस्या की गम्भीरता को सभी ने पहिचाना है, फलस्वरूप प्रायः प्रत्येक राज्य में भूमि-अधिकार सम्बन्धी कानून पास किए गए हैं। इन कानूनों के द्वारा निम्न प्रकार से काश्तकारी प्रथा के दोषों को दूर करने का प्रयास किया गया है और काश्तकारों की दशा को सुधारने का भी प्रयत्न किया गया है।

(i) **लगानों में कमी (Reduction of Rents)**—एक जमींदार काश्तकारों से वैध रूप में लगान की जो राशि ले सकता है, अधिकांश राज्यों में उसकी अधिकतम सीमाएँ नियत कर दी गई हैं। उदाहरणार्थ, पंजाब में यह कुल उत्पादन की एक-तिहाई से अधिक नहीं हो सकती। इसी प्रकार, उड़ीसा में सिंचित भूमियों पर १/४ की व्यवस्था है। राजस्थान में इसे अत्यधिक न्यून रखा गया है अर्थात् कुल उत्पादन का १/६। उसी प्रकार जम्मू और कश्मीर में सिंचित भूमि पर १/४ उत्पादन और सूखी भूमि पर १/३ उत्पादन लिया जाता है। मद्रास में सिंचित भूमि पर ४०% और ३३१/३% अन्य भूमियों पर लगान रूप में लिया जाता है। इस प्रकार भिन्न राज्यों में भिन्न स्थिति है।

कतिपय राज्यों जैसे, बम्बई में ज़मींदार की इच्छा की चिन्ता किए बिना अपने लगान विषयक फसल के अंश को नकद लगान में ले सकते हैं। बिहार में यह व्यवस्था अधिक बढ़ी हुई है। जिन्सी लगानों को नकद लगानों में बदला जा सकता है, और उनका आधार वर्तमान की उच्च कीमतें नहीं, बल्कि अदला बदली के आधार वह कीमतें हैं, जो द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व ५ वर्षों की अवधि में प्रचलित थीं।

(ii) **भूमि-अधिकार (पट्टा) की सुरक्षा (Security of Tenure)**—काश्तकारों को जो दूसरा महत्त्वपूर्ण लाभ प्रदान किया गया है, वह है भूमि-अधिकार की सुरक्षा। अधिकांश राज्यों में कानून द्वारा व्यवस्था की गई है, जब तक काश्तकार लगान का भुगतान करता रहे, उसे बेदखल नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए बम्बई,

भूतपूर्व हैदराबाद के आन्ध्रप्रदेश के भाग, मद्रास और मैसूर, पंजाब और हिमाचल प्रदेश में उन काश्तकारों को भूमि अधिकार सम्बन्धी सुरक्षा द दी गई है जो ऐसी भूमि पर खेती करते हैं जिस पर स्वयं जमींदार खेती न करना चाहे। कुछ राज्यों म भूमि पट्टे की अल्पतम अवधि नियत कर दी गई है। उदाहरणार्थ पंजाब और मद्रास (तंजौर) में ५ वर्ष और आन्ध्र प्रदेश में ६ वर्ष।

भारत १९५८ (India 1958) के अनुसार भूमि अधिकार सम्बन्धी व्यवस्थापन के आधार पर देश में ६% कृषियोग्य भूमि पर काश्तकारों को पूर्ण अधिकार प्राप्त हो गए हैं, ७६% कृषियोग्य भूमि पर आंशिक अधिकार और सुरक्षा है और १२% भूमि पर काश्तकारों को सुरक्षा का कतई अभाव है।

(iii) अपनी जोतों को क्रय करने का अधिकार (Right of Purchasing their Holdings)—श्रमशील काश्तकारों को प्रोत्साहन देकर किसान स्वामी बनने के लिए कई राज्यों मे किसानों को अपनी जोतें या तो इस उद्देश्य क लिए नियुक्त न्यायालयों (जैसे बम्बई और हैदराबाद म) द्वारा निश्चित न्यायपूर्ण कीमतों अथवा भूमि लगान या किराए के किसी गुणनफल पर (जैसा कि पेप्सू म जहाँ दखीलकार काश्तकार भूमि लगान या किराये का, जो भी न्यून हो १२ गुना भुगतान करके स्वामी बन सकता है) क्रय करने का अधिकार दिया गया है। इस अधिकार में यह शर्त रखी गई है कि ऐसा करने में जमींदार की कुल जोत नियत अधिकतम सीमा से नीचे नहीं जानी चाहिए।

(iv) स्थायी सुधारों के लिए मुआवज़ा (Compensation for Permanent Improvements)—भूमि छोड़ने पर किसानों को इमारतों, नालियों कुओं आदि सरीखे सुधारों के लिए, जो उसने किए होंगे अथवा पेड़ों के लिए जो उसने उगाए होंगे, मुआवजे का अधिकार होगा।

(v) दुर्भिक्षों या अन्य प्राकृतिक आपदाओं के समयों पर जब जमींदारों को भूमि-लगान म छूट द्वारा सहायता दी जाती हो काश्तकारों को लगान की छूट।

(vi) बेगार तथा अन्य अनधिकृत अबवाबों या नज़रानों को अवैध करार दिया गया है।

(vii) लगान-सम्बन्धी बकाया की दशा म कुड़की से कुछ वस्तुओं को मुक्त रखा गया है। इन वस्तुओं म ये हैं—खड़ी फसलें, औजार, उपकरण और पशु आदि।

काश्तकारी विधान का मूल्यांकन (Estimate of Tenancy Legislation)—निःसन्देह उक्त विधान से काश्तकार, विशेषत दखीलदार काश्तकार की अवस्था म सुधार होगा। किन्तु हम यह भूलना न चाहिए कि इस प्रकार के कानूनों मे त्रुटियाँ भी खोजी ही जा सकती हैं। जमींदार लोग पर्याप्त धनी हैं और वह कानूनी विशेषज्ञों के परामर्श से लाभ उठा सकते हैं। इसलिए भूमि पर जनसंख्या का अत्यधिक दबाव और उसके साथ किसानों म संगठन का अभाव गरीब किसानों को कानून के चक्कर म डाल देता है। आखिर, है तो यह माँग और पूर्ति का ही प्रश्न। जब भूमि की माँग अत्यधिक तीव्र होती है, उस समय जमींदार को हमेशा ऐसे काश्तकार मिल सकते हैं, जो इस तरह की शर्तों को भी मान लेंगे जो कानून के अनुसार नहीं

भी होगी। इस भाँति, वर्तमान में भूमि के सम्बन्ध में प्रचलित चोर-बाजारी का यह एक अन्य रूप है।

इसलिए वैधिक उपबन्धों के रहते हुए भी प्राय. जमींदार अत्यधिक लगान वसूल करते हैं और हजारों की संख्या में काश्तकार रोज़ाना बेदखल हो रहे हैं। ऐसे काश्तकारों की संख्या भी अत्यधिक कम है जो जमींदार से अपनी जमीनें खरीदकर स्वयं जमींदार बने हैं। व्यक्तिगत काश्तकारी की शर्त के कारण भी जमींदारों से जमीनें छीनी जा सकती हैं। यदि किसी जमींदार ने खुदकाश्त के लिए जमीन को रोक लिया है तो सरकार को देखना चाहिए कि क्या स्वयं जमींदार या उसके घर के लोग स्वयं खेती करते हैं या नहीं।

जिस समय तक, 'भूमि सम्बन्धी भूख' की वर्तमान तीव्रता जारी रहेगी, उस समय तक सर्वोत्तम विधान भी अपने उद्देश्य को पूर्णतया प्राप्त करने में असफल होगा। इसके अतिरिक्त, क्या हमारे पास ऐसे प्रशासन सम्बन्धी प्रबन्ध हैं कि काश्तकारों के लिए संरक्षणात्मक उपाय किए जा सकें? इसका स्पष्ट उत्तर 'नहीं' है। इस प्रकार यह विधान केवल शमनात्मक ही है, इसे चिकित्सा नहीं कह सकते।

और यदि यह मान भी लें कि देश के भूमि-अधिकार सम्बन्धी नियम सफल हैं, तो भी हमारी समस्या का समाधान नहीं होता। फिर भी वे कठिनाइयाँ तो हैं ही और त्रुटियाँ भी हैं जो छोटी जोतों की कृषि के कारण काश्तकारों में जन्मजात हैं; भले ही इन काश्तकारों का स्वरूप कानून द्वारा संरक्षित हो अथवा उन्होंने भूमि-सम्बन्धी अधिकार सीधे राज्य से ग्रहण किए हों। इन दोषों और कठिनाइयों को दूर करने के लिए सहकारी कृषि-कार्य ही एकमात्र उपाय है।

प्रश्न ३—**भारत में जमींदारी प्रथा के उन्मूलन पर एक निबन्ध लिखिए।**

Q. 3—Write an essay on the abolition of the Zamindari System in India

भारतीय जनता के इतिहास में वह एक दुर्दिन था, जब कि लार्ड कार्नवालिस ने १७९३ में केवल कलम की नोक से देश के बहुत बड़े भाग पर एक ऐसे भूमि-अधिकार की स्थापना की थी, जो एकाएक, तब से लेकर भारतीय कृषि और ग्रामीण समाज के क्षय का मुख्य कारण बना हुआ है। इसके प्रथम कुछ वर्षों में भले ही किंचित् आर्थिक उद्देश्य प्राप्त हुए हों, किन्तु शीघ्र ही इसका शोषण और दमन के साधन के रूप में पतन हो गया। बंगाल के एक भूतपूर्व लेफ्टीनेंट गवर्नर के शब्दों में इस प्रणाली ने "ऊँचे स्तर पर सामन्तवाद और निम्न स्तर पर दासता" की उत्पत्ति के सिवा अन्य कुछ नहीं किया।

इसके कारण लगान की दर बहुत ऊँची हुई और कृषि में अत्यधिक ह्रास हुआ। जमींदार लोग अपनी भूमियों में सुधार-विषयक रत्तीमात्र रुचि रखने के बजाय केवल अति-दूर रहने वाले शोषक बन गए। राज्य और वास्तविक किसान के मध्य बिचौलियों की बहुत बड़ी संख्या उत्पन्न हो गई थी, जिन्हें सिवा इस बात के अन्य कोई काम नहीं था कि वे अपने ही हितों की ओर ध्यान दें। उन्हें तो अपने हितों की चिंता के सिवा जोतने वाले के जीवन-निर्वाह तक की चिंता नहीं होती थी। उप-

सामंतिकता की यह विधि इतनी उपहासास्पद बन गई थी कि कभी-कभी बिचौलियों की संख्या ५० तक हो जाती थी। ऐसी अवस्था में वास्तविक किसान की दशा का सहज अनुमान किया जा सकता है। आर्थिक दृष्टि से वह कंगाल होता था और सामाजिक दृष्टि से उसकी अवस्था दास के समान होती थी।

इस प्रणाली के कारण उत्पन्न हुई आर्थिक अयोग्यता और सामाजिक अन्याय शीघ्र ही दृष्टिगोचर होने लगे। फलस्वरूप काश्तकार की रक्षा के लिए विशेष रूप से वर्तमान सदी के प्रारम्भिक तीन वर्षों में वैधानिक उपाय किए गए किन्तु जमींदारों ने उन कानूनों को लांघने की विधियाँ खोज निकाली। भूमि पर जनसंख्या के अत्यधिक दबाव के कारण, आखिर भूमि के लिए क्षुधा तो थी ही और इसी ने जमींदारों को काश्तकारी विधान से बचने में सहायता की। इस प्रकार यह अनुभव किया गया कि काश्तकारी विधान, चाहे वह कितना ही बढ़िया हो, केवलमात्र शमनात्मक है और जमींदारी प्रथा की आर्थिक और सामाजिक बुराइयों का इलाज नहीं। फलस्वरूप इस प्रथा के उन्मूलन का समर्थन होने लगा।

इसके उन्मूलन के लिए आर्थिक कारणों को सामाजिक और राजनीतिक न्याय की दृष्टि से अधिक बल प्राप्त हुआ। हाल ही में प्राप्त हुई स्वतन्त्रता लाखों शोषित तथा पददलित काश्तकारों के लिए अर्थहीन थी यदि उन्हें जमींदार के जुए से मुक्त नहीं किया जाता।

इसलिए अनेक राज्य सरकारों ने गत ३ ४ वर्षों में इस विघातक प्रणाली का उन्मूलन करने के लिए अधिनियम पास किए हैं। यही नहीं कि जमींदारी उन्मूलन विषयक विधान स्वीकार कर लेने से ही सारा प्रश्न सहज हो गया हो। निहित स्वार्थों ने उससे बचने की भरसक चेष्टा की। फिर भी इस समय (१९५१ के मध्य में) सारे देश में स्थिति इस प्रकार है—

(क) ४३% भूमि पर जमींदारियाँ थीं।
(ख) ४०% भूमि पर जमींदारी उन्मूलन विधि लागू हो चुकी है।
(ग) ३८% भूमि जमींदारी से मुक्त हो चुकी है।
(घ) ५% भूमि पर अब भी जमींदारी अधिकार है।

जमींदारी प्रथा का अन्त करते समय राज्य सरकारों के सामने कई प्रकार की कठिनाइयाँ थीं। जिन लोगों की जमींदारियाँ छिन रही थीं उनका तीव्र विरोध चल रहा था। इसके अतिरिक्त भी राज्य सरकारों के सामने कई अन्य समस्याएँ थीं। उदाहरणार्थ, मुआवजे के रूप में जमींदारों को देने के लिए अपरिमित धनराशि कहाँ से आए। इससे बड़ी एक अन्य समस्या यह निर्णय करने की थी कि इस प्रथा के स्थान पर उचित प्रणाली क्या हो सकती है—आया कि राज्य बड़े बड़े सरकारी फार्मों को चलाए या जमींदारों की जगह राज्य के स्वामित्व में किसान अपनी छोटी जोतों पर कृषि करना जारी रखें। प्रसन्नता की बात है कि कठिनाइयाँ और बाधाएं ठोस रूप से पार कर ली गई हैं। अधिकांश राज्यों ने मुआवजा देने का निर्णय कर लिया है। ये मुआवजे ४० वर्षों में भुगतान करने योग्य बांड के रूप में दिए जाएंगे, जिन पर ब्याज तो मिलेगा, किन्तु ये बांड हस्तांतरण योग्य नहीं होंगे। भूमि पर विद्यमान

काश्तकार ही कृषि करते रहेंगे, किन्तु सहकारी कृषि-कार्य समितियाँ बनाने के लिए उन्हें सुविधाएँ और रियायतें दी जाएँगी। भविष्य में बड़ी-बड़ी जोतों और व्यक्तिगत रूप में कृषि के लिए काश्तकारों से भूमि पुनः प्राप्त करने से बचने के लिए व्यक्तिगत जोतों पर रोक लगा दी गई है। अधिकांश राज्यों में इस प्रथा के उन्मूलन सम्बन्धी जो विधान स्वीकृत हुए हैं, उनमें यह बातें प्रायः समान रूप से रखी गई हैं।

लेकिन यह बात याद रखने योग्य है कि ज़मींदारी-उन्मूलन से राज्यों के प्रशासनीय स्रोतों पर भारी दबाव पड़ा है। उन्मूलन के साथ ही ज़मींदारों की क्षतिपूर्ति का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है, पुराने कागज़ातों (रिकार्डों) को तैयार करना अथवा किसानों की जोतों आदि का पुनरीक्षण (जिसमें उनके नाम आदि दर्ज होते हैं) तथा लगान या राजस्व आदि जो उन्हें अदा करने हैं। इसके अलावा लगान और राजस्व तथा रिकार्ड आदि रखने की व्यवस्था करने का काम भी इसमें शामिल है।

प्रश्न ४—भारत में भूमि-समस्या का क्या स्वरूप है? इसके निराकरण के लिए समुचित नीति की रूपरेखा बताइए।

Q 4—What is the nature of land problem in India? Outline a suitable policy for its solution.

निःसंदेह, भारतीय कृषि की भूमि-सम्बन्धी समस्या हमारी अर्थ-व्यवस्था की सर्वाधिक आधार-मूल दुर्बलता है। इसलिए, इसके निराकरण का स्वरूप न केवल कृषि-विषयक विकास के आकार और उसकी गति को ही प्रत्युत राष्ट्र के सम्पूर्ण आर्थिक और सामाजिक स्वरूप को भी प्रभावित करेगा।

भूमि-समस्या का स्वरूप (Nature of the Land Problem)—आइए, इसके सही स्वरूप को समझने की चेष्टा करें। यह मुख्य रूप में भूमि के स्वामित्व और उपयोग का प्रश्न है। अभी हाल में ज़मींदारी प्रथा के उन्मूलन तक, देश के बहुत बड़े भाग की भूमियों के स्वामी ज़मींदार लोग थे, और वह भूमियों से सदा अनुपस्थित रहते थे। वास्तविक कृषि-कार्य काश्तकारों की बहुत बड़ी संख्या के हाथों में था। राज्य और वास्तविक किसान के बीच बहुत बड़ी संख्या में बिचौलिए पैदा हो गए और उन्होंने उच्च लगानों तथा सब प्रकार की अवैध तकावियों के द्वारा असली जोतने वालों का शोषण किया।

देश के शेष भाग पर भी, जहाँ महलवारी या रैयतवार भूमि-अधिकार प्रचलित था, जनसंख्या के अनवरत दबाव के कारण, काश्तकारी कृषि देश के एक अच्छे अनुपात पर फैल गई। काश्तकारी प्रणाली भी, जैसी कि देश में पाई जाती थी, इतने बुरे ढंग की थी कि काश्तकार को भूमि-अधिकार के विषय में कोई सुरक्षा नहीं थी, उसमें न तो पूँजी और श्रम-नियोजन के लिए प्रेरणा थी, और न ही नियोजन के लिए उसके पास किसी प्रकार की पूँजी थी। इस प्रकार, उत्पादन के दृष्टिकोण से भूमि-प्रणाली अत्यधिक अयोग्य थी और सामाजिक दृष्टि से अत्यधिक अन्यायपूर्ण ही नहीं प्रत्युत बुराइयों भी थी।

भूमि पर जनसंख्या के अत्यधिक दबाव ने, जिसके साथ-साथ ग्राम-उद्योगों का ह्रास भी सम्मिलित था, ग्रामों में भूमि-हीन श्रमिकों के बड़े भारी वर्ग को जन्म दिया

और इनकी अवस्था तो काश्तकारो से भी कही अधिक बुरी थी। यह वर्ग आर्थिक अभाव के अलावा, धीरे धीरे सामाजिक अयोग्यनाओ से भी पीडित होने लगा।

इस प्रकार, स्वामित्व के दृष्टिकोण से भारत के ग्राम-समाज म सर्वोपरि तो सामन्तवाद पैदा हो गया और नीव म दासता और देश की जनसख्या का बहुत बडा भाग इन्ही निम्न दासो द्वारा निर्मित है। इस प्रणाली की उत्पादनशील क्षमता निम्न-तम स्तर की ही हो सकती थी।

एक अन्य रूप, अर्थात् भूमि प्रबन्ध, भी समान रूप से भयकर है। जनसख्या के दबाव के फलस्वरूप कृषि की छोटी छोटी इकाइयाँ हो गई, जो परिणाम की दृष्टि से अत्यधिक अनार्थिक और अयोग्य थी। खेतो की यह लघुता और अपखण्डित स्वरूप सब प्रकार की कृषि-विषयक प्रगति के मार्ग म भीषण बाधा है। जब तक भूमि-प्रबन्ध की इकाई को उन्नत नही किया जाता, हम वृद्धिशील उत्पादन की आशा नही कर सकते।

सार रूप म, देश की भूमि-प्रणाली स्वामित्व की दृष्टि से, जिसके साथ सबसे नीचे के स्तर पर भूमि हीन वर्ग (साढे तीन करोड) की बडी भारी सख्या है, साम-तिक और शोषणात्मक है, और उपयोग की दृष्टि से यह अन्तहीन उप-विभाजन और खण्ड विभाजन के कारण अत्यधिक अनार्थिक और अयोग्य है।

भूमि-समस्या का निराकरण या समुचित भूमि-नीति (Solution of the Land Problem or A Suitable Land Policy)—हमारी भूमि सम्बन्धी समस्या का निराकरण ऐसे ढग से होना चाहिए कि निम्न दो उद्देश्यो की पूर्ति हो सके—

आर्थिक दृष्टि से, इसके कृषि विषयक उत्पादन म वृद्धि और ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में उन्नति और भिन्न रूपता का विश्वास होना चाहिए। सामाजिक दृष्टि से, जो किसी प्रकार भी कम महत्त्वपूर्ण नही इसे सम्पत्ति और आय की असमानताओ को कम करना चाहिए, शोषण का अन्त करना चाहिए, यह काश्तकारो और श्रमिको को सुरक्षा प्रदान करे और अन्तत, ग्राम जनसख्या के भिन्न भागो म समान स्तर और अवसर प्रदान करे।

स्पष्टतया, प्रथम चरण शोषक बिचौलियों के अन्त का होना चाहिए। प्रसन्नता की बात है कि यह प्रमुख भूमि सुधार देश के बहुत बडे भाग पर पहले से ही कार्य-कारी हो चुका है। कई राज्य सरकारें बिचौलिय के अधिकारो को ग्रहण कर चुकी हैं और, अन्य राज्यो म भी, जमीदारी उन्मूलन क्रमानुसार लागू किया जा रहा है।

इसके बाद उन भूमियो का प्रश्न आता है, जिनमे अस्थायी किसान की प्रथा जारी है। ऐसी भूमियो के विषय में काश्तकारो को भूमि अधिकार की सुरक्षा (५ वर्ष से कम नही) और न्यायपूर्ण लगान (कुल उत्पादन के $\frac{1}{5}$ या $\frac{1}{4}$ अश से अधिक नही) का विश्वास होना चाहिए। अधिकाश राज्य सरकारो ने इस दिशा म कार्यवाही की है अथवा कर रही है।

उपरान्त, भूमि के वास्तविक स्वामी है अथवा वे लोग है जो भविष्य म भूमि के बडे-बडे क्षेत्रो को क्रय द्वारा प्राप्त करेंगे। जैसा कि योजना कमीशन ने भी सुझाव दिया है, भूमि की मात्रा के विषय म ऐसी ऊपरी सीमा निश्चित होनी चाहिए जो

एक व्यक्ति ग्रहण कर सके । ऊपरी सीमा का विचार पूर्वतः दो भिन्न उपायों में स्वीकृत हो चुका है—अर्थात् (१) भविष्य की प्राप्ति के लिए सीमा, और (२) व्यक्तिगत कृषि लौटा लेने की सीमा । नियत सीमा से आधिक्य को काश्तकारों को स्वामी बनाने के उपयोग में लाना चाहिए । यदि वे स्वतः कृषि करें, तो योग्य उत्पादन के विश्वास के लिए प्रत्येक राज्य को ऐसा विधान जारी करना चाहिए जिसमें कृषि-विषयक स्तरों का उल्लेख हो और उसे प्रचलित करने की व्यवस्था हो । यदि वे इस प्रकार के स्तरों पर दृढ़ नहीं रहते, तो उन्हें उन भूमियों पर नियन्त्रण का अधिकार नहीं रहेगा । तिस पर भी ऊपरी सीमा का यह विचार एक कठिन प्रश्न उत्पन्न कर देता है । इसे किस अंक पर नियत करना चाहिए ? योजना कमीशन का सुझाव है कि यह एक परिवार की जोत से तीन गुना होना चाहिए । एक परिवार की जोत की यह व्याख्या होगी, जो कृषि-विषयक कार्यों की परम्परागत साधनों की सहायता से सम्पन्न करने वाले औसत आकार के एक परिवार के लिए जोत-इकाई या कार्य-इकाई के समान हो ।

अब हम छोटे और मध्य वर्ग के स्वामियों की बड़ी भारी संख्या का अध्ययन करते हैं । यदि वे स्वतः कृषि करते हैं, तो उनकी जोतों के लघु और अपखण्डित स्वरूप और उनकी निर्धनता तथा सामान्य अज्ञान की दृष्टि से निराकरण यह होगा कि उनके लिए अर्थ और प्रौद्योगिक सहायता का प्रबन्ध किया जाए तथा उनमें सहकारी कार्य-कलाप की भावना उत्पन्न की जाए । यदि वे अपनी भूमियों को काश्तकारों को पट्टे पर देते हैं और स्वतः अन्यत्र रोजगार कर लेते हैं, तो उन्हें बड़े जमींदारों की तरह अनुपस्थित नहीं समझना चाहिए, अन्यथा वे ग्राम से बाहर जाने में निरुत्साहित हो जाएँगे और इस प्रकार भूमि पर दबाव में कमी नहीं होगी । निःसंदेह, उनके काश्तकारी अधिकारों को किसी सीमा तक सुरक्षित करना होगा । अधिक महत्वपूर्ण यह होगा कि उन्हें सहकारी कृषि-कार्य के लिए सगठित किया जाए ।

अब हमें भूमि-हीन कृषि-श्रमिकों के विशाल वर्ग का अध्ययन करना बाकी है । जोतों के लिए ऊपरी सीमा नियत करने का आशय यह होगा कि उनके लिए कुछ भूमि उपलब्ध हो जाएगी । किन्तु इतना भर भी अत्यधिक लघु उपाय होगा । बड़े असामियों से जो भूमि प्राप्त की जाएगी, उस पर पहले से काम करने वाले काश्तकारों को प्राथमिकता दी जाएगी । इस कारण, आचार्य विनोबा भावे का भूदान यज्ञ आन्दोलन भूमि-हीन श्रमिकों के लिए विशेष महत्त्व रखता है । यहाँ तक कि इस आन्दोलन से भी हम केवल परिमित सहायता की ही आशा कर सकते हैं । सहकारी ग्राम-प्रबन्ध की प्रणाली को नियात्मक रूप देना ही इस समस्या के निराकरण के लिए सर्वोत्तम उपाय होगा ।

निष्कर्ष (Conclusion)—अब तक हमने भूमि में अन्तर्निहित विभिन्न हितों की दृष्टि से भूमि-नीति पर विचार किया है । अब हम इस बात का अध्ययन करेंगे कि भूमि-समस्या का निराकरण करने के लिए कौनसा विस्तृत आधार होना चाहिए । भारत के लिए सहकारी ग्राम-प्रबन्ध का आयोजन आदर्श आधार होगा । (अब यहाँ संक्षेप में उसके अंगों और लाभों को प्रकट करें । इसके लिए पूर्व अध्याय के प्रश्न

५ का उत्तर देखें।) कृषि-विषयक उत्पादन में वृद्धि के लिए आधारमूलक शर्त भूमि-प्रबन्ध की इकाई में वृद्धि है। सहकारी ग्राम प्रबन्ध प्रणाली इसे निश्चित रूप में पूर्ण करती है। साथ ही यह ग्राम-समुदाय के सब वर्गों के लिए समानता की अवस्थाएँ उत्पन्न करेगी और इस प्रकार सम्पत्ति और आय की असमानताओं को कम करेगी तथा अन्यो द्वारा कुछ के शोषण का अन्त करेगी। केवल इतना ही नही, यह ग्राम अर्थ व्यवस्था को भिन्न रूप प्रदान करेगी और स्थानीय रोजगार को विस्तार देगी। संक्षेपत, यह "भारतीय ग्राम को राष्ट्रीय योजना के ढांचे का महत्त्वपूर्ण और प्रगतिशील तथा भारी आत्म निर्भर आधार" बना देगी।

प्रश्न ५—भारत में हाल में जो भूमि सुधार हुए हैं, उनकी मुख्य मुख्य विशेषताओं पर प्रकाश डालिए। (उस्मानिया वि० वि० १५८, ज० क० वि० वि० १५८)

Q 5 What are the salient features of recent land reform measures undertaken in India ?

(Osmania Uni '58 , J & K Uni '58)

भारत में अब तक जो भूमि सुधार हुए हैं, वे मुख्यत निम्नलिखित तीन विभागों में बाँटे जा सकते हैं—

(१) बीच के बिचौलियों अर्थात् जमीदारों को हटाना,

(२) भूमि पट्टा सुधार—इसका अर्थ है लगान को कम करना जिससे किसानों का स्थायी अधिकार सुनिश्चित हो तथा साथ ही मालिक के लिए निर्धारित काल म अपने निजी उपयोग में जोत-बो के लिए अधिकतम जोत रखने का अधिकार मिले। साथ ही किसान को भूमि का अधिकार प्राप्त करने के लिए भू स्वामी को क्षति-पूर्ति के रूप में कुछ देना जिसकी अदायगी एक अवधि के भीतर फैली हो।

(३) कृषि का समुचित संगठन—इसके लिए चकबन्दी जोतो का न्यूनतम और अधिकतम आकार निश्चित करना, कुशल कृषि कार्य के स्तर का निश्चय और सहकारी कृषि व्यवस्था को प्रोत्साहन।

विभिन्न राज्यो में उपर्युक्त भूमि सुधारों के सम्बन्ध में क्या-क्या कार्य हुआ है, इसके लिए इस अध्याय के पिछले प्रश्नों को देखिए।

प्रगति का मूल्यांकन (Estimate of the Progress)—जमीदारी उन्मूलन का कार्य पूरी तौर पर लागू नहीं हुआ है। लेकिन जिन क्षेत्रों म ऐसा हुआ भी है वहाँ भी इससे काश्तकार की खास कठिनाई दूर नहीं हो सकती। जब तक वह विधि द्वारा निश्चित रकम को चुकाकर भूमि पर स्वय कब्जा नही कर लेता उसे लगान की वही रकम अन्य व्यक्ति अर्थात् राज्य को अदा करनी पडती है।

लगान के सम्बन्ध में कुछ एक राज्यो को छोडकर, जहाँ कमी की गई है, कई राज्यों म योजना आयोग की सिफारिश के विरुद्ध यह राशि कुल उत्पादन के एक चौथाई और पाँचवें हिस्से से भी अधिक होती है। यद्यपि कई राज्यो में भूमि पट्टा की सुरक्षा सुनिश्चित हुई है, लेकिन बहुत से राज्यो म किसी न किसी बहाने भारी संख्या म बेदखलियाँ चल रही हैं।

मौजूदा जोतो की ऊपरी सीमा की दिशा म केवल कुछ राज्यो म कुछ प्रगति

हुई है यद्यपि प्राय. सभी राज्यों मे भविष्य मे होने वाले अर्जन के बारे में कुछ उपबन्ध स्वीकृत हुए हैं।

चकबन्दी का काम भी कुछ राज्यों में ही उन्नति पर है। अन्य जगहों पर व्यावहारिक रूप में कुछ भी नहीं हुआ है।

हैदराबाद को छोड़ कर भूमि के प्रबन्ध तथा जोत-बो के बारे में स्तर बनाने सम्बन्धी उपबन्ध तथा स्तर न बनाए रखने पर पुनः प्राप्ति के बारे में कुछ नहीं हुआ है।

लेकिन इन सबका यह अर्थ कदापि नही है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद दस वर्षों में भूमि-सुधार की दशा मे कोई कार्य ही नहीं हुआ है। लेकिन इसमे कोई शक नही कि इस ओर उन्नति बडी मन्द गति से हुई है और अन्तिम लक्ष्य अर्थात् सहकारी ग्राम-प्रबन्ध के स्तर को प्राप्त करने के लिए उन्नति की इस गति को तीव्र करना होगा।

भूमि-जोत सम्बन्धी उच्चतम सीमाएँ
(Ceilings on Land Holdings)

भूमि-जोत की अधिकतम सीमा के प्रकार (Types of Land Ceilings)—भूमि सम्बन्धी नीति के लिए व्यक्तिगत जोत (भूमि) सीमा बहुत महत्त्वपूर्ण समस्या है। ऐसी सीमा दो प्रकार से लागू हो सकती है—(१) भविष्य में अर्जन के लिए सीमा; और (२) मौजूदा जोत की सीमा। अधिकतर राज्यों ने पहले से ही भविष्य में भूमि अर्जन के ऊपर उच्चतम सीमा लगा रखी है। उदाहरण के लिए उत्तर प्रदेश में १२½ एकड़ है। पंजाब में ३० एकड है, पश्चिमी बंगाल मे यह सीमा २५ एकड है; जम्मू और कश्मीर में यह सीमा २२¾ एकड है; राजस्थान मे ३० सिंचित एकड़ (या ६० शुष्क एकड) हैं; बम्बई, विदर्भ और कच्छ में ३ पारिवारिक जोत के बराबर है जो किसी न्यायाधिकरण के द्वारा निश्चित होगा। पूर्व बम्बई में १२ एकड़ से लेकर १८० एकड तक; मध्य प्रदेश में ५० एकड़ और भूतपूर्व मध्यभारत के क्षेत्र में ३० एकड से लेकर ६० एकड तक। (यह भूमि की उर्वरता के अनुपात में कम या अधिक हो सकता है।)

आधुनिक जोतों के आकार पर भी कई राज्यों मे अधिकतम सीमा लगा दी गई है। उदाहरण के लिए पंजाब राज्य (के पेप्सू प्रदेश) में ३० एकड; राजस्थान (के अजमेर प्रदेश) म ५० एकड, जम्मू और कश्मीर में २२¾ एकड; बम्बई (के मराठावाड़ प्रदेश) मे १८ से २७० एकड और विदर्भ तथा कच्छ क्षेत्रों में ६ पारिवारिक जोतें, असम में ५० एकड; आन्ध्र प्रदेश (के तेलंगाना क्षेत्र) में १८ से २७० एकड़ तक और पश्चिमी बंगाल में २५ एकड़।

एक अन्य प्रकार की भी अधिकतम सीमा जोत के विषय मे प्रभावी की जा सकती है। अर्थात् जमींदार जिस भूमि को अपनी जोत बनाने के लिए काश्तकारों से वापिस लें, उसके सम्बन्ध में भी अधिकतम सीमा होनी चाहिए। उदाहरण के लिए भूतपूर्व बम्बई राज्य के क्षेत्र मे कोई जमींदार किसी काश्तकार की ½ भूमि अपनी जोत के लिए वापिस माँग सकता है, बशर्ते कि उसकी निजी जोत मे जो जमीन पहले

से ही है उससे मिलाकर उसकी जोत तीन ग्राधिक जोतो (१२ से ४८ एकड तक) से अधिक न हो जाए। इसी प्रकार जम्मू और कश्मीर राज्य म भी जमीदार की व्यक्तिगत जोत पर अधिकतम सीमा है। उदाहरणार्थ, कश्मीर राज्य म २ एकड नम भूमि और ४ एकड खुश्क भूमि। उसी प्रकार पजाब म अधिकतम सीमा ३० स्टैण्डर्ड एकड़ भूमि रखी गई है

योजना आयोग ने निम्नलिखित प्रकार के फार्मों को अधिकतम सीमा से मुक्त कर दिया है—(१) सामाजिक, मिले-जुले या पृथक् भागो से निर्मित फार्म उद्योग जैसे चाय, काफी या कहवा और रबड के फार्म, (२) मिले-जुले घने क्षत्रो के बागान, विशिष्ट तकनीकी फार्म, जैसे पशुपालन के कार्य के फार्म या डेरी फार्म (Dairy farm), या ऊन उत्पादन करने वाले फार्म आदि, और (४) सुप्रबन्धित घने और बडे फार्म आदि जिन पर कार्यपटुता से काम हो रहा है।

जनवरी १९५९ मे अखिल भारतीय काग्रेस ने अपने नागपुर अधिवेशन में भूमि-सम्बन्धी नीति पर यह सकल्प पास किया है। उसमे सभी राज्य सरकारो से माँग की गई है कि वे जोतो की अधिकतम सीमा निर्धारित करते हुए विधान पास कर दें।

प्रश्न ६—भारत में कृषि जोतो की अधिकतम सीमा निश्चित करने के सम्बन्ध में अनुकूल तथा विरोधी तत्त्वों पर प्रकाश डालिए। (दिल्ली १९५४)

Q 6—Argue the case for and against the fixatim of a ceiling of agricultural holdings in India. *(Delhi 1954)*

जोत की अधिकतम सीमा निर्धारित करने के पक्ष में तर्क (Case for Land Ceilings)—अधिकतम सीमा-निर्धारण करने का मुख्य उद्देश्य यह है कि भूमि का समान वितरण तथा उपयोग हो। इसका उद्देश्य है छोटे किसानो को समान रूप से भूमि में हिस्सा मिले तथा भूमि का उपयोग और स्वामित्व समान हो, जैसा कि अब तक नही हुआ था। इससे निम्न मुख्य लाभ होने की आशा है—

(१) इससे कृषि के काम मे लगे लोगो को पूर्ण रोजगार प्राप्त होगा। अधिकतम सीमा से अतिरिक्त भूमि भूमिहीन किसानो को मिलने से उन्हे अधिक भूमि प्राप्त होगी तथा सहायक कार्यों द्वारा ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को सुधारने का अवसर प्राप्त होगा। बहुत समय से भूमिहीन कृषक श्रमिको की समस्या पर विचार हो रहा है, किन्तु अभी तक इस दिशा म कुछ भी नही हो सका है। इस उपबन्ध से उनकी दशा में सुधार होने की आशा की जा सकती है।

(२) भूमिहीन तथा कम भूमि वाले लोगो को भूमि मिलने से, उस भूमि पर जिस पर कि वे मजदूरो की तरह काम करते हैं, स्वामित्व के अधिकार मिलेंगे तथा काम करने का प्रोत्साहन बढेगा। जब उन्हे बेदखल होने का भय नही रहेगा तो वे अपनी भूमि पर कठिन श्रम करेंगे और फलस्वरूप उनकी भूमि सोना उगलेगी। अत देश की समृद्धि बढ़ेगी।

(३) जोतो की अधिकतम सीमा निर्धारित हो जाने के बाद भूमि का न्यायपूर्ण वितरण सम्भव होगा और इस प्रकार समाजवादी समाज-व्यवस्था का देश में

निर्माण होगा। हमारा लक्ष्य भी यही है। आय और सम्पत्ति सम्बन्धी असमानताओं को घटाकर इस उपाय से देहाती समाज में आर्थिक और सामाजिक न्याय मिलेगा। इस प्रकार जब समृद्ध वर्ग और अभावग्रस्त वर्ग का भेद समाप्त हो जाएगा, तो देश में और देहात में अधिक उत्पादन के लिए उचित वातावरण की सृष्टि होगी।

(४) भूमि के अधिक विस्तृत रूप में बँटने तथा स्वामित्व के कारण चकबन्दी का काम सहज होगा तथा सहकारी खेती का वास्तविक कार्य शुरू होगा, क्योंकि अभी तक चकबन्दी और सहकारी कृषि के मार्ग में जमींदारी वर्ग ही रोड़ा बना हुआ था। उनके हट जाने से यह मार्ग सुगम हो जाएगा।

(५) जोतों सम्बन्धी अधिकतम सीमा लगाने के बाद सहकारी कृषि का मार्ग प्रशस्त होगा, और इस सीमा के फलस्वरूप पर्याप्त भूमि मिल जाएगी जिस पर सहकारी कृषि के प्रयोग किए जा सकते हैं। सत्य यह है कि सरकार ने पहले ही घोषणा कर रखी है कि जोतों की अधिकतम सीमा के निर्धारण के फलस्वरूप जो भूमि प्राप्त होगी, वह केवल उन्हीं लोगों को दी जाएगी जो सहकारी कृषि करने के लिए उत्सुक होंगे।

(६) जब भूमिहीन लोगों को भूमि मिलेगी तो वे उस पर अधिक श्रम करेंगे और बजर भूमि तक को सुधारने का प्रयत्न करेंगे। इस प्रकार बेकार भूमि पर कृषि होगी और अन्न की समस्या हल होगी।

जोत की अधिकतम सीमा निर्धारण के विरुद्ध तर्क (Case against Ceilings)—जोत की अधिकतम सीमा निर्धारण करने के मार्ग में कई किस्म की आपत्तियाँ भी हैं, विशेष रूप से मौजूदा जोतों के अतिरिक्त भाग को भूमिहीन तथा कम भूमि वाले किसानों में वितरण के कारण। मुख्य आपत्तियाँ इस प्रकार हैं—

(१) मुख्य आपत्ति यह है कि जोतों की अधिकतम सीमा निर्धारित करने के बाद भी भूमिहीन कृषि मजदूरों की समस्या का अन्त नहीं होगा। इस उपाय से प्राप्त अतिरिक्त भूमि लाखों भूमिहीन श्रमिकों की आवश्यकताओं को पूरा नहीं करेगी। अनुमान है कि जोत सम्बन्धी अधिकतम सीमा २० एकड़ लगाने के बाद सारे देश में कुल ६३० लाख एकड़ भूमि वितरण के लिए हस्तगत होगी। इस भूमि के आधार पर हम भूमिहीन समुदाय को अधिक से अधिक २ एकड़ भूमि प्रति परिवार दे सकेंगे।

इस सम्बन्ध में निवेदन किया जा सकता है कि इतनी भूमि भी समस्या को कुछ न कुछ सरल तो करेगी ही। कुछ नहीं से कुछ न कुछ अच्छा ही होता है।

(२) इस दिशा में दूसरी आपत्ति यह उठाई जाती है कि इससे उत्पादन पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा। ऐसा दो प्रकार से होगा। जहाँ बड़े फार्म या जोत इस स्थिति में होते हैं कि वैज्ञानिक सुधार अपना सकें, भूमि के छोटे छोटे जोत इस दिशा में समर्थ नहीं होंगे, फलस्वरूप उत्पादन घटेगा। पुन: भूमि के पुनर्वितरण के फलस्वरूप भूमि ऐसे लोगों के हाथों में पहुँच जाएगी जिनके साधन अत्यन्त क्षीण होंगे।

किन्तु यह तर्क इस मिथ्या विचार पर आधारित है कि बड़े फार्मों से आवश्यकत अधिक उपज होनी चाहिए। और फलस्वरूप बड़े फार्मों का लघुकरण उत्पादन

को हानिकर होगा। किन्तु सत्य यह है कि अधिक श्रम लगाई हुई भूमि पर भी उतना ही उत्पादन होगा जितना कि मशीनी और तकनीकी उपायों के अपनाने वाले फार्म पर हो सकता है। अत अधिक श्रम लगाकर छोटी जोता पर उत्पादन अधिक हो सकता है।

(३) यह भी आपत्ति की जाती है कि इस सुधार से व्यक्तिगत सम्पत्ति धारण करने का उपबन्ध जिसे सविधान ने स्वीकार किया है, समाप्त होता है। यह सही है कि अधिक भूमि वालो को उनसे अतिरिक्त भूमि लेते समय क्षति-पूर्ति की रकम दी जाएगी, परन्तु व्यवहार म यह पूर्ति हास्यास्पद है, और यदि उचित और न्यायपूर्ण क्षति-पूर्ति की जाएगी तो राज्य सरकारो को वित्तीय कठिनाइयाँ होगी।

इसके जवाब म कहा जा सकता है कि क्षति पूर्ति की रकम उन लोगो से ले कर जिन्हे भूमि दी जाएगी, उनको दे दी जाएगी जिनसे भूमि ली गई है।

(४) जोत सम्बन्धी अधिकतम सीमा निर्धारित करने से देहाती आय भी सीमित कर दी जाएगी। न्याय की मांग है कि फिर शहरी आय पर भी सीमा लगे। यदि शहरी आय पर सीमा लगाना गलत है, तो फिर ग्रामीण आय पर ही यह पक्षपातपूर्ण आघात क्यो ?

इस तर्क के उत्तर मे कहा जा सकता है कि ग्रामीण भूमि ईश्वरीय देन है और उस पर सभी का अधिकार है। इसके अतिरिक्त भूमि सम्बन्धी सीमा निर्धारित करने का अर्थ आय निर्धारित करना नही है, क्योंकि किसान गहन कृषि के द्वारा अपनी आय किसी भी सीमा तक बढाने में स्वतन्त्र है।

(५) अतिरिक्त भूमि के अर्जन तथा पुनर्वितरण के लिए इतना अधिक काम होगा कि वह प्रशासन की क्षमता से बाहर होगा।

लेकिन यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस काम को किसानो की जन शक्ति की सहायता से पूरा किया जा सकता है। १९४९-५२ मे चीन में भी भूमि के पुनर्वितरण के कार्य को जन-सहयोग से ही पूरा किया गया था, और पजाब में भी चकबन्दी के काम को इसी तरह पूरा किया जा रहा है।

(६) चूंकि पुनर्वितरण के लिए उपलब्ध भूमि बहुत ही कम है। अत बहुत ही कम प्रतिशत भूमिहीन श्रमिको को भूमि पर बसाया जा सकेगा। और भूमि के पुनर्वितरण से किसानो व विभिन्न वर्गों म सामाजिक वैमनस्य फैलेगा। विशेष रूप से किसान मजदूरो मे, अस्थायी किसानो (टेनेन्ट्स एट-विल) तथा छोटी जोत वालो में, क्योंकि इस प्रकार भूमि वितरण के समय सभी भूमि के दावेदार होगे। लेकिन चीन के अनुभव से पता चलता है कि सरकार की ओर से सही पथ प्रदर्शन मिलने पर यह सुधार-कार्य शान्तिपूर्वक तथा सफलता से चल सकता है।

यद्यपि इस तर्क म पर्याप्त बल है, फिर भी इस कठिनाई को आवश्यक सुधार के मार्ग में बाधक नही बनने देना चाहिए। ऐसे विरोधो और कठिनाइयो के ऊपर विजय प्राप्त की जा सकती है।

(७) यह भी डर है कि जोत सम्बन्धी अधिकतम सीमा से कृषि-उत्पादन की बाजार मे बिकने वाली वस्तुओं के परिमाण और मात्रा मे कमी होगी। कारण स्पष्ट

है कि बड़े किसान ही अपनी आवश्यकताओं से अधिक कृषि-उत्पादन करके उसका अधिकांश बाजार में लाते हैं।

किन्तु जैसा कि अशोक मेहता समिति ने बताया है, बड़े किसान ही आधिक्य उपज को दबा कर रख लेते हैं, क्योंकि वे अनाज आदि को सम्पन्न साधनों के आधार पर दबा कर रखने की स्थिति में होते हैं। यदि अशोक मेहता समिति का अध्ययन सही है, तब तो हम को आशा करनी चाहिए कि जोतों के आकार पर अधिकतम सीमा लगाने से बाजार में अधिक कृषि उत्पादन आएगा।

निष्कर्ष (Conclusion)—इस प्रकार हम देखते हैं कि जोतों सम्बन्धी अधिकतम सीमा का विरोध मुख्य रूप से अज्ञान पर आधारित है और उसमें तर्क को अधिक स्थान नहीं दिया गया है। वास्तव में अधिकतम सीमा का इस प्रकार निर्धारण करना तथा भूमि के पुनर्वितरण का कार्य तथा जमींदारों के उन्मूलन से भारतीय कृषि का भविष्य बड़ा उज्ज्वल हो जाएगा। इससे उसे पुष्टता तथा शक्ति प्राप्त होगी।

मालगुजारी (Land Revenue)

भूमि-अधिकार की प्रणालियों के साथ देश में प्रचलित मालगुजारी प्रणालियों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए, हम आगे बढ़ने से पूर्व उनका परीक्षण करेंगे।

प्रश्न ७—भारत में मालगुजारी निर्धारण और संग्रह करने की प्रणालियों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए। मालगुजारी में आप किन सुधारों की तजवीज करेंगे?

Q 7—Briefly describe the systems of land revenue assessment and collection in India. What reforms in the land revenue systems have you to suggest?

कई ऐतिहासिक कारणों से भारत में प्रचलित मालगुजारी निर्धारण की कोई एक सर्वमान्य प्रणाली नहीं है। इसके विपरीत, हमारे यहाँ इस प्रकार की प्रणालियों की इतनी बहुलता है कि जिससे भ्रम हो जाता है। सुविधा के लिए, भारत में प्रचलित विभिन्न प्रणालियों को निम्न दो भागों में बाँटा जा सकता है—

(क) मालगुजारी के भुगतान के लिए कौन जिम्मेदार है—के अनुसार—इस आधार पर तीन मुख्य प्रणालियाँ हैं, अर्थात् (१) जमींदारी प्रणाली; (२) महलवारी प्रणाली; (३) रैयतवारी प्रणाली।

(ख) समय की अवधि के अनुसार कि जिसके लिए निर्धारण नियत किया जाता है—यह सदैव के लिए एक ही बार नियत की गई हो या अवध्यात्मक रूप में संशोधन होता हो, जैसे, प्रति ४० वर्ष बाद।

(क) (१) जमींदारी प्रणाली के अधीन राज्य को सीधे मालगुजारी का भुगतान करने के लिए जमींदार ही जिम्मेदार है। उन क्षेत्रों में, जहाँ हाल ही में जमींदारी प्रथा का उन्मूलन किया गया है, किरायों या मालगुजारियों को एकत्र करने का काम सामान्यतया पंचायतों या गाँव सभाओं को सौंपा गया है।

(२) महलवारी प्रथा के अधीन, मालगुजारी के भुगतान का दायित्व उस महल (मौजा या राजस्व सम्पत्ति) के सब सह-भागियों की सारी सभा पर होता है। उस ग्राम-समुदाय के विभिन्न सदस्य संयुक्त रूप में और साथ-साथ अलग-अलग रूप में

मालगुज़ारी के भुगतान के लिए जिम्मेदार है। जो भी हो, वास्तविक चलन के अनुसार, प्रत्येक सदस्य भूमि के अपने निजी भाग पर निर्धारण के भुगतान के लिए उत्तरदायी होता है और सह-भागीदारो की भूमियो के भुगतान के लिए निर्लिप्त नही होता। पजाब म एक सह भागीदार सब सह-भागीदारो से मालगुज़ारी एकत्र करता है और उसे खज़ाने म जमा करा देता है। उसे लम्बरदार कहते हैं। उसे इस कार्य के पारिश्रमिक रूप म (कुल सग्रह का ५ प्रतिशत) "पचोत्रा" मिलता है। आगरा और मध्य प्रदेश जैसे अन्य महलवारी क्षेत्रो म, सह भागीदार सीधे सरकार को मालगुज़ारी का भुगतान करते हैं।

(३) रैयतवारी क्षेत्रो म, रैयत, रजिस्ट्रीशुदा आसामियाँ, जिन्हे पारिभाषिक रूप म मालिक नही कहा जाता, अपनी जोतो पर निर्धारित मालगुज़ारी के लिए व्यक्तिगत रूप मे जिम्मेदार होते हैं। या तो किसान सीधे राज्य का भुगतान करता है अथवा ग्राम के मुखिया द्वारा, जिसे पटेल कहते हैं।

(ख) निर्धारण की अवधि से सम्बन्धित, एक ओर तो हमारे यहाँ स्थायी बन्दोबस्त है, जिसे १७९३ में, लार्ड कार्नवालिस ने बगाल म प्रचलित किया था। जमीदारो द्वारा मालगुज़ारी के भुगतान को चिरस्थायी रूप म नियत किया गया था। बाद मे स्थायी बन्दोबस्त को बिहार, उड़ीसा, मद्रास के उत्तरी जिलो और उत्तर प्रदेश के बनारस डिवीजन तक फैला दिया गया था। भारत के भाग (क) राज्यो के कुल क्षेत्र का लगभग एक-चौथाई स्थायी बन्दोबस्त के अधीन है।

पजाब, बम्बई मध्य प्रदेश और अधिकाश मद्रास तथा उत्तर प्रदेश अस्थायी बन्दोबस्त के क्षेत्र हैं। इस प्रणाली के अनुसार, निर्धारण अवध्यान्तर रूप मे सशोधित होता रहता है, पजाब म ४० वर्ष बाद, मध्य प्रदेश मे २० वर्ष बाद और उत्तर प्रदेश में ३० वर्ष बाद। इन क्रमिक अवधियो की समाप्ति के बाद एक अत्यधिक विस्तृत मालगुज़ारी बन्दोबस्त किया जाता है। मालगुज़ारी के निर्धारण को नियत करने की सम्पूर्ण विधि ही 'बन्दोबस्त' है, और इसमें कुछ वर्ष लग जाते हैं और सरकार को काफी खर्च भी उठाना पड़ता है। भूमि को विस्तारपूर्वक नापा जाता है और अधिकार अभिलेखो (जमाबन्दी) को अद्यावधिक भी किया जाता है

निर्धारण का आधार (Basis of Assessment)—निर्धारण के आधार के विषय में, हम एक बार पुन राज्य से राज्य की भिन्नरूपता पर आ जाते हैं। मद्रास मे, मालगुज़ारी विशुद्ध उत्पाद के एक अनुपात पर निश्चित की जाती है अर्थात् उत्पाद की कुल राशि म से खर्च घटाने के बाद। पजाब और उत्तर प्रदेश म निर्धारण प्राप्त लगान का प्रतिशत होता है। यद्यपि आधार दोनो राज्यो म समान है तथापि लगान की भिन्न प्रतिशतो की माँग की जाती है और लगान- गणना मे असमान विधियो का प्रयोग किया जाता है। बम्बई म, निर्धारण का कोई निश्चित सिद्धान्त नही है ताकि वे निर्धारण के समय की प्रचलित सामान्य आर्थिक अवस्थाओ के आधार पर मालगुज़ारी निर्धारण कर सकें।

भली प्रकार समझने के लिए हम इनम से पजाब म प्रचलित एक प्रणाली का तनिक विस्तारपूर्वक अध्ययन करते हैं। हम ऊपर कह चुके है कि लगान निर्धारण का

आधार है। इसे 'विशुद्ध सम्पत्ति' कहते हैं। इस 'विशुद्ध सम्पत्ति' का २५ प्रतिशत सरकार ले लेती है। 'विशुद्ध सम्पत्ति' का अर्थ है, वह लगान जो अस्थायी किसान ने अदा किया हो और उसकी गणना इस प्रकार की जाती है। पहले जमींदार का (बटाई का) हिस्सा निकाल लिया जाता है। इसके बाद पानी की दर, सिंचाई-साधनों की रक्षा के दायित्व, बीज तथा खाद आदि के खर्चे, जो जमींदार अपने काश्तकार को देने में करता है, उन्हें जमींदार की बटाई के हिस्से में से घटाया जाता है। पहले तो यह *गणना जिन्स में की जाती है और उसके बाद*, बन्दोबस्त से पूर्व के २० वर्षों में प्रचलित औसत कीमतों के अनुसार उन्हें द्रव्य में बदल लिया जाता है।

'विशुद्ध-सम्पत्ति' गिनने की उपरिलिखित विधि की बड़ी आलोचना हुई है। इस विधि के अनुसार कल्पना की जाती है कि काश्तकार बटाई पर कृषि करता है, जब कि पंजाब में ऐसे किसान-मालिकों की बड़ी भारी संख्या है जिनकी आय के विषय में यह कल्पना करना गलत होगा कि वह जमींदार के लगान के बराबर होगी। इसके अतिरिक्त, 'विशुद्ध सम्पत्ति' की गणना करते हुए, किसान की आय निकालने के लिए किसान और उसके परिवार के श्रम की पगारों को नहीं घटाया जाता। इस *प्रकार, जमींदार की 'विशुद्ध सम्पत्ति' के अनुसार मालगुज़ारी की गणना न्यायपूर्ण* होने की अपेक्षा निश्चित रूप से भारी होगी।

मालगुज़ारी प्रणाली के दोष (Defects in Land Revenue System)—इस संक्षिप्त विवरण के बाद, अब हम इस स्थिति में हैं कि देश में प्रचलित मालगुज़ारी प्रणालियों के विभिन्न दोषों का अध्ययन कर सकें। इन प्रणालियों की जिन मुख्य आधारों पर आलोचना की जाती है, वे निम्न हैं—

(१) मालगुज़ारी प्रणाली में आधारमूलक दोष इस बात में है कि भूमि को वास्तविक रूप में जोतने वाले पर *मालगुज़ारी का निर्धारण नहीं होता, बल्कि उन पर होना है, जो अनुपस्थित जमींदार बन गए हैं। इसके कारण काश्तकारी प्रणाली का उदय हुआ जो कि भारतीय कृषि का निकृष्ट रूप है।*

(२) मालगुज़ारी का भार सर्वसामान्य *नहीं है और ये असमानताएँ भूमि की उत्पादन क्षमताओं के अनुसार भी नहीं हैं। स्थायी बन्दोबस्त के क्षेत्रों पर अत्यधिक* हल्का निर्धारण होता है, जब कि अन्यों पर भारी बोझा पड़ता है। उदाहरणार्थ, पश्चिमी बंगाल के राज्य में स्थायी बन्दोबस्त के क्षेत्रों में औसत मालगुज़ारी केवल ६ आने प्रति *एकड़ है, जबकि शेष राज्य में लगभग २ रु० है।*

(३) समग्र रूप में मालगुज़ारी का बोझा द्वितीय विश्व-युद्ध के छिड़ने के समय तक बहुत अधिक था। नए बन्दोबस्त के समय, बन्दोबस्त अफसर की प्रवृत्ति यह रहती है कि विद्यमान निर्धारण को ही प्रचलित रखा जाए। इसमें सन्देह नहीं कि इन दिनों की उच्च कृषि-कीमतों के कारण मालगुज़ारी निर्धारण अत्यधिक बोझल न जान पड़ता हो, किन्तु वर्तमान की कीमतें असाधारण रूप में ऊँची हैं, और जब पुनः सामान्य कीमतें हो जाएँगी, तो मालगुज़ारी निर्धारण पुनः बोझल बन जाएगा। *सत्य यह है कि इस समय मालगुज़ारी हल्की है और कई राज्य जैसे मद्रास, मैसूर* पंजाब आदि मालगुज़ारी पर अधिकर (Surcharge) भी लगा रहे हैं।

(४) करारोपण की समता-रीति के अनुसार मालगुजारी नहीं लगाई जाती। न तो अनार्थिक छोटी जोतों को छोड़ा जाता है और न ही बड़े भू स्वामियों से उच्च आनुक्रमिक दरें ली जाती हैं। अभी कुछ ही दिनों से ऊँची कृषिजन्य आयों पर कुछ राज्यों ने आय कर भी मालगुजारी के अतिरिक्त लगाया है।

(५) मालगुजारी निर्धारण के आधार भी न्यायपूर्ण नहीं हैं। कृषि के 'विशुद्ध लाभों' को ही आधार बनाना चाहिए, किन्तु गणना-विधियों के विषय में अन्य आपत्तियों के अलावा यह आपत्ति तो प्रमुख है कि किसान और उसके परिवार के श्रम की मजदूरी को नहीं घटाया जाता।

सुधार के उपाय (Lines of Improvement)—अब हम इस स्थिति में हैं कि देश में प्रचलित मालगुजारी प्रणालियों के विषय में उचित सुधारों के सुझाव दे सकें।

(१) सर्वाधिक महत्वपूर्ण सुधार यह होगा कि जमींदारी बन्दोबस्त की जगह रैयतवारी बन्दोबस्त कर दिया जाए, अर्थात् मालगुजारी का निर्धारण सीधे किसान पर होना चाहिए। यह प्रसन्नता की बात है कि कई राज्यों में जमींदारी उन्मूलन का निर्णय हो चुका है और कुछ राज्यों (उत्तर प्रदेश और मद्रास) में उसे क्रियात्मक रूप दिया जा चुका है, और अन्य अनेक में उसे सक्रिय रूप देने की भिन्न कार्यवाहियाँ हो रही हैं। इसके साथ ही जमींदारी बन्दोबस्त का भी लोप हो जाएगा।

(२) स्थायी बन्दोबस्त भी हटा देना चाहिए।

(३) इस आशय से कि मालगुजारी करारोपण में समता रीति के अनुसार निश्चित होनी चाहिए, इसके लिए कृषि-सम्बन्धी आयों पर आयकर का सुझाव दिया गया है। किन्तु, राज्य सरकारें अभी वित्तीय कारणों से इस परिवर्तन को कार्यकारी करने की स्थिति में नहीं हैं। इस परिवर्तन के कारण इस स्रोत से आय में बड़ी भारी न्यूनता हो जाएगी और राज्य ऐसा कर सकने में असमर्थ हैं। जो भी हो, कुछ राज्यों ने पूर्वत निर्धारित मालगुजारी के अतिरिक्त उच्च कृषि-आयों पर आय कर लगा दिया है।

(४) "विशुद्ध लाभों" की गणना इस प्रकार होनी चाहिए कि किसान के सब खर्चों को जिसमें उसकी तथा उसके परिवार की श्रम-मजदूरी भी शामिल हो, कुल आय में से घटाया जाए।

(५) मालगुजारी निर्धारण में सर्वाधिक महत्वपूर्ण सुधार यह करना चाहिए कि कृषि विषयक कीमतों में परिवर्तन तथा जलवायु-सम्बन्धी अवस्थाओं (जैसे, वर्षा का न होना) की दृष्टि से इसे अधिक लोचदार बनाया जाए। चूँकि मालगुजारी का भुगतान द्रव्य में हो सकता है, इसलिए यह सर्वथा उचित ही है कि कीमतों में उतार-चढ़ाव के अनुसार इसका समन्वय किया जाए। इस दिशा में, पंजाब में पूर्वत श्रीगणेश किया जा चुका है जहाँ निर्धारण की विवर्तक प्रणाली (सरकने वाले स्तर की प्रणाली) को १९३५ में कुछ जिलों में प्रचलित किया गया था। इस प्रणाली के अनुसार कीमतों की गिरावट के अनुक्रम में मालगुजारी की माँग भी कम हो जाती है। इस प्रकार की प्रणाली को अधिक विस्तार देना चाहिए।

प्रश्न ८—कराधान जाँच समिति की भू-राजस्व सम्बन्धी (१९५३-५४) सिफारिशों को सक्षेप में बताइए।

Q. 8—Briefly outline the main recommendations of the Taxation Enquiry Commission (1953-54) concerning Land Revenue.

भारत सरकार ने अप्रैल, १९५३ में डा० जान मथाई की अध्यक्षता में कराधान जाँच समिति की नियुक्ति की। इसका मुख्य उद्देश्य भारत में भू राजस्व व्यवस्था का परीक्षण करना था। उसने बताया कि स्वाधीनता के बाद से राजस्व परीक्षण के लिए राज्यों मे नए घटना क्रमो के कारण देश के कृषि-सम्बन्धी ढाँचे में महत्वपूर्ण परिवर्तन करना जरूरी हो गया है। दो नए विकास ये हुए हैं—राज्यों (रजवाडो) का राजनीतिक विलय तथा राज्यो द्वारा भूमि पट्टा तथा टेनैन्सी के लिए अपनाए गए नए उपाय। रजवाडो मे राजनीतिक तथा प्रशासकीय क्षमता में विभिन्नता थी तथा भू राजस्व और भूमि-अधिकार के नियमो मे काफी अनेकरूपता थी। इसके अन्तर्गत इन विभिन्नताओं को खत्म करके एक सुचारु, सुस्पष्ट व्यवस्था का निर्माण करना है। इसके अलावा बिचौलियों को खत्म करके किसान के लिए भू-राजस्व की दर आदि तय करने का मुख्य प्रश्न सामने आ खडा हुआ है। साथ ही मालगुजारी जमा करने के लिए राज्य द्वारा किसी विभाग को बनाने तथा प्रशासकीय कार्यों के लिए गाँव का रिकार्ड रखने का काम भी शुरू करना है। इसके अतिरिक्त पिछले बीस वर्षों में पुन बन्दोबस्त व्यवस्थापन का कार्य अस्थायी क्षेत्रों मे शुरू करना है।

आयोग का विचार है कि विकास योजनाओं के कार्य को पूरा करने के लिए राज्य सरकारो को वित्त की जरूरत होगी और इसकी पूर्ति के लिए मालगुजारी से अच्छा और कोई तरीका नहीं है। राज्यों को इस स्रोत से ७० करोड रु० मिलने की आशा है तथा इसके अलावा अन्य कोई स्रोत या उपाय नहीं जिससे इतनी रकम प्राप्त हो सके। लेकिन आयोग (कमीशन) का विचार है कि यद्यपि राज्यों में मालगुजारी वसूल करने के तरीको मे भेद हो सकता है, लेकिन यह अधिक उपयुक्त तथा व्यावहारिक होगा कि मूल बातो में कम-से-कम एकरूपता रखी जाए, जैसे भूमि पट्टे के रूप, निर्धारण निश्चित करने के तरीके, तथा मालगुजारी बन्दोबस्त निर्धारण के पुन.परीक्षण आदि में। इसलिए, आयोग ने मालगुजारी (भू-राजस्व) उगाहने के तरीके पर निम्न सिफारिशें की हैं—

(१) मूल बन्दोबस्त तथा सर्वेक्षण और वर्गीकरण एक वाछनीय कार्य है और इन कार्यों को उन सब क्षेत्रो मे पूरा करना चाहिए जहाँ इनमें से कोई भी कार्य होना बाकी है। शुरू के बन्दोबस्त में मालगुजारी निश्चित करने के लिए किसी विशेष आधार की जरूरत नही है। समीप के राज्यो तथा क्षेत्रों में प्रचलित प्रणाली को अपनाया जा सकता है।

(२) बन्दोबस्त का आधारभूत ढाँचा तथा पुनरीक्षण जो रैयतवाडी से मिलता-जुलता है इस उपाय मे मुख्य रूप से जुदा होगा। बन्दोबस्त या पुनरीक्षण बिलकुल सीमित क्षेत्रो में होना चाहिए और यह छोटी इकाइयों तथा स्थानीय कीमतों

पर आधारित नहीं होना चाहिए। बल्कि इसके विपरीत यह सारे राज्य अथवा राज्य के एक से प्रदेश के आधार पर होना चाहिए।

(३) पुनरीक्षण के लिए निर्धारित सीमा मे स्टैंडर्ड निर्धारण को अनिश्चित काल तक रहने दिया जाए। राज्य सरकारो को इससे अधिक अधिभार लागू नही करना चाहिए तथा सारे अधिभार (जो लागू किए जाएँ) जो स्टैंडर्ड निर्धारण पर लगाए जाएँ वे स्थानीय निगमो द्वारा स्थानीय सेवाओ के लिए होने चाहिएँ।

(४) निर्धारण के मौजूदा स्तर को सारे राज्य में स्टैंडड बनाना चाहिए और इसके पश्चात् स्टैंडर्ड निर्धारण का राज्य के अनुरूप अथवा प्रदेश के अनुरूप उचित अवधि में पुनरीक्षण करना चाहिए।

(५) एक बार निर्धारण स्तर निश्चित होने के बाद १० वर्ष म मालगुजारी का पुनरीक्षण करना चाहिए। इसका आधार कीमत स्तर म होने वाला परिवर्तन होना चाहिए। कीमत-स्तर मे होने वाले २५% परिवर्तन तक मालगुजारी में कोई समायोजन नही करना चाहिए। यदि कीमत म २५% से अधिक वृद्धि हो तो मालगुजारी को २ पैसा रुपये से अधिकतम दो आना प्रति रुपय तक की वृद्धि करनी चाहिए। यदि कीमतें गिर जाएँ तो कम-से कम एक आना प्रति रुपये से लेकर अधिकतम ४ आना प्रति रुपये तक मालगुजारी घटा देनी चाहिए।

(६) मालगुजारी मे से १५% तक राशि स्थानीय निगमो या सस्थाओ के लिए उठा रखनी चाहिए। यह बटन उसी क्षेत्र से प्राप्त मालगुजारी की राशि म से होना चाहिए।

(७) सहकारी समितियो वाले क्षेत्र में माल के रूप मे मालगुजारी जमा करनी सम्भव हो सकती है। मालगुजारी की मौजूदा प्रणाली वर्षो के प्रयत्न के पश्चात् बनी है और सामान्य रूप से कार्यकुशल है। प्रतिशत कमीशन के आधार पर इस काम को ग्राम पचायतो पर छोडा जा सकता है। जहाँ सम्भव हो सके ऐसा ही किया जाए। परम्परागत चले आए ग्राम अधिकारियो के स्थान पर वेतन पाने वाले अफसर लगाए जाएँ तो अच्छा होगा।

अभ्यास १—कृषि आयकर पर सक्षिप्त नोट लिखिए।

Ex 1—*Write a short note on Agricultural Income Tax*

कृषि आयकर (Agricultural Income Tax)—भारत की मालगुजारी व्यवस्था कराधान के समानता और न्याय के आधार पर नहीं है। बडी तथा छोटी जोत वाले किसानों में न सिर्फ किसी उत्तरोत्तर प्रणाली को लागू किया गया है बल्कि छोटी जोत वालों के लिए जो अपना गुजारा बडी कठिनाई से कर पाते हैं, कोई छूट की गुजाइश नहीं की गई है। मालगुजारी व्यवस्था में इन भारी दोषों के कारण, भू-राजस्व की प्रणाली में आमूल परिवर्तन करने के सुझाव दिए गए हैं, और इसे कराधान की आधुनिक धारणा, जो समानता तथा न्याय पर आधारित है लागू करने को कहा गया है। मालगुजारी की मौजूदा प्रणाली को बदलकर इसे कृषि आयकर के अनुरूप बनाना चाहिए।

इस सुझाव का विशेष समिति (हार्लिंग समिति, १९३८) द्वारा परीक्षण किया गया। चूकि इससे राज्य सरकारों की आमदनी (इस स्रोत से) कम हो जाने की शका थी इसलिए समिति ने इसे मानना उपयुक्त नहीं समझा। वित्तीय कठिनाइयों के अतिरिक्त यह बात भी सामने रखी गई कि

अनपढ़ किसानों के लिए खाता आदि रखने की सुविधा न होने के कारण कृषि-आयकर प्रणाली को लागू करना सम्भव न होगा।

कई राज्य सरकारों ने, जैसे उत्तर प्रदेश, आसाम, बिहार, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा तथा राजस्थान आदि में मालगुजारी के अलावा बड़ी जोतों पर कृषि-आयकर भी लागू कर दिया है। ऐसा आयकर उत्तरोत्तर स्तर पर लागू किया जाता है। अभी हाल ही में मद्रास में ऐसा कर लागू किया गया है। मद्रास कृषि बागान आयकर अधिनियम १९५५, के अनुसार चाय, कॉफी तथा रबर पर ऐसा कर लागू किया गया। पंजाब में भी कृषि-आयकर लागू करने का (१९५६ में) फैसला किया गया है। २० सितम्बर, १९५८ को मद्रास राज्य की विधान सभा ने विधेयक पास करके सब प्रकार की कृषि आय को करारोपण योग्य घोषित कर दिया। अभी तक केवल चाय, कहवा, रबर और इलायची के बागान से होने वाली आय पर ही कर लिया जाता था। ३,६०० रु० की आय को कर-मुक्त रखा गया है। संयुक्त हिन्दू परिवारों को भी अतिरिक्त छूट नहीं दी गई है। कर की दर ५ नये पैसे प्रति रु० से ४५ न० पैसे प्रति रु० के हिसाब से २५,००० प्रति वर्ष से ऊपर की आय तक लगाई गई है। अधिकर (Super tax) की व्यवस्था नहीं है। किसी व्यक्ति की कुल आय का मूल्यांकन करते समय उनकी गैरकृषि सम्बन्धी आय पर विचार नहीं किया जाता। करदाता आयकर के अतिरिक्त मालगुजारी भी देंगे किन्तु भूमिकर पर अधिकर नहीं लिया जाएगा। उक्त अधिनियम पहला अप्रैल १९५८ से कार्यान्वित हुआ है।

करारोपण जाँच आयोग (१९५३-५४) ने सिफारिश की है कि कृषि आय ३,००० रु० से अधिक होने पर उन सभी राज्यों में कृषि-आयकर लगा देना चाहिए जिनमें अभी ऐसा नहीं हुआ है। अन्तिम लक्ष्य यह होना चाहिए कि मामूली गैर काश्त आय तथा काश्त-आय को मिलाकर एक ही किस्म का आयकर लागू करना चाहिए। इस दिशा में पहले कदम के अनुसार सरकार को राज्यों के लिए यह सम्भव बनाना चाहिए कि कृषि आय पर कर देने वाले की गैर-काश्त आय को मिलाकर अधिभार (Surcharge) वसूल किया जा सके।

अध्याय ८

कृषि-श्रम

(Agricultural Labour)

प्रश्न १—आप भारत में कृषि-श्रम की अवस्था के विषय में क्या जानते हैं ? उसकी सामूहिक उन्नति के लिए आप क्या सुझाव दे सकते हैं ? (लखनऊ १९५२)

Q. 1—What do you know about the condition of agricultural labour in India ? What measures would you recommend to improve their lot ? (*Lucknow 1952*)

उनकी सख्या (Their Number)—भारतीय जनता मे, शायद सबसे ज्यादा उपेक्षित वर्ग लाखो कृषि-मजदूरो का है। इधर हाल में उनकी दयनीय दशा की ओर कुछ कुछ ध्यान दिया जाने लगा है। कृषि जाँच समिति (१९५०-५१) से पता चलता है कि भारत में कृषि श्रम परिवार भारतीय सघ के ग्रामीण परिवारो की कुल सख्या के ३०.४% हैं। इनमे से लगभग आधे परिवारों के पास जमीन नही है जबकि शेष आधो के पास जमीन के छोटे-छोटे टुकड़े हैं। किन्तु उनकी आय का अधिकाश (लगभग ६४%) दूसरो के खेतो पर मजदूरी करके प्राप्त होता है। उनकी रोजी के मौसमी और आकस्मिक (Casual) रूप के कारण उनमे बेकारी बहुत ज्यादा है।

मजदूरी की दरें और भुगतान की विधियाँ (Rates of Wages and Modes of Payment)—उन्हे बहुत कम मजदूरी दी जाती है। स्थायी (attached) मजदूरो को उनकी सेवाओ के लिए बहुधा जिन्स रूप मे भुगतान किया जाता है। उन्हे फसल का एक अश मिलता है, और इसके अलावा, रिवाज के मुताबिक कुछ और भुगतान किए जाते हैं। ये रिवाज अलग-अलग राज्यो में भिन्न हैं। कृषि श्रम जाँच के अनुसार अब समय-दरें और नकद भुगतान की विधि खेतिहर मजदूरो की अदायगी मे भी बढ़ती जा रही है।

मौसमी बेकारी (Seasonal Unemployment)—इससे भी अधिक बुरी बात यह है कि उन्हे बहुत लम्बे समय तक बेकार भी रहना होता है। हाल की जाँचो के अनुसार यह बेकारी वर्ष के अलग अलग मौसमो में मिलाकर ३ से ६ मास तक आँकी गई है। कृषि-श्रम जाँच (१९५०-५१) से पता लगा कि एक खेतिहर मजदूर औसतन साल मे १०० दिन बेकार रहता है। ५० दिन अपने काम में, १८६ दिन कृषि मजदूरी के काम में और २७ दिन गैर-कृषि मजदूरी के काम में लगा रहता है। खेतिहर मजदूरो की कम आय का प्रधान कारण बेकारी बहुत ज्यादा होना है।

जिन दिनों कोई कृषि-कार्य नही होता, उन दिनो या तो कृषि श्रमिक को बिना काम के रहना होता है या उसे जीवन-निर्वाह के लिए ग्राम अथवा औद्योगिक क्षेत्रो में अस्थायी रूप से जाकर इधर-उधर काम करना होता है। इस काल में मजदूरी

की दरें स्वभावतः उन दरों की अपेक्षा अत्यधिक कम होंगी जिनका वे व्यस्त दिनों में उपार्जन कर सकते हैं। अभाव और अरक्षा का, इनका यह जीवन कितना कठिन है।

बेकारी के दिनों मे कृषि-श्रमिक ऋण में दब जाते हैं और किसी प्रकार की जमानत न दे सकने के कारण वे साहूकार के अत्यधिक शोषण का शिकार बन जाते हैं। उनकी दु:खपूर्ण कहानी का यह भी एक भाग है। खेतिहर मजदूर परिवारों की प्रति व्यक्ति आय १०४) किन्तु प्रति व्यक्ति व्यय १०७) है। इसलिए उनका ऋण बढता जाता है और वे उसके भार से हमेशा दबे रहते हैं।

ग्रामीण दासता (Agrarian Serfdom)—भारत में कृषि-श्रम की समस्या का सबसे अधिक निराशापूर्ण लक्षण ग्रामीण दासता है। भारत के अनेक भागों में, कृषि-श्रमिक जनसंख्या के निम्नतम सामाजिक स्तर से आते हैं और उनमें से अनेक अपने आपको एक विशिष्ट मालिक के साथ बाँध लेते हैं, जो व्यावहारिक रूप में उन्हें खरीद लेता है। बहुधा यह क्रय केवल २००) रु० के विवाह सम्बन्धी ऋण के बदले में ही हो जाता है। बम्बई में कोली, मद्रास में पुलैयाँ, बिहार में काम्या, उडीसा में चाकर, मध्य प्रदेश में शालकारी इस प्रकार की जातियाँ हैं।

औपचारिक उपाय (Remedial Measures)—जैसा कि ग्रामीण-सुधार समिति (१९५०) ने सुन्दर शब्दों में प्रकट किया है, "ग्रामीण सुधार की किसी योजना में से कृषि-श्रम की समस्या को छोड़ना—जैसा कि अब तक किया गया है—देश की ग्रामीण प्रणाली में एक बहते घाव को अछूता छोड़ने के बराबर है। जनसंख्या के इतने बड़े जन-समूह के लिए ऐसी दु:सह अवस्था बनाए रखना कभी न कभी, सामाजिक और राजनैतिक अशांति का कारण होगा। इसलिए यह अत्यावश्यक है कि उनकी दशा सुधारने के लिए समुचित औपचारिक उपाय किए जाएँ।

इस दिशा में निम्न सुझाव दिए जा सकते हैं—

१ सर्वप्रथम, ग्रामीण दासता का तुरन्त अन्त होना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि नया संविधान किसी भी रूप में दासता को दण्डनीय अपराध घोषित करता है। किन्तु रीति-रिवाजों की शक्ति, सामाजिक पिछड़ेपन और कृषि-सम्बन्धी श्रम वर्गों की आर्थिक असहायता के कारण, जो इस समय उसके शिकार हैं, यह दासता उस समय तक वस्तुतः बनी रहेगी जब तक इसका अन्त करने के लिए जोरदार प्रयत्न नहीं किए जाते।

२ सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण कार्य यह होगा कि कृषि-श्रमिकों की मजदूरी बढ़ाई जाए। यह अल्पतम मजदूरी ऐसी नियत होनी चाहिए कि जिससे कृषि-श्रमिक का कम से कम उचित जीवन-निर्वाह तो हो सके। और इस मजदूरी से कम मजदूरी देना अपराध घोषित होना चाहिए।

यह हर्ष का विषय है कि सरकार अब इस समस्या की गुरुता के विषय में जागरूक हो गई है। १९४८ में अल्पतम मजदूरी अधिनियम (Minimum Wages Act) स्वीकार किया गया था। उसके अधीन राज्य सरकारों से माँग की गई है कि कृषि-विषयक मजदूरों की मजदूरी के अल्पतम दर नियत कर दिए जाएँ। तदनुसार, कुछ राज्य जैसे, पंजाब, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली तो अल्पतम मजदूरी नियत भी

कर चुके है। दूसरे राज्यो में यह विचाराधीन है। योजना आयोग ने यह सिफारिश की है कि निम्नतम मजदूरी सभी राज्यो मे सभी क्षेत्रो के लिए नियत होनी चाहिए और मजदूरी की निश्चित दरो को लागू करने का लगातार प्रयास किया जाना चाहिए।

३ कृषि-योग्य बेकार भूमियों का सुधार करके इस प्रकार की सुधारी गयी भूमियो पर भूमिहीन श्रमिको के सहकारी खेतो (co-operative farms) का विकास किया जाए। इस ढग से उनकी एक बडी सख्या एसे खेता पर बस सकेगी। प्रथम पचवर्षीय योजना म इस प्रकार की पुनर्वास सम्बन्धी योजनाग्रा के लिए व्यवस्था की गई थी और इसके लिए २ करोड रु० निश्चित किए गए थे। द्वितीय योजना म केन्द्रीय वित्तीय व्यवस्था के अतिरिक्त १४ राज्यो ने पाँच करोड की व्यवस्था से २०,००० कृषक परिवारो को १,००,००० एकड भूमि पर बसाने की योजना बनाई है।

४. भूमिहीन श्रमिकों के लिए भू-दान (Land Gifts for Landless Workers)—भूमिहीन श्रमिको को भू दान देने के लिए भू-स्वामियो को प्रोत्साहन देना चाहिए। 'भू दान यज्ञ' के इस आन्दोलन को आरम्भ करने का श्रेय आचार्य विनोबा भावे को है। १९५८ तक ४४ लाख एकड से अधिक भूमि दान की जा चुकी है।

५. जोतों का अधिकतम आकार नियत करना (*Imposition of Ceilings on Land Holdings*)—जमींदारो के स्वेच्छा से दिए गए भू दान के अतिरिक्त, उसी पर निर्भर रहने के बजाए, व्यक्तिगत जोतो पर एक कानूनी अधिकतम सीमा नियत होनी चाहिए, जिससे कोई भी जमींदार उससे बडी जोत हाथ म न रख सके। इस प्रकार निहित अधिकतम सीमा से बचने वाली भूमि, भूमिहीन मजदूरो का बसाने के काम आ सकती है। यह प्रसन्नता का विषय है कि कई राज्य सरकारो ने अधिनियम पास करके जोतो की अधिकतम सीमा निर्धारित कर दी है। आशा है कि १९५९ के अन्त तक सभी राज्यो में इस प्रकार की सीमा निर्धारित हो जाएगी। फिर भी इस प्रकार के भूमि के पुनर्वितरण से भी बहुत थोडा सतोष मिलने की आशा है, क्योकि भूमिहीन मजदूरो की सख्या बहुत ज्यादा है।

६ सिंचाई का विस्तार, गहन खेती और कृषि-विषयक रीतियों में सुधार से ग्रामीण नियोजन म वृद्धि होगी और कृषि-श्रमिको का उद्धार होगा। इसके अलावा, इन उपायो से उत्पादन म वृद्धि होगी, ऊँची मजदूरी देने की नियोजक की शक्ति भी बढेगी।

७ सहकारी ग्राम प्रबन्ध के आधार पर भूमि प्रणाली का पुन सगठन—इससे कृषि-श्रमिक ग्राम-समुदाय के अन्य वर्गो के मुकाबिले म समान स्तर और अवसर की स्थिति में हो जाएगा।

८ समुचित ग्राम-उद्योगों का संगठन (Organisation of Suitable Rural Industries)—इससे बेकारी के दिनो म रोजगार के साधनो की व्यवस्था होगी और साथ ही कृषि-श्रमिको का एक भाग स्थायी रूप से उस ओर मुड जाएगा।

९ काम देने के लिए, विशेषत बेमौसम के दिनो म, एक और जरूरी कदम है, लोक-निर्माण विभाग (Public Works Department) और वन-विभाग

(Forest Department) की आयोजित कार्यवाहियाँ। वन्यीकरण, सड़क-निर्माण, कुओं और नहरों की खुदाई के लिए ऐसे समय रखे जाएँ जब कि मौसमी बेकारी के दिनों में कृषि सम्बन्धी श्रम-शक्ति उनमें खप सके। श्रमिकों को श्रम-सहकारिता में संगठित करना चाहिए।

१०. कृषि-श्रम की अन्तरप्रदेशीय गतिशीलता को बढ़ाने के उपाय भी करना चाहिए। इसमें सस्ती परिवहन की सुविधाएँ और गाँवों में रोज़गार दफ़्तरों की स्थापना शामिल है।

११. कृषि-श्रम का संगठन (Organisation of Agricultural Labour)—सामूहिक सौदा करने का सिद्धान्त नियोजन सम्बन्धी अवस्थाओं में सुधार करने का आजमाया हुआ तरीका है। इसलिए इसे कृषि-श्रम पर भी लागू करना अत्यावश्यक है।

इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि समूचे देश में बुरी तरह फैले हुए कृषि-श्रमिकों के इतने बड़े समूह का संगठन बनाना अत्यधिक कठिन होगा। उनका अज्ञान, निरक्षरता और उनके रोज़गार का आकस्मिक तथा मौसमी स्वरूप इस कार्य को और भी दुष्कर बना देता है। किन्तु उनकी आर्थिक अवस्था को उन्नत करने के लिए उक्त सुझावों को ईमानदारी और हिम्मत से पूरा करने पर संगठन के कार्य में सफलता मिल सकती है।

निष्कर्ष (Conclusion)—इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कृषि-श्रमिकों की हीन अवस्था के सुधार की समस्या, वस्तुतः देश की गरीबी की समस्या है। इस समस्या का हल केवल भूमि-सम्बन्धी व्यवस्था में नहीं है। यह समस्या तब हल होगी जब देश का आर्थिक कायाकल्प हो जाएगा। फिर भी कृषि-श्रमिकों की पुनर्वास योजनाएँ, कृषक संगठनों या कृषक संघों की स्थापना और न्यूनतम मजदूरी की व्यवस्था आदि उपाय सही दिशा की ओर कदम हैं।

प्रश्न २—भारत में कृषि-श्रमिकों की मजदूरी के विनियमन के लिए हाल के वर्षों में क्या उपाय किए गए हैं ? ऐसे विनियमों के मार्ग में जो कठिनाइयाँ हैं, उन्हें प्रकट करें।

Q. 2—What steps have been taken in recent years for the regulation of agricultural labourers' wages in India ? Point out the difficulties in the way of such regulation

(कृषि-श्रमिकों की मजदूरी के विनियमन के बारे में उठाए गए कदमों का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है।) श्रमिकों की अल्पतम मजदूरी लागू करने में निम्न महत्त्वपूर्ण बाधाएँ हैं—

(१) भूमि पर जनसंख्या के पहले से ही अत्यधिक और निरन्तर बढ़ते हुए दबाव के कारण, कृषि-सम्बन्धी श्रमिकों की संख्या नित्य-प्रति बढ़ रही है। अन्ततः है तो यह प्रश्न माँग तथा पूर्ति का ही। सरकार चाहे जो भी दरें नियत की हों, श्रमिक उनसे कम लेने को तैयार हो सकते हैं।

(२) इस समस्या को अधिक उग्र करने वाला कारण यह है कि कृषि से जो नियोजन मिलता है, वह केवल मौसमी होता है। श्रमिक बेकार रहने के बजाय कम मजदूरी ही बेहतर समझता है।

(३) श्रमिकों में संगठन का अभाव—इस दशा में कुछ आशा हो सकती थी बशर्ते कि कृषि-श्रमिक अपनी सौदा करने की शक्ति को सामूहिक शक्ति अर्थात् संगठन द्वारा बढ़ा सकता। वे अनपढ़ हैं और बहुत बिखरे हुए हैं।

(४) अधिकांश श्रमिक पिछड़े वर्गों तथा अनुसूचित जातियों में से हैं। इस सामाजिक असुविधा के कारण उनकी अवस्था पशुओं के समान हो गई है और वे अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने में असमर्थ हैं।

(५) रीति-रिवाज का चलन—भारत में ग्रामीण मजदूरी सदा युगों पुराने रीति-रिवाजों द्वारा शासित होती आई है और चाहे वह लाभकर हो या न हो, उनसे जुदा होना कठिन है।

(६) ऋण—क्योंकि वे जमींदार के ऋणी होते हैं, इसलिए वे कम मजदूरी भी स्वीकार कर लेते हैं और बहुत कम दशाओं में अपने आपको उभार सकते हैं। इसके अतिरिक्त, जिन स्थानों पर उनके मकान होते हैं, वे भी उनके नहीं होते। मजदूरी की चिन्ता किए बिना, मालिक के साथ बँधे रहने का यह भी एक कारण है।

(७) अन्तर-प्रदेशीय गतिशीलता का अभाव—इस दिशा में एक बाधा है।

(८) कानून लागू करने की कारगर एजेंसी का अभाव—बिखरी हुई कृषि और व्यापक अज्ञान के कारण सरकार के लिए ऐसी उचित एजेन्सी बनाना करीब-करीब असम्भव है जो उसके द्वारा निश्चित मजदूरी लागू कर सके और बुराइयों को दूर कर सके।

प्रश्न ३—'भूदान यज्ञ' आन्दोलन पर एक स्पष्ट टिप्पणी लिखें।

(पटना १९५३ सप्ली०)

या

भूदान आन्दोलन का आर्थिक महत्त्व बताइए और यह बताइए कि यह देश के भूमिहीन कृषि-मजदूरों की सहायता कैसे कर सकता है?

(पटना १९५४)

Q 3—Write a lucid note on the 'Bhoodan Yajna' Movement.

(Patna 1953 Supp)

Or

Assess the economic significance of the Bhoodan Movement and indicate how it is going to help the landless labourers of the country.

(Patna 1954)

भूदान आन्दोलन का उदय और स्वरूप (Origin and Nature)—'भू दान यज्ञ' या 'भूमि दान आन्दोलन' देश की भूमि समस्या के एक गम्भीर पहलू, अर्थात्, भूमिहीन कृषि श्रमिकों के बड़े भारी वर्ग की समस्या को हल करने का वस्तुतः विलक्षण गांधीवादी उपाय है। इस आन्दोलन को आरम्भ करने का श्रेय आचार्य विनोबा भावे को है। महात्मा गांधी के रचनात्मक कार्यक्रम में आचार्य विनोबा ने निकट सहयोगी-रूप में कार्य किया है।

'भू-दान यज्ञ' भूमि-स्वामियों की दानशीलता और सामाजिक भावना को अपील करके उनसे भूमि के उपहार प्राप्त करता है। ऐसा करने में केवल दान पर ही जोर

नही दिया जाता, प्रत्युत विद्यमान सामाजिक व्यवस्था की सामाजिक बुराई का सुधार करने के दायित्व पर अधिक बल दिया जाता है। आचार्य विनोबा भावे कहते हैं, "न्यायपूर्ण और उदार समाज मे भगवान की जमीन पर सभी का अधिकार होना चाहिए। इसीलिए मैं भूमि की भीख नही मांगता। मैं तो भूमिहीन वर्ग का अधिकार पूर्ण भाग मांगता हूँ। उनकी चीज उनको मिलनी चाहिए।" इस प्रकार से सग्रहीत भूमि को भूमिहीन श्रमिको में बाँट दिया जाता है। उन्हें कृषि के साधन तथा अन्य सहायता भी देनी होती है जिससे वे कृषि-कार्य आरम्भ करने योग्य हो सकें। इस भाँति वे सामाजिक स्तर की समता भी अनुभव करने लगेंगे।

आन्दोलन की प्रगति (Progress of the Movement)—यथार्थ संग्रहो के लिए आचार्य विनोबा ने, १९५१ में, अपनी पैदल यात्रा आरम्भ की। उन्होंने घोषणा की कि १९५७ तक उनकी इच्छा ५ करोड भूमि जमा करने की है, जिससे कि कृषि श्रमिक के प्रत्येक परिवार को लगभग ५ एकड भूमि दी जा सके। इस आन्दोलन ने लोगो को आकर्षित किया। तदनुसार, प्राय: सभी राज्यो में बहुत बडी संख्या में 'भूदान समितियाँ' स्थापित हो चुकी हैं। केन्द्रीय और राज्य-सरकारो ने भी अपना सक्रिय सहयोग दिया है। तदनुसार, कुछ राज्यों मे, भूमि-उपहारो और भूमिहीन श्रमिको मे उन्हें वितरण करने को वैध रूप देने के लिए भू-दान अधिनियम या तो स्वीकार हो चुके हैं अथवा हो रहे हैं। व्यक्तिगत दानियो के अलावा, राज्य-सरकारें भी कृषि-योग्य बेकार भूमि या नयी सुधरी भूमि को इस आन्दोलन को दान कर रही हैं। उदाहरणार्थ, मध्य भारत सरकार ने २ लाख एकड़ जमीन दी थी। अब तक व्यक्तिगत रूप में सबसे बड़ा दान रामगढ (बिहार) के राजा से २½ लाख एकड प्राप्त हुआ है। हाल ही में यह आन्दोलन ग्रामदान का रूप ले चुका है। अर्थात् समूचे ग्रामो का दान। इस आन्दोलन का आदर्श यह है कि गाँव की सारी जमीन सारे गाँव वालो की होगी। आशा करनी चाहिए कि ग्रामदान का स्वाभाविक फल यह होगा कि सहकारी ग्राम प्रबन्ध का विकास होगा। फलस्वरूप सरकार ने घोषित किया है कि ग्रामदान के गाँवो मे पहले सामुदायिक विकास योजनाएँ चालू की जाएंगी। इस आन्दोलन के फलस्वरूप भूमिदान के अतिरिक्त सम्पत्ति-दान, बुद्धि-दान, जीवन-दान और श्रम-दान को भी प्रोत्साहन मिला है।

प्रारम्भ में इस आन्दोलन ने तीव्र प्रगति की थी। मार्च १९५४ तक २५ लाख एकड़ भूमि प्राप्त करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था। वह पूरा हो गया। किन्तु तब से भूमि एकत्रित करने का काम कुछ ढीला पड गया है। जून, '५८ तक प्राय: ४४ लाख एकड भूमि इकट्ठी की गई थी जिसमें से ७-८ लाख एकड भूमि बाँटी जा चुकी थी। यह आन्दोलन विशेष रूप से बिहार में सफल रहा जिसने २० लाख एकड से अधिक भूमि दान में दी। उत्तर प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, उडीसा और राजस्थान में भी आन्दोलन ने कुछ प्रगति की। १९५८ के अन्त तक ४,५७० गाँव भूदान में मिले जिन में से १९६० ग्राम तो उड़ीसा में थे।[1]

---

१. India 1959, p. 278.

भूदान आन्दोलन मे अनेक कमियाँ बताई जाती हैं—(१) कहा जाता है कि अधिकाश दान की गई भूमि अत्यन्त निकृष्ट तथा सीमान्त से नीचे की भूमि है, या वह भूमि है जिस पर दान देने वाले का दावा पक्का नही है। (२) सग्रहीत भूमि के वितरण की गति बहुत धीमी है। (३) औजार, बीज मवेशी आदि के अभाव मे ये भूमि पाने वाले अक्सर उसे अच्छी तरह से उपयोग मे नही ला पाते। (४) भूमिहीन और कम भूमि वाले खेतिहरो के मस्तिष्क मे यह भ्रम उत्पन्न किया जाता है कि भूमि के पुनर्वितरण का एक यह तरीका भी है जो कारगर है। इससे कानूनन भूमि के पुनर्वितरण का अधिक शीघ्र उपाय छोड दिया जाएगा।

इसका महत्त्व (Its Significance)—इसका पहला महत्त्व तो यह है कि यह भूमिहीन कृषक-वर्ग मे पुन भूमि-वितरण की समस्या के निराकरण म योग देता है। सम्भवत इसका नैतिक महत्त्व और भी अधिक महत्वपूर्ण है। यह उन मामलो मे स्वेच्छा और अहिंसात्मक प्रवृत्ति का प्रतीक है जिनके लिए दमनकारी और हिंसात्मक विधियो की आवश्यकता होती। इस प्रकार यह समानता, सदिच्छा और सहकारी प्रयत्न का वातावरण उत्पन्न करके भारतीय समाज की मनोवृत्ति म आमूल परिवर्तन लाना चाहता है। 'श्रम-दान', 'बुद्धि-दान', 'सम्पत्ति-दान' और 'जीवन-दान' आदि अन्य भी दान हैं, जो अब सामाजिक मनोविज्ञान को ठीक दिशा मे प्रभावित कर रहे हैं।

इसकी एक अन्य बडी भारी विशेषता यह है कि यह देश के दुष्कर भूमि-सुधार को पूरा करने के लिए सही वातावरण उत्पन्न करने में अत्यधिक सहायक है।

निष्कर्ष (Conclusion)—इसके महत्त्व को बिना कम किए यह मानना होगा कि यह आन्दोलन भूमिहीन श्रमिकों के लिए अन्य उन्नतिशील उपायो का स्थान नही ले सकता न ही इससे हमे आदर्श भूमि-प्रणाली प्राप्त होती है। जब तक भूमि-उपहारो के लिए निर्वाचित श्रमिको को सहकारी कृषि-कार्य समितियों में सगठित नहीं किया जाता, तब तक नव-निर्मित छोटे आसामी बहुत समृद्ध नही होगे। फलस्वरूप सरकार को योजना कमीशन द्वारा निर्धारित भूमि-नीति को लागू करने की चेष्टा जारी रखनी चाहिए।

क्या इससे कृषि-विषयक श्रम की समस्या का निराकरण होगा? (Will It Serve the Problem of Agricultural Labour ?)—इस तथ्य से इनकार नही किया जा सकता कि इस आन्दोलन का उद्देश्य कृषि-श्रमिको को लाभ पहुँचाना है और उस दिशा मे यह भौतिक और नैतिक दोनो ही रूपो मे बहुमूल्य अशदान करेगा। किन्तु यह उनकी समस्या को किसी भी तरह पूर्णतया हल नही कर सकता। अन्य आनुतोषिक उपायो को भी साथ-साथ ग्रहण करना होगा। (ऐसे उपायो के लिए प्रश्न १ के उत्तर के द्वितीय भाग में दिए सुझावो को देखें।) अतिम उद्देश्य यह होना चाहिए कि कृषि-श्रमिको को ग्राम समुदाय के अन्य वर्गों के बराबर ही समान स्तर और अवसर की स्थिति में पहुँचाया जाए। यह उद्देश्य केवल सहकारी ग्राम-प्रबन्ध प्रणाली ही पूरा कर सकती है। नि.सदेह, भूदान आन्दोलन उस प्रणाली के लिए सही वातावरण उत्पन्न करेगा।

अध्याय ६

खेतिहर के उपकरण

(Agriculturist's Equipment)

प्रस्तावना (Introduction)—अब हम खेतिहर के उपकरणों पर विचार करेंगे। इसमें उसके पशु और औजार ही मुख्य हैं। हम दोनों की स्थिति के बारे में कुछ विस्तार से विचार करेंगे।

प्रश्न १—भारतीय खेती में पशु के महत्त्व को प्रकट कीजिए। वे मुख्य दिशाएँ बतलाइए जिनमें हमारे देश में पशुपालन का विकास किया जा सकता है।

Q. 1—Bring out the importance of cattle in Indian Agriculture. Indicate the main lines on which animal husbandry may be developed in our country.

महत्त्व—पशुओं के बिना भारत में खेती की कल्पना करना असम्भव है। भूमि के बाद वे किसान के लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा खर्चीले उपकरण हैं। भारतीय किसान के पास भूमि बहुत थोडी होती है और वह भी कई-कई टुकड़ों में कई-कई जगह होती है। उसके आर्थिक साधन बहुत परिमित होते हैं। अतएव अन्य अनेक देशों के असख्य किसानों के समान शक्ति के यान्त्रिक साधनों का उपयोग भारतीय किसान के लिए व्यावहारिक नही है। उसके खेतों को जोतना, उसके खेतों की आबपाशी करने के लिए चरस या रहट आदि को चलाना, उसकी उपज को गाड़ी में भरकर मण्डी पहुँचाना और उसके खेतों को खाद देना आदि सभी कामों को उसके लिए उसके बैल ही करते हैं। उसकी गौएँ दूध देती हैं, जो हमारी जैसी शाकाहारी जनसख्या के लिए इतना अधिक आवश्यक है। इसके अतिरिक्त पशुओं के गोबर से खाद तथा ईंधन का काम भी लिया जाता है। मरने पर भी पशुओं से खाल, बाल और हड्डियाँ मिलती हैं, जिनसे अनेक काम निकलते हैं। इसलिए यह ठीक ही कहा गया है कि "गौ-माता की पीठ पर ही भारतीय कृषि का सारा बोझ लदा हुआ है।"

अभी भी भारतीय खेती के यन्त्रीकरण में बहुत समय लगेगा। अतएव बहुत समय आने तक बैलों का महत्त्व अवश्य बना रहेगा। भारतीय कृषि में पशु-पालन का महत्त्व इस बात से पता चलता है कि कुल राष्ट्रीय आय में पशुधन का अशदान वार्षिक १,००० करोड रु० है।

दोष और सुधार (Defects and Improvements)—सर्वप्रथम तो भारत मे अत्यधिक पशु हैं। एक विदेशी प्रेक्षक ने इस तथ्य को इन शब्दों में प्रकट किया है, "जब कि अन्य देशों में मनुष्य पशु को खाते हैं, भारत में पशु मनुष्यों को खा रहे हैं।" १९५६ की पशुओं की जनसख्या के अनुसार भारत में १५·८७ करोड दूध देने वाली गायें और ४ करोड ४९ लाख भैंसें हैं, ३·९२ करोड भेड़ें, और ५·५४ करोड़

बकरियाँ हैं। संख्या की दृष्टि से यह पशुधन भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर अनावश्यक भार है।

ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है, उससे यह स्पष्ट है कि हमारा पशुधन अत्यधिक घटिया किस्म का है। १०% पशु अर्थात् ११४ लाख मवेशी सेवा-योग्य नहीं हैं और अनुत्पादक हैं। बैल जिनको बोझा खींचने का कठिन काम करना पड़ता है, बहुत ठिगने तथा दुबले पतले हैं। गौओं का अपना क्षेत्र का काम अर्थात उनके द्वारा दिए हुए दूध का वार्षिक औसत ४१३ पौण्ड है। यह संसार के किसी भी देश की अपेक्षा कम है। इस परिमाण की आस्ट्रेलिया के ७,००० पौण्ड तथा नीदरलैण्ड के ८,००० पौण्ड से तुलना कीजिए। इसके अतिरिक्त १९५६ की गणना के अनुसार ३ वर्ष की आयु से अधिक आयु वाली ४९७ लाख गायों में से २६१ लाख गायें दूध नहीं देतीं। इनके दूध कम देने के कारण दूध की प्रति व्यक्ति खपत केवल ५.५ औंस है।

भारत के पशुधन के घटिया होने के तीन कारण दिए जाते हैं—(१) घटिया किस्म, जो ठीक तरह से नस्ल पैदा न करने के कारण है। (२) अपर्याप्त तथा त्रुटिपूर्ण चारा, तथा (३) पशुओं के संक्रामक रोग। इन तीनों का परस्पर सम्बन्ध है। उदाहरणार्थ, अत्यधिक सन्तान उत्पन्न करने से खुराक घट जाती है, जिससे रोगों का प्रतिरोध करने की क्षमता कम हो जाती है। अतएव पशुधन का विकास करने की समस्या भी तीन प्रकार की है, प्रजनन, भोजन और बीमारी अथवा नस्ल, आहार और रोग। अब हम इनमें से प्रत्येक पर पृथक् पृथक् विचार करेंगे।

नस्ल वृद्धि—अभी तक नस्ल को उन्नत करने की ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। गौओं का कुछ चुने हुए बैलों से ही सम्बन्ध कराना अत्यन्त आवश्यक है। कुछ नस्लें मजबूत बछड़े देती हैं, जो बोझा अच्छा ढो सकते हैं। कुछ अच्छी दुधारू बछियाँ देती हैं और कुछ दोनों ही उद्देश्यों को पूर्ण करती हैं।

पर हमारे देश में नस्ल वृद्धि करने वाले अच्छे बैलों की संख्या बहुत कम है। यह समस्त देश की आवश्यकता का कुल ०.५ प्रतिशत है। उनकी संख्या बढ़ाने के लिए सरकार ने अभी-अभी 'बुनियादी ग्राम योजना' (Key Village Scheme) प्रचलित की है। यह कार्य कृत्रिम गर्भाधान द्वारा किया जाएगा। स्वाभाविक रूप से एक बैल ६० से लेकर ८० गौओं तक के लिए काम दे सकता है, किन्तु कृत्रिम गर्भाधान द्वारा ५०० गौओं का काम भी चलाया जा सकता है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में ५४५ बुनियादी (Key) ग्राम, १४६ कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र स्थापित हुए। द्वितीय योजना में २५४ बुनियादी ग्राम केन्द्रों, २४५ नव कृत्रिम गर्भाधान केन्द्रों, और २५,००० चुनी हुई अच्छी नस्ल की गायों की व्यवस्था है।

बुनियादी ग्राम योजना में प्रत्येक केन्द्र के तीन-चार गांवों में तीन वर्ष से अधिक आयु की ५०० गौएँ होंगी। प्रजनन का कार्य केवल तीन या चार उच्च वंश के बैलों तक ही सीमित होगा। अन्य सभी बैलों को या तो हटा दिया जावेगा अथवा बधिया बना दिया जावेगा तथा कृत्रिम प्रणाली से गर्भाधान किया जावेगा। उत्पन्न होने वाली सन्तान के वंश तथा उनके द्वारा दिए जाने वाले दूध का हिसाब रक्खा जावेगा। इस प्रकार बुनियादी ग्राम बीज प्रगुणक फार्म जैसे बन जावेंगे। उचित नस्ल

पर जोर देने के अलावा, बुनियादी ग्राम-योजना बड़ी व्यापक है—इसमें रोगों की रोक-थाम और उचित आहार आदि पशु-पालन के अन्य कार्यों पर भी जोर दिया गया है।

किन्तु रिपोर्ट यह आई है कि सब मिलाकर बुनियादी ग्राम-योजना का सचालन ठीक नही रहा है और उसके अनेक महत्वपूर्ण पहलुओ की ओर काफी ध्यान नहीं दिया गया है। कई राज्यो मे कृत्रिम गर्भाधान अप्रिय रहा है, और योजना की गति इसके कारण शिथिल हो गई है।

चारा (Feeding)—हमारे पशुधन को पूरा चारा नही मिलता। देश मे जितना चारा पैदा होता है वह हमारे समस्त पशुधन के केवल दो-तिहाई भाग के लिए ही काफी है।

चारे की समस्या को एक ओर चारे की सामग्री को अधिक बढ़ाकर तथा दूसरी ओर बुरे पशुओ की सख्या को कम करके सुलझाया जा सकता है। इस समय खाद्यान्न के क्षेत्रो में चारा पैदा करना सम्भव न होने के कारण इस स्थिति को बरसीम जैसे अधिक उत्पन्न होने वाले चारे का अधिक प्रचार करने के साथ मिश्रित खेती का प्रचलन बढ़ाकर तथा जंगलो में चरने की सुविधाएँ देकर सुधारा जा सकता है। उपलब्ध चारे के डठलो को कुट्टी काटने की मशीन से काटकर चारे की बचत करनी चाहिए। जहाँ कही पहाड़ियो की तलहटी में वर्षा के बाद घास बहुत पैदा होती है, वहाँ उसको सुखाकर रख लेनी चाहिए। चारा देने का एक अन्य उपाय तेल पेरने के व्यवसाय को बढाना है, जिससे पशुओं के लिए आसानी से सस्ती खल मिल सके।

रोगों की रोकथाम (Control of Diseases)—भारत के पशु पाँव तथा मुँह के घातक रोगों जैसी महामारियों के शिकार होते हैं। उनके कारण पशु अत्यधिक सख्या में मरते हैं। अतएव इन रोगो की रोक-थाम करके इनका नियन्त्रण अवश्य किया जाना चाहिए। पशुओ के रोगो के कारण, उनकी रोक-थाम तथा उनकी चिकित्सा के सम्बन्ध में भारतीय पशुरोग अनुसन्धान सस्था तथा राजकीय पशुरोग विभाग उपयोगी अनुसन्धान कार्य कर रहे हैं। ग्रामीण जनता के अज्ञान तथा उसके पुरातनपन्थी होने के कारण वर्तमान थोड़े से पशु-चिकित्सालयों का भी पूर्ण उपयोग नहीं हो पा रहा है पर दकियानूसीपन अब धीरे-धीरे कम होता जा रहा है।

बेकार पशुओं को दूर करना—भारत की पशु-समस्या का एक विचित्र रूप और भी है। गौओ के प्रति जनता की धार्मिक भावना है। इस कारण वह बेकार पशुओं को भी नष्ट नहीं करती, भले ही अत्यधिक उपेक्षा के कारण वे गल-गलकर मर जावें। यह तर्कहीन भावना दूर की जानी चाहिए। हमारी वर्तमान परिस्थितियो में बुड्ढे और बेकार पशुओ को दूर कर देना चाहिए और उनके लिए गोसदनों की व्यवस्था कर देनी चाहिए।

यह प्रसन्नता की बात है कि हमारी सरकार अब पशु-पालन-कार्य के महत्व से पूर्णतया परिचित है। सन् १९५२ मे एक केन्द्रीय गोसंवर्द्धन परिषद् बनाई गई थी। प्रथम एवं द्वितीय पचवर्षीय योजनाओ मे बुनियादी ग्राम योजना को महत्व दिया गया

है। इससे पशुओं की नस्लसुधार का आवश्यक कार्य पूरा हो रहा है। अनेक गोसदन और गोशालाएँ भी खुली हैं, यद्यपि इस दिशा में प्रगति सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती। पशु चिकित्सालय भी भारी संख्या में खोले जा रहे हैं। कई राज्यों ने पशुओं की बीमारियों की रोक थाम के लिए आवश्यक विधान निर्माण किया है। योजनाओं में दुग्धशालाओं (Dairies) के निर्माण की भी व्यवस्था रही है।

अभ्यास— भारतीय कृषि की मुख्य समस्या पशुधन समस्या है इस वक्तव्य की परीक्षा कीजिए। (आगरा १९५२)

Ex — The cattle problem is the crux of Indian Agriculture Appraise the truth of this statement *(Agra 1952)*

कृषि का यन्त्रीकरण

(Mechanisation of Agriculture)

प्रत्येक कारीगर के समान किसान को भी अपनी खेती का काम करने के लिए औजारों की आवश्यकता होती है। भारतीय किसान जिन औजारों तथा कृषि यन्त्रों से काम लेते रहे हैं वे प्रायः मोटे सादे और बाबा आदम के जमाने के हैं।

भारत में अभी तक काम में आने वाले बाबा आदम के जमाने के पुराने औजारों के मुकाबिले में पश्चिमी देशों और यू० एस० एस० आर० में आधुनिक यन्त्र चल गए हैं। उन देशों का खेती का *यन्त्रीकरण हो गया है। वास्तव में इस यन्त्रीकरण के कारण इन देशों में ऐसी कृषि-क्रान्ति हो गई है, जिसकी तुलना १८वीं तथा १९वीं शताब्दियों की औद्योगिक क्रान्ति से की जा सकती है। भारतीय कृषि का यन्त्रीकरण भी कुछ कुछ आरम्भ हो गया है।*

यन्त्रीकरण का अर्थ (Meaning of Mechanisation)—कृषि के यन्त्रीकरण में मनुष्य और पशु के श्रम के बदले जहाँ कहीं सम्भव हो यान्त्रिक शक्ति से काम अथवा सहायता अथवा दोनों (काम और सहायता) लेते हैं। ट्रैक्टरों से भूमि जोतने से पशुओं के श्रम तथा लकड़ी के हलों का काम नहीं रहता। बीज बोने का ड्रिल यन्त्र बीज बोने का काम करता है तथा साथ ही जमीन में खाद भी फैला जाता है। मिश्रित हारवेस्टर थ्रेशर ने फ़सल काटने तथा गहाने को एक मिश्रित प्रणाली द्वारा सुगम बना दिया है और हँसिया अथवा दराँती आदि के काम को समाप्त कर दिया है। इस प्रकार यन्त्रीकरण का अर्थ है भूमि को तोड़ने से लेकर खेती की उपज को बाजार में ले जाने तथा बेचने तक के खेती के सभी कार्यों में किसी न किसी रूप में यन्त्रों से काम लेना।

प्रश्न २—भारत में कृषि का यन्त्रीकरण कहाँ तक उचित और सम्भव है? विचार करें। (कलकत्ता १९५५ पंजाब १९५८ सप्लीमेण्टरी)

अथवा

भारतीय कृषि में यन्त्रीकरण कहाँ तक उचित और सम्भव है इसकी परीक्षा कीजिए। (कलकत्ता १९५१)

Q 2—Discuss the possibilities and limitations of mechanised agriculture in India *(Calcutta 1955 Punjab 1958 Supp)*

Or

How far is mechanisation of agriculture desirable and feasible in India? Discuss *(Calutta 1951)*

यन्त्रीकरण के पक्ष में तर्क (Case of Mechanisation)—ग्रेट ब्रिटेन तथा यू० एस० ए० जैसे देशों की कृषि का प्रमुख लक्षण है कृषि-कार्यों में यन्त्र तथा शक्ति का उपयोग। कुछ कठिनाइयों के कारण जिन पर हम अभी विचार करेंगे, हमारी कृषि का पूर्ण यन्त्रीकरण तो सम्भव नहीं है। किन्तु कुछ कार्य तथा क्षेत्र ऐसे हैं जिनमें ट्रैक्टरों के उपयोग से निश्चित लाभ हैं। जैसे पहले तो बंजर और जंगली घास से भरी हुई जमीन को कृषि-योग्य बनाना है। भूमि को कृषि-योग्य बनाने के कार्य में ट्रैक्टरों की उपयोगिता केन्द्रीय ट्रैक्टर संघटन ने उत्तर प्रदेश के तराई क्षेत्र और मध्य प्रदेश में काम करके सिद्ध कर दी है।

इसके बाद कम आबादी वाले क्षेत्रों में भूमि की जुताई, बुवाई का सवाल है, जहाँ श्रम शक्ति की कमी है। जब कि सारे देश पर जनसंख्या का दबाव बहुत ज्यादा है, विशेषकर, मध्य भारत, विन्ध्य प्रदेश, राजस्थान आदि में; कम बस्ती वाले क्षेत्र भी हैं जिनमें श्रम की कमी भी खेती के विस्तार को रोकने वाला कारण है। ऐसे क्षेत्रों में यन्त्रीकृत खेती का लाभ स्पष्ट है।

भूमि-रक्षण, पानी की निकासी, पथरीली भूमि तोड़ना, जमीन चौरस और समतल बनाना आदि कुछ कार्य ऐसे हैं जिनमें ट्रैक्टर विशेष रूप से उपयोगी हैं। लगभग सभी राज्यों में ऐसे कार्यों की आवश्यकता हो जाती है।

उपर्युक्त कार्यों में ट्रैक्टरों के उपयोग के अतिरिक्त यन्त्रीकरण की आवश्यकता इसलिए भी है जैसे—बिजली से चलने वाले नलकूपों और पम्पिंग सेटों द्वारा सिंचाई करना या गन्ना अथवा तिलहन को पेरने या कूटने के लिए बिजली की मोटर या डीज़ेल इंजन का उपयोग करना। जहाँ यान्त्रिक उपकरण से श्रम और पशु शक्ति की किफायत हो और ऐसे समय में जब कि उनकी जरूरत ज्यादा होती है, जैसे अनाज अलग करने में तब भी यन्त्रीकरण अच्छा होगा।

कठिनाइयाँ—कृषि के यन्त्रीकरण की बड़ी भारी आवश्यकता होते हुए भी, उसको एकदम लागू करने में कुछ परिस्थितियाँ भी बाधक हो सकती हैं, जिनकी ओर हमको ध्यान देना होगा। सबसे पहली कठिनाई यह है कि भारत में खेत या जोत का औसत आकार बहुत छोटा है। इससे मोटर ट्रैक्टरों तथा अन्य आधुनिक कृषि-यन्त्रों से काम नहीं लिया जा सकता।

यन्त्रीकरण के विरुद्ध दूसरी आपत्ति यह है कि इससे बेकारी अत्यधिक बढ़ जावेगी। लाखों कृषि-मजदूर अन्य काम न पा सकने के कारण ही खेती के काम से चिपके हुए हैं। यन्त्रीकरण उनको जरूर अपने स्थान से उखाड़ फेंकेगा।

तीसरे, हमारे पास पशुओं की बड़ी भारी संख्या है, जो यन्त्रीकरण से फालतू हो जावेगी। हम एकाएक उनकी संख्या कम नहीं कर सकते।

चौथे, विशेष प्रकार की फसलें उगाने के लिए यन्त्रीकरण अधिक उपयुक्त होता है। इसके विरुद्ध भारत में इस प्रकार का कोई विशिष्टीकरण नहीं है। भारतीय किसान अधिकतर अपने निर्वाह-योग्य खेती करता है, अर्थात् अपनी आवश्यकता की सभी चीजें थोड़ी-थोड़ी। इस प्रकार की खेती के लिए यन्त्रीकरण कैसे उपयुक्त होगा?

पाँचवें, जलवायु तथा वर्षा की अनिश्चितता के कारण फसलों की सुरक्षा के

विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यह भी प्रतिकूल कारण है। आबपाशी या सिंचाई की सुविधाओं के अभाव में ट्रैक्टर किस काम आ सकते हैं?

छठे, किसानों की निरक्षरता तथा निर्धनता भी खेती के यन्त्रीकरण में भारी बाधा है। न तो वे खेती की मशीनों की पेचीदा कार्य प्रणाली को समझते हैं और न उन बहुमूल्य मशीनों के मोल लेने योग्य पर्याप्त धनी हैं।

सातवें, यन्त्रीकरण से पहले बिजली या खनिज ईंधन कृषि भूमि तक पहुँचना चाहिए। भारत में खनिज ईंधन की इतनी कमी है कि पैट्रोल या डीज़ल आयल के ट्रैक्टरों का उपयोग बहुत महँगा बैठेगा। जब तक सस्ते दामों पर बिजली उपलब्ध न हो जाए यन्त्रीकरण का प्रश्न पैदा नहीं होता। ईंधन व तेल के साथ साथ देश में लोहे और इस्पात की भी कमी है जिससे बड़े पैमाने पर ट्रैक्टर आदि का उपयोग देश में कठिन है।

अन्त में, यह भी कहना जरूरी है कि अधिकांश कृषि यन्त्र आयात किए जाते हैं और उनकी कीमत बहुत ज्यादा है। विशेषकर अतिरिक्त हिस्सों के लिए बड़ी कीमतें देनी पड़ती हैं। और साथ ही उनकी सप्लाई पाने में बड़ी देर लगती है। मरम्मत कराने की सुविधाएँ नगण्य हैं और जरा सी खराबी आ जाने पर भी मशीन बहुत दिनों तक बेकार पड़ी रहती हैं। नतीजा यह होता है कि मरम्मत की मजदूरी भी बहुत ज्यादा देनी पड़ती है।

निष्कर्ष (Conclusion)—इन विभिन्न प्रकार की कठिनाइयों और बाधाओं के होते हुए भी देश के लिए किसी सीमा तक यन्त्रीकरण आवश्यक है। निःसन्देह यन्त्रीकरण को सुगम बनाने के लिए समुचित कदम उठाने पड़ेंगे।

सबसे पहले तो हमें ऐसे यन्त्र तैयार करने पड़ेंगे जो छोटे खेतों और भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल हों। हल्के ट्रैक्टरों की, भारी ट्रैक्टरों की अपेक्षा ज्यादा संख्या में जरूरत पड़ेगी, क्योंकि भारी ट्रैक्टर केवल गहरी जुताई के लिए ही आवश्यक है। इसके अलावा किसान के लिए ट्रैक्टर एक प्रकार से सब प्रकार का काम करने वाला शक्ति यन्त्र होना चाहिए जिससे वह जोतने, बोने, पानी निकालने और अपने खेत की उपज को निकटवर्ती मण्डी तक पहुँचाने और खेत को खाद देने तक का काम कर सके।

यन्त्रीकरण लागू करने के लिए एक और आवश्यक कार्य भी करना होगा, वह है सहकारी कृषि को प्रोत्साहित करना। व्यक्तिगत रूप से किसान कीमती यन्त्रों को मोल नहीं ले सकते। सहकारी खेती से ही यन्त्रीकरण का लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

इस बात का प्रबन्ध भी किया जाना चाहिए कि यन्त्रों को व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से किराए पर लिया जा सके, जिससे एक निर्धन किसान भी उनसे लाभ उठा सके। जो उनको मोल लेना चाहे, उनके लिए सुगम किस्तों पर उधार देने का प्रबन्ध भी किया जाना चाहिए।

इसके अतिरिक्त देश में ट्रैक्टरों की मरम्मत, उनके फालतू पुर्जों तथा उनकी देखभाल करने वाले अनेक ट्रैक्टर-स्टेशनों का जाल बिछाना भी आवश्यक होगा।

किसानों की रुचि बढ़ाने के लिए ट्रैक्टर द्वारा खेती करने के काम का जगह-जगह मेलों और सम्मेलनों में प्रदर्शन भी किया जाना चाहिए।

खनिज ईंधन की भारत में कमी को दृष्टि में रखते हुए खेतों पर जल-विद्युत् पहुँचाई जानी चाहिए।

इस प्रकार के यन्त्रों को देश में ही बनाए जाने का प्रयत्न भी किया जाना चाहिए।

यह बात देखकर अत्यन्त प्रसन्नता होती है कि उपर्युक्त प्रस्तावों के अनुसार सक्रिय कार्य किया जा रहा है। हमारी कृषि के यन्त्रीकरण में प्रशंसनीय रूप से आरम्भिक कार्य किया जा चुका है। १९४७ में भारत सरकार ने अपने केन्द्रीय ट्रैक्टर संघ की स्थापना की जो आज एशिया भर में अपने ढंग का सबसे बड़ा संगठन है। १९५१ में उसने विश्व बैंक से उधार लेकर उस रकम से २४० ट्रैक्टर मोल लिये थे। इसके पश्चात् कुछ और ट्रैक्टर भी खरीदे गए। कुछ राज्य सरकारों ने भी अपने ट्रैक्टर संघ बनाए हैं, जो जंगलों को साफ करने तथा ऊसर भूमि का सुधार करने के अतिरिक्त किसानों को किराए पर ट्रैक्टर देते हैं।

सरकार के अतिरिक्त, उत्साही जमींदारों ने भी ट्रैक्टरों से अधिकाधिक काम लेना आरम्भ कर दिया है। ट्रैक्टरों के बढ़ते हुए आयात से यह बात बिलकुल स्पष्ट दिखलाई देती है। १९४९-५० में ३,३१८ ट्रैक्टरों के आयात की अपेक्षा १९५१-५२ में ६ करोड़ रुपये के मूल्य के ७,४०० ट्रैक्टरों का आयात किया गया। किन्तु तब से ट्रैक्टरों के आयात में फिर कमी आ गई है। आयात में यह कमी विशेषकर इसलिए हुई है कि बड़े खेतिहर ट्रैक्टरों में अब पैसा लगाने को तैयार नहीं हैं, वह इस डर से कि जोतों के आकार पर अधिकतम सीमा नियत न हो जाए। कुछ बड़े जमींदारों ने हाल में ट्रैक्टर इस खयाल से भी खरीद लिये हैं कि खेती का यन्त्रीकरण उपाय अपना लेने पर शायद उन्हें विशेष रियायतें दी जाएँ और यदि वर्तमान जोतों पर कोई अधिकतम सीमा (Ceiling) नियत हो तो वे बच जाएँ।

ट्रैक्टरों का निर्माण देश में ही करने का पूर्ण प्रयत्न किया जा रहा है। मद्रास का एक प्रसिद्ध कारखाना ब्रिटिश ट्रैक्टर के भागों को जोड़कर प्रतिदिन १२ ट्रैक्टर प्रस्तुत कर रहा है। एक और कारखाना एक जर्मन फर्म के प्रबन्ध से उड़ीसा में खोला गया है।

ट्रैक्टरों के अतिरिक्त गाँवों में पानी ऊपर खींचने के कार्य के लिए बिजली से चलनेवाली मशीनें, बिजली के मोटर तथा डीजेल इंजनों का भी प्रयोग अधिकाधिक बढ़ता जाता है। उनके उपयोग को प्रोत्साहित करने के लिए अनेक राज्य सरकारें 'अधिक अन्न उपजाओ' योजना के अधीन उधार के रूप में सहायता दे रही हैं जिसको किसान कुछ वर्षों में चुका सकते हैं। इन इंजनों से उत्पन्न की जाने वाली शक्ति का उपयोग गन्ना पेरने, तेल पेरने, आटा पीसने आदि खेती के अन्य कार्यों में भी लिया जा सकता है। इस प्रकार भारतीय कृषि के क्षेत्र में यन्त्रीकरण का प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ रहा है।

अध्याय १०

कृषि-उपज की बिक्री

(Marketing of Agricultural Produce)

प्रश्न १—कृषि उपज की वर्तमान बिक्री प्रणाली के विषय में अपनी विचार-पूर्ण सम्मति दें। उसके सुधार के लिए आप जो उपाय उचित समझते हो, उनका सुझाव दें। (लखनऊ १९५६ पटना १९५७)

या

भारत में कृषि-उपज की बिक्री की प्रधान समस्याएँ बताइए और उचित इलाज बताइए। (आगरा १९५४ एवं १९५६ कलकत्ता और पंजाब १९५२)

Q. 1—Give your considered views about the existing system of marketing of agricultural produce. Suggest improvements which you consider desirable (*Lucknow 56 Patna 57*)

Or

Discuss the main problems of agricultural marketing in India Suggest suitable remedies

(*Agra 1956, 1954, Calcutta and Punjab '52*)

भारतीय कृषि मे अनेक प्रकार की दुबलताएँ है। इनमे कृषि उत्पादनो की बिक्री की वर्तमान दोषपूर्ण प्रणाली भी है। जब तक इस प्रणाली म सुधार नही किया जाता, देश म किसानो की आर्थिक दशा सुधारने की आशा नही की जा सकती।

वर्तमान प्रणाली (Present System)—गाँवों में बिक्री (Sales in the Villages)—किसान द्वारा बेचे जाने वाले कृषि-उत्पादनो का एक बडा भारी भाग संगठित बाजार मे जाने की अपेक्षा गाँव में ही बेच दिया जाता है। कम से कम उत्तर प्रदेश के सम्बन्ध म तो यह अनुमान लगाया गया है कि समस्त उपज का ८० प्रतिशत गेहूँ ४० प्रतिशत कपास तथा ७५ प्रतिशत तिलहन गाँव या गाँव की पैठो मे ही बेच दिया जाता है। *गाँव मे की जाने वाली बिक्री का इतना अधिक परिमाण किसान के* हित के बिलकुल विरुद्ध है, क्योंकि इस प्रकार किसान को उसकी अपेक्षा बहुत कम मूल्य मिलता है, जो उसको अपनी उपज को संगठित बाजार म ले जाने से मिल जाता।

किसान के अपनी उपज मण्डी न ले जाने का महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि गाँव मे माल ढुलाई तथा परिवहन के साधन बहुत अपर्याप्त तथा त्रुटिपूर्ण है। अतएव माल ढुलाई की लागत बहुत बैठती है। यदि थोक माल लेने वाला गाँव से कुल १५ मील दूरी पर भी हो तो भी ढुलाई मे उपज के मूल्य का २० प्रतिशत तक लग जाता है।

मण्डी में बिक्री—निश्चय ही थोडी-बहुत उपज पास की मण्डी म भी लाई

जाती है, चाहे यह मण्डियाँ 'संगठित' अथवा 'असंगठित' हों। पिछले दिनों तक संगठित मण्डियों की संख्या बहुत कम थी। असंगठित मण्डियों में बिक्री के कोई निश्चित कायदे-कानून नहीं होते। दलाल, कच्चे आढतियों तथा पक्के आढतियों के रूप में मण्डी में मध्यस्थों की संख्या भी कम नहीं होती, और वे सभी माल की बिक्री में से अपना-अपना भाग लेने का दावा करते हैं। दलाल और आढतिए प्राय: बेचने वाले को घाटा देकर मोल लेने वाले के साथ पक्षपात किया करते हैं। सौदा 'हाथ' प्रणाली द्वारा किया जाता है, अर्थात् दलाल और आढतिया अपने-अपने हाथों को एक रूमाल से ढक कर उँगलियों के इशारे से सौदा किया करते हैं। इस प्रकार बेचने वाले को यह समझ नहीं पड़ता कि उसके माल का मूल्य किस प्रकार तय किया जा रहा है।

अभी पिछले दिनों कुछ राज्यों में संगठित मण्डियाँ भी बनाई गई हैं और उनमें बिक्री कमीशन तथा अन्य खर्चों के निश्चित नियम, तथा असंगठित मण्डी की गुप्त हाथ-प्रणाली के स्थान पर नीलाम द्वारा खुला सौदा करने आदि के नियम बन गए हैं।

सहकारी बिक्री समितियाँ भी किसानों में अब बनाई जा रही हैं। यह अपने सदस्यों की उपज को इकट्ठा बेचती हैं और उसका अच्छा मूल्य वसूल करती हैं। किन्तु कृषक जनसंख्या की दृष्टि से इन समितियों तथा इनके सदस्यों की संख्या बहुत कम है।

वर्तमान प्रणाली की मुख्य त्रुटियाँ और उनके उपचार (Main Defects of the Present System and their Remedies)—अभी तक हमने भारत में बेचने की वर्तमान प्रणाली का ही वर्णन किया है। अब हम इस प्रणाली की मुख्य त्रुटियों पर विचार करके उनको दूर करने का ढंग भी बतलाएँगे।

(१) प्रथम हम बेची जाने वाली उपज की किस्म को लें। कृषि की जिस उपज को एकत्रित करके बेचा जाता है, वह प्राय: घटिया किस्म की होती है। इसके कुछ भी कारण क्यों न हों, ऐसे माल का मूल्य बढ़िया माल की अपेक्षा जरूर कम होगा।

अतएव यह आवश्यक है कि खेती की उपज की किस्म को अधिक अच्छा बनाया जाए। इसका उपाय है अधिक अच्छी किस्म के बीजों से काम लेना, खेती के रोगों की रोकथाम और उसमें लगने वाले कीड़ों से उसकी रक्षा करना, फसल एकत्रित करने की सुधरी हुई प्रणाली से काम लेना, वैज्ञानिक ढंग से उपज को भण्डार में रखना, उसमें मिलावट न होने देना और सबसे अधिक महत्वपूर्ण है उनकी किस्मों को अलग-अलग करके उनका मान निश्चित करना और फिर मण्डी में भेजना।

(२) परिवहन तथा संचार की अपर्याप्त सुविधाएँ (Inadequate Facilities of Transport and Communication)—सम्भवत: यह सबसे बड़ी कमी है। अनेक गाँवों में उनको मण्डी से मिलाने वाले न तो रेल-मार्ग हैं और न सड़कें। यदि सौभाग्यवश कोई सड़क होती भी है तो वह प्राय: इतनी खराब होती है कि वह गर्मियों में धूल का अम्बार तथा वर्षा में दलदल जैसी बन जाती है। इसके फलस्वरूप किसान अपनी उपज को अपने गाँव में ही बेचना पसन्द करता है और यह हम जानते ही हैं कि गाँव में उसको अपनी उपज का मण्डी से कहीं कम मूल्य मिलता है।

परिवहन की सुविधाओं के अतिरिक्त मण्डी के भाव आदि की सूचना भी गाँवों में नहीं पहुँच पाती, क्योंकि वहाँ पर सचार साधनों का अभाव है।

यह स्पष्ट है कि ऊपर बताई हुई दिशाओं म सुधार किए जाने की आवश्यकता है, रेल मार्गों तथा सडको के सम्बन्ध म अनेक मीलो तक विस्तार किया जाना चाहिए। नष्ट होने योग्य माल के लिए ठण्डे गोदामो की सुविधा देना आकाशवाणी द्वारा मण्डी के समाचारो का प्रसार तथा स्थानीय भाषा म दैनिक अथवा साप्ताहिक बुलेटिन निकालना ऐसे कार्य हैं, जिनके द्वारा इन त्रुटियों को बहुत कुछ दूर किया जा सकता है।

(३) मध्यस्थों की लम्बी शृंखला (A long chain of middlemen)—उपज के मालिक किसान और उसके उपभोक्ता के बीच म बिचौलियों की एक लम्बी शृंखला होती है। उदाहरणार्थ, हम देख चुके हैं कि किसान और उपभोक्ता के बीच म गाँव में बनिये, व्यापारी, दलाल, कच्चे आढ़ती पक्के आढती थोक वाले तथा परचून वाले आते हैं। उनमें से प्रत्येक अपना हिस्सा चाहता है जिससे किसान को मिलने वाला मूल्य क्रमश कम हो जाता है।

किसान को लाभ पहुँचाने के लिए इनम से यथाशक्ति अधिक से अधिक बीच के मध्यस्थो को समाप्त कर देने का उद्देश्य बनाना चाहिए। अनावश्यक बिचौलियों को निकालने के लिए अच्छी सडकों से गाँवों को मिलाना तथा अच्छी संख्या में सुनियमित मण्डियों की स्थापना करना आवश्यक है।

(४) मण्डी की धोखाधड़ी (Fraudulent practices in the markets)—मण्डी म अनेक प्रकार की धोखेबाजियाँ की जाती हैं जिनके द्वारा किसान को धोखा देकर उसकी बिक्री की आय से एक अच्छे भाग को हड़प लिया जाता है। इनमें से कुछ कार्य ये हैं—(क) आढ़तिया और दलाल मोल लेने वाले और बेचने वाले दोनों के लिए काम करने का ढोंग रचते हैं। किन्तु उनकी रुचि बेचने वालों की अपेक्षा मोल लेने वाले में अधिक होती है, (ख) मूल्य को छिपाकर तय किया जाता है, इस प्रणाली में खुली प्रणाली की अपेक्षा अधिक धोखे की सम्भावना रहती है, (ग) तोलने के झूठे बाट, और (घ) अनेक प्रकार के अनुचित व्यय।

सगठित मण्डियों म उचित शुल्क का मान निश्चित करके अनुचित शुल्कों का लिया जाना एकदम गैरकानूनी बना देना चाहिए। इसके अतिरिक्त यह भी अनुचित है कि बेचने वाला मोल लेने वाले की अपेक्षा अधिक शुल्क दे।

किसान से लिये जाने वाले कुछ और खर्चों का जिक्र भी कर देना चाहिए। ये हैं, आक्ट्राई, टर्मिनल तथा नगरपालिकाओं द्वारा लगाई गई अन्य चुंगियाँ। ये चुंगियाँ लगाई तो जाती हैं कि उनका भार उपभोक्ता पर क्रय मूल्य की वृद्धि होकर पड़े, पर वास्तव म उनका भार पडता है बेचने वाले किसान पर। गेहूँ रिपोर्ट (Wheat Report) के अनुसार, यह भार कभी-कभी उपज के मूल्य का ४% या ५% तक हो जाता है। यह किसान के साथ अन्याय है।

(५) भण्डार तथा गोदाम की सुविधाओं का अभाव (Lack of storage and warehousing Facilities)—किसान की ठहरने योग्य आर्थिक शक्ति न होने से वह अपनी फसल काटकर फौरन ही उसको बेचने की जल्दी करता है। किसान को

माल की ढुलाई का अधिक अच्छा तथा सस्ता प्रबन्ध कर सकती हैं। ये खाद, बीज तथा उपजाऊ बनाने वाली अन्य वस्तुएँ किसान को दिए जाने का प्रबन्ध कर सकती हैं। ये अन्य गाँवों की इसी प्रकार की अन्य समितियों के साथ मिलकर मण्डी में सहकारी आढ़त की दूकान भी खोलकर लाभ कमा सकती हैं जिसका बाद में सदस्यों में बाँटा जा सकता है। इसी प्रकार सहकारी समितियाँ आस पास के गाँवों की सहकारी समितियों से मिलकर सहकारी आधार पर क्षेत्रीय व्यापारी निकाय की स्थापना कर सकती हैं। और तब ये क्षेत्रीय सहकारी व्यापारी निकाय रूई ओटने की चक्की और रूई की गाँठें बनाने की मशीनें कपास के क्षेत्रों में अथवा गन्ना उत्पादन क्षेत्रों में शक्कर बनाने के कारखाने और गेहूँ उगाने वाले क्षेत्रों में आटा चक्की लगा सकते हैं।

सहकारी बिक्री का सबसे अच्छा उदाहरण उत्तर प्रदेश ने उपस्थित किया है। वहाँ गत दस वर्षों में १६०० गन्ना सहकारी यूनियनें तथा प्राथमिक समितियाँ बनाई गई हैं। गन्ने के कारखानों को दिए जाने वाले गन्ने का ८५ से ६० प्रतिशत भाग तक यही देती हैं। इसकी औसत वार्षिक बिक्री २५ करोड रुपया की होती है। बिहार में भी ऐसी सोसाइटियाँ हैं। बम्बई में कपास की सहकारी समितियाँ बनाई गई हैं। मद्रास में तम्बाकू तथा धान की हैं। द्वितीय योजना में सहकारिता के आधार पर मिली जुली बिक्री, प्रत्यय व्यवस्था, माल का ग्रेडिंग, भण्डार व्यवस्था आदि के विकास के लिए उपबन्ध किया गया है। तो भी देश में इस विषय में काम बहुत धीरे-धीरे हो रहा है। इसके शीघ्रतापूर्वक किए जाने की बड़ी आवश्यकता है।

(सहकारी बिक्री के विकास के सम्बन्ध में सुझावों के लिए देखिए प्रश्न २)

प्रश्न २—वह कौनसे विभिन्न ढंग हैं जिनसे सहकारिता प्रणाली कृषि उपज की बिक्री की समस्याओं को सुलझा सकती है ?

भारत में कृषि-उत्पादनों की सहकारी बिक्री के विकास के सम्बन्ध में अपने सुझाव दीजिए। (गौहाटी, १९५३)

Q. 2—What are the various ways in which co-operation can solve the problems of agricultural marketing? *(Gauhati, 1953)*

Make suggestions for the development of co operative marketing of agricultural produce in India

भारत में कृषि उपज की बिक्री में सुधार के दो मुख्य कार्यों—विनियमित मण्डियों की स्थापना तथा सहकारी बिक्री समितियों के विकास—में से बिक्री समितियों का विकास कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में विनियमित मण्डी के लाभ सीमित होते हैं।

उसके विकास के लिए सुझाव
(Suggestions for its Development)

(१) खेती की कुछ वस्तुओं को यदि बिक्री से पूर्व कुछ निर्मित ("प्रोसेस") किया जाए तो उसके दाम अच्छे उठते हैं, उदाहरणार्थ, कपास को ओटकर उसके गट्ठे बना लेने से। ऐसे मामलों में यह निर्माण का कार्य भी माल उगाने वालों को स्वयं ही सहकारी आधार पर करना चाहिए। गुजरात में रूई बिक्री सोसाइटियों ने

ओटने तथा गट्ठे बनाने के अपने निजी कारखाने बना रखे हैं। इसका एक सफल उदाहरण है सहकारी चीनी मिल, जो बम्बई राज्य के अहमद नगर जिले में ईख पैदा करने वाले किसानों ने शुरू की है। उनकी मिल ने न केवल उन्हें अच्छे दाम दिए हैं बल्कि उन्हें अपना उत्पादन सुधारने में भी मदद दी है, जो अच्छे खाद, रासायनिक खाद, बीज आदि और विकास के लिए दीर्घकालीन उधार देकर सम्भव हुआ है। सहकारी तेल मिल और सहकारी पटसन मिल भी इस दिशा में लाभदायक कार्य करेंगी। बिक्री से पूर्व माल की तैयारी के उपर्युक्त अच्छे सहकारी उदाहरण हैं।

(२) जो जिंसें 'प्रोसेसिंग' की अपेक्षा न रखकर खेत से लाकर सीधे बेची जा सकती हैं उनका सौदा सहकारी बिक्री समितियों को उपभोक्ताओं की सहकारी समितियों के साथ सीधे करना चाहिए, जिससे बिचौलियों के खर्चे आदि को बचाया जा सके।

(३) राजकीय सहकारी बैंकों तथा भारत के रिजर्व बैंक द्वारा सहकारी बिक्री समितियों को उनकी शेयर पूँजी के आधार पर रुपया उधार दिए जाने की व्यवस्था के कारण इनको अपनी शेयर पूँजी आदि को भी बढ़ाना चाहिए। यह जरूरी है कि सहकारी बिक्री संस्थाओं के पास काफी पूँजी हो।

(४) सहकारी बिक्री समितियों के कार्यक्षेत्र को बढ़ाकर कम से कम एक पूरी तहसील कर देनी चाहिए, जिससे वह इस पूरे इलाके की जिन्सों को बेच सकें। तभी वह प्रशिक्षित व्यक्तियों को नौकर रखने का खर्चा सँभाल सकेंगी।

(५) गोदाम की सुविधाओं का विशेषकर मण्डियों में विस्तार किया जाना चाहिए, क्योंकि सहकारी बिक्री समितियों को ऐसी दशा में ही बैंकों से आर्थिक सहायता मिल सकेगी। अतएव राज्य सरकारों को चाहिए कि वह सहकारी बिक्री समितियों को अपने गोदाम बनाने के लिए आर्थिक सहायता दें। लाइसेंसदार गोदामों के बनाए जाने को भी प्रोत्साहित किया जाए। अनेक राज्यों में गोदाम अधिनियम (Warehousing Acts) भी बन गए हैं।

(६) सरकार को सहकारी बिक्री समितियों को जिंसों के श्रेणी-संस्थापन (grading) की सुविधाएँ भी देनी चाहिए।

(७) सामुदायिक योजना (Community Project) तथा राष्ट्रीय प्रसार खण्डों (National Extension Service Blocks) के क्षेत्रों में सहकारी बिक्री बढ़ाने पर विशेष जोर देना चाहिए।

(८) सहकारी बिक्री संस्थाओं को व्यक्तिगत व्यापारियों की शत्रुता और प्रतिस्पर्द्धा से बचाने के लिए उचित कदम उठाए जाने चाहिएँ।

(९) सहकारी संस्थाओं के द्वारा कृषि-जन्य वस्तुओं का निर्माण, बिक्री, गोदामों में भरकर रखने आदि के बारे में भली प्रकार सूझ-बूझ के साथ, योजनानुसार कार्य करना चाहिए। यदि तदर्थ एक अखिल भारतीय संस्था की स्थापना की जा सके तो यह काम और अधिक कुशलता के साथ सम्पन्न किया जा सकता है। इन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए एक राष्ट्रीय सहकारी विकास और भण्डार मण्डल (National Co-operative Development and Warehousing Board) की

अभी हाल ही में स्थापना की गई है। अभी देखना है कि उक्त मण्डल कहाँ तक अपने उद्देश्यों को पूरा करेगा।

प्रश्न ३—भारत में खेती की उपज की बिक्री की समस्या पर प्रकाश डालिए और यह भी बताइए कि इस दिशा में सरकार ने क्या किया है? (बम्बई १६५७)

Q 3—Discuss the problem of marketing of agricultural produce in India and the measures taken by the Government to solve it
Bombay 1957)

(नोट—प्रश्न के प्रथम भाग के लिए प्रश्न १ के उत्तर को देखिए।)

कृषि पर नियुक्त किए गए शाही कमीशन १६२८ (Royal Commission on Agricultrue) ने सरकार का ध्यान कृषि उपज की बिक्री म उस समय प्रचलित भयकर दोषो के सम्बन्ध मे विशेष रूप से आकर्षित किया। उसने प्रस्ताव किया कि खेती की उपज की बिक्री में सहायता देने के उद्देश्य से केन्द्र तथा प्रान्तो म दोनो ही जगह बिक्री-सगठनों की स्थापना की जाए। किन्तु सरकार न उसके काफी बाद १६३४ में एक कृषि-उपज बिक्री परामर्शदाता की नियुक्ति की। केन्द्रीय बिक्री सगठन के अतिरिक्त प्रान्तों में भी कई बिक्री सस्थाएँ बनाई गई।

इस प्रकार के सगठनो के कार्य के तीन विभाग किए जा सकते हैं—(१) अन्वेषण, (२) विकास और (३) ग्रेडिंग। अन्वेषण-कार्य म महत्त्वपूर्ण जिसो के बाजार की छानबीन करना, विनियमित मडियो तथा कृषि उपज की ढुलाई तथा सुरक्षित रखने आदि की समस्याओ के सम्बन्ध म चर्चा को लिया जा सकता है। विकास-कार्य में ऐसी जाँच तथा वे उपाय होते हैं, जिनकी आवश्यकता का सुझाव अन्वेषण करते समय दिया गया हो। इस विभाग को इन प्रस्तावों को कार्य रूप म परिणत करना होता है। ग्रेडिंग एक बिलकुल विशेष प्रकार का कार्य है। उसमे कृषि-उपज की विभिन्न जिसो के रासायनिक तथा मौलिक गुणों का अध्ययन करने के उपरान्त उनके विभिन्न मान के अनुसार उनकी विभिन्न श्रेणियाँ बनाई जाती हैं।

इस विषय मे सरकारी बिक्री सगठन विभाग बहुत उपयोगी कार्य कर रहा है। उदाहरणार्थ, (१) उसने अनेक जिन्सो (अब तक ४०) की बिक्री के क्षेत्र की जाँच करके उसका विवरण प्रकाशित किया है। यह जाँच की हुई जिन्सो की बिक्री से सम्बन्धित सभी समस्याओ के सम्बन्ध म वाद विवाद करके उनको सुलझाने के उपायो के सम्बन्ध म भी सुझाव देता है। खेतो म मुख्य रूप से पैदा की जाने वाली निम्नलिखित जिन्सो के सम्बन्ध म जाँच की गई है—गहूँ, चावल, मूंगफली, दूध, पशु आदि। (२) कृषि पदार्थों के ग्रेडिंग तथा मान निश्चित करने की दिशा मे बहुत कुछ तकनीकी या प्राविधिक काम किया जा चुका है। १६३७ म कृषि-उत्पादन (क्रम-सस्थापन तथा अकन) अधिनियम [Agricultural Produce (Grading and Marketing) Act] भी पास किया गया था, जिसके अनुसार सरकार ने घी, मैदा, अण्डे आदि कई जिन्सो के ग्रेड या मान या श्रेणियाँ निश्चित करने के केन्द्र बनाए। इस प्रकार श्रेणी-कृत माल के ऊपर एगमार्क का निशान रहता है, जिससे उत्पादक को ऊँचे मूल्य पर अधिक माल बेचने की सुविधा मिलती है। पचवर्षीय योजनाओ मे भी तिलहन, तम्बाकू, काजू, ऊन आदि की श्रेणियाँ स्थापित करने के लिए उनका निर्यात बढाने के उद्देश्य

से बहुत बड़ी धनराशि का उपबन्ध किया गया है। (३) गेहूँ, मूंगफली आदि कई जिन्सों के लिए टेके की शर्तों का मान निश्चित कर दिया गया है; इससे उनकी बिक्री अधिक हो गई है। (४) आकाशवाणी द्वारा प्रतिदिन बन्द होने के समय कृषि-पदार्थों के बाजार-भाव तथा मण्डी की कुछ जिंसों के मूल्य, स्टाक तथा यातायात के विषय में साप्ताहिक समाचारों का ब्राडकास्ट किया जाता है।

सरकार ने भारत में कृषि-पदार्थों की बिक्री को बढ़ाने के लिए राज्यों में विनियमित मण्डियों की स्थापना करके महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। विनियमित मण्डियों की बड़ी भारी संख्या में स्थापना हो जाने से मण्डियों की भयंकर धोखाधड़ी दूर हो गई है। मद्रास, बम्बई और उड़ीसा जैसे कुछ राज्यों ने मण्डियों में किसानों को माल को एकत्रित करने की सुविधा देने के लिए गोदाम बनाने के लिए आर्थिक सहायता दी है। गाँवों के अन्दर सरकार ने सहकारी बिक्री समितियों की स्थापना करने में सहायता दी है, जिसमें उल्लेखनीय सफलता मिली है।

सरकार द्वारा किया हुआ यह कार्य प्रभावशाली है, किन्तु अभी तो बहुत कुछ करना शेष है। इसमें सन्देह नहीं कि विनियमित मण्डियों तथा सहकारी बिक्री-समितियों की स्थापना कर दी गई है, किन्तु देश के भारी विस्तार तथा जनसंख्या का विचार करते हुए अभी इन दोनों की संख्या बहुत कम है। एक बड़ी भारी कमी तो अभी तक भी बनी हुई है। परिवहन तथा संचार के साधन अभी तक अत्यन्त अपर्याप्त हैं। अधिकांश गाँवों का अभी तक मण्डियों के साथ सम्बन्ध नहीं है। जब तक यातायात के सुगम साधनों का विकास नहीं किया जाता, किसान विनियमित मण्डियों के लाभ का फल प्राप्त नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त यद्यपि बिक्री-संगठनों ने 'अनुसन्धान' के क्षेत्र में बहुत अधिक काम किया है, किन्तु 'विकास' के क्षेत्र में और भी अधिक कार्य किया जाना चाहिए, अर्थात् बिक्री की जाँच के सम्बन्ध में किए हुए प्रस्तावों को अधिक परिमाण में कार्य-रूप में परिणत किया जाना चाहिए। यही नहीं, बाजारों और बिक्री की जाँच के बाद जो तथ्य प्रकाश में आए हैं और जो आँकड़े उपस्थित किए गए हैं वे कहीं-कहीं भ्रमपूर्ण और अपूर्ण हैं। कृषि-उत्पादन और विदेशी और साथ ही देशी व्यापार सम्बन्धी तथ्य बदल गए हैं। इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि कृषि-जन्य उत्पादों की बिक्री से सम्बन्धित सर्वेक्षण की पुनः जाँच कराई जाए और नए तथ्य प्रकाश में लाए जाएँ। मुख्य राष्ट्रीय फसलों के लिए अखिल भारतीय सर्वेक्षण के साथ-साथ क्षेत्रीय और प्रादेशिक जाँच भी कराई जानी चाहिए। जहाँ तक कृषि-उपज के श्रेणीबद्ध करने का प्रश्न है, यद्यपि १९३७ में ही तत्सम्बन्धी विधि अधिनियमित हो चुकी थी तो भी इस दिशा में प्रगति सन्तोषजनक नहीं है। केवल कुछ निर्यात वस्तुओं के सम्बन्ध में कुछ काम हुआ है।

यह बात नहीं कि सरकार को कृषि-बिक्री के क्षेत्र में "कम काम हुआ है और बहुत कुछ नहीं हुआ है" इसका एहसास नहीं है। इसलिए सरकार ने दोनों पंचवर्षीय योजनाओं में देश में कृषि-उपज की बिक्री को सुधारने के लिए उपबन्ध किए हैं। अनेक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव देश में बिक्री-संगठन को सुधारने के लिए पास किए गए। इनमें यह भी था कि प्रथम तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में बिक्री के विकास के

अध्याय ११

कृषि-वित्त व्यवस्था

(Agricultural Finance)

समस्या का स्वरूप (Nature of the Problem)—व्यवसाय प्रायः पूँजी उधार लेकर चलाए जाते हैं। इस विषय में कृषि भी अपवाद नहीं है। बल्कि भारतीय खेतिहर को साख की ओर भी ज्यादा जरूरत पड़ती है, क्योंकि वह अपना व्यवसाय कुछ विशेष अवस्थाओं और परिस्थितियों में चलाता है। छोटी-छोटी रकम उधार चाहने वाले किसानों की संख्या लाखों में है जो लगभग ५ लाख गाँवों में इस विशाल देश भर में बिखरे हुए हैं। खेती का स्वरूप निर्वाह-मात्र के लिए है, इसलिए, उसमें कोई भी बचत नहीं होती जो बुरे मौसम के लिए रखी जा सके। और चूँकि फसल का बीमा कराने की कोई सुविधा नहीं है, इसलिए औसत खेतिहर लगभग हमेशा ही उधार लेने की जरूरत में रहता है—अपना व्यवसाय चलाने के लिए भी और चालू उपभोग के लिए भी। और चूँकि यह उधार छोटी राशि में ऐसे लोगों को चाहिए जिनकी वित्तीय स्थिति बड़ी कमजोर है, इसलिए इस प्रकार के वित्त देने में जोखिम और ऊपरी खर्च बहुत ज्यादा हैं।

प्रश्न १—भारत में कृषि को वित्त देने के लिए वर्तमान अभिकरणों की परीक्षा कीजिए। उनकी क्या सीमाएँ हैं? इधर के वर्षों में उन्हें दूर करने के लिए क्या यत्न किए गए हैं? (पटना १९५६; बम्बई १९५३)

Q 1—Examine the existing agencies for financing agriculture in India. What have been their limitations? What steps have been taken in recent years to remove them? *(Patna 1956; Bombay 1953)*

भारतीय किसान निम्नलिखित तीन एजेंसियों से उधार लेते हैं—(क) साहूकार (The money-lender), (ख) सरकार (The Government), और (ग) सहकारी संस्थाएँ (The Co-operative Movement)। हम इन तीन एजेंसियों या अभिकरणों के विषय में कुछ विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

(क) साहूकार—देहाती क्षेत्रों में उधार लेने के लिए साहूकार सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है। अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण ने, जो रिजर्व बैंक आफ इण्डिया की ओर से १९५१ में किया गया था, और जिसकी रिपोर्ट दिसम्बर १९५४ में प्रकाशित हुई, यह दिखाया कि लगभग ७०% धन अभी तक महाजन और गाँव के व्यापारी दे रहे हैं। जब तक ग्रामीण साख की अन्य एजेंसियाँ विकसित न हो जाएँ, इस एकमात्र एजेंसी को खत्म कर देना बुद्धिमत्ता न होगी, यद्यपि यह ठीक है कि साहूकार से ऋण लेने में कृषकों को बहुत हानि होती है।

(ख) सहकारिता आन्दोलन—ग्रामीण ऋण की समस्या को सहकारिता आन्दोलन के स्वस्थ विकास द्वारा ही सुलझाने की आशा की जा सकती है। सहकारिता द्वारा न केवल कृषि-वित्त व्यवस्था की समस्या को, वरन् कृषि की समूची समस्या का, जर्मनी, डेनमार्क, हालैंड जैसे देशों में सफलतापूर्वक सुलझा लिया गया है।

सहकारिता आन्दोलन द्वारा उधार दिए जाने वाले धन का एक भाग भारत के रिजर्व बैंक से आता है। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रीति से यह बैंक कृषि-वित्त व्यवस्था का भी साधन है। दुर्भाग्यवश सहकारी समितियों द्वारा दिया जाने वाला ऋण हमारी कृषि की समस्त वित्तीय आवश्यकता का बहुत छोटा भाग है। १९५५-५६ में, सभी कृषि साख सहकारी समितियों द्वारा दिए गए ऋण लगभग ४९.६२ करोड़ रु० थे। १९३८-३९ में ६·७५ करोड़ और १९४५-४६ में १४.६ करोड़ रु० के मुकाबले में यह राशि काफी प्रगति दिखाती है, किन्तु भारतीय खेतिहर की कुल आवश्यकताओं का, जो अन्दाजन ५००-८०० करोड़ के लगभग हैं, यह बहुत कम प्रतिशत है। इसके अतिरिक्त इस दिशा में जो कुछ भी विकास हुआ है वह सभी अल्पकालीन ऋण है क्योंकि बम्बई तथा मद्रास राज्यों के अतिरिक्त भूमि रहन बैंकिंग कार्य की सभी जगह उपेक्षा की जाती रही है। फिर देश के विभिन्न भागों में इस आन्दोलन का विकास एक जैसा नहीं हो रहा है। जो सूद की दर ली जाती है वह भी बहुत ज्यादा है—कुछ राज्यों में ७% से १२% तक। तो भी यह सच है कि कृषि को पूँजी देने की सहकारी प्रणाली ही सर्वोत्तम है।

(ग) सरकार—किसान को पूँजी देने वाली तीसरी एजेंसी सरकार है। सरकार किसान को तकावी ऋण के रूप में—विशेषकर बाढ़ अकाल जैसी अनिवार्य आवश्यकता के समय—उधार देती है। सन् १८८३ और १८८४ में क्रमशः भूमि सुधार ऋण अधिनियम (The Land Improvement Loans Act) तथा कृषि ऋण अधिनियम (Agricultural Loans Act) पास किए गए। प्रथम अधिनियम में स्थायी सुधार कार्यों के लिए दीर्घकालीन ऋण दिए जाने की तथा दूसरे में कृषि की चालू आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सरकार द्वारा अल्पकालीन ऋण दिए जाने की व्यवस्था की गई परन्तु अनेक कारणों से इन दोनों अधिनियमों के अधीन अधिक ऋण नहीं दिए जा सके।

तकावी ऋण का बहुत कम उपयोग किए जाने के कारण ये हैं—(१) ये ऋण कुछ निश्चित उद्देश्यों के लिए ही दिए जाते हैं। अतएव किसान सरकार से सब प्रकार के ऋण पाने की आशा नहीं कर सकता। उसे साहूकार के पास जाना ही पड़ता है जिसको वह सरकार से कभी-कभी उधार लेकर भी नाराज करना नहीं चाहता। (२) लाल फीताशाही तथा नीचे के माल अफसरों के भ्रष्टाचार के कारण किसान इन अधिनियमों से लाभ उठाने में संकोच करता है। (३) इसके अतिरिक्त, इन ऋणों की वसूली अत्यन्त कठोरता से की जाती है।

वास्तव में देहात के ऋण के लिए सरकार अभी तक भी एक बहुत छोटी एजेंसी बनी हुई है, जो कठिनाई से कृषकवर्ग की आवश्यकताओं का ३% ऋण ही देती है।

उपर्युक्त तीन एजेंसियों के अलावा वाणिज्यिक बैंक भी हैं जो कभी-कभी पार्थिव जमानत पर अच्छे किसानों को रुपया उधार दे देते हैं। किन्तु वाणिज्यिक बैंक आमतौर पर व्यापारियों के द्वारा कृषि-उपज की बिक्री को वित्त देने के लिए अल्पकालीन ऋण देते है। पर ये पेशगियाँ उनके कुल ऋणों का बहुत कम भाग, लगभग २% या ३% मात्र हैं। जब तक लाइसेंसदार भण्डार-गृह विकसित न हों, यह एजेंसी महत्त्वपूर्ण नहीं है।

कृषि के लिए उधार देने वाली मुख्य एजेंसियों के उपर्युक्त अध्ययन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि देश में कृषि-वित्त व्यवस्था की सुविधाएँ अत्यन्त अपर्याप्त हैं।

सुझाव (Suggestions)—कृषि-साख सुविधाओं के संगठन और प्रसार की आवश्यकता जितनी आज है उतनी पहले कभी न थी। एक ओर तो जमींदारी व्यवस्था के खत्म होने और महाजनी व्यवसाय के अधिकाधिक विनियमन के कारण, हमारे खेतिहर का परम्परागत स्रोत, जिससे वह पैसा ले लिया करता था, तेजी से सूखता जा रहा है। दूसरी ओर, हम उन किसानों से यह कह रहे हैं कि वे उन्नत तकनीक, अच्छे बीज, रासायनिक खाद आदि का प्रयोग करें। हमारी विकास योजना को ज्यों-ज्यों गति मिलेगी और किसान ज्यों-ज्यों आधुनिक और अधिक कीमती उपकरणों का उपयोग करने की ओर बढ़ेगा, उसकी वित्त की आवश्यकताएँ और ज्यादा होंगी। तब हम साख सुविधाएँ बढ़ाने के लिए क्या करें? यहाँ कुछ सुझाव दिए जा सकते हैं—

सबसे पहले यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि ग्रामीण ऋण की सबसे अच्छी एजेंसी सहकारी आन्दोलन है। इसलिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण सुझाव यही है कि इस आन्दोलन का प्रसार और सुधार किया जाय।

किन्तु सहकारी आन्दोलन के पर्याप्त रूप में विकसित होने में कई वर्ष लग जाएँगे। अस्तु, तब तक केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों को अल्पकालीन ऋण की सुविधा देने में अपना भाग पर्याप्त बढ़ा देना चाहिए।

सरकार द्वारा ऋण दिए जाने को सुगम करने के लिए तकावी ऋण की प्रणाली में इस प्रकार का सुधार किया जाना चाहिए कि वह अधिक सरल तथा उदार हो तथा ऋण तुरन्त मिल सके। अच्छा हो कि सरकार सहकारी समितियों द्वारा उधार दिया करे। इससे एक और लाभ यह होगा कि सहकारी आन्दोलन को प्रोत्साहन मिलेगा।

तो भी, सरकार के आर्थिक साधन भी सीमित ही हैं। अतएव संयुक्त राष्ट्र अमरीका के गारन्टीप्राप्त ऋण निगमों (Guaranteed Credit Corporations) के नमूने पर किसी प्रकार की ऋण संस्थाओं की स्थापना करनी चाहिए, जो ग्रामीण ऋण की विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। इनका रिज़र्व बैंक के साथ निकटतम घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिए।

देहातों को ऋण देने के कार्य में रिज़र्व बैंक को भी अधिक भाग लेना चाहिए। मध्यकालीन और दीर्घकालीन आवश्यकताओं के लिए उसे विशेष रूप से ऋण देना चाहिए। उसको देशी बैंकरों में भी एकसूत्रता उत्पन्न करनी चाहिए, क्योंकि कृषि-

पदार्थों की बिक्री के लिए अधिकांश वित्त व्यवस्था उन्ही के द्वारा की जानी है। इस प्रकार इस काम के लिए सस्ती पूँजी मिल सकेगी। इसके अतिरिक्त उसको गाँव मे उधार देने वाली सभी एजेंसियो म एकरूपता लानी चाहिए।

गाँव म बचाई हुई रकमो को भी इस काम के लिए एकत्रित करना चाहिए। सहकारी सोसाइटियो का विकास तथा डाकखाने के सेविंग्स बैंक म जमा (deposits) को प्रोत्साहित करके इस कार्य को अच्छी तरह किया जा सकेगा।

सुधार की एक अच्छी दिशा है लायसेंसदार भण्डार गृहो (licensed warehouses) की स्थापना करना। ऐसे भण्डार गृहो द्वारा खेतिहर देश की बैंकिंग व्यवस्था के सम्पर्क म आ जाएगा जिससे वह अपनी उपज की जमानत पर सस्ती दरो पर उधार ले सकेगा।

यह बात प्रसन्नता की है कि उपर्युक्त दिशा म पहले से ही काम आरम्भ कर दिया गया है। प्रथम पचवर्षीय योजना म सहकारी शासन के विकास पर अत्यधिक बल दिया गया था। वास्तव म उसने अपना लक्ष्य सहकारी ऋण का भाग को तिगुने से भी अधिक (अल्पकालीन आवश्यकता के लिए १०० करोड रुपय) बढाना स्थिर किया था। मध्यकालीन ऋण (२५ करोड रुपय) तथा दीर्घकालीन ऋण (५ करोड रुपय) की आवश्यकताओ को पूरा करने की भी गुजायश की गई। द्वितीय पचवर्षीय योजना म, १५० करोड रुपय की राशि अल्पकालीन सहकारी ऋणो के लिए ५० करोड रु० की राशि मध्यकालीन सहकारी ऋणो के लिए और २५ करोड की राशि दीर्घकालीन सहकारी ऋणो के लिए उपलब्ध की गई है जो १९६०-६१ तक कृषको की कृषि सम्बन्धी वित्तीय आवश्यकताओ को पूरा करेगी। रिजर्व बैंक भी कृषि वित्त व्यवस्था के लिए अधिकाधिक रकम दे रहा है। इसके अलावा यह पिछडे राज्यो म सहकारी आन्दोलन का प्रसार करने की सक्रिय चेष्टा कर रहा है। केन्द्रीय सरकार एक कृषि वित्त निगम (Agricultural Finance Corporation) बनाने का भी विचार कर रही है।

कृषक ऋण
(Agricultural Indebtedness)

अनेक कारणो से भारत के किसान पर भारी ऋण है। इसलिए देश म कृषि सम्बन्धी पूँजी के पुनर्निर्माण की समस्या का अध्ययन देहातो म वर्तमान ऋण के भारी बोझ को कम करने से आरम्भ करना चाहिए।

प्रश्न २—भारत में कृषक ऋण की प्रकृति तथा उसके परिमाण के विषय में विचार व्यक्त कीजिए। इससे कृषि की कहाँ तक हानि होती है?

Q 2—Discuss the nature and extent of agricultural indebtedness in India. Show how it harms agriculture

प्रकृति (Nature)—भारतीय कृषि के पिछडे हुए होने के मुख्य कारणो मे कृषि सम्बन्धी ऋण को ठीक ही गिना गया है। भारत मे किसान उत्पादन बढाने के सदुद्देश्य के लिए ऋण नही लेता, वरन् प्राय अनुत्पादक और विनाशक प्रयोजनो

के लिए—उदाहरणार्थ, मुकदमेबाजी तथा खर्चीले सामाजिक उत्सवों के लिए ही लेता रहा है।

कृषि-ऋण का परिमाण (Volume of Agricultural Indebtedness)—देहातों के ऋण के परिमाण के विषय में समय समय पर अनेक अनुमान किए गए हैं। सबसे पहली जांच १८७५ में, बम्बई के १२ गांवों में दकन रैयत कमीशन (Deccan Ryots Commission) ने की थी और उसने यह पाया था कि 1/३ किसान ऋण-ग्रस्त हैं। सर एफ० निक्लसन (F Nicholson) ने १८९५ में मद्रास का कुल ग्रामीण ऋण ४५ करोड़ रु० बताया और इन आंकड़ों के आधार गणना करके सर एडवर्ड मैकलैगन (Sir Edward Maclagan) ने १९११ में अनुमान लगाया कि ब्रिटिश भारत के देहातों पर कुल ३०० करोड़ रु० का ऋण था। इसमें कमी होने के चिह्न दिखाई नहीं दिए, वरन् यह बराबर अधिकाधिक बढ़ता ही रहा। सर एम० एल० डार्लिंग (Sir M L Darling) ने हिसाब लगाकर उसे सन् १९२४ में ६०० करोड़ रुपया बतलाया है। १९३० में विभिन्न बैंकिंग जाँच कमेटियों ने विभिन्न प्रान्तों में सावधानी से इसकी जांच करके समस्त ब्रिटिश भारत में ९०० करोड़ रुपया स्थिर किया। १९२९ में आरम्भ होने वाली भारी मन्दी से कृषि-पदार्थों के दाम अत्यधिक कम हो जाने के कारण इस ऋण के परिमाणों में वृद्धि हुई और किसान ने उन दिनों अतिरिक्त ऋण लेकर इस परिमाण में और वृद्धि की। डाक्टर मुकर्जी के अनुमान के अनुसार १९३५ में देहाती ऋण का परिमाण बढ़कर १,२०० करोड़ रुपया हो गया। १९३८ में लगाए गए बाद के अनुमान में मिस्टर मैरियम (Mr Meriam) ने उसका परिमाण १,८०० करोड़ रुपया स्थिर किया। सबसे अन्तिम प्राक्कलन रिजर्व बैंक के ग्रामीण साख सर्वेक्षण में है। इसकी खोज का संक्षिप्त विवरण प्रश्न ६ के उत्तर में नीचे मिलेगा।

ऋण का कृषि कार्य-क्षमता पर प्रभाव (Effect of Indebtedness on Agricultural Efficiency)—भारतीय खेतिहर पर ऋण के भारी बोझ ने उसकी कार्य-क्षमता पर बड़ा बुरा प्रभाव डाला है। यह कर्जदारी केवल किसान ही नहीं वरन् समूची खेती के लिए घातक है।

दूसरे, कर्जदार के कारण बड़े पैमाने पर भूमि किसानों के हाथ से निकलकर खेती न करने वाले महाजनों के हाथ में चली गई है। इस प्रकार महाजन जो जमीन ले लेते हैं, उसे किराए पर आसामियों को देते हैं और यह जाहिर है कि काश्तकारी खेती निम्न कोटि की होती है।

तीसरे, कर्जदारी से खेती की मुनाफा देने की शक्ति बहुत घट जाती है। कर्जदार को आमतौर पर अपनी उपज महाजन को बेच देनी पड़ती है, जो गाँव का बनिया भी होता है। वह जो कीमतें देता है वे मण्डी के भाव से बहुत कम होती हैं।

आखिर में, कर्जदार से अनेक प्रकार के अन्यायपूर्ण काम व भुगतान—नकद जिन्स या सेवा के रूप में—लिये जाते हैं, जिससे कभी-कभी वह दास की सी स्थिति में हो जाता है।

उपर्युक्त बातो को दृष्टि मे रखकर यह आश्चर्य न होगा कि भारत में खेती कर्ज की गिरफ्त मे इस तरह जकडी हुई है कि उसमें कोई भी सुधार होना असम्भव है।

प्रश्न ३—कृषि ऋण के कारणो का सावधानी से विश्लेषण कीजिए।

Q 3—Carefully analyse the causes of agricultural indebtedness

भारत म कृषि-सम्बन्धी ऋण के विशाल परिमाण के कारणा का पता लगाना कठिन नहीं है। स्पष्टता तथा सुविधा की दृष्टि से हम विभिन्न कारणो की निम्न-लिखित चार मुख्य शीर्षको म परीक्षा करेगे।

(क) पूर्वजो के ऋण का अस्तित्व (Existence of Ancestral Debt)—सबसे पहले हम उस ऋण के सम्बन्ध मे विचार करेंगे जो किसानो को उत्तराधिकार में मिला है। किसान इस सम्बन्ध म यह कानूनी स्थिति नही जानते कि किसी मृतक का ऋण उसके उत्तराधिकारियो पर उसी परिमाण मे आता है जिस परिमाण में उसे उत्तराधिकार मे सम्पत्ति का भाग मिलता है। पुश्त-दर पुश्त से किसान पुश्तैनी ऋण को इज्जत का ऋण समझता आया है।

(ख) ऋण लेने की आवश्यकता (Necessity to Borrow)—केवल पुश्तैनी ऋण ही इतने बडे कृषि-ऋण का एकमात्र कारण नही है। किसानो ने नए ऋण भी समय समय पर लिए जो पिछले ऋण के हिसाब म जुडते गए। उधार लेने की आवश्यकता उन कारणो पर निर्भर है जो किसान की अत्यधिक कम आय के लिए उत्तरदायी हैं। साथ ही ऐसे भी अनेक अवसर आते हैं, जब उसे उधार लेना ही पडता है। भारत में पशुओ की मृत्यु सख्या भी भारी है। अतएव जब कभी पशुओ में महामारी फैलती है तो उसे पशु मोल लेने पडते हैं। उधार लेने के अन्य अवसर मुकदमेबाजी और सामाजिक तथा धार्मिक उत्सव होते हैं। औसत काश्तकार को मुकदमेबाजी का नशा और विभिन्न सामाजिक उत्सवो को फिजूलखर्ची से मनाने की आदत ही साहूकार के चगुल म फँसा देती है।

(ग) उधार लेने के अवसर (Opportunity to Borrow)—केवल उसकी आवश्यकता से ही उसे उधार नही मिल जाता उसके पास कोई ऐसी जमानत होनी चाहिए जिसके आधार पर उसे उधार मिल सके। जनसख्या के बढते रहने तथा भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार को मान लेने के कारण गत १०० वर्षों से भूमि का मूल्य बराबर बढता रहा है। अतएव भूमि एक अच्छी जमानत है जो किसान को उधार लेने का तथा साहूकार को उधार देने का प्रलोभन देती है। समय समय पर होने वाली उसकी समृद्धि का जादू भी उसे उधार लेने को प्रोत्साहित करता रहता है।

(घ) साहूकार और उसकी कार्य प्रणाली (The Money Lender and His Methods)—उधार लेने की आवश्यकता तथा अवसर होने पर साहूकार अपनी तेज बुद्धि से ऋण के दायरे को पूरा कर लेता है। साहूकार बहुत चालाक और नैतिकता से शून्य होता है। वह सूद की अत्यधिक ऊँची दर वसूल करता है। ४० से ६० प्रतिशत तक तो साधारण दर समझी जाती है। इस प्रकार उससे लिया हुआ ऋण बराबर बढता ही जाता है। वह ऋणी के विरुद्ध झूठा हिसाब बनाकर भी उसके ऋण को बढाता रहता है।

इस प्रकार इतने अधिक कारण मिलकर कृषि-ऋण की कठिन समस्या उत्पन्न करते हैं। उसके उत्पन्न होने के कारणों का विश्लेषण करने पर ही और उस विश्लेषण के आधार पर उसके हल का पता लगाया जा सकेगा।

प्रश्न ४—भारत में ग्रामीण ऋण को समस्या को सुलझाने के लिए सरकार द्वारा अपनाए गए उपायों की समीक्षा कीजिए। ऐसे उपायों को अपनाने का क्या प्रभाव हुआ और वह अपने उद्देश्य को प्राप्त करने में कहाँ तक सफल हुए ?

Q. 4—Review the measures adopted by the Government to tackle the problem of rural indebtedness What have been the effects of such measures and how far have they succeeded in achieving their objects ?

ग्रामीण ऋण की समस्या ने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में गम्भीर रूप धारण करना आरम्भ किया। इस भयकर स्थिति को उसी रूप में नहीं रहने दिया जा सकता था। इसका उपाय करना आवश्यक हो गया।

प्रतिरोधात्मक उपाय (Preventive Measures)—सरकार द्वारा अपनाए गए विभिन्न उपायों को कुछ वर्गों में विभाजित कर देना अधिक सुगम रहेगा। सर्वप्रथम हम प्रतिरोधात्मक उपायों को लेते हैं, जिनका उद्देश्य केवल यही था कि किसान ऋण म और अधिक न जकड़ जाए। इस उद्देश्य के लिए शिक्षा का प्रचार किया गया, बचत करने तथा कम खर्च करने की आदतों को प्रोत्साहित किया गया तथा किसानों को इस बात की प्रेरणा दी गई कि वह सामाजिक तथा धार्मिक उत्सवों के मनाने में व्यर्थ व्यय न करें। सहकारी ऋण सोसाइटियों के रूप में ऋण देने वाली दूसरी एजेंसियों की स्थापना भी की गई, जिससे किसान अपने मौलिक उत्पादक उद्देश्यों के लिए ही सस्ता ऋण प्राप्त कर सकें और इस प्रकार बड़े परिमाण वाले अनुत्पादक ऋणों से बचा रह सके।

सहायता के उपाय (Relief Measures)—१९२९-३५ में विश्वव्यापी मन्दी के कारण उत्पन्न होने वाले व्यापक कष्टों से इस बात की आवश्यकता का अनुभव किया गया कि ऋणी किसान को तत्काल सहायता दी जानी चाहिए। अतएव इन उपायों को सहायता के उपाय समझिए। आरम्भ में उत्तर प्रदेश जैसे कुछ प्रान्तों में ऋणों के कुछ समय तक चुकाए जाने को रोकने के समय की घोषणा की गई। इससे ऋणदाता को अदालत में जाकर डिग्री लेने से रोक दिया गया, ताकि इस बीच में ऋण के सम्बन्ध में अधिक अच्छा नया कानून बनाया जा सके।

छुटकारे का दूसरा उपाय था समझौते द्वारा ऋण को कम कराना। मध्य-प्रदेश (भूतपूर्व मध्य प्रान्त और बरार) इस विषय में प्रथम प्रान्त था, जहाँ १९३३ के ऋण समझौता अधिनियम (Debt Conciliation Act of 1933) के अनुसार समझौता मण्डल बनाए गए। इसके पश्चात् प्रत्येक प्रान्त के प्राय प्रत्येक जिले में ऋण समझौता मण्डल स्थापित किए गए। उक्त मण्डल ने ऋणी किसान की स्थिति की परीक्षा की और फिर उसके ऊपर ऋणों के दायित्वों की परीक्षा की। इसके पश्चात् यथा आवश्यकता ऋणों में कमी की गई। यदि साहूकार ऋण कम करके

स्वीकार करने पर राजी हो जाता तब तो ठीक ही था, अन्यथा यदि वह नालिश ही करता था तो उसको नालिश का व्यय नही दिया जाता था और न उसको ६% से अधिक ब्याज मिलता था। इसके अतिरिक्त नालिश करने वाले साहूकार को अदायगी तब होती थी जब पहले ऋणी किसान उन ऋणदाताओ को दे चुकता था जिन्होने ऋण समझौता मण्डल की शर्ते मानकर ऋण की रकम कम कर दी थी। ये मण्डल किसी ऋणी किसान को दीवालिया भी घोषित कर सकते थे और इस प्रकार वह ऋणी सम्पूर्ण ऋण से बच सकता था।

बाद मे, ऋण समझौते के स्वेच्छापूर्वक स्वीकार न होने को दृष्टि म रखते हुए कुछ प्रान्तो म ऋणो मे अनिवार्य कमी करने के उपाय से काम लिया गया। उदाहरणार्थ, मद्रास मे १९३८ के मद्रास कृषिजीवी अनुतोष अधिनियम (Madras Agriculturist's Relief Act of 1938) के अनुसार पाँच करोड रुपये के समस्त ऋण को १९३८ से लगाकर जून १९४० तक घटाकर दो करोड ६५ लाख रुपय कर दिया गया। मध्य प्रदेश में १९३८ के अन्त म ६५८ लाख रुपय के ऋणो को कम करके ४७६ लाख रुपये तय कर दिया गया। यह जो कुछ किया गया, ठीक था। किन्तु ऋण के विशाल परिमाण की तुलना मे यह रियायत नाममात्र की ही थी।

निरोधात्मक उपाय तथा प्रत्युपाय (Preventive cum Remedial Measures)—तीसरी श्रेणी के उपाय निरोधात्मक तथा प्रत्युपाय सम्बन्धी थे जिनम ऋणदाता के व्यवसाय को नियमित किया गया। सर्वप्रथम पजाब ने १९३० म लेखा विनिमय अधिनियम (Regulation of Accounts Act of 1930) पास किया। इससे हिसाब में गडबडी होने की सम्भावना नष्ट हो गई। इसके अनुसार ऋणदाता का निश्चित रूप मे अपना हिसाब रखना पडता था और अपने ऋणी के नाम नोटिस जारी करने पडते थे। इनको रजिस्ट्री डाक द्वारा भेजकर उनमे असल रकम तथा ब्याज को अलग-अलग दिखाना पडता था। यदि ऋणदाता यह कार्यवाही करने मे चूक जाता तो उससे ब्याज लेने का अधिकार छिन जाता था। इस उपाय की नकल अन्य कई प्रान्तो ने भी की। १९३८ में पजाब ने ऋणदाताओं की रजिस्ट्री का अधिनियम (Registration of Money Lenders Act) पास किया। इसके अनुसार ऋणदाताओ के लिए यह अनिवार्य कर दिया गया कि वह अपनी रजिस्ट्री कराकर ऋण देने का लाइसेन्स लें। यदि ऋणदाता का कोई धोखाधडी का काम पाया जाता तो उसका लाइसेन्स रद्द कर दिया जाता था।

विभिन्न प्रान्तो मे सुरक्षित तथा असुरक्षित ऋणो के ब्याज की दर भी तय कर दी गई। पजाब और मद्रास जैसे कई प्रान्तो मे दाम दुपत (Damdupat) का नियम भी पास किया गया। इसके अनुसार ब्याज की रकम असल रकम से नही बढ सकती थी।

किन्तु दुर्भाग्यवश वास्तविक व्यवहार में ऋणदाताओ की चालाकी तथा ऋणी की अत्यधिक आवश्यकता के कारण यह उपाय भी कुछ ज्यादा कारगर साबित न हुए।

ऋण कानूनो का प्रभाव (Effects of Debt Legislation)—इस बात से इनकार नही किया जा सकता कि सरकार द्वारा गाँवो के ऋण को कम करने

के लिए अपनाए हुए इन उपायों से ऋणी कृषकों को चैन की कुछ साँस मिली। इसमें भी सन्देह नहीं कि सहकारी आन्दोलन द्वारा ऋण दिए जाने से उनके ऊपर महाजन का बन्धन कुछ ढीला पड़ गया। किन्तु इन उपायों से यह समस्या अभी पूरी तौर से सुलझी नहीं है।

ऋण कानूनों के विभिन्न उपायों का गाँव में ऋण लेने पर तत्काल प्रभाव पड़ा। अब महाजन या साहूकार उधार देने के लिए इतनी जल्दी तैयार नहीं होता जितनी जल्दी वह पहले हो जाया करता था। अब वह गाँव छोड़कर नगरों में जाकर अपनी पूंजी को लगाने के अन्य क्षेत्र खोजने लगा है। इस प्रकार के उपायों द्वारा जहाँ तक अनुत्पादक कार्यों के लिए ऋण मिलना बन्द हो गया सो तो ठीक है, किन्तु यदि प्राथमिक तथा आवश्यक उत्पादक उद्देश्यों के लिए भी ऋण न मिले तो यही कहना पड़ेगा कि ऋण कानूनों का प्रभाव अच्छा होने के स्थान पर बुरा पड़ा।

उनकी सफलता का मूल्यांकन (Estimate of Their Success)—अपनाए हुए प्रायः सभी कानूनी उपायों की यह आलोचना की जाती है कि ऋण की बुराई से निकलने के लिए यह सभी कानून अधूरे हैं। अधिक से अधिक वे केवल बुराई को ठीक करने वाले हैं, न कि रोकने वाले। प्रचलित एस्पिरिन पाउडर के समान वे तत्काल कुछ आराम दे देते हैं, पर रोग का पूर्णतया निवारण करने के लिए उसके मूल कारण तक नहीं पहुँच पाते।

रिजर्व बैंक और कृषि-वित्त व्यवस्था
(Reserve Bank and Agricultural Finance)

प्रश्न ५—भारत में कृषि-वित्त की व्यवस्था में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के कार्यों पर विचार कीजिए।

Q. 5—Discuss the role of the Reserve Bank of India in the provision of agricultural finance in India.

भारत के कृषि-प्रधान देश होने के कारण उसके केन्द्रीय बैंक को इस प्रकार कार्य करना चाहिए कि कृषि की आवश्यकता के लिए उधार देने में उसकी ओर से सुविधा दी जा सके। इस उद्देश्य को दृष्टि में रखकर भारत के रिजर्व बैंक ने कृषि-ऋण विभाग (Agriculture Credit Department) नाम से एक पृथक् विभाग खोला हुआ है। उसके कार्य निम्नलिखित हैं—(१) कृषि ऋण सम्बन्धी सभी प्रश्नों के अध्ययन के लिए विशेषज्ञ कर्मचारियों को अपने पास बनाए रखना तथा केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारों, प्रान्तीय सहकारी बैंकों तथा बैंकिंग संगठनों के परामर्श के लिए उपलब्ध रहना, और (२) कृषि-ऋण व्यवस्था के कार्य में लगे हुए प्रान्तीय सहकारी बैंकों तथा अन्य एजेंसियों के द्वारा कृषि-सम्बन्धी कार्यों तथा उनकी गतिविधियों के लिए पूंजी देना।

रिजर्व बैंक तथा देशी साहूकार (Reserve Bank and Indigenous Bankers)—कृषि-सम्बन्धी वित्त-व्यवस्था का ९० प्रतिशत से भी अधिक भाग देशी बैंकरों तथा गाँव के ऋणदाता द्वारा दिया जाता है। जब तक देशी साहूकार को रिजर्व

बैंक के साथ सम्बन्धित न किया जावेगा, किसान को सस्ता तथा लोचदार ऋण प्राप्त न हो सकेगा।

अतएव रिजर्व बैंक ने कुछ शर्तों पर देशी बैंकरो को अपने साथ सम्बद्ध करने की एक योजना तैयार करके उसे मई १६३७ म वितरित किया। इसमे यह शर्तें महत्वपूर्ण थी कि (१) वे अपने बैंकिंग कार्य को अन्य कार्यों (Non-banking business) से पृथक् कर लें, (२) वे लेखा-परीक्षा द्वारा जाँच कराए हुए नियमित हिसाब रखें, (३) वे अपने पास जमा करने की इच्छा से आई हुई अमानतो को स्वीकार करें; तथा (४) अनुसूचित बैंको के समान अपनी सावधि हुण्डियो तथा दर्शनी हुण्डियो का एक भाग रिजर्व बैंक म अनिवार्य रूप से जमा करे। देशी बैंकरो ने इन शर्तों को मानने से इनकार कर दिया। इसके फलस्वरूप इस योजना को छोड दिया गया और उनको रिज़र्व बैंक के साथ सम्बन्धित करने के आवश्यक कार्य को पूर्ण न किया जा सका।

रिजर्व बैंक तथा सहकारी ऋण (Reserve Bank and Co-operative Credit)—ऊपर हमने रिजर्व बैंक और देशी साहूकार के बीच के सम्बन्धो की चर्चा की थी। रिजर्व बैंक ने सहकारी आन्दोलन द्वारा कृषि के लिए पूंजी देने म सहायता की है। उसका कृषि-ऋण विभाग सहकारी आन्दोलन के साथ निकट सम्बन्ध बनाए रखता है और राज्य सहकारी बैंको तथा भूमि रहन बैंको को परामर्श देने के लिए सदा तैयार रहता है।

जहाँ तक उनको धन देने का सम्बन्ध है वह राज्य सहकारी बैंको की दो प्रकार की आर्थिक सहायता करता है—(१) ऋण तथा पेशगी रकमे, तथा (२) बट्टे की सुविधाएं (Discount facilities)। य दोनो प्रकार की आर्थिक सुविधाएँ बैंक दर से १½ प्रतिशत कम की रियायती दर पर दी जाती हैं। ऋण इन जमानतो पर दिए जाते हैं—६० दिन की सरकारी प्रतिभूतियाँ या सिक्यूरिटियाँ, न्यास प्रतिभूतियाँ या सिक्यूरिटियाँ (Trust Securities), प्रान्तीय सहकारी बैंको के वह प्रामीसरी नोट, जिनकी जमानत गोदामो की रसीदो अथवा ऐसे दस्तावेजो से की जा सके जो उस माल के अधिकार का स्वामित्व जमानत आदि के रूप म साबित कर सकें। रिजर्व बैंक विनिमय हुण्डियो (Bills of Exchange), या उन प्रामीसरी नोटो पर, जो ६ मास के अन्दर (बाद में अभी-अभी इस अवधि को बढ़ाकर १५ मास कर दिया गया है) सिकारी जाती हो, पुन पूर्व प्रापण या दुबारा बट्टा (Rediscount) ले लेता है और कृषि तथा फसलो को बेचने के लिए वित्त देता है। इस प्रकार की हुण्डियो आदि की पीठ पर अनुसूचित बैंको अथवा राज्य सहकारी बैंको की स्वीकृति आवश्यक है।

दीर्घकालीन ऋण के विषय मे बैंक ऋणपत्रो (debentures) के लिए धन देकर अप्रत्यक्ष रीति से सहायता करता है।

पूंजी देने की उपर्युक्त व्यवस्था और सुविधा के होने पर भी सहकारी आन्दोलन उसका बहुत कम उपयोग कर पाया। रिजर्व बैंक सहकारी बैंको को ऋण आदि

देने से पूर्व अपनी कठिन शर्तों के पूरा किए जाने पर बल देता है। इसलिए रिज़र्व बैंक की पर्याप्त आलोचना भी हुई।

तो भी गत चार-पांच वर्षों में रिज़र्व बैंक ने कई ऐसे पग उठाए हैं, जिनसे उसने सहकारी बैंकों को आर्थिक सहायता देने तथा कृषि-ऋण के सम्बन्ध में विशेषज्ञ परामर्श देने के अलावा स्वयं भी महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। राज्य सहकारी बैंकों को रिज़र्व बैंक द्वारा दिए हुए ऋण तथा पेशगी धन के आँकड़ों से यह बिलकुल स्पष्ट है। १९४६-४७ में जबकि कुल १·५ लाख रुपया ही रिज़र्व बैंक के द्वारा सहकारी बैंकों को दिया गया था, १९५७-५८ में ५० करोड़ रुपया दिया गया।

इस कार्य को सम्भव बनाने के लिए रिज़र्व बैंक अधिनियम (Reserve Bank Act) में कई ऐसे परिवर्तन किए गए, जिनसे वह ग्रामीण क्षेत्रों को अधिक मात्रा में बैंकिंग सुविधाएँ दे सके। उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों का यहाँ उल्लेख किया जाता है—(१) विनिमय हुण्डियों (Bills of Exchange) तथा खेती की फसलों के परिवहन के लिए धन देने के लिए निकाली जाने वाली प्रामीसरी नोटों के सिकारे जाने की अवधि को ६ मास से बढ़ाकर १५ मास कर दिया गया; (२) विश्वसनीय व्यापारिक सौदों के आधार वाली हुण्डियों पर बट्टा लेने की जो सुविधा पहले केवल अनुसूचित बैंकों को ही दी जाती थी अब सहकारी बैंकों को भी दी जाने लगी; (३) धन के एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजे जाने की दर घटा दी गई है; (४) पहले यह आवश्यक था कि बैंक के सभी ऋणों का एक निश्चित तारीख (३० सितम्बर) तक भुगतान कर दिया जाए, किन्तु अब उनका भुगतान पूरा समय होने पर किया जा सकता है; (५) ऋण की सीमा का एक बार उपयोग करके उसी वर्ष के अन्दर उसका दुबारा-भी उपयोग किया जा सकता है, (६) ऋण के प्रार्थना-पत्रों का निपटारा अधिक फुर्ती से किया जाने लगा है, (७) नवम्बर १९५१ से बैंक दर ३ प्रतिशत से बढ़कर ३½ प्रतिशत हो जाने पर भी कृषि के लिए पहले के समान १½ प्रतिशत पर ही पूंजी दी जाती है। ३० जून, १९५५ को खत्म होने वाले वर्ष में राज्य सहकारी बैंकों को मंजूर की गई साख-सीमाओं में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है जिससे वे मौसमी कृषि-कार्यों और फसलों की बिक्री को वित्त दे सकते हैं। यह वित्त १½% की रियायती दर पर दिया जाता है। १९५७-५८ में १८ राज्य सहकारी बैंकों को ४८.२४ करोड़ रुपया उधार देने की मंजूरी दी गई थी, जब कि १९५६-५७ में ३५.२५ करोड़ रुपया देने की मंजूरी दी गई थी।

अल्पकालीन ऋण के सम्बन्ध में अपनाए हुए उपर्युक्त उपायों के अतिरिक्त रिज़र्व बैंक ने राज्य सहकारी बैंकों को मध्यकालीन ऋण देने के लिए भी एक योजना १९५४ में तैयार की है। यह दिसम्बर १९५३ में रिज़र्व बैंक अधिनियम में एक संशोधन द्वारा सम्भव हुआ है। इसके अनुसार रिज़र्व बैंक राज्य सरकारों की जमानत पर प्रान्तीय सहकारी बैंकों को १५ मास से लेकर ५ वर्ष तक की अवधि के लिए मध्यकालीन ऋण दे सकेगा। इस संशोधन से बैंक को यह अधिकार भी मिल गया है कि वह गाँवों के आर्थिक कार्यों के अधिक विस्तृत क्षेत्र के लिए वित्त दे सके। इन कार्यों में कृषि-उपज तथा पशु-पालन कार्य के उत्पादन तथा उनकी बिक्री तथा कृषि-पदार्थों को सुधारकर

उनको तैयार करना (Processing)—जहाँ उनको बाजार में भेजने से पूर्व निर्मित करना आवश्यक है (धानों को कूटना, कपास को धुनना और रूई के गट्ठे बनाना)— शामिल है। उपर्युक्त संशोधन द्वारा रिजर्व बैंक को दी गई शक्ति से उसने ३ साल की अवधि के लिए सावधि ऋण (Fixed Loans) देने शुरू किए गए हैं, यद्यपि ५ साल की अवधि तक के लिए आवश्यक मामलों में अर्जियाँ माँगी जाती हैं। सूद की दर बैंक दर से २% कम है। सम्बन्धित राज्य सरकारों की गारण्टी तथा उधार लेने वाली सहकारी संस्था या केन्द्रीय सहकारी बैंक द्वारा लिखे गए प्रामीसरी नोट को पेशगी के लिए जमानत समझा जाता है। मध्यकालीन ऋण ऐसे कार्यों के लिए दिए जाते हैं, जैसे भूमि को कृषि-योग्य बनाना, बन्द बनाना या अन्य भूमि-सुधार कार्य, ढोर, औजार या कृषि यन्त्र खरीदना, या ढोरों के बाड़े अथवा फार्म-गृह बनाना। १९५७-५८ में ऐसे स्वीकृत ऋणों का योग ७.७२ करोड़ रु० था।

भूमि-रहन बैंकों के राज्य सरकारों द्वारा गारन्टी किए हुए ऋण-पत्रों (debentures) के लिए धन देकर १९४९ से रिजर्व बैंक अप्रत्यक्ष रीति से दीर्घकालीन ऋण देने के कार्य में भी भाग ले रहा है। ऐसे ऋण राज्य सरकारों की जमानत पर भूमि बन्धक बैंकों को ऋण पत्रों के आसरे दिए जाते हैं। रिजर्व बैंक ने ग्रामीण बचतों को इकट्ठा करने के उद्देश्य से ग्रामीण ऋण-पत्र (rural debentures) की व्यवस्था की। रिजर्व बैंक ने जून १९५८ तक के लिए एक विशेष सुविधा यह दी कि यदि कोई चाहे तो ⅓ ग्रामीण ऋण-पत्र तक ग्रामीण बचत व्यवस्था में जमा कर सकेगा। जून १९५३ तक इस प्रकार उसने कुल ५४ लाख रुपया एकत्रित किया। मार्च १९५७ के अन्त तक रिजर्व बैंक ने इस उद्देश्य के लिए २९८.२० लाख रु० के ऋण स्वीकृत किए।

१९५६ में रिजर्व बैंक अधिनियम में सुधार हो जाने के फलस्वरूप अब रिजर्व बैंक उन कृषकों को भी ऋण दे सकता है जो किसी सहकारी संस्था के सदस्य हों और जिन्हें कृषि उत्पादनों की तैयारी या बिक्री से सम्बन्धित किसी काम के लिए वित्त की आवश्यकता हो।

ग्रामीण ऋण की समस्याओं के सम्बन्ध में अनुसंधान कार्य (Research Work on Rural Credit Problems)—यद्यपि अभी पिछले दिनों तक रिजर्व बैंक कृषि के लिए धन देने के सम्बन्ध में कोई व्यावहारिक कार्य करने का अधिक दावा नहीं कर सकता था, किन्तु कृषि सम्बन्धी ऋण और सहकारी आन्दोलन से सम्बन्धित समस्याओं के विषय में उसने अनुसन्धान करके अत्यन्त प्रभावशाली कार्य किया है। ऋण के सम्बन्ध में बनाए जाने वाले कानून, भूमि-रहन बैंकों का संगठन, बैंकों को धन देने से सम्बन्धित मामलों में केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारों तथा राज्य सहकारी बैंकों को वह अत्यधिक उपयोगी परामर्श भी देता रहा है। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक के ही तत्त्वावधान में श्री ए० डी० गोरवाला ने अगस्त १९५२ में एक व्यापक अखिल भारतीय ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण (All-India Rural Credit Survey) पूरा किया, जिसकी रिपोर्ट दिसम्बर १९५४ में प्रकाशित हुई। उक्त रिपोर्ट के आधार पर बैंक ने अपनी दीर्घकालीन नीति बनाई है।

उपर्युक्त उपायों के अलावा, इधर रिज़र्व बैंक ने देश के ग्रामीण साख ढाँचे को मजबूत बनाने के लिए अन्य सक्रिय कदम भी उठाने शुरू कर दिए हैं। इसने एक बैंकिंग विकास विभाग (Department of Banking Development) आरम्भ किया है जो केन्द्रीय प्रकार के सहकारी बैंकों (केन्द्रीय बैंक व राज्य सहकारी बैंक) के विकास में मदद देता है, विशेषकर उन राज्यों में जो सहकारिता में पिछड़े हुए हैं। फिर १९५२-५३ से इसने स्वेच्छा के आधार पर एक निरीक्षण-पद्धति (inspection system) भी आरम्भ की है, विशेषकर उन संस्थाओं के निरीक्षण के लिए जिनको यह ऋण देता है, या देने का विचार करता है। १९५६-५७ में १०४ सहकारी बैंकों का निरीक्षण किया गया। हर एक के बारे में उनके दोषों की सूचना तथा सुधार-सम्बन्धी सुझाव सहकारी संस्थाओं के रजिस्ट्रार के पास भेज दिए गए थे। इस निरीक्षण से सहकारी बैंकों को जो पथ-प्रदर्शन प्राप्त होगा वह निस्सन्देह अनेक प्रकार से उनके लिए सहायक सिद्ध होगा।

प्रश्न ६—अखिल भारतीय ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण के प्रमुख निष्कर्ष बताइए। ग्रामीण ऋण पद्धति के पुनस्संगठन के लिए उसमें की गई मुख्य सिफ़ारिशें बताइए।

Q. 6—Give the main findings of the All-India Rural Credit Survey. Outline the principal recommendations made therein for the reorganisation of the system of rural credit.

सर्वेक्षण (The Survey)—१९५१-५२ में रिज़र्व बैंक ने अखिल भारतीय स्तर पर ७५ जिलों में तथा ६०० ग्रामों में ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण किया। उक्त सर्वेक्षण में १,२७ ३४३ परिवारों की पूछ-ताछ हुई। यह सर्वेक्षण उस समिति के निरीक्षण में हुआ था जिसके चेयरमैन श्री सर ए० डी० गोरवाला थे और श्री गैडगिल उस समिति के सदस्य थे। उक्त समिति की रिपोर्ट दिसम्बर १९५४ में प्रकाशित हुई थी।

मुख्य निष्कर्ष (Main Findings)—इस सर्वेक्षण के मुख्य-मुख्य निष्कर्ष निम्नलिखित हैं—

(१) गाँवों का प्रति परिवार औसत ऋण २९) से १२००) तक है। जिले का औसत १००) से ३००) प्रति परिवार है।

(२) खेतिहर और गैर-खेतिहरों में खेतिहर अधिक कर्जदार हैं और ज्यादा ऋणग्रस्त हैं। गैर-खेतिहर वर्ग खेतिहर की अपेक्षा निम्न आर्थिक परिस्थिति में हैं। इस प्रकार ऋण ऊँची आर्थिक स्थिति के अनुसार बढ़ता है, क्योंकि उधार लेने की सामर्थ्य बढ़ जाती है।

(३) खेतिहर कर्जदार के प्रति परिवार पर हज़ारीबाग (बिहार) में १४०) से लेकर भटिंडा (पेप्सू) में २१००) तक ऋण हैं।

(४) परिवार द्वारा खेती की जाने वाली जमीन का आकार जितना कम है, उतना ही प्रति एकड़ ऋण का भार बढ़ता है।

(५) ५०% से अधिक खेतिहर परिवारों ने सर्वेक्षण काल में ही उधार

लिये। उधार लिया गया ऋण कोरापुट (उडीसा) मे २०) से लेकर नैनीताल (उत्तर प्रदेश) मे ७००) तक है।

(६) खेतिहरो द्वारा लिये गए उधार मे ३२% खेत पर पूंजीगत व्यय के लिए है, लगभग १५% खेत पर चालू खर्चे के लिए, ४७% पारिवारिक व्यय के लिए और शेष गैर-कृषि व्यवसाय तथा विविध खर्चो के लिए। अधिकाश जिलो म, कृषि में पूंजीगत व्यय के अन्तगत सबसे महत्वपूर्ण मद था ढोरो का क्रय, उसके बाद भूमि का क्रय। शादी, अन्य रस्मो और मुकदमेबाजी आदि का लगभग ४०% मृत्यु की रस्मो का ३५%, दवा दारू का ३०%, मकान बनवाने या मरम्मत करने का २८% और अन्य मदो का १०% व्यय उधार से पूरा किया जाता है।

(७) देश भर के लिए ग्रामीण परिवारो द्वारा पूंजी बनाने पर कुल व्यय का आवकलन लगभग ६५० करोड रु० है। इसमे ३०० करोड रु० कृषि में ढोर और भूमि क्रय के अतिरिक्त हुआ, २५० करोड रु० रहने के मकानो मे, और १०० करोड रु० गैर-कृषि व्यवसाय मे व्यय हुआ।

(८) कृषि मे पूंजी व्यय की कुछ विशेष मदो पर होने वाले वास्तविक खर्चे की अपेक्षा खेतिहर को उनके लिए अधिक ऋण चाहिए। ऊपर के वर्ग को इस व्यय का २—६ गुना और नीचे के वर्ग के खेतिहर को ३—२७ गुना तक चाहिए।

(९) जहां तक खेतिहर द्वारा दी गई जमानतो का सवाल है, यह देखा गया है कि सर्वे किए गए परिवारो का ५०% अपनी अचल सम्पत्ति जमानत के रूप म देता हैं। बाकी म से लगभग १/४ अपनी जाती जमानत पर रुपया लेते हैं। बाकी मे से अधिकाश ने अपनी जमानत का आधार नही बताया। फिर ऊपर के वर्ग की ऋण-अपेक्षा प्रति परिवार १३००) है और नीचे के वर्ग की ८००) जबकि उनकी जमीन-जायदाद का मूल्य क्रमश ७०००) और २०००) प्रति परिवार है।

(१०) अन्दाजा यह है कि मोटे तौर पर ग्रामीण क्षेत्र म दिए गए कुल धन का लगभग ½ मे ⅓ तक शायद शहरी क्षेत्रो से आता है।

(११) साल में औसत उधार प्रति खेतिहर परिवार २१०) था। इसमे से लगभग ३% सरकार से, ३% सरकारी सस्थाओ से, १४% सम्बन्धियो से, २% जमीदार से, २५% खेतिहर साहूकारो से ४५% पेशेवर महाजनो से, ६% व्यापारियो से और १% से कुछ कम वाणिज्य बैंको से प्राप्त होता है। बाकी ऋण अन्य प्रकार के ऋणदाताओ से प्राप्त हुआ।

ग्रामीण ऋण की सम्बद्ध योजना (Integrated Scheme of Rural Credit)—अखिल भारतीय ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण की निर्देशक समिति ने ग्रामीण ऋण के पुनस्सगठन की एक सम्बद्ध योजना प्रस्तावित की थी। यह योजना तीन बुनियादी सिद्धान्तो पर आधारित है—(१) विभिन्न स्तरो पर राज्य का साझा, (२) ऋण और अन्य आर्थिक कार्यवाहियो के बीच म पूर्ण सयोजन, और (३) भली प्रकार प्रशिक्षित और कार्यक्षम कर्मचारियो के द्वारा प्रशासन, जो ग्रामीण जनता की आवश्यकताओ की ओर सवेदनशील हो। इस योजना की प्रमुख विशेषताएँ ये हैं—

(१) राज्य का साझा होना चाहिए जिसमे सहकारी ग्रामीण ऋण मामले

में वित्तीय साझा भी सम्मिलित हो ताकि प्रत्येक साख का न केवल विस्तार हो सके और वह दृढ़ हो सके वरन् उसका उपयोग उत्पादन के निश्चयात्मक प्रयोजनों तथा ग्रामीण उत्पादक के निश्चित लाभ के लिए किया जा सके।

(२) राज्य का साझा होना चाहिए, जिसमें सहकारी आधार पर प्रोसेसिंग और बिक्री के कार्यक्रम तथा सचय करने तथा भण्डार-गृहों में रखने के लिए, ग्रामीण उत्पादक के हित में, वित्तीय साझा भी शामिल है। इस सम्बन्ध में जो प्रस्ताव रखे गए हैं उनमें एक राष्ट्रीय सहकारी विकास तथा भण्डार-गृह मण्डल, या अखिल भारतीय भण्डार-गृह निगम तथा अनेक भण्डार-गृह कम्पनियां शामिल हैं।

(३) राज्य का साझा होना चाहिए, जिसमें ग्रामीण-उत्पादन के हित में, वित्तीय साझा भी सम्मिलित है, जिसके द्वारा सहकारी आधार पर तमाम कार्यवाहियों का संघटन करने का कार्यक्रम चलाया जा सके जो उसके लिए खेतिहर, खेतिहर मजदूर या दस्तकार की हैसियत से महत्त्वपूर्ण हैं। जैसे खेती, सिंचाई, बीज और खाद का उपबन्ध, परिवहन, मछली पकड़ना, डेरी का कार्य, पशु-पालन और कुटीर उद्योग आदि।

(४) वाणिज्यिक बैंकिंग के एक महत्त्वपूर्ण अंग में राज्य को वित्तीय भाग लेना और उसे सम्बद्ध करना चाहिए, जिससे एक राजकीय साझे की, देशव्यापी बैंकिंग व्यवस्था बन सके। इसका नाम भारत का राज्य बैंक (State Bank of India) होगा, और अन्य बातों के अलावा, इसे ग्रामीण तथा सहकारी बैंकिंग का विकास करने की जिम्मेदारी दी जाए; विशेषकर यह उन क्षेत्रों में जो अब तक वाणिज्यिक बैंकों की सुविधा से वंचित हैं और जिनमें इन सुविधाओं के अभाव में किसी ग्रामीण अथवा सहकारी बैंकिंग का विकास सम्भव नहीं है, रुपया भेजने की सस्ती और शीघ्र सुविधा देने की चेष्टा करे।

(५) एक नए प्रकार के कर्मचारियों को ट्रेनिंग दी जाय जो न केवल तकनीकी दृष्टि से कुशल हों वरन् जिनकी प्रवृत्ति और भावना ग्रामीण सहानुभूति लिये हुए हो।

(६) विभिन्न स्तरों पर राज्य का साझा ऐसा विनियमित होना चाहिए कि प्राथमिक समितियों के लिए, जो सहकारी ढांचे का आधार है एक निश्चित अवधि में, पूर्ण रूप से 'सहयोगी' बनना सम्भव हो और वे अपनी शेयर पूंजी में से राज्य का भाग खत्म कर सकने में समर्थ हो सकें। सहकारी ढांचे के उच्च स्तरों पर, राज्य का प्रमुख साझा उस वक्त तक रहना चाहिए जब तक कि ग्रामीण आधार पर सहकारी संघटन के हित में यह जरूरी हो।

(७) अनेक निधियों की स्थापना की सिफारिश की गई है। रिजर्व बैंक के आधीन दो निधियों का प्रस्ताव है—(क) राष्ट्रीय कृषि-ऋण (दीर्घावधि कार्यवाही) निधि जिसमें ५ करोड रु० वार्षिक जमा होगा और साथ ही शुरू में ५ करोड रु० की अनावर्तक राशि दी जाएगी; (ख) राष्ट्रीय कृषि ऋण (स्थायीकरण) निधि जिसमें १ करोड रु० प्रति वर्ष जमा होगा। पहली निधि में से रिजर्व बैंक राज्य सरकारों को दीर्घावधि ऋण देगा जिससे वे राज्य सहकारी बैंकों, केन्द्रीय सहकारी

बैंकों, बड़े आकार की प्राथमिक ऋण सोसायटियों, केन्द्रीय भूमि-रहन बैंकों, प्राथमिक भूमि रहन बैंकों आदि की शेयर पूँजी में हिस्सा बँटा सकें। इस निधि का उपयोग रिजर्व बैंक भूमि रहन बैंकों को (i) प्रत्यक्ष ऋण देकर अथवा (ii) उनके 'समाज विकास ऋण पत्रों' को, समूचा या आंशिक रूप में क्रय करके, दीर्घकालीन (५ वर्ष से अधिक) सहायता देने में कर सकता है। दूसरी निधि का उपयोग राज्य सहकारी बैंकों आदि को मध्यमकालीन ऋण देने में हो सकता है, जिससे वे रिजर्व बैंक से लिये हुए अल्पकालीन ऋणों का भुगतान कर सकें, यदि विशेष परिस्थितियों में जैसे अकाल, सूखा आदि के समय उनके लिए इन ऋणों को अपने स्रोतों से चुकाना सम्भव न हो।

एक करोड़ रु० वार्षिक जमा करने वाली एक राष्ट्रीय कृषि ऋण (अनुतोष तथा गारण्टी) निधि खाद्य तथा कृषि मन्त्रालय के अधीन स्थापित की जाएगी। इस निधि से सम्बन्धित राज्य सरकारों द्वारा सहकारी साख-संस्थाओं का अनुदान दिए जा सकते हैं ताकि वे वसूल न हो सकने वाला बकाया हिसाब साफ कर सकें, पर तभी जबकि मन्त्रालय को यह सन्तोष हो जाए कि यह बकाया ऐसे कारणों से, जैसे व्यापक बार-बार होने वाले अकाल आदि से उत्पन्न हुआ है, जो सहकारी संस्था के काबू से बाहर थे।

दो निधियों का प्रस्ताव राष्ट्रीय सहकारी विकास एवं भण्डार-गृह मण्डल के अन्तर्गत भी है—(क) राष्ट्रीय सहकारी विकास निधि और (ख) राष्ट्रीय भण्डार-गृह विकास निधि। दोनों में प्रति वर्ष ५ करोड़ रु० बाँट लिया जाएगा। इसके अलावा पहली निधि संचय, भण्डार गृह तथा वितरण से सम्बन्धित विकास के लिए सहायता व ऋण आदि देने के लिए होगी। दूसरी भण्डार-गृह सुविधाएँ बढ़ाने के काम में आएगी।

(८) रिजर्व बैंक को राज्य सरकार की गारण्टी पर, राज्य सहकारी बैंकों के जरिए, अल्पकालीन सहायता देते रहना चाहिए। उसे १५ महीने से ५ वर्षों की अवधि के मध्यमकालीन ऋण भी राज्य सहकारी बैंकों को देने चाहिएँ और उनके द्वारा केन्द्रीय सहकारी बैंकों या सोसायटियों को।

(९) राष्ट्रीय कृषि ऋण (दीर्घकालीन कार्यवाही) निधि से दीर्घकालीन सहायता देने के अलावा, जिसका ज़िक्र ऊपर किया गया है, रिजर्व बैंक को भूमि रहन बैंकों को दीर्घकालीन सहायता देते रहना चाहिए। यह अपनी सामान्य कार्यवाही के अंग के रूप में ही भूमिबन्धक बैंकों के 'विक्रय-योग्य' ऋण-पत्रों को खरीदकर किया जाना चाहिए। इन सभी कार्यों में, मूलधन और ब्याज दोनों की गारण्टी राज्य सरकार से मिलनी चाहिए।

(१०) तकावी और वैसे ही अन्य ऋण, राज्य सरकारों की ओर से या उनके द्वारा, केवल 'विपत्ति वित्त' के रूप में ही सीमित होने चाहिएँ। इनसे अकाल भुखमरी, कमी जैसे आपत्काल में सहायता मिलनी चाहिए, सिवाय उन स्थानों के जहाँ अब तक सहकारी ऋण संस्थाएँ नहीं पनपी हैं, या जहाँ क्षेत्र अथवा जनता की विशेष

परिस्थितियों के कारण यह जरूरी हो कि उनके लिए विशेष ऋण सुविधाएँ प्रस्तुत की जाएँ।

(११) सभी स्तरों पर सहकारी ऋण संस्थाओं के पुनस्संगठन का उत्तरोत्तर कार्यक्रम राज्य सरकारों को रिजर्व बैंक के परामर्श से बनाना चाहिए। यह पुनस्संगठन राजकीय साझे के आधार पर होना चाहिए और यह साझा चोटी पर और जिला स्तर पर अनिश्चित काल के लिए प्रमुख रहे और प्राथमिक स्तर पर अधिक सीमित काल के लिए।

(१२) ऋण-ढाँचे के अल्प तथा दीर्घकालीन भागों में संयोजन होना चाहिए। राज्य सहकारी बैंकों और केन्द्रीय भूमिबन्धक बैंकों का एक ही प्रशासकीय स्टाफ होना चाहिए और उनके सचालकगण भी सभी या अधिकांश एक होने चाहिएँ।

(१३) प्राथमिक ऋण-ढाँचा बड़े आकार की सोसायटियों की दिशा में सीमित दायित्व में विकसित होना चाहिए।

(१४) अल्पकालीन ऋण, उत्पादक प्रयोजनों के लिए, फसल उगाने के प्राक्कलित व्यय के अनुरूप होना चाहिए और उसकी वसूली फसल की बिक्री से होनी चाहिए। ऋण जिंस की शक्ल में दिए जाएँ तो बेहतर है। उपभोग के लिए ऋण (जैसे शादी-विवाह के लिए) चिट-कोष (Chit-fund) से दिए जाने चाहिएँ। इस कोष की सदस्यता प्राथमिक साख-समिति से अधिक विस्तृत हो और इसमें खेतिहर के अलावा खेतिहर मजदूर, कारीगर, दस्तकार आदि भी शामिल हो सकते हैं।

(१५) मध्यमकालीन ऋण सहकारी साख के अल्पकालीन अंग द्वारा दिए जाने चाहिएँ। दीर्घकालीन ऋण भूमि-बन्धक बैंकों की जिम्मेदारी होने चाहिएँ और ये ऋण मुख्यतया उत्पादक प्रयोजनों के लिए होने चाहिएँ।

(१६) सोसायटियों का सचालन चोटी के तथा केन्द्रीय बैंकों को करना चाहिए; साख और सामान्य प्रशासन राज्य सरकार की जिम्मेदारी में होने चाहिएँ।

(१७) सभी स्तरों पर सहकारी बिक्री और विधायन सोसायटियाँ (Processing Societies) स्थापित तथा विकसित करने के लिए सक्रिय कदम उठाए जाने चाहिएँ। इन सोसायटियों का संघटन प्रमुख राजकीय साझे के आधार पर होना चाहिए। राष्ट्रीय सहकारी विकास तथा भण्डार-गृह मण्डल को अपनी राष्ट्रीय सहकारी विकास निधि से राज्य सरकारों को ऋण देने चाहिएँ ताकि वे इन सोसायटियों की शेयर पूँजी में हिस्सा बँटा सकें। प्रशिक्षित तकनीकी कर्मचारियों का उपबन्ध भी इन सोसायटियों के लिए राज्य सरकारों को करना चाहिए। विधायन प्रस्थापनाओं (Processing Establishments) की लायसेंसिंग की व्यवस्था भी राज्य सरकारों को करनी चाहिए। इन लायसेंसों को स्वीकृत करने में सहकारी सोसायटियों को अधिमान देना चाहिए।

(१८) सचय तथा भण्डार-गृह की सुविधाएँ गाँवों और छोटे बाजारी नगरों में सहकारी एजेंसियों द्वारा विकसित करनी चाहिएँ। बड़े शहरों में इन सुविधाओं का विकास राज्य भण्डार-गृह कम्पनियों और अखिल भारतीय भण्डार-गृह निगम का काम है, जिसकी स्थापना की सिफारिश रिपोर्ट में की गई है।

(१६) प्रस्तावित भारत के राज्य बैंक (State Bank of India) को साख, बिक्री तथा विधायन से सम्बन्धित सहकारी संस्थाओं की आवश्यकताओं की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।

(२०) सहकारी प्रशिक्षण की केन्द्रीय समिति को भारत सरकार और रिजर्व बैंक से अधिक धन मिलना चाहिए जिससे वह अपना क्षेत्र अधिक विस्तृत कर सके और प्रशिक्षण सुविधाओं को बढ़ा सके।

सिफारिशों को कार्यान्वित करना (Implementation of the Recommendations)—

(१) इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण करके राज्य बैंक की स्थापना कर दी गई है जिसने १ जुलाई, १९५५ से काम करना आरम्भ किया।

(२) रिजर्व बैंक अधिनियम में १९५५ में संशोधन किया गया जिससे कि वह सर्वे में प्रस्तावित दो निधियाँ—राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कार्यवाही निधि (The National Agricultural Credit (long term) Operations Fund) और राष्ट्रीय कृषि साख (स्थायीकरण) निधि (National Agricultural Credit (Stabilisation Fund)—स्थापित कर सके।

फलस्वरूप फरवरी १९५६ में राष्ट्रीय कृषि ऋण (दीर्घकालीन) कार्यवाही निधि की १० करोड़ रु० की पूंजी से स्थापना की गई। इसके पश्चात् इस निधि में प्रति वर्ष ५ करोड़ रु० की पूंजी और डाली जा रही है। इस निधि से (क) राज्य सरकारों को सुविधा होगी कि वे सहकारी साख संस्थाओं को ऋण दे सकेंगी और (ख) मध्यमावधि के ऋण की सुविधा होगी तथा (ग) केन्द्रीय भूमिबन्धक बैंकों को दीर्घकालीन ऋण दिया जा सकेगा, तथा (घ) केन्द्रीय भूमिबन्धक बैंकों से ऋण-पत्र खरीदे जा सकेंगे। १९५७-५८ में १४ राज्यों को ६.०४ करोड़ रु० के ऋण सहकारी साख संस्थाओं के निर्माण के लिए दिए गए। १९५८-५९ में इसी प्रयोजन के लिए दिए गए ऋण ५.९२ करोड़ रु० के थे। इसी निधि में से ४५२ लाख रु० की रकम राज्यों के सहकारी बैंकों को मध्यमावधि के ऋणों के लिए उधार दी गई। इसी निधि में से १६.४७ लाख रु० की रकम केन्द्रीय भूमिबन्धक बैंक को मंजूर की गई। इसी समय रिजर्व बैंक ने १ करोड़ रु० की पूंजी से राष्ट्रीय कृषि ऋण स्थायीकरण निधि (National Agricultural Credit Stabilisation Fund) की स्थापना की, जिसका उद्देश्य यह था कि राज्यों के सहकारी बैंकों को मध्यमावधि के ऋण दे, ताकि वे अल्पावधि के ऋणों को मध्यमावधि के ऋणों में परिवर्तित कर सकें, यदि कभी सूखा, अकाल या अन्य कठिन स्थिति आ जाए। इस निधि का १९५८-५९ तक प्रयोग नहीं हुआ है।

अध्याय १२

सहकारी आन्दोलन

(The Co-operative Movement)

अर्थ (Meaning)—शाब्दिक अर्थ में सहकारिता (Co-operation) का अर्थ है एक साथ मिलकर काम करना, किन्तु अर्थशास्त्र (Economics) में उसका भिन्न तथा निश्चित अर्थ है। इसका अभिप्राय है किसी आर्थिक अथवा सामाजिक उद्देश्य के लिए सदस्यों का स्वेच्छापूर्वक बनाया हुआ संघ, जिसमें सब सदस्यों को पूर्ण समानता का अधिकार होता है। आर्थिक उद्देश्य के अतिरिक्त उसमें एक नैतिक उद्देश्य भी समाविष्ट समझा जाता है। उसका मुख्य उद्देश्य है स्पर्द्धा तथा सभी प्रकार के बिचौलियों को समाप्त कर देना। इस प्रकार सहकारिता का अर्थ है "संगठन द्वारा स्वावलम्बन को प्रभावशाली बनाना।" व्यक्तिवाद तथा साम्यवाद के आजकल के संघर्ष में इन दोनों प्रतिवादी सिद्धान्तों में सहकारिता 'स्वर्ण माध्य' उपस्थित करती है। सामाजिक और आर्थिक पुनर्निर्माण के साधन के रूप में तथा जनतन्त्रवाद की व्यावहारिक शिक्षा देने के आदर्श साधन के रूप में स्वतन्त्र भारत में सहकारिता का एक विशेष स्थान है। प्रथम, अपने देश में उसके इतिहास का वर्णन किया जाएगा।

प्रश्न १—भारत में सहकारी आन्दोलन का प्रारम्भ और संक्षिप्त इतिहास बताइए। देश में इस आन्दोलन की धीमी प्रगति के क्या कारण हैं ?

(उस्मानिया वि० वि० '५८; कलकत्ता १९५६)

Q 1—Give the origin and development of the Co-operative Movement in India. What factors have been responsible for the slow progress of the movement in the country ?

(Osmania Uni. '58 and C. U. 1956)

आरम्भ (Origin)—सन् १९५४ में भारत में सहकारी आन्दोलन की स्वर्ण जयन्ती मनाई गई। इस अर्द्ध शताब्दी में इसके विकास का सर्वेक्षण रोचक है। अब यह आन्दोलन हमारे आर्थिक जीवन के सभी पहलुओं पर छा गया है। शुरू में इसको अल्पसाधन वाली जनता को अल्पकालीन ऋण देने के परिमित उद्देश्य के लिए आरम्भ किया गया था। गत शताब्दी के अंतिम भाग में किसान साहूकार के पंजों में फँसा हुआ था और ग्रामीण ऋण प्रतिदिन बढ़ता जाता था। इस समस्या का तत्काल उपाय किए जाने की आवश्यकता थी। इन परिस्थितियों में मद्रास सरकार ने भारतीय सिविल सर्विस के एक सदस्य फ्रेडरिक निकलसन (Frederick Nicholson) को आदेश दिया कि वह जर्मनी जाकर वहाँ के गाँवों के सहकारी बैंकों के कार्य का अध्ययन करें, क्योंकि उन दिनों जर्मनी में सहकारी बैंकों को इस नई प्रणाली को बड़ी भारी सफलता मिली थी। उनके कार्य के सम्बन्ध में निकलसन की रिपोर्ट

१८६७ में प्रकाशित हुई। इसी समय उत्तर प्रदेश मे डूपर्ने (Dupernex) तथा पजाब मे ऐडवर्ड मैक्लेगन (Edward Maclagan) भी ऋण सोसाइटियो को सगठित कर रहे थे, किन्तु वहाँ उनको सगठित करने के लिए कोई उपयुक्त कानून न था। १६०१ के अकाल कमीशन ने भी ग्रामीण ऋण सोसाइटियो को आरम्भ करन पर जोर दिया था। इन सब प्रयत्नो के फलस्वरूप १६०४ मे *'सहकारी ऋण सोसाइटी अधिनियम'* (Co-operative Credit Societies Act) पास किया गया।

विभाग (Development)—१६०४ के अधिनियम का उद्देश्य कृषिजीवियो, शिल्पियो तथा सीमित साधनो वाले व्यक्तियो म बचत, स्वावलम्बन तथा सहयोग को प्रोत्साहन देना" था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जो सोसाइटियाँ स्थापित की जानी थी, वे नगर अथवा गाँव दोनो म बनाई जा सकती थी। गाव की सोसाइटियो का सगठन रैफीसन के ढग पर तथा नगरो की सोसाइटियो का सगठन शुल्ज डलिश (Schulze-Delitsch) के ढग पर किया जाना था। जमनी म सहकारी आन्दोलन के जन्मदाता रैफीसन तथा शुल्जे-डेलिश ही थे। रैफिसन की सोसाइटियाँ कई बातो मे शुल्जे-डेलिश की सोसाइटिया से विभिन्नता रखती थीं उदाहरणाथ, रैफिसन की सोसाइटियो के सदस्यो की सख्या सीमित, उत्तरदायित्व निस्साम तथा कर्मचारी अवैतनिक होते थे। रैफीसन अपने सोसाइटी के सदस्यो को कोई भी लाभाश देने के विरुद्ध था, किन्तु शुल्जे-डेलिश के सदस्यो की सख्या अत्यन्त विस्तृत, उत्तरदायित्व सीमित तथा कमचारी वैतनिक होते थे। वह सोसाइटी के सदस्यो को अच्छा लाभाश भी देते थे। इस प्रकार के कुछ और भेद भी दोनो की प्रणालियो मे थे।

१६१२ का सहकारी सोसाइटी अधिनियम (The Co-operative Societies Act of 1912)— १६०४ के अधिनियम (Act) को कार्यान्वित करने पर उसमें कुछ भयकर दोप तथा त्रुटियाँ देखने मे आईं। उनमे मुख्य ये थी—(१) इस अधिनियम से केवल ऋण समितियो के निर्माण का ही अधिकार मिलता था, (२) उसमें उनके निरीक्षण तथा उनको पूंजी देने के लिए केन्द्रीय एजेंसियो के निर्माण की व्यवस्था न थी, (३) ग्रामीण तथा शहरी के रूप म ऋण समितियो का वर्गीकरण असुविधाजनक होने के साथ साथ अवैज्ञानिक भी था।

अतएव १६१२ मे एक नया अधिनियम पास किया गया, जिसमे इन दोषो को दूर करते हुए (१) सहकारिता के कार्य-क्षेत्र को बढाकर ऋण के अतिरिक्त क्रय, विक्रय, उत्पादन-आदि सहयोग के अन्य रूपो को भी उसम सम्मिलित किया गया, (२) नियन्त्रण तथा हिसाब जाँचने के लिए (क) प्राथमिक सोसाइटियों के सघ के रूप में नई केन्द्रीय एजेंसियो, (ख) केन्द्रीय बैंको, तथा (ग) प्रान्तीय बैंकों की स्थापना का भी अधिकार दिया गया, (३) ग्रामीण तथा नागरिक समितियो के पुराने विभेद के स्थान पर अधिक वैज्ञानिक भेद किया गया। इसके बाद सोसाइटिया का उत्तरदायित्व सीमित तथा असीमित दोना प्रकार का हो सकता था। जिन सोसाइटियो का उद्देश्य ऋण देना था, तथा साथ ही जिसके सदस्यो मे अधिकतर किसान होते थे उनका उत्तरदायित्व असीमित रखा गया, तथा दूसरे प्रकार की सोसाइटियो के उत्तर-

दायित्व को उसके सदस्यों की इच्छा पर छोड़ दिया गया कि वे चाहें तो उसे सीमित रखें और चाहे तो असीमित।

इस दूसरे अधिनियम के पास होने से इस आन्दोलन ने अच्छी उन्नति करनी आरम्भ की। १९१५ में तब तक की उन्नति पर आलोचनात्मक दृष्टि डालने के लिए मैक्लेगन कमेटी (Maclagan Committee) नियुक्त की गई। इस कमेटी ने कई बहुमूल्य सुझाव दिए किन्तु सरकार के प्रथम महायुद्ध में पहले से ही उलझे होने के कारण उन प्रस्तावों को कार्यरूप में परिणत न किया जा सका।

१९१९ के मॉंटफोर्ड सुधारों (Montford Reforms of 1919) के अनुसार सहकारिता को प्रान्तीय विषय बना दिया गया। प्रान्तीय मन्त्रियों के इसमें रुचि लेने के फलस्वरूप इस आन्दोलन ने इतनी शीघ्रता से उन्नति की कि प्रथम पाँच वर्षों में सोसाइटियों की संख्या दुगुने से भी बढ़ गई।

किन्तु उसके बाद शीघ्र ही इस आन्दोलन को बहुत बुरे दिन देखने पड़े। सन् १९२९-३३ की भारी मन्दी से इसको बहुत हानि पहुँची। कृषि-पदार्थों का मूल्य बुरी तरह से गिर गया। किसान बड़ी कठिनता से अपनी लागत निकाल पाता था। वह अपने पुराने ऋणों को चुकाने में तो असमर्थ था ही, वरन् उसके स्थान पर वह नया ऋण लेना चाहता था। सहकारी समितियों की ऋण वसूली की दर इतनी मन्दी पड़ गई कि लगभग कुछ भी वसूल नहीं होता था और यह दिखलाई देता था कि मानो यह आन्दोलन अन्तिम श्वास ले रहा है। १९३७ में प्रान्तीय शासन लोकप्रिय मन्त्रियों के हाथ में आने पर इस आन्दोलन में रुचि फिर बढ़ गई। और सहकारिता आन्दोलन को पुनर्जीवित किया गया।

द्वितीय महायुद्ध तथा सहकारी आन्दोलन (World War II and Co-operative Movement)—द्वितीय विश्व-युद्ध इस आन्दोलन के लिए स्वर्गीय वरदान सिद्ध हुआ। कृषि-पदार्थों के मूल्य चढ़ने लगे। अब किसान की दशा सुधरकर इतनी अच्छी हो गई कि उसके लिए अपने ऋणों को चुकाना सुगम हो गया। अतएव इस आन्दोलन का कार्य-क्षेत्र भी अधिक विस्तृत हो गया। ऋण के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों के सभी कार्यों में सर्वतोमुखी उन्नति हुई। बिक्री उत्पादन तथा उपभोक्ता सोसाइटियों की संख्या इतनी शीघ्रता से बढ़ी कि इससे कुछ दिशाओं में तो उनकी आवश्यकता से अधिक शीघ्रतापूर्वक विस्तार हुआ। १९३८-३९ और १९४५-४६ के बीच समितियों की संख्या ४१ प्रतिशत, उसके सदस्यों की ७० प्रतिशत तथा उसकी कार्यकारी पूँजी में ५४ प्रतिशत वृद्धि हुई। इसके फलस्वरूप इस आन्दोलन का १९३८-३९ का ९ प्रतिशत जन-सम्पर्क बढ़कर १९४७-४८ में १७ प्रतिशत हो गया।

आवश्यक माल की कमी तथा सरकार द्वारा उस माल के वितरण के लिए सहकारी समितियों का अधिक पसन्द करने के कारण उपभोक्ता सहकारी समितियों (Consumers' Co-operative Societies) का सबसे अधिक विस्तार हुआ।

स्वतन्त्रता और उसके बाद (Independence and After)—राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद इस आन्दोलन ने विकास के नए रूप को प्राप्त किया। राज्य ने सहकारी समितियों को आर्थिक विकास के साथ अधिक मात्रा में सम्मिलित

करना आरम्भ किया। देश-विभाजन के फलस्वरूप लाखो व्यक्ति अपने-अपने स्थान से उखड गए। उनके पुनर्निवास के लिए सहकारी सिद्धान्त की आवश्यकता पर और भी अधिक बल दिया गया। बडे बडे उद्योग-धन्धो का तत्कालीन विकास किए जाने की कठिनाइयो के कारण भी छोटे-छोटे उद्योग-धन्धो तथा ग्रामीण उद्योग-धन्धो के प्रोत्साहन के लिए सहकारिता के सिद्धान्त को अपनाए जाने को अधिक पसन्द किया जाने लगा। इस प्रकार के उद्योग-धन्धो को अब देश के औद्योगिक विकास के ढांचे मे एक विशेष स्थान मिल गया है। द्वितीय पचवर्षीय योजना म विशेष रूप से कपडे और अन्य सामान्य उपभोग की वस्तुओ के उत्पादन को बढाने के लिए कुटीर उद्योगो के विकास पर बल दिया गया है। किन्तु कुटीर उद्योग केवल सहकारिता के आधार पर ही भली प्रकार पनप सकते हैं। कृषि के क्षेत्र म खेती को पुन सगठित करने तथा खाद्य को आवश्यक समस्या को हल करने की हमारी सबसे अच्छी आशा देश भर मे सहकारी कृषि का प्रचलन करके ही पूरी की जा सकती है। इस प्रकार सरकार तथा जनता दोनो ने ही इस आन्दोलन की उन्नति करने म कारगर कदम उठाए हैं और इसीलिए इस आन्दोलन का स्वतन्त्रता के बाद के वर्षों म बहुत अधिक विस्तार हुआ है। इसके अतिरिक्त इस आन्दोलन मे पहले से कही अधिक विविधता भी आ गई है।

इस बीच में एक उल्लेखनीय मनोवृत्ति यह बन गई है कि एक उद्देश्यवाली सहकारी समितियो के स्थान पर बहुधन्धी सोसाइटियो पर विशेष बल दिया जाने लगा है।

अभ्यास १—भारत में सहकारी आन्दोलन का राज्य के साथ क्या सम्बन्ध है और क्या होना चाहिए? (मद्रास बी ए. आनर्स, १९५३)

Ex 1—What is and should be the relation of the State to the Co operative Movement in India? (*Madras B A Hons 1953*)

राज्य द्वारा लिया हुआ भाग (Part played by the State)—भारत में सहकारी आन्दोलन ने जो कुछ उन्नति की है, उसको प्राप्त करने का बहुत बडा श्रेय राज्य को दिया जाना चाहिए। इस आन्दोलन का आरम्भ और विकास बहुत कुछ राज्य के प्रथम पग उठाने तथा प्रदर्शन के कारण हुआ है। स्वतन्त्रता के बाद से राज्य की रुचि इसमें और भी बढ गई है। वास्तव में राज्य को इस आन्दोलन का पिता कहना चाहिए।

इस आन्दोलन के अन्दर आजकल प्रचलित स्वशासन होने पर भी यह अपने नियन्त्रण, सहायता तथा पथ-प्रदर्शन के लिए अभी तक भी सरकार पर ही निर्भर है। सरकार इसकी इन दिशाओं में सहायता करती है: (१) सहकारी सस्थाओं का सगठन करने और उनके कार्य करने के लिए विशेष कानून पास करके; (२) सहकारी सोसाइटियों की विभिन्न ऋण सहायता अधिनियमों तथा साहूकारी अधिनियमों की नियन्त्रक धाराओं से रक्षा करके; (३) इस आन्दोलन के लिए समय समय पर विशेषज्ञ समितियां बनाकर, (४) सहकारी विभाग के कर्मचारियों की बडी भारी सख्या को नौकर रखकर; (५) ऋण पत्रों आदि के लिए ऋण अनुदान, सहायता तथा गारटी आदि देकर; (६) कुछ व्यक्तियों की सेवा विभिन्न सहकारी सोसाइटियों को पूर्णतया तथा अल्पकाल के लिए नि शुल्क देकर, जो वेतन देकर उनको किसी प्रकार भी रखने योग्य नहीं थीं, (७) नैतिक समर्थन; (८) विशेष रियायत तथा सुविधाएं देकर ग्राम उद्योगों को सहायता; (९) सहकारी सस्थाओं के द्वारा नियन्त्रित और राशन वाली

वस्तुओं का क्रय और वितरण कराके ; (१०) विशेष सुविधाएँ और रियायतें देकर उदाहरणार्थ, आयकर, स्टाम्प कर, रजिस्ट्री शुल्क आदि की छूट देकर, सहकारी समितियों के शेयरों की कुर्की न होने की छूट देकर, तथा एक स्थान से दूसरे स्थान को निःशुल्क द्रव्य भेजने की सुविधा देकर, आदि।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि राज्य की सहायता के बिना यह आन्दोलन उतनी सफलता कभी प्राप्त न कर सकता था जितनी यह अब तक प्राप्त कर चुका है। राज्य अब केन्द्रीय और उच्च सहकारी बैंकों की शेयर पूँजी में अधिकाधिक भाग लेने लगा है।

किन्तु इस वजह से भी इस आन्दोलन की बड़ी आलोचना की जाती है। यह कहा जाता है कि यह आन्दोलन सरकार की पूँछ से बँधा हुआ है और उसकी शक्ति अपनी आन्तरिक होने के बजाय सरकारी समर्थन से प्राप्त होती है। हमारी समझ में इस आन्दोलन के विकास के लिए इस समय तो राज्य का सक्रिय सहयोग आवश्यक है किन्तु इस अवस्था को स्थायी न समझ लेना चाहिए। स्वावलम्बन तथा परस्पर सहायता के सहकारी सिद्धान्तों को सदैव ध्यान में रखना चाहिए और कुछ समय में सहकारी आन्दोलन आत्म निर्भर हो जाएगा, ऐसी चेष्टा करनी चाहिए।

अभ्यास २—सहकारी आन्दोलन खेतिहरों की ऋण की आवश्यकताओं को पूर्ण करने में कहाँ तक सफल हुआ है? उसके मुख्य दोष क्या हैं? (ज० क० यूनीवर्सिटी १९५३)

Ex. 2—How far has Co-operative Movement succeeded in fulfilling the credit needs of the Indian Agriculture? What are its main drawbacks? *(J. K. Uni., 1953)*

इस आन्दोलन का आरम्भिक उद्देश्य खेतिहर को सस्ता ऋण देना और इस प्रकार उसको महाजन के पंजे से छुड़ाना था। वास्तव में आज तक भी इस आन्दोलन का मुख्य सम्बन्ध ऋण देने से ही है। यहाँ तक कि समस्त सोसाइटियों का तीन चतुर्थांश ऋण देने की शैली पर बनाया गया है, और उसमें भी कृषि सम्बन्धी ऋण की सोसाइटियों की संख्या बहुत बड़ी है।

किन्तु अभी तक इस दिशा में बहुत ठोस परिणाम नहीं निकले हैं। इस आन्दोलन का आरम्भ हो जाने के बाद भी ग्रामीण-ऋण बराबर बढ़ते रहे। मन्दी के दिनों में जब किसान को धन देना विशेष रूप से आवश्यक था, इस आन्दोलन ने उसका साथ नहीं दिया, क्योंकि उस समय सहकारी संस्थाओं के साधन पंगु बन गये थे। इस आन्दोलन ने गाँवों के ऋण में जो थोड़ा-सा भाग लिया है, उसकी निम्नलिखित अंकों से जाँच की जा सकती है। १९५५-५६ में कृषि सम्बन्धी उधार में ५९.८४ करोड़ रुपये के ऋण पिछले बकाया थे। उस वर्ष ४९.६२ करोड़ रुपये के नए ऋण दिए गए। इसके अतिरिक्त इन नए ऋणों में पुराने ऋणों को भी पर्याप्त अनुपात में नया किया गया था। भारत जैसे विशाल क्षेत्रफल तथा भारी जन संख्या वाले देश के लिए यह रकमें बहुत छोटी तथा अत्यन्त अपर्याप्त हैं। मद्रास तथा बम्बई राज्यों के अतिरिक्त—जहाँ प्राथमिक कृषि-सम्बन्धी सोसाइटियाँ बहुत कम ब्याज पर पूँजी उधार दे सकी हैं, शेष अन्य राज्यों—उदाहरणार्थ, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, और बिहार में प्राथमिक सोसाइटियों की उधार देने की दर १२.५ प्रतिशत जैसी ऊँची है। कहीं कहीं तो वह १५ प्रतिशत तक पहुँच जाती है।

तो भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऋणग्रस्तता की समस्या किसी-न-किसी मात्रा में अमन्द रीति से कुछ सुगम हो गई है। ऋण सोसाइटियों द्वारा साहूकारों की दर की अपेक्षा सस्ती दर पर ऋण दिए जाने के कारण गाँवों का ऋण अपेक्षाकृत सस्ता हो गया है। इसलिए उधार देने वाले साहूकार को भी अपनी दर घटानी पड़ी। इसके अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण बात यह है कि गाँवों के ऋण के विषय में साहूकार का एकाधिकार टूट गया और उसका किसानों पर व्यापक पंजा ढीला पड़ गया। दूसरे क्षेत्रों में भी सहकारिता ने कृषि-सम्बन्धी उन्नति करने में सहायता पहुँचाई है। बिक्री सोसाइटियों ने किसान की

आय को बढ़ाया है। अतएव अब किसान को इतना अधिक तथा इतना बार उधार लेना नहीं पड़ता, जितना उसको पहले लेना पड़ता था।

यदि यह आन्दोलन अपने को उधार देने के कार्य तक ही सीमित न रखता तो ग्रामीण ऋण की समस्या और भी अधिक अच्छी तरह हल हो जाती। अभी पिछले दिनों से यह अनुभव किया जाने लगा है कि किसान के जीवन के प्रत्येक पहलू को सहकारिता की परिधि में ले आना चाहिए। निःसन्देह, अब यह आन्दोलन ठीक मार्ग पर चल रहा है क्योंकि अब बहुधन्धी सोसाइटियों पर क्रमश अधिकाधिक बल दिया जा रहा है और सहकारी बिक्री तथा सम्मिलित कृषि आदि को प्रोत्साहन मिल रहा है।

प्रश्न २—भारत में सहकारी आन्दोलन के सगठन तथा उसके स्वरूप को स्पष्ट कीजिए। साथ ही उसके विभिन्न अगों द्वारा सम्पन्न कार्यों का भी स्पष्टतया उल्लेख कीजिए।

Q 2—Explain the organisation and the structure of the Co operative Movement in India, clearly bringing out the respective roles played by the various component parts

सगठन (Organisation)—मोटे तौर पर इस आन्दोलन के दो मुख्य विभाग हैं। वे हैं—ऋण भाग तथा ऋण से भिन्न अन्य भाग, जिसे ऋणेतर भाग कह सकते हैं। फिर इन दोनो के भी कृषि सम्बन्धी तथा गैर कृषि (non agricultural) दो भाग किए जाते हैं। नीचे दिए गए नक्शे से इस आन्दोलन के रूप का पता चल सकता है।
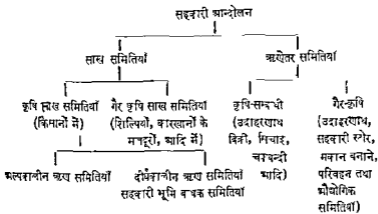
ऋण सहकारी समितियाँ (Credit Co operatives)—द्वितीय महायुद्ध के समय ऋणेतर सहकारी समितियो की उन्नति होने पर भी अभी तक प्रमुखता साख समितियो की ही है। १९५५-५६ म कृषि-साख समितियां कुल समितियो की ६७ ६% और कुल कृषि-समितिया की ८० ५% थीं।

ऋणेतर सहकारी समितियाँ (Non-credit Co-operatives)—द्वितीय महायुद्ध के दिनो और उसके बाद इस आन्दोलन के सगठन में कई सार्थक परिवर्तन किए गए और ऋण के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रो में सभी दिशाओ म विकास हुआ। ऋणेतर समितियो (non-credit societies) का कार्य-क्षेत्र बहुत व्यापक है। उसको समझाने के लिए हम निम्नलिखित वर्गीकरण कर सकते हैं।

(१) क्रय तथा विक्रय समितियाँ (Purchase and Sale Societies)—(उदाहरणार्थ, विद्यार्थियों तथा औद्योगिक श्रमिकों के उपभोक्ता स्टोर); (२) उत्पादन तथा बिक्री सोसाइटियाँ (उदाहरणार्थ, सहकारी दुग्ध-पूर्ति सोसाइटी, सहकारी बुनकर सोसाइटी); (३) उत्पादन सोसाइटियाँ (उदाहरणार्थ, सहकारी कृषि-सोसाइटी, सहकारी चकबन्दी तथा पशु-पालन सोसाइटियाँ), और (४) समाज-सेवा सोसाइटियाँ (उदाहरणार्थ, उच्च जीवन, सफाई तथा स्वास्थ्य की सहकारी समितियाँ; (५) आवास, तथा (६) सहकारी बीमा समितियाँ।

बहुधन्धी समितियाँ (Multipurpose Societies)—इस आन्दोलन में बहुधन्धी सहकारी समितियों की संख्या का बढ़ना एक सार्थक प्रगति है, अब यह अधिकाधिक अनुभव किया जा रहा है कि सीमित साधनों से युक्त एक छोटे ढंग पर काम करने वाली गाँव की पुराने ढंग की सोसाइटी बुनियादी तौर पर केवल एक आवश्यकता पूरी करती है। इससे आगे बढ़कर वह अधिक काम नहीं कर सकती। अतएव उसके स्थान पर अब ऐसी सोसाइटी बनाई जानी चाहिए, जिसमें सभी आर्थिक कार्य मिले हुए हों। इस प्रकार की सोसाइटियों को पहले ही सफलतापूर्वक आरम्भ किया जा चुका है और लगभग सभी राज्यों में उनकी संख्या को बढ़ाने के लिए अत्यधिक प्रयत्न किया जा रहा है।

ढाँचा (Structure)—अब हम इस आन्दोलन की रचना का अध्ययन कर सकते हैं। पहले हम उसके विभाग को लेंगे। कृषि-सम्बन्धी ऋण या तो अल्पकालीन अथवा दीर्घकालीन हो सकता है। अल्पकालीन सहकारी ऋण की एक प्रकार की तिमंजिले संगठन की संघीय रचना (Federal Structure) होती है, जो निम्नलिखित नक्शे से स्पष्ट है।
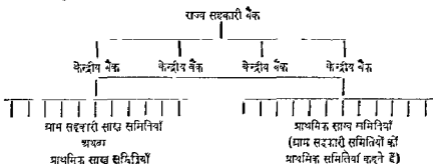
प्राथमिक ग्राम समितियाँ इस समस्त रचना की आधार-शिलाएँ हैं। कुछ प्राथमिक सोसाइटियाँ आपस में मिलकर अपनी सदस्य सोसाइटियों के ऊपर निरीक्षण करने के लिए बैंकिंग यूनियन बना सकती हैं, अथवा कुछ सोसाइटियाँ कुछ अन्य व्यक्तियों के साथ मिलकर केन्द्रीय बैंक बना सकती हैं। सहकारी आन्दोलन की आर्थिक रचना में केन्द्रीय बैंक महत्त्वपूर्ण कड़ी का काम देते हैं। उनका संगठन १९१२ में सहकारी समाज अधिनियम (Co-operative Societies Act) पास होने के बाद से बराबर किया जा रहा है। उनका मुख्य कार्य प्राथमिक सोसाइटियों को धन देना और

उनका सन्तुलन करने के केन्द्र के रूप म काम करना है। उनकी प्रदत्त पूंजी (Paid up Capital) तथा सुरक्षित कोष, सोसाइटियो तथा व्यक्तियो की उनके यहाँ अमानतें तथा प्रान्तीय सहकारी बैंक से लिया हुआ ऋण उनकी काम-चलाऊ पूंजी का काम देते हैं।

इस आदोलन की समस्त आर्थिक रचना की चोटी पर राज्य म एक राज्य सहकारी बैंक (State Co-operative Bank) होता है। लगभग सभी राज्या में ऐसा एक बैंक होता है। यह केन्द्रीय बैंको के कार्यो का सयोजन करके उनका नियन्त्रण करता है। साथ ही यह राज्य के सहकारी वित्तीय केन्द्र का काम भी देता है। यह केद्रीय बैंको को और उनके द्वारा *प्राथमिक सोसाइटिया को उधार देता है।* आवश्यकता पडने पर यह राज्य सहकारी बैंक भारत के रिजव बैंक अथवा और राज्य सरकार से ऋण लेता है। उसकी सदस्यता में विभिन्नता है। कुछ राज्या मे प्रायमिक सोसाइटियाँ तथा केद्रीय बैंक दोनो ही उसके सदस्य होते हैं। मद्रास राज्य सहकारी बैंक की सदस्यता केवल केन्द्रीय बैंका तक ही सीमित है। कुछ राज्यो मे अपनी व्यक्तिगत स्थिति में कुछ व्यक्ति भी उनके सदस्य हैं।

१६५६-५७ म २३ राज्य सरकारी बैंक, ४५१ सहकारी केन्द्रीय बैंक तथा १,६१,४१० कृषि साख सोसाइटियाँ थी जिनकी कुल सदस्यता ६१ लाख थी। सहकारिता पर मेक्लेगन समिति (१६१५) ने चोटी के राज्य सहकारी बैंको के तीन कार्य बताए थे—(ı) *जनता से प्राप्त धन को सहकारी आन्दोलन को देना,* (ıı) सम्बन्धित सहकारी सस्थाओ से लिय गए धन का स तुलन करना और (ııı) केन्द्रीय बैंको को समर्थन देकर तथा उनका नियन्त्रण करके प्रान्तीय सहकारी वित्त का निर्देशन करना। य अब भी इन कार्यो को कर रहे हैं। किन्तु अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वे (१६५४) की सिफारिशे मान ली जाने के कारण और इन कार्यो म राज्यो के प्रमुख साझीदार बन जान से, इन बैंका के उद्देश्य अब अधिक व्यापक हो गए हं और सेवा करन के उनके अवसर उनके हाथ में और भी बढ गए हैं। इन बैंको को अब राज्य में *प्रत्येक साख-योग्य उधार माँगने वाले व्यक्ति तक पहुँचना है और सम्बद्ध ग्रामीण* साख को योजना के अन्तर्गत उ हे यह सेवा करनी है।

दीर्घकालीन ऋण सहकारिता के विषय मे कुछ राज्यो में रचना ऊपर जैसी ही है जैसे पजाब तथा मध्य प्रदेश में। अर्थात प्राथमिक भूमि ब धक सोसाइटियो को राज्य सहकारी बैंक से धन मिलता है। किन्तु मद्रास और बम्बई में भिन्न प्रकार की रचना है। इन दोनो राज्या म राज्य सहकारी बैंक के स्थान पर पृथक् राज्य भूमि बन्धक बैंक हैं, जो प्राथमिक *भूमि-बन्धक सोसाइटियो को सीधे स्वय वित्त या धन* उधार देते हैं। जून १६५६ ५७ में १२ केन्द्रीय और ३२६ प्राथमिक भूमि बन्धक बैंक थे जिनकी कुल काम चलाऊ पूंजी लगभग ३४ करोड रुपय थी।

अगणर सहकारी समितियाँ भी वित्त के मामले म प्रान्तीय सहकारी बैंक के साथ सम्बन्धित होती हं। इस प्रकार की अनेक सोसाइटियो के मामलो म इस बात के प्रयत्न किए गए कि उनका आवश्यक पथ-प्रदर्शन करने और उनको प्रोत्साहन देने के लिए सघीय सगठनो की स्थापना कर दी जाए। कुछ मामलो म यह वित्त या धन

उधार भी देते हैं। ऋणेतर सहकारी समितियों की यूनियन का यह विकास सहकारी बिक्री सोसाइटियों तथा उपभोक्ता स्टोर सोसाइटियों के विषय में विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। उदाहरणार्थ, उत्तर प्रदेश तथा बिहार में गन्ने बेचने की अनेक यूनियनें बनी हुई हैं, जो सुधरे हुए किस्म के गन्ने तथा खेती की सुधरी हुई प्रणाली का प्रचार करते हुए, अपने सदस्यों के माल को ठीक-ठीक तुलवाकर उनको उचित कीमत दिलवाती हैं। अनेक राज्यों में बिक्री सोसाइटियों के कार्यों का संयोजन करने तथा उनका सुधार करने के लिए प्रान्तीय बिक्री संघ (Provincial Marketing Federation) बने हुए हैं।

उपभोक्ता सहकारी समितियों के क्षेत्र में मद्रास में इस समय उपभोक्ताओं की आवश्यकता की सामग्रियों को जुटाने के लिए २० थोक अथवा केन्द्रीय स्टोर खुले हुए हैं। इन थोक सोसाइटियों ने बिक्री संघों के साथ भी सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। इस प्रकार उन्होंने इस आन्दोलन में उपभोक्ता तथा उत्पादक दोनों के दृष्टिकोण में संयोजन स्थापित किया है।

ग्रामीण उद्योग-धन्धों की सहकारी सोसाइटियों के क्षेत्र में भी मद्रास ने रास्ता दिखाया है। वहाँ १९३५ में मद्रास बुनकर सोसाइटी की स्थापना की गई थी। वह राज्य भर की सभी प्राथमिक बुनकर सोसाइटियों के कार्यों का संयोजन करके उन्हें कच्चा माल प्राप्त करने में सहायता देती है और उनके तैयार माल की बिक्री का प्रबन्ध करती है। बम्बई में भी औद्योगिक यूनियन इसी प्रकार का अच्छा काम कर रही है।

अभ्यास ३—(क) सहकारी संघों; (ख) केन्द्रीय सहकारी बैंकों; तथा (ग) राज्य सहकारी बैंकों पर संक्षिप्त नोट लिखिए।

Ex. 3—Write short notes on (*a*) Co-operative Unions; (b) Central Co operative Banks; and (*c*) State Co-operative Banks.

(क) सहकारी संघ (Co-operative Unions)—सहकारी संघ प्राथमिक समितियों के संघ हैं। केवल प्राथमिक समितियाँ ही उनकी सदस्य बन सकती हैं। वे प्राथमिक समितियों के कार्य का निरीक्षण करने के अतिरिक्त उनके तथा केन्द्रीय बैंक के बीच, जो इन समितियों को धन देते हैं, कड़ी का काम करते हैं। ये संघ तीन प्रकार के हो सकते हैं—गारंटी करने वाले संघ (जैसे बम्बई में) जो केन्द्रीय बैंक द्वारा सदस्य-समितियों को दिए गए ऋणों की गारंटी करते हैं; निरीक्षक संघ (जैसे कि बम्बई और मद्रास); तथा बैंकिंग संघ (जैसे कि पंजाब में)।

(ख) केन्द्रीय सहकारी बैंक (Central Co-operative Banks)—इनका संगठन १९१२ में सहकारी समाज अधिनियम पास करने के समय से ही किया जा रहा है। ये प्राथमिक सोसाइटियों को धन देते हैं और निक्षेप स्वीकार करने, हुण्डियों तथा चैकों को एकत्रित करने आदि के अन्य बैंकिंग कार्य भी करते हैं। एक ओर राज्य सहकारी बैंक तथा दूसरी ओर प्राथमिक सोसाइटियों के बीच ये आवश्यक मध्यवर्ती कड़ी का काम करते हैं। राज्य सहकारी बैंक केन्द्रीय बैंक को वित्त देते हैं और केन्द्रीय बैंक अपनी ओर से प्राथमिक सोसाइटियों को।

केन्द्रीय बैंकों की सदस्यता या तो केवल प्राथमिक सोसाइटियों तक ही सीमित रखी जा सकती है या कुछ व्यक्तियों को भी दी जा सकती है। इस विषय में भिन्न-भिन्न राज्यों की कार्य-विधि में अन्तर है। मिली-जुली कार्य विधि अधिक उपयुक्त होगी क्योंकि इसमें सहकारी आन्दोलन को वित्तीय साधन अधिक मात्रा में उपलब्ध होंगे।

१६५६ ५७ के अन्त तक बैंकिंग यूनियनों सहित कुल ४५१ केन्द्रीय बैंक थे। उनकी सदस्य संख्या ३ १० ५५५ और कायकारी पूँजी ११० २ करोड रुपये थी। १६५६ ५७ में उन्होंने १०० करो रुपये की रकमें उधार में दी। उनमें से कुछ की अपनी शाखाएं भी है। उनका काय क्षेत्र प्राय बहुत बडा होता है। अतएव उनकी संख्या बढाने का यत्न किया जाना चाहिए जिससे वे कुछ छोटे क्षेत्र की अधिक प्रभावशाली ढंग से सेवा कर सकें।

उनकी मनोवृत्ति वाणिज्यिक बैंकिंग कार्यों में अधिक दिक फसने की बनती जाती है जिसके लिए वे उपयुक्त नहीं हैं।

उनकी एक और मनोवृत्ति अऋणेतर काय करने की भी बनती जा रही है जैसे उचित मूल्य पर खाद्य पदार्थों तथा अन्य उपभोक्ता माल का वितरण करना

(ग) राज्य सहकारी बैंक (State Co operative Banks)

(प्रश्न २ के उत्तर में राज्य सहकारी बैंकों का वणन पढ़ो)

इसमें निम्नलिखित विवरण भी मिला लो—

१६५६ ५७ में देश में २३ शीर्ष राज्य सहकारी बैंक थे उन सबकी पूंजी ७६ करो रु० थी। ये सब भारत के रिजर्व बैंक के साथ सम्बद्ध हैं जो इस प्रकार उनके द्वारा ग्रामीण वित्त के काय में भाग लेता है। आवश्यकता पडने पर उनको रिजर्व बैंक के अतिरिक्त राज्य सरकार भी धन देती है। सब मिलाकर उनकी आर्थिक स्थिति केन्द्रीय बैंकों की अपेक्षा अधिक ठोस है गत दस वर्षों में उनकी कायकारी पूँजी बराबर बढ़ती रही है। उनके द्वारा दी जाने वाली पेशगी रकमों में भी बराबर वृद्धि हो रही है। १६५६ ५७ में उन्होंने १२३ ७ करोड रुपये का रकमें उधार में दी जबकि १६५० ५१ में उन्होंने कुल ४२ करोड और १६४६ ५० में २६ ६ करोड रुपया ही उधार दिया था। इतना तेज उन्नति इस कारण सम्भव हो सकी क्योंकि रिजर्व बैंक और राज्य सरकारों से उन्हें निरन्तर वित्तीय सहायता मिलती रही है। अपने सहकारी बैंकिंग काय के अतिरिक्त अब कुछ समय से वे वाणिज्यिक बैंकिंग काय भी करने लगे है। इसके अतिरिक्त वे विभिन्न प्रकार की अऋणेतर सहकारी समितियों का विकास करने तथा उनको वित्त देने का भी प्रयत्न करते है अधिकाश राज्यों में प्रांतीय सहकारी बैंकों ने राज्य सहकारी सम्मेलनों को भी सगठित किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने आपस में मिलकर एक भारतीय राज्य सहकारी बैंक संघ (Indian State Co operative Banks Association) भी बनाया है, जो उनकी एक जैसी समस्याओं के निराकरण के सम्बन्ध में वार्ता करने के लिए एक सामान्य मंच का काम देता है।

भूमि बन्धक बैंक (Land Mortgage Banks)

प्रश्न ३—भारत में भूमि बन्धक समितियों के उद्देश्य और कार्यों का वणन कीजिए। वे अपने उद्देश्य में कहां तक सफल हुई है ? उनकी उपयोगिता बढाने के लिए आप क्या सुझाव देते है ?

Q 3—Describe the *functions and working* of Land Mortgage Societies in India How far have they succeeded in their object ? What suggestions can you offer to enhance their utility ?

भूमि बन्धक बैंकों का रूप (Nature of Land Mortgage Banks)—साधारण सहकारी समितिया अपनी विशेष बनावट के कारण अपने सदस्यों को केवल अल्पकालीन ही ऋण दे सकती है। किन्तु किसान की दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकता भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अतएव यह महसूस किया गया कि दीर्घकालीन ऋण देने के लिए भी सहकारिता के सिद्धान्त का प्रसार किया जाए। किन्तु इस विषय

में सदस्य की निजी व्यक्तिगत जमानत पर उधार देना कठिन था, क्योंकि दीर्घकालीन ऋण का परिमाण अक्सर बहुत बड़ा होता है और स्वभावतया ऋण अधिक समय के लिए होते हैं।

भारत में उनका विकास—भूमि-बन्धक बैंकों के लिए भी मौलिक प्रेरणा जर्मनी से ही मिली, जहाँ ऐसे बैंक कृषि की समृद्धि में बहुमूल्य भाग ले चुके थे। पंजाब में १६२० में झंग (पाकिस्तान) में इस प्रकार के प्रथम बैंक की स्थापना की गई। वहाँ बाद में कुछ और बैंक भी खोले गए, किन्तु वे शीघ्र ही समाप्त हो गए।

तो भी भारत में भूमि-बन्धक बैंकों का वास्तविक कार्य १६२६ में आरम्भ हुआ, जब मद्रास में राज्य केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंक की स्थापना की गई। इसके बाद बम्बई में १६३५ में प्रान्तीय भूमि-बन्धक बैंक खोला गया। सन् १६५६-५७ में १२ केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंक थे। उनकी सदस्य संख्या १,१६,५६१; कामचलाऊ पूंजी २१.३२ करोड़ रु० और उनके द्वारा दिए गए ऋणों का योग ३.८० करोड़ रु० था। उसी वर्ष ३०६ प्राथमिक भूमि-बन्धक बैंक थे जिनकी सदस्य-संख्या ३,३३,५८६ थी, कामचलाऊ पूंजी १२.७ करोड़ और उनके द्वारा दिए गए ऋण २.५ करोड़ रुपए।

उनके कार्य—ये भूमि-बन्धक सोसाइटियाँ अपने सदस्यों को उनके पुराने ऋणों को चुकाने, उनकी भूमि पर कुआँ खोदने या बांध बनाने जैसे स्थायी सुधार-कार्यों तथा भूमि मोल लेने के लिए उधार देती हैं।

उनको वित्त कैसे दिया जाता है ?—वित्त की तीन विभिन्न प्रणालियों से काम लिया जाता है। सर्वोत्तम प्रणाली, जो मद्रास तथा बम्बई में मानी जाती है, यह है कि केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंक ऋण-पत्र जारी करता है। इस प्रकार के ऋण-पत्रों की राज्य सरकार गारंटी करती है। हाल ही में रिज़र्व बैंक भी ऐसे ऋण पत्रों के २०% खरीदकर इन भूमि-बन्धक सोसाइटियों की सहायता करता है। इसके अतिरिक्त जनता से दीर्घकालीन निक्षेप भी स्वीकार किए जाते हैं। जब कभी ग्राम भूमि-बन्धक समितियों को अपने सदस्यों को ऋण देना होता है तो यह वित्त उनको दे दिया जाता है।

एक अन्य प्रणाली का अनुसरण मध्य प्रदेश, पंजाब और पश्चिमी बंगाल में किया जा रहा है। इस प्रणाली में राज्य सहकारी बैंक ग्राम भूमि-बन्धक सोसाइटियों को धन देता है। उत्तर प्रदेश जैसे कुछ अन्य राज्यों में ग्राम भूमि-बन्धक सोसाइटियाँ ऋण-पत्र जारी करके अपने लिए पूंजी स्वयं एकत्रित करती हैं, किन्तु उनकी साख कम होने के कारण उनको अपने ऋण-पत्रों पर प्रायः अधिक ब्याज देना पड़ता है। कभी-कभी वे सहकारी केन्द्रीय बैंकों से भी उधार लिया करती हैं। यह भी अच्छी बात नहीं है, क्योंकि केन्द्रीय बैंकों का धन अल्पकालीन होता है और इसे अधिक लम्बे समय के लिए नहीं रोकना चाहिए।

वे किस प्रकार कार्य करते हैं (How They Function)—जब ग्राम भूमि-बन्धक सोसाइटी का कोई सदस्य दीर्घकालीन ऋण के लिए प्रार्थना-पत्र देता है तो उससे कहा जाता है कि वह जिस भूमि को रहन रखना चाहता है उसके मूल्य आदि के सम्बन्ध में कागज-पत्र दाखिल करे। मद्रास तथा बम्बई राज्यों में प्राथमिक समिति

भारत में सहकारी आन्दोलन को १९०४ में बड़ी भारी आशाएँ लेकर आरम्भ किया गया था। अब लगभग पचास वर्ष के कार्य के बाद उसकी सफलताओं का मूल्यांकन किया जा सकता है। इस आन्दोलन से अनेक प्रकार के लाभ हुए हैं—भौतिक अथवा आर्थिक, नैतिक, शिक्षात्मक तथा सामाजिक।

इस आन्दोलन का आरम्भिक उद्देश्य ग्रामीण साख का विकास था। अतएव अपेक्षाकृत इसका सबसे अधिक विकास उसी क्षेत्र में हुआ है। उस क्षेत्र में स्पष्ट रूप से अनेक लाभ हुए हैं। गाँव में मिलने वाला ऋण प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से सस्ता हो गया है। प्रत्यक्ष रूप से इसलिए कि सहकारी समितियाँ अपेक्षाकृत ब्याज की दर कम लेती हैं, परोक्ष रूप से इसलिए कि उधार का यह और साधन मिल जाने से महाजन का एकाधिकार टूट गया और उसने भी ब्याज की दर कम लेना आरम्भ कर दिया। इसके अतिरिक्त किसानों मे मितव्ययिता, बचत और विनियोजन करने की आदतों का भी विकास होने लगा। जो धन पहले व्यर्थ में ही ज़मीन में गाड़कर संग्रह किया जाता था, अब क्रमश: निक्षेपों के रूप में बैंकों में जमा किया जा रहा है।

इस प्रकार महाजन का फन्दा अब बहुत कुछ ढीला हो चला है।

एक और उल्लेखनीय लाभ ऋण की क़िस्म में हुआ है। जहाँ पहले वह प्रायः निजी उपभोग के प्रयोजन के लिए ही उधार लिया करता था, अब वह प्रायः उत्पादक प्रयोजनों के लिए उधार लेने लगा है, क्योंकि सहकारी समितियाँ सामान्य व्ययों के लिये ऋण देने को निरुत्साहित करती हैं।

तो भी इसकी यह आलोचना की जाती है कि उपर्युक्त परिणाम अपने परिमाण में बड़ा सीमित है और उन्हीं सर्वोत्तम समितियों से कुछ हुआ है जिनकी संख्या अभी बहुत कम है। यह आशा भी पूर्ण नहीं हुई कि ग्रामीण ऋणग्रस्तता बढ़ेगी नहीं बल्कि पुरानी ऋणग्रस्तता समाप्त हो जायगी। सत्य यह है कि ऋण सोसाइटियों के वित्तीय साधन इतने व्यापक नहीं हैं कि वे गाँवों की ऋणग्रस्तता के विशाल परिमाण को एक दम समाप्त कर दें। जहाँ तक किसान की वर्तमान वित्तीय आवश्यकता को पूरा करने का सम्बन्ध है, सोसाइटियों का कोष उसके लिए एकदम अपर्याप्त है और उन्होंने अभी उस पूरी आवश्यकता के एक छोटे से भाग की ही पूर्ति की है। और आन्दोलन ने अभी जनसंख्या के एक छोटे भाग को ही छुआ है। १९३८-३९ का ६% परिमाण १९५६-५७ में बढ़कर २५% हो पाया। इस छोटी-सी प्रतिशत वृद्धि को दृष्टि में रखते हुए सर एम० विश्वेश्वरैया ने यह टिप्पणी की थी कि "इस सम्बन्ध में जो कुछ भी अब तक किया गया है, वह भूमि-सतह को खुरचने के समान है।"

तो भी हम इस परिणाम को पूर्णतया स्वीकार नहीं करते। जब हम उन कठिन पाबन्दियों तथा प्रतिकूल परिस्थितियों की ओर देखते हैं, जिनके अधीन इस आन्दोलन ने प्रगति की है तो हमें लगता है कि कुछ थोड़े से स्थायी लाभों को प्राप्त कर लेना भी उसके लिए वास्तव में श्रेय की बात है। वह स्थायी लाभ यह है—ब्याज की दर कम होने से किसानों को एक करोड़ रुपये का लाभ हुआ है तथा उधार लेने की शैतानी प्रणाली निर्बल पड़ गई है। अब नियन्त्रित ऋण प्रणाली पर साधारण-

तया ऋण दिये जाते है, अर्थात् अब ऋणो का सम्बन्ध बिक्री सोमाइटी के द्वारा किसान की उपज की बिक्री के साथ हो गया है।

सहकारिता के ऋणेतर भाग से लाभ और भी अधिक हुआ है। सहकारी बिक्री सोसाइटियो ने अनेक अनावश्यक बिचौलियो को समाप्त कर किसान को अधिक लाभ पहुँचाया है। उत्तर प्रदेश और बिहार में गन्ना बिक्री सोसाइटिया बम्बई म रुई की सोसाइटियों, तथा मद्रास मे धान और तम्बाकू की बिक्री की सोसाइटिया ने इतनी अधिक उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की है कि किसानो की आय म पर्याप्त वृद्धि हुई है। सहकारी आधार पर छोटे-छोटे खेतो को मिलाकर चकबन्दी सिचाई, पशु पालन तथा सम्मिलित कृषि सोसाइटियों ने कृषि की ओर भी अधिक उन्नति की है, जिसके फलस्वरूप उससे कृषक-वर्ग की आय मे वृद्धि हुई है। गत दशाब्दी म ऋण क्षेत्र के विकास के स्थान पर अब उपर्युक्त ऋणेतर सोसाइटियो के विकास को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है, जिससे ग्रामीण जनता का जरूर हित होगा। इस तरह इस आन्दोलन से होने वाले लाभो का परिमाण बराबर बढता जाता है।

अभी तक हम केवल भौतिक लाभ के सम्बन्ध म ही विचार करते रहे हैं। इस आन्दोलन से नैतिक, सामाजिक तथा शिक्षात्मक लाभ भी कम नही हुए हैं यद्यपि वे अभी स्पष्ट रूप से दिखलाई नही देते। जहाँ कही भी सहकारी सोसाइटियाँ बनाई गई हैं किसान को नैतिक रूप मे लाभ हुआ है। सर एम० एल० डार्लिंग (Sir M. L. Darling) ने इस आन्दोलन के नैतिक लाभो का इन शब्दो में सक्षेप में वर्णन किया है—"एक अच्छी सहकारी समिति मे मुकदमेबाजी, फिजूल-खर्ची शराबखोरी तथा जुएबाजी पूर्णतया घट गई हैं। अब उद्योग और परिश्रम, आत्मनिर्भरता, स्पष्ट व्यवहार, शिक्षा, मितव्ययिता, स्वावलम्बन तथा पारस्परिक सहायता उनका स्थान लेंगे।"

कुछ सहकारी समितियाँ सामाजिक सेवा के लिए भी हैं। उदाहरणार्थ अच्छे रहन-सहन, ग्राम-विकास, सफाई और स्वास्थ्य की सहकारी सोसाइटियाँ भी हैं। इन सोसाइटियो ने सामाजिक उन्नति करने म सहायता दी है। इनके द्वारा अनेक सामाजिक बुराइयो को दूर किया गया है। अप्रत्यक्ष रूप से भी सहकारी सोसाइटिया न अनेक अनुचित सामाजिक प्रथाओं के प्रचलन को कम कर दिया है। उदाहरणार्थ, चूँकि उसके सदस्यो की देनदारी असीमित होने के कारण सदस्यो के ऊपर इस बात की सतर्क दृष्टि रखी जाती है कि वह सामाजिक उत्सवों, शराबखोरी, जुए आदि व्यसनो म व्यर्थ व्यय न करें।

सामाजिक तथा नैतिक लाभ के सम्बन्ध में अभी तक अत्यन्त परिमित लाभ हुआ है। उनकी विशेष प्रकृति के कारण उनकी माप करना अत्यन्त कठिन है, इसलिए उसके ठीक परिमाण का निश्चय नही किया जा सकता। तो भी यह कोई कम लाभ नही है कि इस दिशा म कार्य आरम्भ हो गया है। इस आन्दोलन के सम्भावित लाभों के सम्बन्ध में जाग्रति बढती जाती है और इसकी क्रिया तथा प्रतिक्रिया का लाभदायक क्षेत्र बढता ही रहेगा।

प्रश्न ५—भारत में ऋणेतर सहकारिता द्वारा की हुई उन्नति का वर्णन कीजिए।

Q. 5—Give an idea of the progress made by non-credit co-operation in India.

मोटे तौर पर भारत में सहकारिता ने दो विभागों को अपना रखा है—(क) ऋण सहकारिता तथा (ख) ऋणेतर सहकारिता। ऋणेतर सहकारिता का सूत्रपात बाद में हुआ और उसकी उन्नति ऋण-सहकारिता की अपेक्षा मंद है।

द्वितीय महायुद्ध के समय तथा उसके बाद ऋणेतर सहकारिता को अधिक बल मिला और उसने अच्छी प्रगति की, यद्यपि ऋण सोसाइटियाँ पहले से ही बड़े अच्छे ढंग पर बनी हुई हैं और सफलता की दृष्टि से उनका पलड़ा भारी है।

आजकल ऋणेतर सहकारिता ने अत्यंत विस्तृत क्षेत्र अपनाया है। इसमें कृषि-सम्बन्धी तथा गैर-कृषि दोनों ही प्रकार की सोसाइटियाँ सम्मिलित हैं। हम निम्नलिखित वर्गीकरण का अनुसरण करते हुए उनमें से प्रत्येक की उन्नति पर विचार करेंगे।

(१) क्रय तथा विक्रय समितियाँ अथवा उपभोक्ता सहकारी समितियाँ (Purchase and Sale Societies or Consumers' Co-operatives)—अपने सदस्यों की आवश्यकता की वस्तुओं को सहकारिता के आधार पर मोल लेने तथा बेचने वाली इन समितियों को उपभोक्ता समितियाँ (Consumers' Societies) भी कहते हैं। द्वितीय महायुद्ध तक इस प्रकार की ऋणेतर सोसाइटियों ने बहुत कम उन्नति की थी। पर युद्ध ने ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दीं कि जिन्होंने इस प्रकार की सोसाइटियों के विकास को प्रोत्साहित किया। युद्ध के कारण आवश्यक वस्तुओं की बहुत कमी हो गई और उनके मूल्य बहुत चढ़ गए। सरकार ने ऐसी सोसाइटियों को इस प्रकार के कम मिलने वाले माल के वितरण का कार्य सौंपकर उनको प्रोत्साहित किया। इस प्रकार की सोसाइटियों ने मद्रास में विशेष रूप से उन्नति की, जहाँ उनका विस्तार ग्रामीण क्षेत्रों में भी हो गया। मद्रास राज्य में इस प्रकार की समितियों ने आपस में मिलकर जिला थोक-विक्रेता संघ बनाए हैं।

उपभोक्ता सहकारी सोसाइटियों ने जो लाभ प्राप्त किये हैं, उनको ठोस बनाने की आवश्यकता है। इस विषय में इन उपायों से काम लिया जा सकता है—शेयर पूँजी को बढ़ाया जाय, सुरक्षा कोष को पर्याप्त मात्रा में बढ़ाया जाय, सदस्य संख्या बढ़ाई जाय, व्यवसाय के प्रकारों में भिन्नता को और भी अधिक बढ़ाया जाय और सबसे अधिक आवश्यकता इस बात की है कि प्राथमिक सोसाइटियों तथा थोक स्टोरों के सम्बन्धों में अधिक घनिष्ठता उत्पन्न की जाय।

(२) उत्पादन तथा बिक्री समितियाँ (Production and Sale Societies)—इनका मुख्य उद्देश्य अपने सदस्य की माल की बिक्री करना है, जिनका उत्पादन चाहे सहकारी आधार पर किया गया हो या बिना सहकारिता के। इस प्रकार की सहकारी सोसाइटियों के उदाहरण यह हैं—दूध की सप्लाई, डेरी तथा घी व्यवसाय, ग्रामीण उद्योग, बुनकरों की सहकारी सोसाइटियाँ। इस प्रकार की सोसाइटियों ने भी अपने कार्यों को युद्ध के समय तथा युद्ध के बाद के वर्षों में पर्याप्त मात्रा में बढ़ा लिया। इनमें सहकारी बिक्री सोसाइटियों ने उल्लेखनीय उन्नति की, विशेषकर बम्बई

(रुई), उत्तर प्रदेश (गन्ना), बिहार (गन्ना), और मद्रास (तम्बाकू) में। उत्तर प्रदेश तथा बिहार की गन्ना बेचने की सोसाइटियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनका संगठन करने का उद्देश्य गन्ना उत्पादकों को गन्ना मिलों के शोषण से बचाना तथा गन्ने की किस्म में उन्नति करना है। बम्बई की रुई विक्री सोसाइटियाँ भी सफल सहकारी बिक्री का अच्छा उदाहरण उपस्थित करती है।

(३) उत्पादन समितियाँ (Production Societies)—उत्पादन समितियों ने पिछले वर्षों में छोटे-छोटे खेतों को एकत्रित करके चकबंदी करने सिंचाई, भूमि-सुधार तथा भूमि को बसाने के कार्यों में पर्याप्त उन्नति की है। खाद्य तथा औद्योगिक पदार्थों के उत्पादन को बढ़ाने की आवश्यकता से इन समितियों को बहुत बल मिला है। छोटे किसानों में खेती के सुधरे हुए तरीकों का प्रचार करने के लिए भी वह सर्वोत्तम साधन प्रमाणित हुई हैं। इस क्षेत्र में सबसे बाद में सहकारी कृषि आई है और इसमें रुचि बढ़ रही है। विशेष रूप से अखिल भारतीय काँग्रेस के नागपुर अधिवेशन में सहकारी कृषि सम्बन्धी पारित संकल्प के बाद से इस ओर विशेष रुचि दीख पड़ी है। इस पर देश में भयंकर वाद-विवाद भी चल पड़ा है। इस प्रकार की समितियों को आर्थिक अनुदान, विशेषज्ञ कर्मचारियों की सेवा तथा उत्पादन में आवश्यक वस्तुएँ आदि देकर विशेष रूप से प्रोत्साहित किया जा रहा है।

(४) समाज सेवा समितियाँ (Social Service Societies)—समाज-सेवा समितियों में अधिक उत्तम जीवन, ग्राम उन्नति सफाई तथा स्वास्थ्य की सहकारी सोसाइटियों को सम्मिलित किया जाता है। उनकी संख्या अधिक न होते हुए भी उनको अधिकाधिक सरकारी स्वीकृति एवं मान्यता मिलती जाती है। सहकारी उत्तम जीवन की सोसाइटियों का विशेष रूप से पंजाब में बड़ी भारी संख्या में संगठन किया गया है। इन समितियों का उद्देश्य सामाजिक बुराइयों को दूर करना मितव्ययिता को बढ़ाना तथा देहात की सब प्रकार से उन्नति करना होता है। पश्चिमी बंगाल में मलेरिया-नियन्त्रण सोसाइटियाँ हैं, जो जंगलों और भीलों को साफ करती, तथा कुनैन बाँटती हैं। उत्तर प्रदेश में बहुधंधी सोसाइटियों द्वारा बहुत सा विकास-कार्य करने के लिए कई कई गाँवों के खण्डों को ले लिया गया है।

(५) आवास सहकारी समितियाँ (Housing Co-operatives)—आवास सहकारी समितियों ने बम्बई और मद्रास में अच्छी उन्नति की है। या तो उनका बम्बई के समान भागीदारों के आधार पर संगठन किया जाता है अथवा मद्रास के समान व्यक्तिगत स्वामित्व के आधार पर अनेक स्थानों में सहकारी नगरों की योजना चल रही है। शरणार्थियों को तत्काल बसाने की आवश्यकता से उसे और भी अधिक बल मिला है। सरकार भी भवन निर्माण सोसाइटियों को ऋण देकर उनकी सहायता करती है।

(६) सहकारी बीमा समितियाँ (Co-operative Insurance Societies)—सहकारी बीमा समितियों ने भी अच्छी उन्नति की है। इनमें से पाँच जीवन-बीमा सोसाइटियाँ हैं। मद्रास में एक सहकारी आग तथा साधारण बीमा सोसाइटी भी कार्य कर रही है।

ऋणेतर सहकारी सोसाइटियो के उपर्युक्त पर्यवेक्षण से यह साफ पता चलता है कि सहकारिता के इस भाग पर अब पहले की अपेक्षा अधिक ध्यान दिया जा रहा है और उनकी उन्नति प्रशसनीय मात्रा मे हो रही है। तो भी उनके और विकास के लिए अभी पर्याप्त क्षेत्र बाकी पडा है।

प्रश्न ६—भारत में बहुधंधी सहकारी समितियों के विकास के पक्ष में युक्तियां दीजिए। इनके विकास के मार्ग में आने वाली सम्भावित कठिनाइयों का भी उल्लेख कीजिये।

Q. 6—Make out a case for the development of multi-purpose co-operatives in India. Mention the difficulties likely to be encountered.

प्रस्तावना—यह महसूस किया गया है कि ग्रामीण जीवन की समस्या केवल वित्त प्राप्त करने की ही नही, वरन् उससे कही अधिक व्यापक है और इसलिए उसको सर्वग्राही रूप मे ही सुलझाया जा सकता है। वास्तव मे अपरिमित दायित्व के आधार पर सीमित साधनो से छोटे ढग पर काम करने वाली तथा किसान की केवल एक आवश्यकता को पूरा करने वाली छोटी ऋण-समिति ग्रामीण जीवन में पर्याप्त सुधार किस प्रकार कर सकती है ?

इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए सर्वग्राही प्रयत्न करना आवश्यक है। इस कार्य को केवल बहुधधी सहकारी सोसाइटियो का निर्माण करके ही किया जा सकता है। केवल इस प्रकार की सब काम करने वाली सोसाइटी ही ग्रामीण जीवन की समस्या को अपने सम्पूर्ण रूप में सुलझा सकती है।

बहुधधी सहकारी समितियों के पक्ष में युक्तियां (Case for the Multi-purpose Co-operatives)—इस प्रकार बहुधधी सहकारी समितियाँ गाँवो की सभी आर्थिक आवश्यकताओ को पूर्ण करने वाली "व्यापक दाता" ("Universal Provider") हैं। निम्नलिखित तर्क इन बहुधधी सहकारी समितियो के पक्ष में दिये जा सकते हैं—

(१) यह महसूस किया जाता है कि जब तक साहूकार के सभी कार्यो को एक अकेली एजेंसी नही करेगी, तब तक उसके बिना काम चलाना कठिन होगा।

(२) उत्पादन तथा बिक्री से सम्बन्धित हुए बिना ऋण अशिक्षित किसान के लिए ऐसा खतरनाक लालच है, जो अनेक बार उसके आर्थिक पतन का कारण हो सकता है।

(३) एक ही गाँव मे कई भिन्न-भिन्न सस्थाओ का सचालन करने के लिए हिसाब तथा व्यवसाय का आवश्यक ज्ञान रखने वाले शिक्षित कार्यकर्त्ताओ की भारी कमी है।

(४) कार्य के परिमित क्षेत्र मे अवैतनिक कार्यकर्त्ताओ से काम कराने वाली रैफीसेन की पुरानी विचारधारा से ठीक काम नही चला। समाज के छोटे आकार के कारण थोडी भी हानि को सहन करना कठिन है।

(५) बहुधधी समितियों द्वारा किये जाने वाले विभिन्न प्रकार के व्यवसाय एक दूसरे की सहायता करेंगे और यदि उनमें से कुछ को भी सफलता मिली तो वे

कुछ अन्य कार्यों मे मिली हुई असफलता को सँभाल लेंगे। उतार चढाव में जो कुछ खोया जायगा वह सब मिलाकर पूरा हो जायेगा।"

(६) अंत मे एक बहुधंधी सोसाइटी अपने स्वभाव से ही किसान के मार्ग म आने वाली सभी विभिन्न समस्याओ को खूब अच्छी तरह समझ सकेगी। इस प्रकार हमारे ग्रामीण जीवन का सर्वांगीण पुनर्निर्माण करने के लिए बहुधन्धी सहकारी सभा आदर्श एजेंसी होगी।

कठिनाइयाँ (Difficulties)—बहुधधी आधार पर सहकारी समितियाँ खोलने के मार्ग म अनेक कठिनाइयाँ भी हैं। फिर इस परिवतन के सम्बन्ध मे अनेक व्यक्तियो को कुछ आपत्तियाँ हैं जो निम्नलिखित हैं—

(१) एक बहुधधी समिति को चलाने के लिए अधिक अच्छे सगठनकर्त्ताओं की आवश्यकता होती है। इस समय जब सीधी सादी ऋण तथा अन्य प्रकार की सोसाइटियो के लिए भी कार्यकर्त्ताओ की पर्याप्त सख्या नही मिलती तो अधिक और विविध कार्यों वाली बहुधधी सोसाइटियो का प्रबन्ध किस प्रकार किया जा सकेगा?

(२) इसमे एक खतरा यह भी है कि अपने भारी-भरकम काम के कारण सीधे-सादे गाँववाले उन्हे न समझने के कारण उनमे सम्मिलित होने से शायद इनकार कर दें।

(३) उसके एक व्यवसाय म घाटा होने पर उसके दूसरे व्यवसायो पर भी खतरा आ सकता है।

(४) उसके कार्य-क्षेत्र के विशाल होने की असुविधाएँ भी उसके सामने आ सकती हैं। उदाहरणार्थ, यह हो सकता है कि सदस्य एक दूसरे को न जानने के कारण एक दूसरे का विश्वास न करें। वास्तव मे पारस्परिक जान पहचान तथा विश्वास ही सहकारिता के आवश्यक तत्त्व हैं।

(५) बहुधधी समितियो का सीमित दायित्व भी उनका एक और आपत्ति-जनक रूप है, क्योकि उससे सहकारिता की भावना निर्बल पड जाती है।

(६) इसके विरुद्ध एक-उद्देश्य वाली छोटी-सी ग्राम इकाई एक शिक्षा-सस्था का काम भी देती है।

निष्कर्ष (Conclusion)—लाभ तथा हानियो के उपर्युक्त विवरण से यह जाहिर है कि तराजू का पलडा बहुधधी विचार के पक्ष मे ही झुकता है। अब भारत म इस विचार के समर्थकों की सख्या बराबर बढती जाती है। अतएव इन सोसाइटियो की सख्या भी शीघ्रतापूर्वक बढ रही है। उदाहरणार्थ, १९४५-४६ मे उनकी सख्या उत्तर प्रदेश में ६,६६२ थी जो १९५५-५६ म ४१,६०० हो गई। बम्बई म यह सख्या १९४५-४६ मे २६४ से एकदम बढकर मई ३१, १९५३ को ३,९६५ हो गई। १९४९-५० के अन्त म बहुधधी सोसाइटियो की सख्या कुल मिलाकर २९,५२५ थी। उनके सदस्यो की सख्या १५ लाख तथा कार्यकारी पूँजी ४ करोड रुपय थी। इस समय सबसे अधिक उल्लेखनीय उन्नति उत्तर प्रदेश ने की। इसके बाद बम्बई, पश्चिमी बगाल तथा मैसूर आते हैं।

प्रश्न ७—भारत में सहकारी आन्दोलन की धीमी प्रगति के कारण बतलाओ। इस आन्दोलन को बल पहुँचाने के लिए आप क्या सुझाव दे सकते हैं ?

या

भारत में सहकारिता-आन्दोलन की प्रगति का संक्षिप्त वर्णन कीजिये।

(मद्रास '५८)

Q 7—Account for slow progress of the Co-operative Movement in India What suggestions have you to offer to strengthen the movement ?

or

Sketch the progress of the Co-operative Movement in India.

(*Madras* '58)

युद्ध तथा युद्धोत्तर काल में उत्पन्न हुई असाधारण परिस्थितियों से बल पाकर पिछले दिनों इस आन्दोलन की जो असाधारण उन्नति हुई थी उसको यदि न गिनें तो सहकारी आन्दोलन की उन्नति बहुत ही असन्तोषजनक हुई है। उसको हानि पहुँचाने वाले कारणों को मोटे तौर से दो विभागों में बाँटा जा सकता है—एक तो प्रतिकूल बाह्य परिस्थितियाँ, दूसरे आन्तरिक दोष।

बाह्य कठिनाइयाँ (External Difficulties)—इस आन्दोलन के मार्ग में आने वाली बाह्य कठिनाइयों में सबसे पहला स्थान भारतीय जनता के अज्ञान तथा निरक्षरता को दिया जा सकता है। सर्वसाधारण सहकारी सिद्धान्त के अर्थ तथा उसकी सम्पूर्ण सम्भावनाओं को ठीक-ठीक नहीं समझ पाते। उनके लिए सहकारी सोसाइटी एक सस्ते साहूकार से अधिक कुछ भी नहीं है। इस प्रकार इस आन्दोलन के विकास के लिए मूल प्रेरणा देने वाले व्यक्तियों का एकदम अभाव है।

इस अभाव के कारण इसकी गति स्वभावतया मन्द है। सरकार ने उसके सम्भावित लाभों को समझकर यह कार्य स्वयं ही आरम्भ किया और इसके लिए प्रयत्न करना आरम्भ कर दिया। फलस्वरूप इस पर सरकार का नियन्त्रण आवश्यकता से अधिक हो गया, जो अब इसके स्वस्थ विकास में बाधक बन गया है।

निहित स्वार्थ वालों की ओर से भी इसका प्रबल विरोध हुआ है, जैसे गाँवों में उधार देने वाले महाजन इसकी उन्नति के मार्ग में रोड़े अटकाने के सभी प्रकार के प्रयत्न कर रहे हैं।

१६२६ में आरम्भ होने वाली भयङ्कर आर्थिक मन्दी ने भी इसको अनजाने ही दबा लिया। इससे इस आन्दोलन की केवल प्रगति ही नहीं रुकी, वरन् उसके फलस्वरूप बड़ी गड़बड़ी और निराशा उत्पन्न हो गई, जिसे द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने पर समृद्धिकाल में जीता जा सका।

आन्तरिक दोष (Internal Drawbacks)—इन कठिनाइयों तथा प्रतिकूल परिस्थितियों के अतिरिक्त, जिनके विरुद्ध इस आन्दोलन को सदा ही युद्ध करना पड़ा, उस तरीके को भी बहुत कुछ दोष देना पड़ेगा, जिससे इस आन्दोलन का सचालन तथा विकास किया गया।

(१) प्रथम तो द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने तक सहकारी आन्दोलन के अप-

पक्ष पर आवश्यकता से अधिक बल दिया जाता था किन्तु जब तक सहकारिता के अन्य कार्यों, क्रय विक्रय आदि की सहायता से कृषि कार्य को लाभजनक पेशा नहीं बनाया जाता, तब तक केवल सहकारी-ऋण सोसाइटी ही अकेली अधिक सफल नहीं हो सकती। भारत में सहकारिता की इस बुनियादी कमी को अब महसूस किया जा रहा है। "अब यह समझ में आ गया है कि सहकारिता का वास्तविक उद्देश्य मनुष्य के सम्पूर्ण रूप—उसके व्यक्तित्व, आचरण समाज तथा जीवन के प्रति दृष्टिकोण—में परिवर्तन करना है" (रसेल रिपोर्ट)। अभी तक अपने इस सर्वग्राही रूप में सहकारिता को कभी नहीं समझा गया था।

(२) प्राथमिक इकाइयों का आकार अभी तक प्रायः बहुत छोटा रहा है। उनका कार्य-क्षेत्र बहुत सीमित तथा दायित्व असीमित रहते हुए अवैतनिक कार्यकर्त्ताओं से अत्यधिक आशा की जाती रही है। सोसाइटियों के सफलतापूर्वक कार्य करने के मार्ग में इन सब बातों की प्रतिकूल प्रतिक्रिया होना अनिवार्य था।

(३) प्रायः समितियों का प्रबन्ध अनजान बिना सीखे हुए ऐसे पदाधिकारियों के हाथ में रहा है, जो उनको सौंपे हुए कार्य के लिए एक दम अयोग्य थे।

(४) अनेक समितियों पर दलबन्दी तथा झगड़ों की आपत्ति भी आती रही है। या तो ऐसी सोसाइटियाँ अधिक काम नहीं करेंगी अथवा उनमें ऋण देने में पक्षपात तथा भाई-भतीजावाद उत्पन्न होकर उनका लाभ कुछ पक्षपात किये जाने वाले सदस्यों को ही पहुँचेगा।

(५) युद्ध के द्वारा अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न होने से पहले तक अनेक सोसाइटियों की दशा का सबसे अधिक असतोषजनक लक्षण यह था कि उन पर अत्यधिक बकाया (overdues) चढ़े हुए थे। ऋणों को ठीक समय पर कभी नहीं चुकाया जा सकता था, और इसके फलस्वरूप उधार की रकम बढ़ती गई। प्रबन्धक लोग ऋण न चुकाने वालों के विरुद्ध कार्रवाई करने में प्रायः सकोच करते थे।

(६) इसके अतिरिक्त पदाधिकारी लोग अक्सर इस प्रकार के नकली हिसाब भी रखा करते थे जिसमें बकाया रकमों को कम दिखलाया जाता था। इसके लिए ऊपरी दिखावा, झाड-पोछ जरूरी थी और यह गलत तथा दोषपूर्ण आडिट के कारण ही सम्भव था। पुराने ऋणों को खाते में चुकता दिखलाकर नए-नए झूठे ऋण नए ऋण खाते में लिख दिए जाते हैं। इस प्रकार वसूली की दर भी अच्छी दिखा दी जाती है और नए ऋण देने की प्रगति भी। दोषपूर्ण लेखा परीक्षा तथा निरीक्षण के कारण बेईमान प्रबन्धकों द्वारा गबन भी होते हैं।

(७) इसका एक और दोष है पूँजी के लिए बाहिरी साधनों पर निर्भरता। अधिकाश सोसाइटियाँ बचत तथा मितव्ययिता की आदतें बनाने में असफल रहीं। अतएव उनके पास जमा बहुत कम आ पाती है। सभी राज्यों में सहकारी समितियों के पास कामचलाऊ पूँजी की स्थिति का विश्लेषण करने से पता चलता है कि प्रायः ११ राज्यों में कामचलाऊ पूँजी का निक्षेपों के साथ अनुपात प्रायः ६% का है। इसलिये सहकारी सोसाइटियों को पूँजी के लिये केन्द्रीय वित्तीय एजेंसियों के ऊपर निर्भर रहना पड़ता है। इसी कारण सदस्यों को जो ऋण ये देती हैं उन पर अधिक ब्याज माँगने को ये

विवश हैं। कहीं-कहीं तो १२·५%, बल्कि १५% ब्याज तक (जैसे उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बंगाल में) लेती हैं। जब तक प्राथमिक सोसाइटियाँ अपना धन गैर-सदस्यों से लेंगी, या माध्यमिक सहकारी सोसाइटियों से उधार लेकर पूरा करेंगी, तब तक ये अर्द्ध-सहकारी संस्थाएँ ही बनी रहेंगी।

(८) राज्य-बैंक, केन्द्रीय बैंक जैसी माध्यमिक संस्थाएँ भी—जो इस संपूर्ण संगठन में बहुत आवश्यक संयोजक कड़ी हैं—दोष-शून्य नहीं होती। उनकी संख्या भी अपर्याप्त है। केन्द्रीय बैंकों का काम अत्यधिक फैला होता है और उनको बहुत बड़े क्षेत्र की सेवा करनी पड़ती है। ये दोनों ही प्रकार की संस्थाएँ केवल सहकारी व्यवसाय पर ध्यान देने की अपेक्षा साधारण वाणिज्यिक कार्यों की ओर अधिक ध्यान दे रही हैं। किन्तु वे वाणिज्यिक कार्य-कलाप के सर्वथा अयोग्य होतीं हैं।

आन्दोलन को सुदृढ़ बनाने के सुझाव
(Suggestions for Strengthening the Movement)

किन्तु इतनी अधिक कठिनाइयों तथा दोषों के होते हुए भी हमको निराश होने की आवश्यकता नहीं। सुधार के निम्नलिखित मुख्य कार्यों को लाभ के साथ अपनाया जा सकता है। इनको अपनाने से बाह्य कठिनाइयों के अतिरिक्त आन्तरिक दोषों पर भी विजय प्राप्त की जा सकेगी।

(१) इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है प्राथमिक सोसाइटियों का बहुधंधी आधार पर पुनः संगठित किया जाना। एक उद्देश्य वाली पुरानी सोसाइटियों के स्थान पर अनेक उद्देश्यों वाली सहकारी सोसाइटियों की स्थापना की जानी चाहिए।

(२) ऋण के क्षेत्र में इस बात का ध्यान रखा जाय कि ऋण केवल उत्पादक उद्देश्यों के लिए ही दिये जाएँ, अन्य आवश्यकताओं के लिए कम से कम। किन्तु बकाया ऋणों को जहाँ कहीं भी हो, कम किया जाय। नए ऋण आमतौर पर जिन्स की शक्ल में दिए जायँ ताकि यह आश्वासन रहे कि उनका उपयोग उसी कार्य में किया जायेगा जिसके लिए उनकी स्वीकृति दी गई है।

(३) सहकारी सोसाइटियों के विभिन्न कार्यों में से कृषि-उत्पादनों की सहकारी बिक्री के विकास पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

(४) वर्तमान केन्द्रीय तथा राज्य सहकारी बैंकों को पुनः संगठित किया जाना चाहिए। इस समय केन्द्रीय बैंकों को बहुत बड़े क्षेत्र में काम करना पड़ता है, जिससे वे अपनी सम्बद्ध सभी सोसाइटियों का निरीक्षण नहीं कर पाते। अतएव इनसे कुछ छोटी बैंकिंग यूनियनों की स्थापना की जानी चाहिए। इस समस्त आन्दोलन का मार्ग-दर्शन करने में प्रान्तीय सहकारी बैंक को अब की अपेक्षा अधिक भाग लेना चाहिए। इन केन्द्रीय संस्थाओं को अपने पास पर्याप्त धन बनाए रखना चाहिए तथा प्रथम श्रेणी के वाणिज्यिक बैंकों के साथ भी सम्बन्ध बनाए रखना चाहिए, ताकि वे इस आन्दोलन की अधिक सेवा कर सकें। इसके अतिरिक्त भारत के रिजर्व बैंक को भी राज्य सहकारी बैंकों को ऋण देने तथा उनकी हुण्डियों पर दुबारा बट्टा लेने के लिये अधिक तैयार रहकर अधिक उदार नीति का अनुसरण करना चाहिए।

(५) सोसाइटियों को कहीं अधिक मात्रा में स्थानीय बचत अपने यहाँ जमा

कराने का यत्न करना चाहिए। इससे वे अपने सदस्यो को सस्ती दर पर उधार दे सकेंगी और बिना बाहरी एजेन्सियो की सहायता पर अधिक निर्भर हुए अपना कार्य कर सकेंगी।

(६) सहकारी विभाग के कर्मचारियो को ग्रामीण अर्थशास्त्र तथा बैंकिंग और सहकारिता म अच्छा प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए, जिससे वे अपने कार्य को भी भली प्रकार निभा सकें। यह खुशी की बात है कि शुरुआत हो चुकी है और १६५२ में पूना म सहकारी कर्मचारियो के लिए एक अखिल भारतीय प्रशिक्षण केन्द्र खुल गया। इसे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने शुरू किया और धन दिया। मध्यम श्रेणी के कर्मचारियो की ट्रेनिंग के पाँच केन्द्र पूना, मद्रास और पूसा आदि नगरो मे खाले गए हैं। अन्य दो केन्द्रो का प्रबध भी हो रहा है।

(७) सबसे अधिक आवश्यकता इस बात की है कि सहकारी कार्य करने का स्वय जनता मे ही उत्साह उत्पन्न करने के लिए सभी प्रकार के सम्भव प्रयत्न किए जायें। ऊपर से भकझोरने से कोई विशेष काम न चलेगा। इस आन्दोलन की सफलता के लिए जनता म सच्ची सहकारी तथा जनतन्त्री भावना का पहले से ही उपस्थित होना बहुत आवश्यक है।

भारत म भी सरकार उपर्युक्त कार्यविधि पर चलने का कई वर्षों से यत्न कर रही है। उसने सहकारी आन्दोलन को बलशाली बनाने तथा इसका प्रसार करने की योजनाएँ बनाई हैं। प्राय कई राज्या म ऐसी सस्थाओ की स्थापना की गई है, जिनसे सहकारी सस्थाओ तथा इस विभाग के कर्मचारियो को ट्रेनिंग दी जा सके। सरकार और रिजर्व बैंक दोनो ही अब इस आन्दोलन को धन देने के लिए पहले की अपेक्षा अधिक तैयार हो गये हैं। बहुधधी सहकारी सोसाइटियो का प्रसार करने पर विशेष बल दिया जा रहा है।

प्रश्न ८—भारत में सहकारी आन्दोलन में नई प्रवृत्तियो की परीक्षा कीजिए और पचवर्षीय योजनाओ में उसे दिए गए महत्त्व की चर्चा कीजिए।

Q 8—Examine recent trends in the Co operative Movement in India and discuss the importance given to it under the Five Year Plans

दूसरा महायुद्ध होने के समय से सहकारी आन्दोलन की प्रगति तेज रही है। इस दौरान म कई महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियाँ उदय हुई हैं और इनमे से अनेक विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जो पिछले कुछ वर्षो मे, खास तौर पर स्वतन्त्रता के बाद आई हैं। इनम से प्रमुख प्रवृत्तियो को हम गिनाएँगे और उनकी परीक्षा करेंगे।

पहली प्रवृत्ति तो जाहिरा यह है कि पिछले १५ वर्षों मे विकास की गति तीव्र हुई है। अविभाजित भारत मे १६३८ ३६ मे १ २२,००० समितियाँ थी। उनकी सख्या विभाजित के बाद १६४८-४६ म केवल भारत म १,६४,००० हुई और १६५६-५७ मे २,४४,७६६ हो गई। इनकी सदस्यता तथा काम-चलाऊ पूंजी में भी वृद्धि हो रही है। यह बडा अच्छा लक्षण है।

दूसरे, राज्य इस आन्दोलन मे अधिकाधिक रुचि लेने लगा है। यह बात अनेक तरह से प्रकट है। युद्ध-काल तथा युद्धोत्तर कमी के दिनो मे कमी के माल का वितरण

करने में सरकार ने सहकारी समितियों को चुना। अधिक 'अन्न उपजाओ आन्दोलन' तथा अन्य योजनाओं के अन्तर्गत वित्तीय सहायता को सरकार सहकारी आन्दोलन के हाथ में देती रही है। इधर राज्य सरकारें राज्य सहकारी बैंक तथा केन्द्रीय बैंक जैसी केन्द्रीय एजेन्सियों की शेयर पूँजी को दृढ बनाने के लिए बड़ी-बड़ी राशियाँ देने लगी हैं। पचवर्षीय योजनाओं में भी सहकारी संस्थाओं के विकास को प्रमुख स्थान दिया गया है।

एक और उल्लेखनीय प्रवृत्ति यह है कि ऋण देने के पहलू से हटकर अब इस आन्दोलन में विभिन्न प्रकार के अन्य कार्यों पर ज़ोर डाला जाने लगा है। सबसे ज्यादा प्रगति उपभोक्ता सहकारिता में है। अविभाजित भारत में १६३८-३६ में केवल ४०० ऐसी संस्थाएँ थीं जो केवल भारतीय संघ में १६४७-४८ में ४,५४२ हो गईं। बुनकर और ईख-उत्पादक सोसाइटियों, दुग्ध यूनियनों तथा अन्य कुटीर उद्योग सम्बन्धी सहकारी संस्थाओं की संख्या और कार्यों में भी बडा प्रसार हुआ है। अनेक नई दिशाओं में भी सहकारी कार्रवाई आरम्भ हुई है, जैसे श्रम, आवास, परिवहन, खेती, बीमा आदि में। इस प्रकार इस आन्दोलन में विविधता आ गई है और यह बहुत अच्छा है।

शायद सबसे अधिक उल्लेखनीय प्रवृत्ति एकांगी सोसाइटियों का बहुधंधी सोसाइटियों में परिवर्तन है। अब पुरानी साख सोसाइटियों को बदला जा रहा है और नई सोसाइटियाँ बहुधंधी आधार पर बनाई जा रही हैं। यह बडी लाभदायक प्रवृत्ति है क्योंकि यह ग्रामीण समस्या की सर्वांगीण सम्बद्ध भावना को व्यक्त करती है।

सहकारी संस्थाओं की कार्रवाई के अधिक बडे क्षेत्रों और परिमित दायित्व की ओर भी प्रवृत्ति है, जबकि पहले छोटे क्षेत्रों तथा अपरिमित दायित्व की प्रवृत्ति थी। जबकि १६३८-३६ में कृषि सोसाइटियों की कुल संख्या की कुल ८% परिमित दायित्व की थीं, १६४८-४६ में ये कुल की ४५% थीं। तब से अब तक उनका अनुपात और भी बढ गया होगा। यह इसलिए कि अधिक बडी तथा व्यापक सोसाइटियाँ बन रही हैं।

इधर रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया इस आन्दोलन में उत्तरोत्तर अधिक रुचि लेने लगा है। इसका मार्ग-दर्शन करने के अतिरिक्त यह अधिकाधिक वित्तीय सहायता राज्य सहकारी बैंकों को देने लगा है।

पचवर्षीय योजनाओं में सहकारिता को ग्राम-विकास के लिए भी और कुटीर तथा छोटे उद्योगों को बढाने के लिए भी एक प्रमुख और केन्द्रीय स्थान दिया गया है। (इसके ब्यौरे के लिए योजना के अध्याय में आवश्यक अंश देखिए।)

ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण ने जो सबसे महत्त्वपूर्ण सुझाव रखा, वह यह था कि राज्य को विभिन्न स्तरों पर सहकारी संस्थाओं के साथ साझा करना चाहिए। ऐसे वित्तीय साझे से सहकारी संस्थाओं को और भी बल मिलेगा और वे सरकार से और ज्यादा सहायता तथा पथ-प्रदर्शन प्राप्त कर सकेंगी। १६५६ में रिज़र्व बैंक अधिनियम में संशोधन हुआ। उक्त संशोधन के फलस्वरूप रिज़र्व बैंक ऐसी सहकारी सोसाइटियों के अंश खरीदने के लिये भी कृषकों को साख दे सकता है, जो कृषि उपज की बिक्री

या विधायन (processing) में लगी हो। इस साझे को सुगम बनाने के लिए, रिजर्व बैंक ने १० करोड रु० के आरम्भिक अशदान से एक राष्ट्रीय खेती साख (दीर्घकालीन कार्रवाई) निधि [National Agricultural Credit (Long term Operations) Fund] स्थापित की। राज्य सरकारो को इस निधि मे से ऋण दिए जाएँगे ताकि वे सहकारी साख सस्थाओ को शेयर पूंजी का अपना हिस्सा दे सकें। एक दूसरी निधि का नाम है राष्ट्रीय सहकारी विकास निधि (National Co-operative Development Fund) जो केन्द्रीय सरकार ने स्थापित की है और इससे भी उपर्युक्त प्रयोजन के लिए ही राज्यो को उधार दिया जायेगा।

द्वितीय पचवर्षीय योजना के लिय सहकारी आन्दोलन के सम्बन्ध मे विशाल कार्यक्रम का आयोजन किया गया है। सहकारिता का आन्दोलन, जो केवल अब तक साख देने तक सीमित था, अब व्यापक क्षेत्रो मे उन्नति करेगा। उदाहरणार्थ बिक्री तथा बाजार कार्यों म, विधायन (processing) आदि कार्यो म, भण्डार गृहो की *सुविधा व्यवस्था मे, गोदामो की व्यवस्था आदि आदि। इस समय अल्पकालीन ऋणो* के लिये द्वितीय योजना में १५० करोड रु० का उपबन्ध है, ५० करोड रु० का मध्यमावधि के ऋणो के लिये और २५ करोड र० का दीर्घावधि के ऋणो के लिये उपबन्ध हैं। उपर्युक्त समस्त राशि १९६०-६१ तक सहकारी सस्थाओ के द्वारा कृषि उपज के बिक्री कार्यों, विधायन कार्यो, गोदाम व्यवस्था आदि कार्यों के लिये दी जायेगी। द्वितीय योजना मे १०,४०० बडी सहकारी समितियो, १,८०० प्रारम्भिक सहकारी समितियो, ३५ सहकारी शक्कर कारखानो, ४८ सहकारी रुई के कारखानो, और ११८ अन्य विधायन सम्बन्धी सहकारी सस्थाओ (Co-operative Processing Societies) के खोलने का उपबन्ध है। यही नही, द्वितीय योजना काल म ३५० भण्डार गृह (warehouses), १,५०० गोदाम (सहकारी बिक्री सस्थाओ के लिये) और ४०० गोदाम (बडे आकार की प्रारम्भिक कृषि साख-समितियो के लिये) भी खोलने का उपबन्ध किया गया है।

अध्याय १३

खाद्य-समस्या
(The Food Problem)

प्रश्न १—भारत की खाद्य-समस्या पर विचार कीजिए।

(ज० क० १९५८; मद्रास १९५३)

इसे हल करने के क्या उपाय किए गए हैं और उनमें कितनी सफलता मिली?

(कलकत्ता, पटना १९५३)

Q. 1—Explain the nature of the food problem of India.

(J. K. Uni. '58, Madras 53)

What measures have been taken to solve it and with how much success? *(Calcutta, Patna 1953)*

(क) **समस्या का स्वरूप** (Nature of the Problem)—स्वतन्त्रता के बाद निस्सन्देह सबसे गम्भीर आर्थिक समस्या जो देश के सम्मुख थी, वह खाद्य-समस्या थी। इस समस्या के मुख्य पक्ष निम्नलिखित हैं—

१. अपर्याप्त परिमाण अथवा परिमाणात्मक पहलू (Insufficient Quantity or Quantitative Aspect)—हमारी खाद्य-समस्या का सबसे ज्यादा स्पष्ट पक्ष यह है कि देश में उत्पादित खाद्य देश भर के लिए काफी न था। इस कमी का कारण क्या था? प्रथमतः, हमारी जनसंख्या तेजी से बढ़ रही थी जबकि हमारा खाद्य-उत्पादन लगभग स्थिर था। द्वितीयतः, आयातों की विशुद्ध खपत के आँकड़ों से कमी की मात्रा का अच्छा संकेत मिलेगा। १९४७ से १९५२ के वर्षों में खाद्य आयातों और संचय स्थिति के आँकड़ों से आयातों की औसत वार्षिक खपत ३० लाख टन होती है। यह कमी सरकारी आँकड़ों के अनुसार, देश के वार्षिक खाद्य-उत्पादन की लगभग ६ से ७% तक बनती है (१९४९-५० से १९५१-५२ तक के वर्षों में लगभग ४५० लाख टन और १९५२-५३ में लगभग ५०० लाख टन)। यह स्पष्टतया समझ लेना चाहिए कि यह कमी १३·७१ औंस प्रति वयस्क प्रतिदिन की तत्कालीन अल्प खपत पर आधारित है।

इस गम्भीर खाद्य की कमी का एक और पहलू भी है। इतनी महान् खाद्य आयातें हमारे विदेशी विनिमय साधनों को खा गई जिनका उपयोग देश के गतिशील आर्थिक विकास में बड़ा हितकर होता।

२. अपर्याप्त पोषण या गुणात्मक पहलू (Malnutrition or Qualitative Aspect)—हमारी जनता को यही नहीं कि खाने को कम मिलता है बल्कि उसके भोजन में पोषक तत्त्वों की भी कमी है। पोषक तत्त्वों के विशेषज्ञों का कहना है कि न्यूनतम सन्तुलित खुराक में प्रति व्यक्ति को प्रतिदिन २ हजार कैलोरीज (नापमान इकाइयाँ) मिलनी चाहिएँ। किन्तु, भारत में, इस उपसामान्य स्तर से भी गिरी हुई दशा है। इस अपर्याप्त पोषण का प्रधान कारण यह है कि देश में दूध आदि रक्षात्मक

खाद्यों का उत्पादन कम है। साथ ही दूसरा कारण है विभिन्न खाद्यों के पोषक मूल्य के विषय में जनता का अज्ञान।

३. प्रशासकीय पहलू (Administrative Aspect)—देश में उत्पादित खाद्यान्नों की बिक्रीयोग्य संपूर्ण बचत बाजार में नहीं आती क्योंकि उत्पादकों और व्यापारियों दोनों की यह इच्छा रहती है कि खाद्यान्नों का अपसंग्रह (hoarding) किया जाय और उनसे मुनाफाखोरी की जाय। इसका परिणाम हुआ बहुत ऊँची कीमतें, जिससे गरीब अपनी उचित आवश्यकताओं की भी तुष्टि नहीं कर सके। इसके लिए तीन बातें जरूरी थीं—(१) कीमत नियंत्रण द्वारा युक्तिसंगत कीमतों को स्थिर रखना, (२) राशनिंग अर्थात् समवितरण द्वारा समान विभाजन और (३) राशनिंग तथा अन्य जिम्मेदारियों को पूरा करने के लिए गल्ला-वसूली अर्थात खाद्य का संग्रह करना। इन तीन क्षेत्रों के विषय में सुविचारित और सुप्रबंधित नीति खाद्य-समस्या का हल करने के लिए जरूरी है। शिथिल नीति और अयोग्य तथा भ्रष्ट प्रशासन, इसके विपरीत समस्या को अधिक भीषण बनायगा।

४. आर्थिक पहलू (The Economic Aspect)—मूलतः खाद्य-समस्या आर्थिक है। निःसंदेह, बुनियादी तौर पर हमारी कृषि विषयक अयोग्यता का यह केवल एक शोचनीय चिह्न है। कृषि की उपज कम है और फलतः, भारतीय जनता निर्धन है। वह न तो स्वयं पर्याप्त अन्न उत्पन्न करती है और न ही उसमें पर्याप्त क्रय-शक्ति है।

(ख) लागू किए गए उपायों पर एक नजर और उनका मूल्यांकन (Review and Estimate of the Measures Adopted)—खाद्य-समस्या भारत में दूसरा महायुद्ध छिड़ने से पहले भी थी। किन्तु कृषि का सुधार करने के साधारण उपाय करने के अलावा सरकार ने इसकी ओर कभी कोई ध्यान न दिया था। दिसम्बर १९४२ से पहले तो भारत सरकार का खाद्य-विभाग तक न था। केवल उसके बाद, विशेषकर बंगाल दुर्भिक्ष के बाद, इस समस्या के परिमाण तथा प्रशासकीय दोनों पहलुओं की ओर ध्यान दिया गया।

सरकार के उपायों को मोटे तौर पर तीन शीर्षकों में बाँट सकते हैं—(१) 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन, आन्तरिक उत्पादन बढ़ाने के लिए, (२) इससे उदित विभिन्न प्रशासकीय प्रश्नों पर विचार करने के लिए एक खाद्य प्रशासन और, अन्त में, (३) कृषि की कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए कृषि का पुनस्संगठन करने के लिए उपाय।

(१) 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन (Grow More Food Campaign)

(देखिए अगले प्रश्न का उत्तर)

(२) खाद्य नियंत्रण (Food Controls)—दूसरे प्रकार के उपाय खाद्य-नियंत्रणों को निर्धारित करने तथा उनके प्रशासन के संबंध में हैं। खाद्यान्न के यातायात तथा कीमतों पर नियंत्रण, और कस्बों और शहरों में कानूनन राशनिंग के जरिए अधिक समान वितरण किया गया, जिसे बाद में अनेक ग्रामीण क्षेत्रों पर भी लागू कर दिया गया, ताकि १९४७ के मध्य तक राशनिंग देश के सभी भागों में १५४०

लाख व्यक्तियों पर लागू हो गई। कमी पूरी करने के लिए खाद्यान्न का विदेशों से आयात किया गया और चूंकि उनकी यहाँ पहुँचते-पहुँचते कीमतें बहुत हो जाती थीं इसलिए देश के भीतर उनका वितरण करने में उनको राजकीय सहायता देकर उनकी कीमतें कम की गईं जिससे केन्द्रीय खजाने पर बहुत भारी दबाव पड़ा। कानून पास किए गए जिनसे अन्न का जमा करना या उस पर मुनाफाखोरी करना कम हो जाय। देश के आन्तरिक उत्पादन का सर्वोत्तम फायदा उठाने के लिए देश भर को कमी (Deficit) और अतिरिक्त वृद्धि (Surplus) के खाद्य क्षेत्रों में बाँट दिया गया और देश के विभिन्न भागों में, उपयुक्त गल्ला-वसूली (Procurement of food-grains) की विभिन्न प्रणालियाँ लागू की गईं। कुछ में एकाधिकारी (monopoly) वसूल की गई और कुछ क्षेत्रों में लेवी पद्धति (Levy system) लागू की गई, जिसके अनुसार उपज का एक निश्चित अंश सरकार के हाथ में बेचना पड़ता था।

शुरू में इन कन्ट्रोलों की दोषपूर्ण व्यवस्था तथा प्रशासनिक भ्रष्टाचार के कारण स्थिति और भी बिगड़ गई। भ्रष्टाचार भी बहुत फैल गया। यह महसूस होने लगा कि अक्षम कन्ट्रोल के कारण अतिरिक्त उत्पादन करने का उत्साह जाता रहेगा और सब तरफ संग्रह करने की मनोवृत्ति फैल रही है। इसलिए महात्मा गांधी की सलाह पर दिसम्बर १९४७ में खाद्यान्न का कन्ट्रोल उठा लेने का प्रयोग किया गया जिसके नतीजे बड़े खतरनाक हुए। खाद्यान्न की कीमतें एकदम बढ़ गईं और कन्ट्रोल पुनः लगाने पड़े और उनको मजबूत किया गया। कभी-कभी जब सरकार के हाथ में स्टाक बहुत कम हो गए तो प्रति व्यक्ति राशन कुछ महीनों के लिए केवल ९ औंस प्रति दिन करना पड़ा था। चूंकि चावल का प्रबन्ध करना अधिक कठिन था और उसमें खर्च भी ज्यादा आता था, इसलिए चावल खाने वाली जनता की खाने की आदतें बदलने की कोशिश की गई। चावल का राशन सीमित करके बाकी राशन गेहूँ, ज्वार आदि में देकर पूरा किया गया।

इन कन्ट्रोलों के अलावा और भी कदम उठाए गए कि क्षयकारी उपभोग के द्वारा खाद्यान्न के नुकसान को रोका जाय इसलिए शादी-विवाह आदि के समय मेहमानों की संख्या पर कानूनी पाबन्दी लगा दी गई और होटलों में दिए जाने वाले खाने की मात्रा भी निश्चित कर दी गई। जहाँ-जहाँ सम्भव था, संग्रह में क्षय का बचाव करने के लिए, भण्डार-गृहों की सुविधाएँ भी दी गईं।

खाद्य-स्थिति में १९५२ के मध्य से सुधार होने से, मद्रास में जून, १९५२ में खाद्य कन्ट्रोलों को धीरे-धीरे कम करने की प्रक्रिया आरम्भ की गई जो बाद में अनेक अन्य राज्यों में भी मान ली गई। अगले दो वर्षों में कन्ट्रोल और ढीले किए गए तथा हटाए गए, जिससे १० जुलाई, १९५४ को बाकी क्षेत्रों में और चावल पर से कन्ट्रोल हटा लेने के बाद, अब खाद्यान्न पर किसी भी तरह का कोई कन्ट्रोल बाकी नहीं रहा।

(३) **कृषि का पुनर्संगठन (Reorganisation of Agriculture)**—खाद्य-समस्या के पहले दिनों में भारतीय कृषि में बुनियादी सुधार करने के लिए कभी कुछ करने का प्रयत्न न किया गया था। किन्तु पिछले कुछ वर्षों में, खास तौर पर पंचवर्षीय योजना आरम्भ होने के समय से अनेक दूर-गामी सुधार किए गए हैं। भूमि-सुधारों

में प्रगति, बहुधन्धी नयी योजनाएँ और बहुत से छोटे सिंचाई-कार्य जिनमें नलकूप बनाने का कार्यक्रम भी शामिल है, जो दुनिया में सबसे बड़ा कार्यक्रम कहा जाता है, सामुदायिक परियोजनाएँ तथा राष्ट्रीय प्रसार-सेवा—इन सबों के अनुकूल नतीजे दिखाई पड़ने लगे हैं। जैसे-जैसे इनकी गति बढ़ेगी इनके लाभदायक असर और भी जाहिर होंगे।

प्रश्न २—'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन पर एक आलोचनात्मक नज़र डालिए और इसकी सफलताएँ बताइए। (बम्बई १९५२)

Q. 2—Give a critical review of the 'Grow More Food campaign and its achievements. (*Bombay* 1952)

'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन १९४८ में शुरु हुआ और इसका आरम्भ १९४३ की खाद्यान्न नीति समिति की सिफारिश के आधार पर हुआ था। इसे मोटे तौर पर तीन क्रमों में बाँट सकते हैं—(क) अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन १९४३-४८, (ख) आत्म-निर्भरता आन्दोलन १९४९-५२, (ग) अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत।

(क) अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन, १९४३-४८ (Grow More Food Campaign 1943-48)—इस आन्दोलन को प्रान्तीय सरकारें चलाती थीं। केन्द्रीय सरकार की सहायता मुख्यतः ऋणों तथा अनुदानों द्वारा प्रदान की जाती थी। आर्थिक सहायता सामान्यतया आधे आधे के आधार पर होती थी अर्थात् प्रान्तीय सरकारें अपने निजी साधनों में से केन्द्र के बराबर राशि खर्च करती थीं।

इस आन्दोलन में निम्न उपाय सम्मिलित थे—(१) नई और बेकार भूमियों को हल के नीचे लाकर दोहरी फसलों द्वारा और खाद्येतर फसलों की भूमि को खाद्य-फसलों में परिणत करके खाद्य-फसलों के क्षेत्र में वृद्धि की गई, (२) सिंचाई सुविधाओं का सुधार व प्रसार किया गया, विद्यमान सिंचाई वाली नहरों में सुधार किया गया और अतिरिक्त कुएँ खोदे गए, (३) खादों तथा रासायनिक खादों के उपयोग में वृद्धि की गई, और (४) उन्नत किस्म के बीजों की सप्लाई बढ़ाई गई।

परन्तु इस आन्दोलन का परिणाम निराशाजनक ही रहा। यहाँ तक कि खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि तो दूर रही, कपास और जूट के उत्पादन में कमी हो गई और, दूसरी ओर, खाद्य-परिस्थिति निरन्तर बिगड़ती गई। इस आन्दोलन की असफलता का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि इसकी न तो कोई योजना थी और न ही कोई लक्ष्य। समुचित संगठन तथा सहयोग के अभाव में खण्डित एवं एकाङ्गी उपायों द्वारा इसका संयोजन हुआ था। केवल विस्तृत रूप में आयोजित नीति ही सफल हो सकती थी। इसके अतिरिक्त जनता में कोई उत्साह न था, इसलिए, इसको सार्वजनिक सहयोग भी प्राप्त न हुआ।

(ख) खाद्य आत्म-निर्भरता आन्दोलन, १९४९ से १९५२ (The Food Self sufficiency Drive, 1949-1952)—प्रथम 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन की विफलता के कारण सितम्बर १९४७ में, सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास की अध्यक्षता में द्वितीय खाद्यान्न नीति समिति (Foodgrains Policy Committee) की नियुक्ति

लाख व्यक्तियों पर लागू हो गई। कमी पूरी करने के लिए खाद्यान्न का विदेशों से आयात किया गया और चूंकि उनकी यहाँ पहुँचते-पहुँचते कीमतें बहुत हो जाती थी इसलिए देश के भीतर उनका वितरण करने में उनको राजकीय सहायता देकर उनकी कीमतें कम की गईं जिससे केन्द्रीय खजाने पर बहुत भारी दबाव पड़ा। कानून पास किए गए जिनसे अन्न का जमा करना या उस पर मुनाफाखोरी करना कम हो जाय। देश के आन्तरिक उत्पादन का सर्वोत्तम फायदा उठाने के लिए देश भर को कमी (Deficit) और अतिरिक्त वृद्धि (Surplus) के खाद्य क्षेत्रों में बाँट दिया गया और देश के विभिन्न भागों मे, उपयुक्त गल्ला-वसूली (Procurement of food-grains) की विभिन्न प्रणालियाँ लागू की गईं। कुछ मे एकाधिकारी (monopoly) वसूल की गई और कुछ क्षेत्रों मे लेवी पद्धति (Levy system) लागू की गई, जिसके अनुसार उपज का एक निश्चित अंश सरकार के हाथ मे बेचना पड़ता था।

शुरू मे इन कन्ट्रोलों की दोषपूर्ण व्यवस्था तथा प्रशासनिक भ्रष्टाचार के कारण स्थिति और भी बिगड़ गई। भ्रष्टाचार भी बहुत फैल गया। यह महसूस होने लगा कि अक्षम कन्ट्रोल के कारण अतिरिक्त उत्पादन करने का उत्साह जाता रहेगा और सब तरफ संग्रह करने की मनोवृत्ति फैल रही है। इसलिए महात्मा गाधी की सलाह पर दिसम्बर १९४७ मे खाद्यान्न का कन्ट्रोल उठा लेने का प्रयोग किया गया जिसके नतीजे बड़े खतरनाक हुए। खाद्यान्न की कीमतें एकदम बढ गईं और कन्ट्रोल पुन. लगाने पड़े और उनको मजबूत किया गया। कभी-कभी जब सरकार के हाथ मे स्टाक बहुत कम हो गए तो प्रति व्यक्ति राशन कुछ महीनों के लिए केवल ९ औंस प्रति दिन करना पड़ा था। चूंकि चावल का प्रबन्ध करना अधिक कठिन था और उससे खर्च भी ज्यादा आता था, इसलिए चावल खाने वाली जनता की खाने की आदतें बदलने की कोशिश की गई। चावल का राशन सीमित करके बाकी राशन गेहूँ, ज्वार आदि में देकर पूरा किया गया।

इन कन्ट्रोलों के अलावा और भी कदम उठाए गए कि क्षयकारी उपभोग के द्वारा खाद्यान्न के नुकसान को रोका जाय इसलिए शादी-विवाह आदि के समय मेहमानों की सख्या पर कानूनी पाबन्दी लगा दी गई और होटलों में दिए जाने वाले खाने की मात्रा भी निश्चित कर दी गई। जहाँ-जहाँ सम्भव था, संग्रह में क्षय का बचाव करने के लिए, भण्डार-गृहों की सुविधाएँ भी दी गईं।

खाद्य-स्थिति में १९५२ के मध्य से सुधार होने से, मद्रास मे जून, १९५२ में खाद्य कन्ट्रोलों को धीरे-धीरे कम करने की प्रक्रिया आरम्भ की गई जो बाद में अनेक अन्य राज्यों में भी मान ली गई। अगले दो वर्षों में कन्ट्रोल और ढीले किए गए तथा हटाए गए, जिससे १० जुलाई, १९५४ को बाकी क्षेत्रों मे और चावल पर से कन्ट्रोल हटा लेने के बाद, अब खाद्यान्न पर किसी भी तरह का कोई कन्ट्रोल बाकी नहीं रहा।

(३) **कृषि का पुनस्संगठन** (Reorganisation of Agriculture)—खाद्य-समस्या के पहले दिनों में भारतीय कृषि में बुनियादी सुधार करने के लिए कभी कुछ करने का प्रयत्न न किया गया था। किन्तु पिछले कुछ वर्षों में, खास तौर पर पंचवर्षीय योजना आरम्भ होने के समय से अनेक दूर-गामी सुधार किए गए हैं। भूमि-सुधारों

में प्रगति, बहुधन्धी नयी योजनाएं और बहुत से छोटे सिचाई कार्य जिनमें नलकूप बनाने का कार्यक्रम भी शामिल है, जो दुनिया में सबसे बड़ा कार्यक्रम कहा जाता है, सामुदायिक परियोजनाएँ तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवा—इन सबके अनुकूल नतीजे दिखाई पडने लगे हैं। जैसे-जैसे इनकी गति बढेगी इनके लाभदायक असर और भी जाहिर होंगे।

प्रश्न २—'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन पर एक आलोचनात्मक नजर डालिए और इसकी सफलताएँ बताइए। (बम्बई १६५२)

Q. 2—Give a critical review of the 'Grow More Food' campaign and its achievements. (*Bombay* 1952)

'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन १६४८ में शुरू हुआ और इसका आरम्भ १६४३ की खाद्यान्न नीति समिति की सिफारिशों के आधार पर हुआ था। इसे मोटे तौर पर तीन क्रमों में बाँट सकते हैं—(क) अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन १६४३-४८, (ख) आत्म निर्भरता आन्दोलन १६४६-५२, (ग) अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन पचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत।

(क) अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन, १६४३-४८ (Grow More Food Campaign 1943 48)—इस आन्दोलन को प्रान्तीय सरकारें चलाती थीं। केन्द्रीय सरकार की सहायता मुख्यत ऋणों तथा अनुदानों द्वारा प्रदान की जाती थी। आर्थिक सहायता सामान्यतया आधे-आधे के आधार पर होती थी अर्थात् प्रान्तीय सरकारें अपने निजी साधनों में से केन्द्र के बराबर राशि खर्च करती थीं।

इस आन्दोलन में निम्न उपाय सम्मिलित थे—(१) नई और बेकार भूमियों को हल के नीचे लाकर दोहरी फसलों द्वारा और खाद्येतर फसलों की भूमि को खाद्य-फसलों में परिणत करके खाद्य फसलों के क्षेत्र में वृद्धि की गई, (२) सिंचाई सुविधाओं का सुधार व प्रसार किया गया विद्यमान सिंचाई वाली नहरों में सुधार किया गया और अतिरिक्त कुएँ खोदे गए, (३) खादों तथा रासायनिक खादों के उपयोग में वृद्धि की गई, और (४) उन्नत किस्म के बीजों की सप्लाई बढाई गई।

परन्तु इस आन्दोलन का परिणाम निराशाजनक ही रहा। यहाँ तक कि खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि तो दूर रही कपास और जूट के उत्पादन में कमी हो गई और, दूसरी ओर, खाद्य-परिस्थिति निरन्तर बिगडती गई। इस आन्दोलन की असफलता का सबसे महत्वपूर्ण कारण यह था कि इसकी न तो कोई योजना थी और न ही कोई लक्ष्य। समुचित सगठन तथा सहयोग के अभाव में खण्डित एव एकाकी उपायों द्वारा इसका सयोजन हुआ था। केवल विस्तृत रूप में आयोजित नीति ही सफल हो सकती थी। इसके अतिरिक्त जनता में कोई उत्साह न था, इसलिए इसको सार्वजनिक सहयोग भी प्राप्त न हुआ।

(ख) खाद्य आत्म-निर्भरता आन्दोलन, १६४६ से १६५२ (The Food Self sufficiency Drive, 1949-1952)—प्रथम 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन की विफलता के कारण सितम्बर १६४७ में, सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास की अध्यक्षता में द्वितीय खाद्यान्न नीति समिति (Foodgrains Policy Committee) की नियुक्ति

की गई। १६४६ में, सरकार ने, खाद्य के विशेषज्ञ, लार्ड बॉयड ओर (Lord Boyd Orr) को भी इस समस्या पर परामर्श देने के लिए निमन्त्रित किया। मुख्यतः, उनकी सिफ़ारिशों पर, खाद्य सम्बन्धी एक योजना बनाई गई। मार्च १६५२ तक, देश को विदेशी आयातों से मुक्त करने का निश्चय किया गया बशर्ते कि किसी राष्ट्रीय विपत्ति के कारण आयातों की आवश्यकता न पड़ जाय।

प्रथम आन्दोलन के अव्यवस्थित उपायों के स्थान पर नए 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन में उन विभिन्न मुख्य आधारों को, जिनसे उत्पादन में वृद्धि प्राप्त करनी थी, एक दूसरे के साथ भली प्रकार संयोजित किया गया। प्रत्येक राज्य में, वर्ष-प्रतिवर्ष अतिरिक्त खाद्य-उत्पादन के निश्चित लक्ष्यों को नियत किया गया। इस खाई को पाटने के लिए, विस्तृत कृषि-कार्य में अन्तर्निहित कठिनाइयों के कारण नए क्षेत्रों में विस्तृत कृषि-कार्य के बजाय गहन कृषि-कार्य' की विधियों पर ज्यादा भरोसा किया गया।

उत्पादन-वृद्धि की मुख्य गहन-विधियों को निम्न दो वर्गों में उपस्थित किया जा सकता है—(१) स्थायी सुधार, जैसे, छोटे सिंचाई-कार्य, भूमि-सुधार के कार्य, जिनका परिणाम कुछ वर्षों तक प्रति-एकड़ प्राप्ति में वृद्धि होता है; और (२) आवर्तक सुधार, जिन्हें वर्ष-प्रतिवर्ष जारी रखना होगा, और गहन करते रहना होगा, जिससे प्रति एकड़ प्राप्ति की प्रगतिशील वृद्धि में सफलता मिल सके। इनमें ये भी शामिल हैं—उन्नत बीजों का उत्पादन तथा वितरण, रासायनिक खादों तथा हरी खादों को प्रचलित करना तथा पौधों की रक्षा।

इस योजना को कार्यकारी बनाने के लिए प्रशासनात्मक संगठन भी समुचित रूप में स्थापित किया गया। तदनुसार, भारत सरकार ने एक खाद्य-उत्पादन कमिश्नर की भी नियुक्ति की, जिसे खाद्य-उत्पादन का प्रस्तुत आन्दोलन सौंपा गया। उसके मुकाबिले में, राज्यों में खाद्य-उत्पादन के सचालक नियुक्त किए गए और शीघ्र निर्णयों के लिए राज्य-मन्त्रिमण्डलों की उप-समितियाँ स्थापित की गईं। ग्रामों की दिशा में, प्रत्येक गाँव या २-३ ग्रामों की इकाइयों के लिए मुख्य किसानों की छोटी-छोटी खाद्य-समितियाँ बनाई गई। इसके ऊपर उत्तरोत्तर क्रम में प्रत्येक जिले में जिला खाद्य-उत्पादन मण्डल था, और उसके बाद प्रत्येक राज्य में राज्य खाद्य-उत्पादन मण्डल बनाया गया।

आत्मनिर्भरता आन्दोलन की प्रगति (Progress of the Self-Sufficiency Drive)—खाद्य-उत्पादन के सम्पूर्ण कार्यक्रम को युद्ध-आधार पर चलाया गया जिससे कि भारत सरकार के तात्कालिक खाद्य और कृषि मन्त्री, श्री के० एम० मुंशी के शब्दों में, 'विदेशी रोटी से स्वतन्त्रता' प्राप्त की जा सके। तदनुसार, सभी दिशाओं में गहन यत्न किये गए। लाखों एकड़ बेकार भूमि में ट्रैक्टर कृषि-कार्य द्वारा सुधार किया गया। उत्तर प्रदेश में गंगा खादर और नैनीताल तराई योजनाएँ और मध्य प्रदेश तथा पंजाब में इस प्रकार की भूमि-सुधार की कई योजनाएँ सफलतापूर्वक आरम्भ की गई। उड़ीसा में, बेकार भूमि-सुधार के लिए २५ रु० प्रति एकड़ देने की व्यवस्था की गई।

सिंचाई की दिशा में, कुएँ और तालाब बड़ी भारी संख्या में बनाए या मरम्मत

किये गए। उत्तर प्रदेश, बिहार तथा पंजाब में बड़ी भारी संख्या में राज्य की ओर से नलकूप भी लगाए गए। ग्राम और शहरी कूड़े-कचरे की अधिकाधिक खाद बनाई गई। कई राज्यों में राज्य सरकारों ने नगरपालिकाओं के लिए यह अनिवार्यता कर दी कि वे शहर की गंदगी की खाद बनाएँ और निकट के काश्तकारों को दें। उन्नत बीजों की खेती की गई और पहले की अपेक्षा कहीं बृहद स्तर पर उन्हें वितरित किया गया। रासायनिक खादों को किसानों में सहायक दरों पर बाँटा गया और सिन्दरी में रासायनिक खादों का कारखाना उत्पादन करने लगा। किसानों में उत्साह पैदा करने के लिए प्रत्येक राज्य में सफल प्रतियोगिता भी संगठित की गई। पौधों की रक्षा के विभिन्न उपायों को भी अपनाया गया, जैसे फसलों की कीड़ों तथा रोगों से रक्षा टिड्डी विरोधी उपाय, जंगली जानवरों से रक्षा तथा बन्दरों और गीदड़ों के नाश के लिए बंदूक क्लबें शुरू की गई और ग्रामीणों को बंदूकें आदि के लाइसेंस दिये गए।

आन्दोलन की सफलता का मूल्यांकन (Estimate of the Campaign)— प्रस्तुत आन्दोलन की कार्यकारिता पर सूचना देने के लिए कृष्णमाचारी समिति को नियुक्त किया गया। उसने अपनी सूचना (जुलाई १९५२ में प्रकाशित) में सम्मति प्रकट करते हुए कहा कि इससे जिन परिणामों की आशा की जानी थी उसमें यह पूर्ण सफल नहीं हुआ। जब कि १९४९-५० और १९५०-५१ के दो वर्षों के लिए अतिरिक्त उत्पादन का लक्ष्य ७२ लाख टन रखा गया था इस समिति के अनुसार, वास्तविक प्राप्ति केवल १४ लाख टन, अर्थात् लक्ष्य की केवल २०% प्रतिशत हुई। दुर्भाग्यवश इस अतिरिक्त उत्पादन से खाद्य-आयातों में न्यूनता नहीं हुई। देश में एक के बाद एक प्राकृतिक विपत्तियाँ आई, जैसे १९५० में आसाम में भूकम्प उत्तर प्रदेश बिहार, पंजाब और पश्चिमी बंगाल में बाढ़ें, तथा १९५१ में सौराष्ट्र, राजस्थान, पंजाब तथा मद्रास के भागों में वर्षा का घोर अभाव रहा। इनके कारण आन्दोलन के लाभों के मुकाबिले में तिगुनी से अधिक हानि हुई। इस प्रकार, देश को खाद्य आयातों से मुक्त करने का लक्ष्य अपूर्ण रह गया।

कृष्णमाचारी समिति के अनुसार इस आन्दोलन के असन्तोषजनक परिणाम का मुख्य कारण इसका संकुचित एवं निर्बंधित दायरा था। सफलता प्राप्ति के लिए यह अत्यावश्यक है कि कृषि को सब ओर से उन्नत किया जाय जिसका दूसरा अर्थ यह था कि ग्राम जीवन के स्तर में उन्नति हो। वस्तुतः आन्दोलन काल में राज्य कृषि-विभागों तथा अन्य विकास सम्बन्धी विभागों के बीच में सहयोग अपूर्ण था।

आन्दोलन के लिए रासायनिक खादों, अच्छे बीजों आदि की सप्लाई और वित्त देश में कृषिगत क्षेत्र के छोटे अनुपात भर के लिए ही पर्याप्त थे। यह सीमित सप्लाई अनुकूल भूमि-खण्डों में केन्द्रित होने की बजाय सम्पूर्ण देश में फैली हुई थी। इसका असर अच्छा न होना स्वाभाविक था।

न ही यह आन्दोलन ग्राम जीवन के स्तर को उन्नत करने के लिए जन-आन्दोलन बन सका, क्योंकि यह सार्वजनिक उत्साह उत्पन्न करने में असफल रहा।

फिर भी, जैसा कि कृष्णमाचारी समिति ने भी कहा है, यह आन्दोलन सर्वथा असफल तो नहीं रहा। बड़ी संख्या में स्थायी सुधार के कार्य हुए, जैसे छोटे स्तर के सिंचाई-

कार्य किये गये, कुएँ खोदे गए, भूमि-सुधार किया गया, आदि। ये सुधार, निश्चित रूप से, खाद्य-समस्या के लिए स्थायी सहायक सिद्ध होंगे। कपास और जूट के उत्पादन में अच्छी सफलता प्राप्त हुई, उनमे लगभग आत्मनिर्भरता प्राप्त हो गई। रासायनिक खादो और उन्नत बीजो का उपयोग लोकप्रिय बन गया है और उसके लाभ भी प्रत्यक्ष हैं। अन्तत "यद्यपि अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन का कार्य-क्षेत्र कुल कृषि-क्षेत्र का केवल छोटा अनुपात—२% से ४% था तो भी यह कहना सत्य है कि इससे पूर्व कभी भी ऐसे यत्न नही किए गए थे, जो इन वर्षों मे हुए। उनके प्रभाव स्वरूप भारत की खेतिहर आबादी के विस्तृत भाग में कृषि-उन्नति की सम्भावनाओं के ज्ञान का प्रसार हुआ, जैसा कि इससे पूर्व कभी नहीं हुआ था।"

(ग) (1) **प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन (Grow More Food Campaign under the First Five Year Plan)**—दिसम्बर १६५२ मे योजना का अन्तिम रूप प्रकाशित हुआ था। इसने कृष्णमाचारी समिति के निष्कर्षों तथा सिफारिशो पर विचार करके आन्दोलन की दिशा का पुन-निरूपण किया। सबसे ऊँची पूर्ववर्तिता देश में खाद्य-उत्पादन बढाने को दी गई। १६५५-५६ के अन्त तक ७६ लाख टन अधिक खाद्यान्न उत्पादन का लक्ष्य स्थिर किया गया जिससे देश जरा ऊँचे प्रति व्यक्ति उपभोग स्तर (१४ औंस प्रति दिन) पर आत्मनिर्भर हो जाय। कृषि-विकास के सबसे महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम थे—सामुदायिक विकास परियोजनाएँ (Community Projects) और राष्ट्रीय प्रसार सेवा खण्ड (National Extension Service Blocks), बड़े तथा छोटे सिंचाई-कार्य, भूमि-सुधार तथा भूमि को कृषि-योग्य बनाना और धान उगाने के जापानी तरीके का विस्तार। कृषि-वित्त तथा रासायनिक खाद के परिमाण बढाने का भी उपबन्ध किया गया।

सौभाग्यवश १६५२-५३ का फसली वर्ष ऋतु के मामले में सामान्य वर्ष रहा और १६५३-५४ का वर्ष और भी बेहतर रहा। अनुकूल मौसमी अवस्था तथा विकास-कार्यों का संयुक्त प्रभाव यह हुआ कि योजना के तीसरे वर्ष में ही खाद्यान्न उत्पादन का लक्ष्य पूरा होने से भी आगे बढ गया। १६५३-५४ में अतिरिक्त उत्पादन ६५ लाख टन था, जबकि १६५५-५६ का लक्ष्य केवल ७६ लाख टन था। १६५५-५६ में वास्तविक उत्पादन खाद्यान्न के क्षेत्र में ६४६ लाख टन रहा, १६५६-५७ में ६८७ लाख टन और १६५७-५८ में ६२० लाख टन था।

उपज में वृद्धि से आयातो को कम करना सम्भव हुआ। १६५०-५१ में ४७ लाख टन खाद्य आयात हुए थे जो १६५५ मे ७.७ लाख टन रह गए। इससे विदेशी विनिमय की बड़ी बचत हुई। १६५४-५५ में अन्न, दाल, और आटे के आयात केवल ७०.५ करोड़ रु० के हुए जबकि १६५३-५४, १६५२-५३ और १६५१-५२ में ये क्रमश. ७२.५ करोड, १२६.७ करोड और २३०.३ करोड रु० के थे। और ये खाद्यान्न के आयात भी, रिपोर्ट यह है कि, उपयोग और उत्पादन में किसी खाई को पाटने के लिए नहीं वरन् इसलिए लिये गए थे क्योंकि इनके आयात के लिए पहले से करार कर लिये गए थे जिन्हे पूरा करना जरूरी था। साथ ही भविष्य में किसी आपातकाल के लिए स्टाक भी रखने जरूरी थे।

(ii) अधिक अन्न उपजाओ कार्यक्रम, दूसरी पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत (Grow More Food Campaign under the Second Five-Year Plan)—हमारे वर्तमान उपभोग के अनुसार हमको १९६०-६१ म ७०५ लाख टन खाद्यान्न की आवश्यकता होगी। किन्तु द्वितीय योजना के समाप्त होते होते हम प्रति व्यक्ति प्रतिदिन १८ ३ औंस खाद्यान्न (१७ २ औंस के स्थान पर) देने की सोच रहे हैं। ऐसी दशा म १९६०-६१ म हमको ७५० लाख टन खाद्यान्न की आवश्यकता होगी। योजना के लक्ष्यों के अनुसार १०० लाख टन की वृद्धि की आशा है अर्थात ६५० लाख टन से ७५० लाख टन अर्थात् १५% की वृद्धि। बाद मे १९६०-६१ के लिए खाद्यान्न का लक्ष्य ८०५ लाख टन निश्चित किया गया। यह भी आशा है कि कुछ मोटे अनाज जैसे ज्वार, बाजरा आदि का उत्पादन कम करके ऊँची किस्म के अनाज जैसे गहूँ, दाल आदि का उत्पादन और अन्न के स्थान पर पोषक अर्थात् रक्षात्मक खाद्यो का उत्पादन बढाया जाएगा। तदनुसार, दूध, घी, मास मछली अण्डे सब्जियां आदि अन्य खाद्यो के उत्पादन मे खाद्यान्न उत्पादन की १५% वृद्धि के स्थान पर २५% वृद्धि का लक्ष्य रखा गया है। बताया गया है कि तृतीय पचवर्षीय योजना म खाद्य उत्पादन के बढाने पर १,२०० करोड रु० व्यय किये जायेंगे। इससे शायद हम ११०० लाख टन खाद्यान्न उत्पन्न कर सकेंगे। इस प्रकार १९६६ तक हम अपनी आवश्यकताओ से २० लाख टन अधिक अन्न उत्पन्न कर सकेंगे।

वर्तमान खाद्य स्थिति (Recent Food Situation)—देश की खाद्य-समस्या अब भी उग्र है। सत्य यह है कि भारतीय अर्थ-व्यवस्था म खाद्य-समस्या अत्यन्त अविश्वसनीय एव शोचनीय बिन्दु है। इस शोचनीय अवस्था का आभास इन तथ्यो से भी होता है कि जहाँ १९५५-५६ म हमने केवल २१ करोड रु० के खाद्यान्न आयात किये थे, १९५१-५२ मे हमने २२४ करोड रु० का खाद्यान्न आयात किया था। देश के सामने गम्भीर खाद्य-समस्या है।

ऐसी स्थिति क्यों? (What is the Explanation?)—१९५७-५८ म केन्द्रीय खाद्य और कृषि विभाग के खाद्य मन्त्रालय ने लिखा था कि १९५७ म देश की खाद्य-स्थिति गम्भीर रही। इसमे सन्देह नही कि १९५६-५७ मे उत्पादन पिछले वर्षों की अपेक्षा अधिक हुआ था। परन्तु खाद्य की आवश्यकता उत्पादन से बढी हुई रही। उत्पादन और उपभोग के बीच की खाई चौडी हो रही है। १९५८ म ७ ६ लाख टन खाद्यान्न का स्टाक देश मे था। यह स्टाक १९५७ के प्रारम्भ के स्टाक से अधिक था। किन्तु १९५७-५८ मे बाढो के कारण फसलें खराब हो गई और सरकारी स्टाक पर अत्यधिक दबाव आ पडा। १९५७ ५८ म १९५६-५७ की अपेक्षा ५% खाद्यान्न कम उत्पन्न हुआ। सत्य यह है कि खाद्यान्न के उत्पादन की दृष्टि से १९५८, पिछले दस वर्षों मे सबसे बुरा वर्ष रहा। हमारी कतिपय योजनाओ के अपूर्ण रह जाने के कारण भी यह कमी रही। कुछ अन्य कारण ये थे—राज्यो का पुनर्गठन, खादो का पर्याप्त मात्रा में अभाव और सिंचाई योजनाओ की पूर्ति मे विलम्ब आदि। कीमतो के ऊँचा चढने से स्थिति और भी खराब हो गई। २० जून, १९५८ को केन्द्रीय खाद्य मन्त्री ने नैनीताल मे कहा था कि खाद्यान्न की कमी कुछ तो वास्तविक है किन्तु

वास्तव मे अन्न को दवाकर रख लेने और सट्टेबाजी ने यह कमी उत्पन्न की है। पिछले वर्ष (१९५७) की अपेक्षा १९५८ में कम अन्न बाजार मे बिक्री के लिए आया। किन्तु मन्त्री महोदय ने विश्वास दिलाया कि भारत सरकार के पास पर्याप्त स्टाक है, और वे कैसी भी स्थिति का सामना करने को तैयार हैं। १ जून, १९५८ को सरकार के पास स्टाक मे १६.७२ लाख टन गल्ला था। उन्होने कहा कि इस स्टाक के सहारे तथा निकट भविष्य में आने वाले आयातो के सहारे वे सट्टेबाजो और दबा कर अन्न रखने वालो के प्रयत्नो को विफल कर सकेंगे। किन्तु इन आश्वासनो के बावजूद हमारी खाद्य-स्थिति भयकर होती रही है।

क्या प्रयत्न किये गये ? (What measures were adopted to meet the situation ?)—केन्द्रीय सरकार ने (१) आवश्यक पदार्थ अधिनियम (Essential Commodities Act) के उपखण्ड ३ क के अधीन मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और राजस्थान को गेहूँ के विषय में और उत्तर प्रदेश तथा बिहार को चावल के विषय में आदेश दिये। इन आदेशों का अभिप्राय यह था कि गेहूँ और चावल को दबा कर सग्रह न किया जाए। इस उपबन्ध के अनुसार सरकार पिछले तीन महीने की औसत कीमत पर अन्न के भण्डार को जब्त कर सकती है।

(२) १० सितम्बर, १९५८ को रिजर्व बैंक आफ इण्डिया (Reserve Bank of India) ने देश के सब अनुसूचित बैंको को आदेश दिया कि वे पिछले वर्ष की अपेक्षा गेहूँ के विरुद्ध ⅔ पूँजी तथा अन्य खाद्यान्नो के विरुद्ध ८०% पूँजी की साख दे। ये नियन्त्रण, जो अक्तूबर १९५८ से प्रभावी हुए, इसलिये लगाये गये थे कि खाद्यान्न की बढ़ती हुई कीमतें रुकें।

(३) खाद्यान्नो के इधर से उधर ले जाने पर भी नियन्त्रण लगाने के उद्देश्य से खाद्य क्षेत्रों की रचना को और कठोर बना दिया गया। यह इसलिये आवश्यक था कि किसी क्षेत्र से अधिक अन्न बाहर न निकल जाय और फलस्वरूप अत्यधिक कमी की स्थिति उत्पन्न न हो जाये। प्राइवेट व्यापारियो को अधिक अन्न सग्रह करने की आज्ञा नही थी।

(४) उपर्युक्त उपायों के अतिरिक्त देश में आन्तरिक उत्पादन बढ़ाने के गम्भीर प्रयत्न किये गये। स्वयं प्रधान मन्त्री ने राज्यों से प्रार्थना की कि वे रबी अभियान को सफल बनावें। उनकी अपील पर सारी जमीनो पर फसलें बोई गई और कोई टुकडा खाली नही छोडा गया। किसानो को बीज और खादो की मुक्त सहायता दी गई। राज्यो को आदेश है कि वे रबी अभियान की सफलताओं से केन्द्रीय सरकार को अवगत कराते रहें। राज्यों के मुख्य मन्त्री इस दिशा मे पूरी सावधानी से प्रयत्न कर रहे हैं।

(५) *बड़ी मात्रा मे खाद्यान्नों के आयात की भी व्यवस्था की जा रही है।* २८ अगस्त, १९५८ को केन्द्रीय खाद्य मन्त्री ने लोकसभा को बताया था कि इस वर्ष देश मे प्राय. १०६ करोड रुपये के खाद्यान्न के आयात के लिये व्यवस्था पूरी हो चुकी है। पूरे वर्ष (१९५८) मे २७.८४ लाख टन खाद्यान्न का आयात हुआ। सितम्बर १९५८ में सयुक्त राज्य अमरीका के साथ एक समझौता हुआ जिसमें अमरीका से

लता और न्यूनता के बीच में एक संघात-सह यंत्र (Buffer) का काम करेंगे। वे दो उद्देश्य पूरे करेंगे, एक तो कृषि-कीमतों को स्थिर रखना; दूसरे, उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा करना।

जून १९५४ में अनार्थिक कीमतों के डर से यह सुझाव दिया गया कि कीमतें स्थिर रखने के लिए भारत सरकार आपातकालीन या संघात-सह स्टाक (buffer stock) रखने की नीति स्वीकार करे। यह कहा गया कि इस कदम से एक फायदा यह भी होगा कि खाद्य मंत्रालय की वर्तमान मशीनरी, जो खाद्य में आत्मनिर्भरता प्राप्त कर लेने के बाद बेकार हो गई थी, बनी रहेगी और उसका लगातार उपयोग होता रहेगा। पर, कीमतें जून के बाद बढ़ना शुरू हो गईं। लेकिन मई १९५५ में फिर पहले जैसी और भी खराब अवस्था उत्पन्न हो गई। खाद्य वस्तुओं की थोक कीमतों का सूचक (अगस्त १९३९=१००) जो जून १९५४ में ३४३ २ से बढ़कर सितम्बर १९५४ में ३६३ ६ हो गया था, उसके बाद बराबर गिरता गया और ७ जुलाई १९५५ को २७२ ४ रह गया। खास तौर पर गेहूँ और मोटे अनाज की कीमतें अधिक गिर गई। ३० अप्रैल, १९५५ को गेहूँ की कीमत ६॥) मन चंदौसी में और ८) मन सागर में थी। उसी दिन अमरावती में ज्वार की कीमत ४॥।) मन, चंदौसी में बाजरे की कीमत ६॥) मन, बहराइच में मक्का की कीमत ६॥। =) मन और अबोहर में चने की कीमत ५। =)॥ मन थी। अन्न की कीमतें उठाने के लिए सरकार ने अपनी संघात-सह स्टाक योजना कार्यान्वित की। मोटे अनाज के मामले में सरकार ने यह अनाज विशिष्ट मण्डी की निम्नतम कीमतों पर खरीदना शुरू किया। गेहूँ के मामले में, उसकी कीमत जब १०) मन से नीचे गिरी तो उसने १०) मन पर गेहूँ खरीदा। इससे कीमतें स्थिर हुईं। जून १९५५ से कीमतें फिर उठनी शुरू हो गई हैं। इस प्रकार संघात-सह स्टाक योजना से अन्न की कीमतें अनार्थिक स्तर तक गिर जाने से जरूर बची रही।

कठिनाइयाँ—किंतु इस योजना की क्रियान्विति में अनेक कठिनाइयाँ भी हैं। पहले तो हमारे कृषक छोटे-छोटे उत्पादक हैं, जो बिखरे हुए हैं। यह स्थिति बीच के दलालों या बिचौलियों के लिये अच्छी है। लाखों-करोड़ों छोटे-छोटे खेतिहर-उत्पादकों के देश में संघात-सह स्टाक विभाग मुख्य खरीदार की हैसियत से वास्तविक उत्पादक के पास तक नहीं पहुँच सकता इसलिए एक बिचौलियों की शृङ्खला बन जाती है। इससे तभी बचा सकता है, जब इस विभाग के पास देश भर में कार्यकर्त्ताओं का व्यापक जाल हो।

फिर क्या सरकार के पास काफी संख्या में भण्डार हैं? नहीं। तब दोषपूर्ण संग्रह से काफी नुकसान होना लाज़मी है।

तीसरे, इसके लिए बहुत बड़े वित्त की जरूरत है। क्या सरकार के पास आवश्यक धन है? यह धन दीर्घकाल के लिए इसमें फँस सकता है और काफी टोटा उठाना पड़ सकता है। केन्द्रीय सरकार द्वारा दी गई खाद्य सहायताओं के अनुभव से लगता है कि सरकार यह बोझा नहीं सँभाल सकती।

किंतु इसकी उपयोगिता के बारे में कोई संदेह नहीं है। खाद्य कीमतें सामान्य कीमत स्तर की धुरी हैं। कम खाद्य कीमतें अन्य कीमतों को भी अवश्य गिरा देंगी

ग्रौर इससे ग्रौद्योगिक श्रम तथा मध्यम वर्गों की वास्तविक मजूरी बढ जायेगी, जिन्हे युद्ध-काल मे भी ग्रौर युद्धोत्तर काल म भी ऊँची कीमतो के कारण ग्रपार कष्ट सहन करने पडे है। ज्योही श्रमिक वर्ग की वास्तविक मजदूरी बढेगी, उसकी कार्यक्षमता भी बढेगी। ग्रत सब मिलाकर देश का लाभ होगा। इसलिए इस सम्पूर्ण समस्या पर इस दृष्टिकोण से विचार करना चाहिए।

१९५५ का ग्रनुभव उत्साहवर्द्धक है। किंतु ग्रभी यह देखना शेष है कि क्या हम ग्रतिरिक्त खाद्यान्न को जो १९५५ के स्टाक से ग्रवश्य ही ग्रधिक होगा, सघात-सह स्टाक (buffer stock) के रूप मे खरीद सकेगे।

अध्याय १४

राज्य और कृषि विकास

(State in Relation to Agriculture)

प्रश्न १—भारतीय कृषि के पिछड़ेपन के कारणों का वर्णन कीजिए।

Q. 1—Account for the backwardness of Indian agriculture.

भारत के आर्थिक जीवन में यह बड़ी विचित्र बात है कि यहाँ के लोगों की बहुसंख्या कोई धन्धा इसलिए नहीं करती कि वह लाभदायक है वरन् इसलिए कि अन्य कोई चारा नहीं। अब हमें अपनी कृषि के वर्तमान पिछड़ेपन के विभिन्न कारणों पर विचार करना चाहिए।

यह विचार खेतिहर से प्रारम्भ किया जाए। वह प्राय: अशिक्षित, अज्ञानी और रूढ़िवादी है। इसके अतिरिक्त वह गरीब है, ग्रामों की स्वच्छता की व्यवस्था ठीक नहीं और दवाई आदि की सुविधाएँ भी नहीं। इसलिए वह आसानी से महामारियों और अन्य रोगों का शिकार हो जाता है। परिणाम यह है कि उसका शरीर दुर्बल, स्वास्थ्य खराब और कार्यक्षमता कम है। उसके अनेक सामाजिक कुप्रथाओं और कुरीतियों में जकड़े होने के कारण स्थिति और भी बिगड़ गई है। इस कारण उसमें उद्यम और नया काम आरम्भ करने की शक्ति का अभाव है। जब भारतीय कृषक की यह दुर्दशा है तो भारतीय कृषि का पिछड़ापन कोई आश्चर्य की बात नहीं।

इसके पश्चात् हम भूमि-विषयक स्थिति का अध्ययन कर सकते हैं, जो कि कृषि का आधारभूत अंग है। भूमि पर अत्यधिक दबाव के कारण औसत भूमि-खण्ड बहुत छोटा है। यही नहीं, उसके खेत बिखरे हुए भी हैं। इतने छोटे और बिखरे हुए खण्डों पर कृषि निश्चित रूप से घाटे का काम होगा। इतनी ही गम्भीर त्रुटि यह है कि देश की कुल कृषि-योग्य भूमि के ३/४ भाग में सिंचाई की सुविधाओं का अभाव है।

इसके अतिरिक्त, भूमि की उपजाऊ शक्ति में बार-बार फसल उगाने से जो कमी आ जाती है, उसको पूरा करने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। खादों का प्रयोग बहुत कम होता है। गोबर, जो एक बहुत बढ़िया खाद है, ईंधन के तौर पर उपयोग में लाया जाता है। फिर भूमि-क्षय के कारण प्रति वर्ष विस्तृत भू-खण्ड बेकार होते जाते हैं।

पूँजी की ओर ध्यान करें तो हम देखते हैं कि यान्त्रिक कृषि के इस युग में भारतीय किसान अपने पुराने औजारों से ही काम ले रहा है। उदाहरण के लिए देसी हल जमीन को कठिनाई से कुरेद पाता है। पशु भी दुर्बल हैं तथा कृषि के ढंग बहुत पुराने हैं। आर्थिक ऋण की सुविधाओं का अभाव है। वास्तव में वह सदा ऋण का बोझ उठाए रहता है जो कृषि-क्षमता में बाधक होता है।

संगठन के क्षेत्र में हमें गम्भीर आधारभूत त्रुटि दिखाई देती है। कारण होने

वाली भूमि का तीन-चौथाई भाग काश्तकारी कृषि-व्यवस्था के अधीन है। इसका कृषि-क्षमता पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। कृषि-उत्पादन की बिक्री में भी अनेक त्रुटियाँ हैं, जिनके कारण काश्तकार को उस मूल्य के एक बड़े भाग से हाथ धोने पड़ते हैं, जो अन्तिम उपभोक्ता वस्तुओं के बदले में अदा करता है।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि भारत में कृषि अनेक त्रुटियों और विरोधी परिस्थितियों का शिकार है। जब तक यह जारी रहेगी या इनका प्रभाव रहेगा, तब तक कृषि घाटे का ही सौदा रहेगा।

प्रश्न २—भारत में कृषि के प्रति राज्य की नीति का संक्षेप में सर्वेक्षण कीजिये।

Q 2—Briefly survey and examine the policy of the State in India towards agriculture.

कृषि भारत का प्रमुख राष्ट्रीय उद्योग है। इससे कुल जनसंख्या के ७० प्रतिशत को काम मिलता है। अतः राष्ट्र की समृद्धि बहुत कुछ कृषि की समृद्धि पर निर्भर है।

बहुत समय तक भारत में सरकार की नीति कृषि की ओर पूर्ण उदासीनता की रही है। गत शताब्दी के छठे दशक में कृषि की उन्नति के लिए कुछ पग उठाए जाने लगे। १८८०, १८६८ और १६०१ के दुर्भिक्ष आयोगों तथा १६०३ के सिंचाई आयोग ने अपनी रिपोर्टों में कृषि के विकास के लिए बहुत से रचनात्मक सुझाव रखे थे। उनके अनुसार सरकार ने अपनी उदासीनता और निष्क्रियता की नीति को बदल-कर अधिक सक्रिय दृष्टिकोण अपनाया। १६०४ में सहकारी सभा अधिनियम का पास होना, १६०४ में केन्द्रीय एवं प्रान्तीय कृषि विभागों की स्थापना तथा १६०६ में अखिल भारतीय कृषि सेवा का विधान बनना, ये सभी राज्य की नीति में परिवर्तन के द्योतक हैं।

१६१६ में, कृषि प्रान्तीय "हस्तान्तरित" विषय बन गया और इसकी ओर पहले की अपेक्षा अधिक ध्यान दिया जाने लगा। परन्तु वित्तीय व्यवस्था सीमित होने के कारण बहुत कुछ न हो सका और वित्त 'रक्षित विषय' था। १६३७ में जब प्रान्तीय स्वायत्त शासन का प्रादुर्भाव हुआ तो प्रान्तीय मन्त्रिमण्डलों ने कृषि में अधिक दिल-चस्पी ली परन्तु यह दिलचस्पी प्रायः काश्तकारी व्यवस्था के सुधार और ऋणियों की रक्षा तक ही सीमित रही।

भारतीय कृषि की गम्भीर त्रुटियाँ द्वितीय महायुद्ध के दौरान में सामने आईं। अनुभव किया गया कि देश में पर्याप्त खाद्यान्न भी पैदा नहीं होते। १६४३ में अधिक-अन्न-उपजाओ आन्दोलन चलाया गया परन्तु इसके परिणाम निराशाजनक थे। १६४७ में देश के विभाजन से भारत में कृषि को बड़ा धक्का पहुँचा क्योंकि पश्चिमी पंजाब और सिन्ध की वह नहरी आबादियाँ, जिनमें खाद्यान्न और रूई की बहुत उपज होती थी, छिन गईं। तब १६४६ में एक सर्वतोमुखी खाद्य आत्मनिर्भरता आन्दोलन इस दृष्टि से शुरू किया गया कि देश में इतना अधिक अन्न पैदा किया जाय जिससे मार्च १६५२ तक विदेश से खाद्य की आयात बन्द की जा सके। इस सिलसिले में, अन्य प्रयासों के अतिरिक्त, केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों को पर्याप्त सहायता, धन और ऋण देती

रही। राज्य सरकारों ने आगे यह धन कृषकों को सहायता और पेशगी के रूप में दिया है ताकि कृषि का विकास हो।

राज्य की नीति का नवीनतम रूप सरकार की पंचवर्षीय योजना में, जो जुलाई १९५१ में प्रकाशित हुई, प्रकट हुआ। इसमे कृषि और सिंचाई को सब पर प्राथमिकता दी गई है। भूमि-सुधार नीति बनाई गई तथा उसे लागू किया जा रहा है। इसके साथ ही साथ ग्रामों के विकास के लिए सामुदायिक विकास परियोजनाओं का एक जाल बिछा दिया गया है। चावल की काश्त का जापानी तरीका भी चालू किया जा रहा है। द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना में, यद्यपि उद्योगों के विकास को अत्यधिक प्राथमिकता दी गई है, तो भी भारत सरकार कृषि के विकास की ओर निरन्तर क्रियाशील है।

कृषि के प्रति राज्य की नीति के इस सामान्य पर्यवेक्षण के पश्चात् अब हम उन प्रक्रियाओं का उल्लेख कर सकते हैं जो सरकार ने कृषि की सहायता के लिए अपनाई हैं। वे निम्नलिखित हैं—

(i) *सिंचाई*—भारतीय कृषि की उन्नति के लिए सरकार ने जो सबसे बडा काम किया है, वह सम्भवत सिंचाई की सुविधाएँ देना, विशेषकर नहरें बनाना है। पजाब, उत्तर प्रदेश और मद्रास में नहरों की जो शानदार व्यवस्था हुई है, उससे इन क्षेत्रों मे कृषि-विकास को बहुत सहायता मिली है। दक्षिण मे बहुत से तालाब भी बनवाए गए हैं और अब कुछ समय से उत्तरी भारत मे नल-कूप बडी सख्या में खोदे जा रहे हैं।

(ii) कृषकों के स्वास्थ्य की रक्षा और सुधार के लिए चिकित्सा और सार्वजनिक स्वास्थ्य विभाग खोल दिए गए हैं। शिक्षा विभागों ने ग्रामों में शिक्षा का प्रसार करके ग्रामीण कृषक लोगों के दृष्टिकोण को सुधारने में बडी सहायता दी है।

(iii) राज्यों के कृषि विभाग कृषि के तरीकों को उन्नत करने मे बडा उपयोगी काम कर रहे हैं। इस उद्देश्य से वे कृषि-सम्बन्धी शिक्षा देते हैं। बीज, खाद, औजार और कीडो आदि के बारे मे कृषि-सम्बन्धी अनुसधान की व्यवस्था करते हैं और प्रचार तथा बीज व औजारों के वितरण आदि द्वारा इन अनुसधानों के परिणामों को सर्व-साधारण तक पहुचाते हैं।

(iv) ऋण विधान तथा सहकारी आन्दोलन—कृषि को राज्य की एक और बडी देन है गरीब ऋणी किसान की साहूकार की लूट से रक्षा। इस सिलसिले में सभी राज्यों के अन्दर विस्तृत ऋण विधान पास हुए हैं। ग्रामीण वित्त की समस्या को और भी सहज करने के लिए सरकार ने भारत में सहकारी आन्दोलन चालू किया है। सरकार इसका नियन्त्रण और देख-भाल भी करती है।

(v) काश्तकारी विधान (Tenancy Legislation)—खेतिहर (काश्तकार) कृषि-व्यवस्था से कृषि-कार्य की कुशलता कम हो जाती है, विशेषकर उस अवस्था में जबकि जमींदार निर्बाध रूप से खेतिहरों का शोषण कर सके। गत वर्षों में खेतिहरों की सुरक्षा के लिए भी बहुत से राज्यों में विस्तृत स्तर पर काश्तकारी विधान पास हुए हैं। इसके साथ-साथ जोतों के आकार पर भी अधिकतम सीमा निर्धारित की जा रही है। इससे भूमि का न्यायपूर्ण और समान वितरण सम्भव होगा।

(vi) कृषि सम्बन्धी बिक्री सगठन (Agricultural Marketing Organisation)—कृषक को अधिक कीमत प्राप्त करने म सहायता करने के लिए सरकार ने केंद्र म भी और राज्यो म भी बिक्री सगठन बना रखे ह। विधान द्वारा व्यवस्थित बाजार बडी सख्या मे स्थापित कर दिए गए हैं जिनके अन्दर वह हथकड और धोखे नही होत जो पहले मडियों म हुआ करत थे। रेलो और सडको के विस्तार ने केवल ग्रामीण के दृष्टिकोण को ही नही बदला वरन् कृषि वस्तुओ की बिक्री म भी सुधार किया है। ग्रामो के अन्दर सरकार ने सहकारी बिक्री सभाएँ स्थापित करने मे सहायता दी है।

(vii) पशु रोगा की रोक-थाम तथा उपचार के लिए राज्या के अन्दर पशु विभागों की स्थापना हो चुकी है। वे पशुओ की नस्ल के सुधार मे भी सहायता देते हैं और इस सिलसिले म उपयोगी अनुसधान करते हैं। हाल ही में देश क कुछ चुन हुए केन्द्रा म पशु नस्ल सुधार के लिय आदश ग्राम (पशु) योजना (Key village scheme) चलाई गई है।

(viii) ग्रामीण क्षेत्रों का विकास (Rural Reconstruction)—कृषि की विशेष समस्याओ से सम्बन्धित कार्यो और विभागो के अतिरिक्त सरकार ग्राम-जीवन को समूचे तौर पर उन्नत करने के लिए भी ग्राम विकास विभागो द्वारा प्रयत्न कर रही है। इन विभागा का उद्देश्य वडा विस्तृत रहा है अर्थात ग्राम-जीवन के भौतिक, मानसिक एव नैतिक स्तर को ऊँचा करना। अक्तूबर १९५२ से ग्रामीण क्षेत्रा के विकास के कार्य को सामुदायिक विकास परियोजना तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्ड के अधीन लाया गया है।

अध्याय १५

विशाल उद्योग

(Large-Scale Industries)

उद्योगीकरण की आवश्यकता और लाभ (Need and Benefits of Industrialisation)—भारतीय आर्थिक जीवन की सबसे गम्भीर त्रुटि यह है कि यहाँ जनसख्या का कृषि पर अत्यधिक आश्रय है। उद्योगों का विकास नहीं हुआ है। परिणाम यह है कि भारतीय अर्थ-व्यवस्था में सन्तुलन और स्थायित्व का अभाव है। इससे पूर्व कि हम देश के उद्योगीकरण के साथ जुड़ी हुई विभिन्न समस्याओं पर विचार करें, हम सबसे पहले महत्वपूर्ण विशाल उद्योगों की वर्तमान स्थिति का अध्ययन करेंगे।

सूती वस्त्र उद्योग (Cotton Mill Industry)—यह भारत का मुख्य राष्ट्रीय उद्योग है। यह भारत के सब उद्योगों में इस दृष्टि से प्रधान है कि इसमें सब से अधिक पूंजी (लगभग १२० करोड़ रु०) लगी हुई है और इसमें लगभग ६ लाख श्रमिक काम पर लगे हैं।

इतिहास—सबसे पहले कलकत्ता मे सूती वस्त्र का कारखाना १८१८ में स्थापित हुआ था। जो भी हो, १८५४ में इस उद्योग की वास्तविक शुरूआत बम्बई में पहली मिल की स्थापना के साथ हुई थी। तदुपरान्त यह देश के आन्तरिक भाग में भी फैल गया, किन्तु आज भी बम्बई इस उद्योग का सर्वाधिक महत्वपूर्ण एकाकी केन्द्र है। वर्तमान सदी के प्रारम्भ में स्वदेशी आन्दोलन के काल में इसकी बहुत वृद्धि हुई। युद्ध ने इसे सर्वश्रेष्ठ अवसर प्रदान किया और इस उद्योग ने भी उसका पर्याप्त लाभ उठाया। तिस पर भी, युद्ध के उपरान्त इसकी अवस्था शोचनीय बन गई और इसका भी मुख्य एवं विशेष कारण जापानी प्रतियोगिता था। १६२७ में इसे संरक्षण प्रदान किया गया, जिससे यह उद्योग अधिक वेग के साथ उन्नति करने लगा। द्वितीय विश्व-युद्ध छिड़ा तो उस समय कपड़े की आन्तरिक माँग का केवल १० प्रतिशत ही आयात द्वारा पूर्ण किया जाता था। युद्धकालीन समृद्धि प्राप्त करने के लिए भारी कीमत चुकानी पड़ी। मशीनों से जरूरत से ज्यादा काम लिया गया और इससे उनको बदलने की भारी जरूरत हो गई है। इसके विपरीत, इस उद्योग के वित्तीय साधन भी अत्यल्प हैं। कुल १०० करोड़ रु० की आवश्यकता के मुकाबले में बम्बई की मिलों में ४५ करोड़ रुपया लगा हुआ था। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के शीघ्र बाद श्रम-सम्बन्धी अशान्ति के कारण भी इस उद्योग को क्षति हुई। फलस्वरूप निरन्तर हड़तालें होती रहीं। इस उद्योग की अन्य दो भीषण दुर्बलताएँ, अर्थात् श्रम-सम्बन्धी अकुशलता तथा प्रबन्ध-विषयक अयोग्यता अब भी जारी हैं। अनुसन्धान की ओर भी इस उद्योग ने जरूरी ध्यान नहीं दिया।

विभाजन और वस्त्र-नियन्त्रण के फलस्वरूप इस उद्योग का अधिक ह्रास हुआ। भारतीय रुपये के अवमूल्यन के फलस्वरूप सितम्बर १९४९ से फरवरी १९५१ तक के भारत-पाक व्यापार मे गतिरोध के कारण कपास पूर्ति सम्बन्धी स्थिति और भी जटिल हो गई और अनेक मिलो को बन्द करना पडा। इसके अतिरिक्त, वस्त्र नियन्त्रण के कारण मिलो को अधिक उत्पादन का प्रलोभन नही रह गया था। किन्तु शीघ्र ही स्थिति में सुधार में हुआ और सूती वस्त्र का उत्पादन बढा। १९५६ मे ५३ ०७० लाख गज कपडा तथा १६,७१० लाख पौंड सूत का उत्पादन हुआ। इस तरह १९५५-५६ में योजना लक्ष्य अर्थात् ४७,००० लाख गज कपडे तथा १६,४०० लाख पौंड सूत से भी अधिक उत्पादन हुआ। १९५६-५७ में हेंडलूम के कपडे का उत्पादन १५,०६० लाख गज हुआ। १९५८ में ४९,२७० लाख गज सूती वस्त्र तैयार हुआ, जबकि १९५७ में ५३,१७० लाख गज वस्त्र का उत्पादन किया गया था।

प्रस्तुत वृद्धिपूर्ण आन्तरिक उत्पादन की इस प्रगति मे निम्न तीन मुख्य कारण हैं—

(क) कच्ची कपास की अधिक उपलब्धि और सुविधाजनक आयात।

(ख) वस्त्र-नियन्त्रण का उन्मूलन।

(ग) १९५३ मे जनवरी से अक्तूबर तक निर्यात तथा उत्पादन-शुल्क मे कमी तथा निर्यात के लिए बनाए गए कपडे में काम आने वाली आयात की गई रूई पर छूट। १ मार्च १९५५ से १७ न० तथा बढिया किस्म के सूत पर निर्यात शुल्क बिलकुल हटा दिया गया और १७ न० से कम पर मूल्य के अनुसार १०% से घटाकर ९% कर दिया गया।

हाल ही के वर्षों में, भारत सूती कपडे का बडा भारी निर्यातक बन गया है। १९५०-५१ में, भारत ने १३६·७ करोड रु० की कीमत के १२,६९० लाख गज कपडे का निर्यात किया था। जापान के प्रतिस्पर्द्धी रूप में पुनरुदय से उसके निर्यात मे न्यूनता आ गई। १९५३ मे भारत तीसरे नम्बर का निर्यातक था और कुल निर्यात ६,७८० लाख गज हुआ। १९५७ में ६५ करोड रु० की लागत का कपडा निर्यात हुआ। निर्यात उन्नति सगठन को स्थापना हुई है और निर्यात का वार्षिक लक्ष्य १०,००० लाख गज रखा गया है।

अभ्यास—भारतीय सूती कपडा उद्योग की मौजूदा स्थिति पर विचार कीजिए।

(आगरा बी० ए०—भाग *II*, १९५०, हैदराबाद १९५४)

Ex —D scuss the present position of the Indian Textile Industry. *(Agra B A. Part II 1950 , Hyderabad 1954)*

जूट वस्त्र उद्योग (Jute Textile Industry)—भारत में दूसरा वस्त्र उद्योग जूट-उद्योग है। इसमें ८० करोड रु० की पूंजी लगी है और ३ लाख व्यक्ति काम पर लगे हुए हैं। भारत में सूती वस्त्र उद्योग के बाद जूट वस्त्र उद्योग सबसे बडा उद्योग है। जबकि अन्य उद्योग मुख्यत. आन्तरिक बाजार के लिए उत्पादन करते हैं, यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण निर्यात उद्योग है और यह विशाल एव बहुमूल्य विदेशी विनिमय का उपार्जन करता है। जूट उद्योग से हमको डालर मिलते हैं। यह उद्योग अपने अनुकूल पक्षो के बल पर बिना सरक्षण के विकसित हुआ है।

विभाजन ने इस उद्योग को भारी धक्का पहुँचाया। क्योंकि अधिकांश कच्ची जूट पूर्वी बंगाल से आती थी और सब कारखाने चूंकि पश्चिमी बंगाल में थे, इसलिए कच्ची जूट की पूर्ति की स्थिति अत्यधिक शोचनीय हो गई। यह स्थिति सितम्बर १६४६ से फरवरी १६५१ तक के भारत-पाक व्यापार गतिरोध के दिनों (पाकिस्तान के रुपए का अवमूल्यन न होने के कारण) में विशेष रूप से चिन्ताजनक हो गई थी। इस समय देश को जूट के सम्बन्ध में आत्म-निर्भर करने और इस उद्योग को पाकिस्तान की आयातों से मुक्त करने की दृष्टि से कड़े यत्न किए गए और किए जा रहे हैं, और इस दिशा में पर्याप्त सफलता भी प्राप्त की जा चुकी है।

यहाँ सब मिलाकर ११२ जूट मिलें हैं, जिनमें से १०१ कलकत्ता में हुगली पर स्थित हैं। शेष ११ अन्य राज्यों में हैं। इस उद्योग के बहुत बड़े हिस्से का स्वामित्व योरोपियनों के हाथों में है और उनमें योरोपियन प्रबन्ध है।

१६५७ में कुल जूट-निर्मित वस्तुओं का उत्पादन १० ३० लाख टन हुआ था। दूसरी योजना अवधि की समाप्ति तक १६६०-६१ के लिए उत्पादन का लक्ष्य ११ लाख टन तक बढ़ाने का निश्चय किया गया है। लेकिन अब इस लक्ष्य को प्राप्त करने की कोई आशा नहीं है। जूट के स्थान पर अन्य किस्म के उत्पादन तथा यूरोपीय निर्मित माल की प्रतियोगिता के कारण प्रतियोगिता बढ़ रही है। पाकिस्तान ने भी बड़े और आधुनिक जूट कारखानों का निर्माण कर लिया है। इसलिए, इस उद्योग के भविष्य के बारे में कुछ चिन्ता है। इसे दूर करने का एक उपाय है लागत में कमी करना। इस काम को पूरा करने के लिए मशीनों के नवीनीकरण तथा आधुनिकीकरण की जरूरत है। इस ओर प्रयास जारी है।

लोहा और इस्पात उद्योग (Iron and Steel Industry)—यह 'मूल' अथवा आधारमूलक उद्योग है। और ऐसी दशा में देश के अधिक उद्योगीकरण के लिए इसका महत्त्व बहुत अधिक है।

इतिहास (History)—आधुनिक विधि से लोहे का निर्माण १८३० में शुरू किया गया था किन्तु वह सफल नहीं हुआ था। १८७५ में, बाराकर आइरन वर्क्स (Barakar Iron Works) बंगाल में आरम्भ किया गया था किन्तु वहाँ केवल लोहे का उत्पादन हो सकता था, इस्पात का नहीं। इस उद्योग का वास्तविक आरम्भ जमशेदपुर में टाटा आइरन एंड स्टील वर्क्स (Tata Iron & Steel Works) की स्थापना के साथ १६०७ में हुआ था। इन कारखानों ने १६११ में कच्चे लोहे और १६१३ में इस्पात का उत्पादन आरम्भ किया था। प्रथम विश्व-युद्ध ने इस उद्योग की वृद्धि की और १६१८ में इण्डियन आइरन एंड स्टील कम्पनी (Indian Iron and Steel Company) भी आरम्भ हो गई। १६२३ में, मैसूर में भद्रावती में मैसूर आइरन वर्क्स (Mysore Iron Works) की भी स्थापना हो गई।

१६२२ और '२३ में भयंकर विदेशी प्रतियोगिता के फलस्वरूप इस उद्योग को संकट का सामना करना पड़ा और परिणामस्वरूप इसे संरक्षण का आश्रय लेना पड़ा। समयान्तर में संरक्षण को पुन: जारी किया जाता रहा और अन्ततः १६४७ में जब जाँच की गई तो इस उद्योग ने उसे प्रचलित रखने पर बल नहीं दिया। फलतः

इसी वर्ष संरक्षण हटा लिया गया। संरक्षण के फलस्वरूप गतिशील उन्नति हुई। इसके अतिरिक्त, प्रौद्योगिक (Technical) योग्यता म उन्नति के कारण उत्पादन बढा और लागतो की न्यूनता हो गई। द्वितीय विश्व युद्ध के प्रारम्भ के साथ अभूतपूर्व समृद्धि के काल का उदय हुआ।

जो भी हो, युद्ध के उपरान्त उत्पादन म ह्रास प्रारम्भ हो गया। १९४९ मे, ६,३०,००० टन इस्पात उत्पन्न किया गया था। तबसे लेकर उत्पादन म वृद्धि हो रही है और १९५५-५६ मे, १२ लाख ५१ हजार टन पूर्ण इस्पात उत्पन्न किया गया जबकि १९५५-५६ म योजना का लक्ष्य १६,५०,००० टन था। १९५८ मे १३ लाख टन लोहा इस्पात तैयार किया गया।

इस उद्योग मे उत्पादन की तीन महत्त्वपूर्ण इकाइयाँ है—(i) जमशेदपुर म टाटा आइरन एड स्टील कम्पनी (TISCO), जिसकी उत्पादन क्षमता ८$\frac{3}{4}$ लाख टन इस्पात की है, (ii) बर्नपुर, आसनसोल मे स्टील कार्पोरेशन आफ बगाल (S C O B) जो १९५३ के प्रारम्भ म इडियन आइरन एड स्टील कम्पनी में विलय हो गया है, और जिसकी अढाई लाख टन की क्षमता है, (iii) मैसूर आइरन एड स्टील वर्क्स (२५ हजार टन)।

अपने औद्योगिक विकास के हित म, यह आवश्यक है कि हम अपने इस्पात उत्पादन में अधिक वृद्धि करे। इसके लिए हमारी अल्पकालिक माँग लगभग २५ लाख टन वार्षिक रखी गई है। तदनुसार, सरकार ने टाटा स्टील कम्पनी को १० करोड रु० के ऋण प्रदान किए हैं, जिससे वह अपने कार्यक्रमो का विस्तार कर सके। सरकार के कहने पर स्टील कार्पोरेशन ऑफ बगाल जनवरी १९५३ से इडियन आइरन एड स्टील कम्पनी मे मिल गई है, जिसको विस्तार-कार्यों के लिए विश्व बैंक से ३१५ लाख डालरो का ऋण प्राप्त हुआ। भारत सरकार ने ऋण की गारटी दी थी। मैसूर वर्क्स (Mysore Works) भी वर्तमान उत्पादन से दुगुना माल तैयार करने का प्रयत्न कर रहा है।

हाल ही मे भारत सरकार ने निर्णय किया है कि वह अपने निजी लोहे और इस्पात के कुछ बडे-बडे कारखाने चलाएगी। इस प्रकार का एक कारखाना रूरकेला (Rourkela) में जर्मन फर्म (क्रुप्स एण्ड डीमाग) की सहायता से बन रहा है। आशा है कि १९६०-६१ तक यह कारखाना तैयार हो जाएगा। प्रारम्भ म यह कारखाना ५ लाख टन इस्पात तैयार करेगा किन्तु अन्त मे इसकी उत्पादन क्षमता १० लाख टन तक बढाई जा सकती है।

लोहे और इस्पात का एक अन्य बडा कारखाना मध्य प्रदेश मे भिलाई नामक स्थान पर लगाया जा रहा है। यह कारखाना दस लाख टन लोहा और इस्पात तैयार करेगा। इसके लिए सोवियत रूस से सहायता मिली है। उसी प्रकार पश्चिमी बगाल में दुर्गापुर नामक स्थान पर ब्रिटिश सहायता से लोहे और इस्पात का १० लाख टन की क्षमता का एक अन्य कारखाना स्थापित किया जा रहा है।

द्वितीय पचवर्षीय योजना ने सही अर्थों मे भारत में लोहे और इस्पात उद्योग के विकास पर अत्यधिक बल दिया है। द्वितीय योजना के लक्ष्यानुसार

१९६०-६१ तक देश में ४३ लाख टन इस्पात तैयार होने लगेगा। उक्त लक्ष्य सार्वजनिक क्षेत्र में उपर्युक्त तीन लोहे और इस्पात के कारखाने स्थापित करके और किसी सीमा तक मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स (Mysore Iron and Steel Works) की कार्यक्षमता बढ़ाकर प्राप्त किए जाने की आशा है। अनुमान है कि द्वितीय योजना काल में लोहे और इस्पात उद्योग के विकास पर ४२५ करोड़ रु० की पूंजी विनियोजित की जाएगी। इस प्रकार द्वितीय योजना को सारी पूंजी का २०·४% केवल लोहे और इस्पात उद्योग पर व्यय किया जाएगा। चूँकि देश की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में लोहे और इस्पात उद्योग का बहुत अधिक महत्व है, इसलिए भारत सरकार ने जून १९५५ में लोहे और इस्पात उद्योग के लिए एक अलग मन्त्रालय स्थापित किया है।

अभ्यास—भारत के लोहे और इस्पात उद्योग का संक्षिप्त वर्णन कीजिए। यह भी बताइए कि भारत सरकार ने देश में लोहे और इस्पात के उत्पादन को बढ़ाने के लिए हाल ही में क्या कदम उठाए हैं। (राजस्थान १९५९)

Ex. 1—Give a brief account of the iron and steel industry of India and the steps taken by the Government to step up production of iron and steel in India. *(Rajasthan 1959)*

खांड उद्योग (Sugar Industry)—सूती वस्त्र उद्योग के बाद यह दूसरा महान् उद्योग है। इसमें लगभग १½ लाख मजदूर नियोजित हैं और प्रायः १०० करोड़ रु० लगा हुआ है।

इतिहास—यह उद्योग इस बात का श्रेष्ठ उदाहरण है कि संरक्षण की नीति के फलस्वरूप किस प्रकार इतने बड़े उद्योग का ६-७ वर्ष के थोड़े समय में विस्तृत विकास हो गया। भारत में, आधुनिक ढंग के खांड बनाने के कारखाने सर्वप्रथम १९०३ में आरम्भ हुए थे। १९१४-१८ के युद्ध में इस उद्योग ने कुछ प्रगति की थी, किन्तु विदेशी प्रतियोगिता के कारण इस उद्योग का विकास न हो सका। १९३२ में सरकार ने इस उद्योग को संरक्षण प्रदान किया। यह संरक्षण १५ वर्ष के लिए दिया गया था, सात वर्ष प्रथमावस्था में, और अनन्तर ८ वर्ष।

संरक्षण के अधीन इस उद्योग का आश्चर्यजनक विकास हुआ। १९३१-३२ में केवल ३१ कारखाने थे और कुल उत्पादन १ लाख ५८ हजार टन था। १९३६-३७ में यह उद्योग घरेलू मांग के लिए पर्याप्त खांड उत्पादन कर सका और आयातें नाम मात्र की थीं। युद्ध-काल में शक्कर के ऊपर जो नियन्त्रण लगे, उससे इस उद्योग के विकास में बाधा पहुँची। सरकार को भी शक्कर के उद्योगपतियों से अप्रसन्नता थी। फलस्वरूप १९५० में खांड शक्कर उद्योग पर से संरक्षण हटा लिया गया। गन्ने की सुनिश्चित अधिकाधिक प्राप्ति और गन्ना पेरने के लिए अतिरिक्त समय मिलने के कारण १९५४-५५ में खांड का उत्पादन बढ़कर १५.९ लाख टन हो गया। १९५५-५६ के चालू मौसम में ३१ अगस्त, १९५६ तक उत्पादन १८.५ लाख टन हुआ। १९५७-५८ में १९.७८ लाख टन खांड का उत्पादन हुआ जब कि १९५८-५९ में

१६ लाख टन खांड तैयार की गई। १९६०-६१ तक उत्पादन २२५० लाख टन होने की आशा है।

इस उद्योग का उल्लेखनीय अंग यह है कि यह मुख्यत उत्तर प्रदेश और बिहार में ही सीमित है। इन दोनों राज्यों में देश के कुल खांड के कारखानों का ८१ प्रतिशत है। इसके कारण यातायात की भीषण समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इसलिए अन्य राज्यों में नए कारखाने स्थापित होने चाहिएँ, विशेषत, मद्रास, प० बंगाल और बम्बई में ताकि यह त्रुटि दूर हो सके। पंजाब में भी कारखाने लगाने की काफी सम्भावना है। उत्तर प्रदेश के बाद पंजाब गन्ना उत्पादन का सब से बड़ा प्रदेश है।

इस उद्योग की कतिपय अन्य अधिक भयंकर दुर्बलताएँ हैं। गन्ने की प्रति एकड़ प्राप्ति तथा किस्म भी घटिया है। अन्य खांड उत्पादक देशों के मुकाबले में यहाँ के कारखानों की गन्ना पेरने की क्षमता भी बहुत कम है। इसलिए, खांड की उत्पादन लागत अत्यधिक उच्च है। गन्ने की प्रति एकड़ प्राप्ति और किस्म में उन्नति के द्वारा लागत कम की जा सकती है। इसके अतिरिक्त मिलों की औद्योगिक योग्यता में उन्नति से भी लागत में कमी होगी। अत गन्ने की किस्म को सुधारना आवश्यक है। इसलिए गन्ना विकास परिषद् ने १९५४ में अपनी सिफारिशें पेश कीं कि गन्ना उगाने वालों को भार के अनुसार अदा न करके क्वालिटी के अनुसार अदायगी करनी चाहिए। कीमत तथा क्वालिटी में साम्य करने से उन्नति को बढ़ावा मिलने की पूर्ण आशा है।

सीरे और गन्ने के फुजले जैसे उप-उत्पादों का आर्थिक उपयोग किया जाए। सीरे का मद्यसार बनाने में या सड़कों को पक्का बनाने में उपयोग किया जा सकता है और फुजला कागज तथा गत्ता उद्योगों में काम आ सकता है।

एक अन्य सुझाव यह दिया गया है कि उत्तर प्रदेश और बिहार के कतिपय भागों से खांड के कारखानों को दक्षिण में भेजा जाए, जैसे मद्रास में जहाँ बेहतर किस्म का गन्ना पैदा होता है। इस प्रकार की गतिशीलता से यातायात की समस्या भी सहज हो जाएगी। यद्यपि खांड के कुछ कारखानों को दक्षिण की ओर स्थानान्तरित किए जाने के बारे में सभी एकमत हैं किन्तु यह उपाय इतना सहज नहीं है। कुछ मिल मालिक इसके लिए तैयार भी हैं किन्तु उत्तर प्रदेश और बिहार की सरकारें विरोध कर रही हैं।

अभ्यास—"भारत का चीनी उद्योग संरक्षण का शिशु है।" इस उद्योग का इतिहास संरक्षण की कितनी पुष्टि करता है? (पटना १९५५)

Ex—'The Sugar Industry of India is the child of protection" How far does the history of this Industry justify the grant of protection? (*Patna 1955*)

(संरक्षण की मंजूरी तथा विकास के लिए उपर्युक्त प्रश्न में चीनी उद्योग वाले भाग को देखिए।)

व्यापक महत्त्व तथा आवश्यक उपभोक्ता-मात्र उद्योग और खेतिहर के लिए विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण होने के कारण चीनी उद्योग को स्वाभाविक रूप से संरक्षण मिलना चाहिए था।

पहले दौर में इसका विकास आकस्मिक तथा तीव्र गति से हुआ। अन्य किसी दूसरे उद्योग में शायद ही प्रारम्भिक उन्नति इतनी तीव्र गति से हुई हो। संरक्षण की चार वर्ष की अवधि में कारखानों की संख्या ३१ से १३५ हुई तथा उत्पादन १,५७,००० टन से बढ़कर ६,११,००० टन हुआ। यह वृद्धि विशेष रूप से इसलिए स्वागत योग्य है कि ये वर्ष भारी मंदी के थे। वास्तव में भारत के उद्योग चित्र में चीनी उद्योग ही उन्नति के मार्ग पर था। गणना के अनुसार १९३५-३६ में १३१ लाख श्रमिक गन्ना, गुड़ तथा चीनी के काम में सीधे लगे थे। इनमें से २५ लाख नए श्रमिक थे तथा २५ लाख ऐसे श्रमिक थे जिन्हें संरक्षण के कारण नौकरी मिली होगी। चीनी उद्योग के सम्बन्ध में द्वितीय टटकर बोर्ड की रिपोर्ट के अनुसार संरक्षण की नीति के कारण चीनी के आन्तरिक उत्पादन तथा विदेशी चीनी के निर्यात में कमी में आशा से अधिक सफलता हुई है। वास्तव में, इसमें देश चीनी के विषय में न सिर्फ आत्म-निर्भर हुआ बल्कि अति उत्पाद (over-production) की समस्या खड़ी हो गई।

लेकिन पहले दौर के अगले चरण में यह स्थिति कई प्रकार से असंतोषजनक रही है। १८ वर्ष की अवधि के पश्चात् टटकर बोर्ड की सिफारिश पर संरक्षण १९५० में उठा दिया गया। इस दूसरे दौर में चीनी उद्योग समय गुजारता रहा। इस काल में न तो इसका विस्तार हुआ और न ही लागत में कोई कमी हुई। टटकर बोर्ड ने संरक्षण उठाने की सिफारिश इसलिए नहीं की थी कि उद्योग ने काफी उन्नति कर ली थी, बल्कि १८ वर्ष की संरक्षण-अवधि में "तीनों दलों अर्थात् सरकार, उद्योग तथा काश्तकार के मन में लापरवाही की भावना बढ़ गई थी, चूँकि वे तीनों इस उद्योग में दक्षता के लिए उत्तरदायी हैं।"

दूसरे दौर में उद्योग के रिकार्ड से पता चलता है कि इसमें भारी दुर्गुण आ गए थे। इन दोषों को संरक्षण की सफल नीति द्वारा दूर करना जरूरी था।

प्रथम तो यह कि उद्योग ने विकास के लिए अनुचित स्थान चुने (इसका वर्णन हम उपर्युक्त चीनी उद्योग वाले भाग में कर चुके हैं।)

दूसरे, शुगर सिंडीकेट (Sugar Syndicate) की स्थापना हुई। टटकर बोर्ड ने अनुभव किया कि सिंडीकेट का कार्यक्रम देश के हित में नहीं है। इसलिए उत्तर प्रदेश तथा बिहार सरकारों ने इसकी मान्यता को सरकारी स्तर पर खत्म कर दिया।

चीनी उद्योग को संरक्षण देने की दूसरी कमजोरी यह है कि उसने उप उत्पादों (by-products) को किफायत से उपयोग करने की सम्भावना की ओर ध्यान नहीं दिया। इसके अलावा संरक्षण के दौरान में गन्ने की किस्म तथा मिलों की कार्य क्षमता को बढ़ाने की ओर ध्यान नहीं दिया गया।

इन सबका यह परिणाम हुआ कि चीनी उद्योग अपने पाँव पर खड़ा होने योग्य न हो सका। यद्यपि संरक्षण उठा लिया गया है लेकिन बाहर से चीनी मँगाने पर शुल्क की दर ऊँची होने से काफी सहारा मिला है। अब भी समय है कि यह उद्योग विदेशी प्रतियोगिता के मुकाबले खड़ा होने का बल पैदा कर ले।

कागज उद्योग (Paper Industry)—विशाल जनता के अनपढ़ होने के कारण अन्य देशों की तुलना में भारत में कागज उद्योग का इस समय उतना बड़ा महत्व नहीं है।

भारत में आधुनिक कागज उद्योग १८६७ में प्रारम्भ हुआ। बाली में सर्वप्रथम रॉयल पेपर मिल (Royal Paper Mill) की स्थापना की गई। तदुपरान्त अनेक

मिलें स्थापित हुई। आजकल १८ कागज की मिलें हैं, जिनमें अधिकांश पश्चिमी बंगाल में हैं जो देश के कुल कागज उत्पादन का ५० % उत्पन्न करती हैं।

१९५७ में २ लाख १० हजार टन कागज का उत्पादन हुआ।

घोर विदेशी प्रतियोगिता को दृष्टि में रखते हुए इस उद्योग को १९२५ में सरक्षण प्रदान किया गया। इस उद्योग को जो सफलता प्राप्त हुई, उसमें सरक्षण का औचित्य सिद्ध हो गया और १९४७ में आवश्यकता न रहने के कारण सरक्षण उठा लिया गया। द्वितीय विश्व-युद्ध ने उद्योग को महान् गति प्रदान की और निर्माण-विषयक अनेक नई दिशाओं में प्रगति हुई। वर्तमान में कागज का विस्तृत रूप में उत्पादन हो रहा है और उसके किस्म की आयात किए गए कागज के साथ अनुकूल रूप में तुलना हो सकती है।

भारत में इस उद्योग के लिए कच्चे पदार्थों की बड़ी भारी मात्रा विद्यमान है। सबाई घास बहुत बड़ी मात्रा में उपलब्ध है। किन्तु बाँस का गूदा कागज निर्माण के लिए कहीं बेहतर कच्चा पदार्थ है और भाग्यवश हमारे यहां बाँस के बहुत विस्तृत जगल हैं। इसके अलावा, हिमालय के जगलों से रासायनिक गूदा भी बनाया जा सकता है। इस प्रकार कच्चे पदार्थों विषयक स्थिति अत्यधिक अनुकूल है बशर्ते कि उसका उपयोग किया जाए। देहरादून के फॉरेस्ट रिसर्च इस्टीट्यूट का पेपर पल्प विभाग (कागज गूदा विभाग) कागज उद्योग के अधिक विकास के लिए लाभकारी प्रयोग कर रहा है।

सीमेंट उद्योग (Cement Industry)—सभवत खाँड उद्योग के सिवा, भारत में अन्य किसी भी उद्योग ने इतनी गति के साथ विकास नहीं किया जितना सीमेंट उद्योग ने किया है और वह भी सरक्षण के बिना। जब कि प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व, यह उद्योग प्राय विद्यमान ही नहीं था, द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व, घरेलू माँग को पूर्ण करने के लिए पर्याप्त सीमेंट का उत्पादन किया जाने लगा था। वास्तव में यह उद्योग १९१२--१३ के वर्ष में आरम्भ हुआ, जब तीन कारखाने स्थापित किए गए थे। शीघ्र ही उसके बाद प्रथम विश्व-युद्ध छिड गया और उसके कारण इन कम्पनियों को जो समृद्धि प्राप्त हुई, उसके आधार पर सात नए कारखाने चालू किए गए।

१९२४ में, भयकर विदेशी प्रतियोगिता को दृष्टि में रखते हुए, इस उद्योग ने सरक्षण के लिए आवेदन किया, किन्तु टैरिफ बोर्ड ने सरक्षण की सिफारिश नहीं की। बोर्ड का मत था कि यह उद्योग अति उत्पादन और आन्तरिक प्रतियोगिता के कारण कठिनाई में है। उसने सिफारिश की कि स्वत उद्योग में निकट सहयोग होना चाहिए। इसलिए १९२७ में, सीमेंट के वृद्धिपूर्ण उपयोग को प्रोत्साहन देने के लिए ककरीट एसोसिएशन की स्थापना की गई। इस उद्योग के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह हुआ कि १९३६ में एसोशिएटिड सीमेंट कम्पनीज लिमिटेड (Associated Cement Companies Ltd) के नाम के अधीन इस उद्योग की विभिन्न इकाइयों का विलय हो गया। किन्तु शीघ्र ही डालमिया सीमेंट कम्पनी चालू की गई और एक बार पुनः आन्तरिक सघर्ष आरम्भ हो गया। जो भी हो, उक्त कम्पनी और नये प्रतिद्वद्वी के

बीच एक समझौता हो गया। इस प्रकार सीमेंट उद्योग उत्पादन और वितरण दोनों ही दृष्टियों से सुदृढ रूप से संगठित हो गया।

द्वितीय विश्व-युद्ध ने इस उद्योग को महान् गति प्रदान की, क्योंकि प्रतिरक्षा उद्देश्यों के लिए सीमेंट की मांग बहुत बढ गई थी। असैनिक उद्देश्यों के लिए सीमेंट के उपयोग पर प्रतिबन्ध लगा दिए गए थे और ८० प्रतिशत सरकार के लिए सुरक्षित कर दिया गया था और २० प्रतिशत जनता के लिए छोडा गया था। फलतः, भीषण अभाव की अवस्थाएँ उत्पन्न हो गईं और वर्तमान मे अधिक उत्पादन के आधार पर उनकी इति हो गई है।

वर्तमान में, भारत मे सीमेंट के २८ कारखाने हैं। विभाजन के बाद से इस उद्योग की तीव्र गति के साथ प्रगति हुई है। १९४७-४८ में १५ लाख टनो के विरुद्ध १९५० में २७ लाख टन, १९५१ में ३२ लाख टन, और १९५५-५६ में ४५.६ लाख टन सीमेंट का उत्पादन किया गया। योजना मे सीमेंट उत्पादन का लक्ष्य ४८ लाख टन रखा गया है।

१९५८ में लगभग ५७ लाख टन सीमेंट तैयार किया गया था। आशा है कि द्वितीय योजना के पूरा होने तक देश मे सीमेंट के वर्तमान कारखानों में १६० लाख टन सीमेंट तैयार होने लगेगा। यही नहीं, कुछ अन्य नए कारखाने भी लगाए जा रहे हैं और आशा करनी चाहिए कि सीमेंट का हमारा वास्तविक उत्पादन ६३० लाख टन तक पहुँच सकता है। इस समय देश में २८ सीमेंट के कारखाने हैं। आशा है कि १९६०-६१ तक देश में सीमेंट के ६४ कारखाने चालू हो जाएँगे।

दियासलाई उद्योग (Match Industry)—१९२३ से इस उद्योग का विकास हुआ। उससे पूर्व दैनिक उपयोगिता की इस वस्तु के लिए देश को स्वीडन और जापान पर पूर्णतया निर्भर रहना होता था। उस वर्ष राजस्व सम्बन्धी उद्देश्यों के लिए दियासलाइयों पर आयात-कर मे वृद्धि कर दी गई किन्तु इसका वास्तविक परिणाम इस उद्योग की रक्षा करना हुआ, जिससे कई कारखाने स्थापित हो गए। १९२७ में इस उद्योग ने संरक्षण के लिए आवेदन किया, किन्तु टैरिफ बोर्ड ने विद्यमान राजस्व कर को केवल रक्षात्मक कर में बदल देने की सिफारिश की और इस प्रकार स्थायित्व का विश्वास प्रदान किया। तब से लेकर इस उद्योग ने अत्यधिक प्रगति की है। १९२८ और १९३८ के बीच कारखानो की संख्या तिगुनी हो गई है और दियासलाई की आवश्यकताओं के विषय में हम प्रायः आत्म-निर्भर हो गए हैं। इस उद्योग को विशाल घरेलू बाजार का बड़ा भारी लाभ है।

१९५५-५६ में दियासलाई का उत्पादन ३२० लाख ग्रुर्स था। इस तरह यह सहज प्रकट हो जाता है कि गत ६ वर्षों में इसने ५० प्रतिशत के लगभग विस्तार किया है। १९६०-६१ तक देश मे ३५० लाख ग्रुर्स बक्स बनने लगेंगे। वर्तमान मे न केवल घरेलू बाजार की मांग को ही पूर्ण किया जाता है प्रत्युत पडोसी देशों में सीमित परिमाणों की निर्यात भी की जाती है। जब उद्योग को संरक्षण दिया गया था, उस समय कोई नियत अवधि नहीं रखी गई थी, इसलिए संरक्षण जारी है। जो भी हो, दियासलाइयों के घरेलू उत्पादन पर उत्पादन-कर लागू किया गया है।

ता भी इस उद्योग का एक अत्यधिक दुखद पहलू है। यह उद्योग एक स्वीडिश सघ के प्रभुत्वाधीन है, जिसका नाम वैंस्टर्न इण्डिया मैच कम्पनी है। यह कम्पनी कुल उत्पादन का लगभग ७० प्रतिशत उत्पन्न करती है। इस विदेशी कम्पनी ने तट-कर दीवार को पार कर सरक्षण नीति का लाभ उठाया है और यह अनेक छोटे छोटे भारतीय व्यवसायो को खदेड रही है। इस प्रकार सरक्षण का लाभ मुख्य रूप से एक विदेशी कम्पनी को चला गया है।

भारी रासायनिक उद्योग (Heavy Chemicals Industry)—यह एक अन्य मूल' उद्योग है और राष्ट्रीय प्रतिरक्षा के लिए भी आवश्यक है। यह कहा जाता है कि किसी देश की औद्योगिक प्रगति को उस देश में उत्पादित भारी रसायनो की मात्रा द्वारा आंका जाता है। चमडा, शीशा, बिनाई, धातु कागज, साबुन, रग रोगन आदि आवश्यक रसायनो के बिना उत्पन्न नही किए जा सकते। भारी रसायनो में गन्धक का तेजाब, सोडा ऐश, कास्टिक सोडा, रासायनिक खादें आदि सम्मिलित हैं।

प्रथम विश्व-युद्ध ने इस उद्योग को गति प्रदान की थी किन्तु युद्ध के बाद, अधिकाश समय तक विदेशो पर आश्रित रहना पडा। १६३१ में सरक्षण दिया गया किन्तु केवल अत्यल्प अवधि के लिए।

द्वितीय विश्व-युद्ध को देश मे इस उद्योग के जन्म के लिए वस्तुत उत्तरदायी कहा जा सकता है। इसके महत्त्व को दृष्टि म रखते हुए सरकार ने उसके विकास म दिलचस्पी प्रारम्भ कर दी। सब सम्भाव्यताओं का पर्यवेक्षण किया गया और सोडा ऐश, हवाई स्प्रिट तथा अन्य अनेक रसायन बनाने के लिए एक बडा भारी सरकारी कारखाना भी चालू किया गया।

इस उद्योग ने १६४६-४७ मे सरक्षण के लिए आवेदन किया था और विद्यमान राजस्व करो को सरक्षण करो में बदल दिया गया। साथ ही बिक्रियो पर सहायता भी प्रदान की गई।

स्वाधीनता के बाद से भारी रसायनो के निर्माण में भारी वृद्धि हुई है। उदाहरण के लिए १६४६ में शोरे के तेजाब का उत्पादन ६०,००० टन था, १६५५-५६ म बढ कर १,६४,००० टन हुआ। उसी काल मे कास्टिक सोडे म २,६०४ टन से ३८,००० टन वृद्धि हुई। सोडा ऐश मे १२,००० टन से ८१,००० टन वृद्धि हुई। इस प्रकार इन वस्तुओ का आयात धीरे धीरे कम हो रहा है। सोडा ऐश तथा कास्टिक सोडा की आधी घरेलू मांग देशी उत्पादन से पूरी हो रही है। अब कई नई इकाइयो की स्थापना की ओर ध्यान दिया जा रहा है जिनके लिए उचित स्थानो की खोज की जा रही है। द्वितीय पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत (मसविदा मे) शोरे के तेजाब का उत्पादन ४७,००० टन, कास्टिक सोडे का १,३५,४०० टन तथा सोडा ऐश का उत्पादन २,३०,००० टन बढाने का प्रस्ताव है।

भारी रसायनो के लिए कच्चे पदार्थों की विशालता और भिन्नरूपता दोनो ही हैं, जैसे—नमक, चूने का पत्थर, खडिया और शोरा आदि। सस्ती जल-विद्युत् की व्यवस्था से हम अपने भारी रासायनिक उद्योग का तीव्र गति से विकास करेंगे।

रासायनिक खादो का एक सरकारी कारखाना, जो एशिया मे अपने ढग का एक महान् कारखाना है, सिद्री (बिहार) में चालू किया गया था। इसने अक्तूबर १९५१ में उत्पादन आरम्भ किया था। यह ३३ लाख टन अमोनिया सल्फेट प्रति वर्ष उत्पन्न करता है। इस कारखाने को और अधिक बढाया जा रहा है। द्वितीय पचवर्षीय योजना का लक्ष्य है कि रासायनिक खादों का उत्पादन तीन गुना बढाया जाए। इस उद्देश्य से सिन्द्री के रासायनिक खाद के कारखाने के आकार के तीन और कारखाने नगल, नवेली और रूरकेला मे स्थापित किए जाने को है। इम्पीरियल कैमिकल इउस्ट्रीज (Imperial Chemical Industries) और मैसर्स टाटा एण्ड सस (Messrs Tata and Sons) ने हाल ही में रसायन-निर्माण के दो बड़े-बड़े कारखाने चालू किए है। इस उद्योग की टैक्नीकल दिशा मे अनुसधान के लिए पूना में नेशनल कैमिकल लैबोरेटरी भी स्थापित की गई है।

कांच उद्योग (Glass Industry)—आधुनिक कांच उद्योग का गत सदी की अन्तिम दशाब्दी में उदय हुआ था। यह प्रथम विश्व-युद्ध तक संघर्ष करता रहा तब उसे सुख की सांस मिली। युद्ध के बाद इसकी स्थिति फिर कठिन हो गई और फलत इसने सरक्षण के लिए आवेदन किया। इसे इस आधार पर संरक्षण प्रदान करने से इन्कार कर दिया गया कि देश में सोडा ऐश जैसे अति महत्वपूर्ण कच्चे पदार्थ का अभाव है। द्वितीय विश्व-युद्ध ने इसकी बडी भारी सहायता की। सरकारी टैकना-लॉजिस्ट विभाग ने प्रतिरक्षा विभाग के लिए कई नवीन धाराओ का आयोजन किया था और कांच उद्योग को उनका उत्पादन करने के लिए कहा गया। १९५० से केवल शीशे की चादरो के विभाग को सरक्षण प्रदान किया गया है। भारत में शीशे की चादरें एक ब्रिटिश फर्म के साझे में तैयार हो रही हैं।

कुटीर उद्योगो के रूप मे देश में लगभग ८-१० करोड़ रुपए का शीशे का सामान बनता है। लगभग १ करोड़ रुपये शीशे का सामान प्रतिवर्ष आयात किया जाता है। केवल वही वस्तुएँ आयात की जाती हैं जो देश मे नही बनती। अधिकतर कांच के कारखाने उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बगाल, बम्बई और पजाब में हैं।

चमड़ा पकाना और चमड़ा उद्योग (Tanning and Leather Industry)—इसको भी 'मूल' उद्योग कहा जा सकता है। भारत में पशुओं की बड़ी भारी सख्या है। अतः देश में उपलब्ध खालों और चामो के बडे भारी अनुपात का कच्चे एव अनिर्मित रूप में निर्यात किया जाता था। प्रथम विश्व-युद्ध ने इस उद्योग को बहुत गति प्रदान की, जिससे फौजी आवश्यकताओ के कारण बूट और जूते बनाने का काम बीस गुना बढ गया। द्वितीय विश्व-युद्ध के कारण इस उद्योग का और भी उल्लेखनीय विस्तार हुआ।

उत्तर प्रदेश फौजी बूटो और जूतो का महान् निर्माता है। कलकत्ता के निकट, बाटा नगर में वृहद्-स्तर पर जूतों का निर्माण होता है। अन्य चमडा निर्मित वस्तुएँ ये हैं—लगामें, काठियाँ, चमडे के पट्टे, ढोलों के चमडे आदि।

भारत सरकार ने जनवरी १९५३ में मद्रास में सेंट्रल लैदर रिसर्च इंस्टीट्यूट'

(Central Leather Research Institute) की स्थापना की है, जो इस उद्योग की प्रौद्योगिक दिशा में सहायता करेगी।

उपरिलिखित उद्योगों के अतिरिक्त, देश में अन्य अनेक उद्योग भी हैं जिनका हाल ही में विकास हुआ है। इनमें से अधिकांश द्वितीय विश्व युद्ध के दिनों में आरम्भ हुए थे और युद्धोत्तर वर्षों में तीव्रतापूर्वक उन्नति कर रहे हैं। स्थानाभाव के कारण हम उनका उल्लेख भर ही यहाँ करेंगे फिल्म उद्योग, वनस्पति उद्योग (जिसमें २२ करोड़ की पूँजी लगी हुई है), ऊन, नमक, कॉस्टिक सोडा, साबुन, रंग और रोगन, सिगरेट, रबड़ की वस्तुएँ, प्लास्टिक की वस्तुएँ, बिजली के लैम्प, पंखे, मोटरें, एल्यूमीनियम, मक्खन, रेडियो रिसीवर, साइकिल, सिलाई की मशीनें, डीजल इन्जिन, शक्ति द्वारा चलने वाले पम्प, प्लाईवुड, तेल शोधन और मोटरों के पुर्जे एकत्र एवं निर्माण करने के उद्योग। हाल ही में राज्य ने कतिपय अपने निजी औद्योगिक उपक्रमों को भी आरम्भ किया है (उनके विषय में आगे चर्चा की जाएगी)

प्रश्न १—स्वाधीनता के पश्चात् से भारत में औद्योगिक विकास पर एक व्याख्यात्मक टिप्पणी लिखिए। (पंजाब १९५३ स०)

Q 1—Write a lucid note on industrial development in India **since Independence.** *(Punjab 1953 Supp)*

यह बात तो स्पष्ट है कि स्वाधीनता के पिछले १२ वर्षों में भारत में औद्योगिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण विकास हुए हैं। सभी दिशाओं में कुछ न कुछ उन्नति हुई है। लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कुछ विकास योजनाएं गम्भीर महत्त्व की है, तथा उनकी मजबूत नींवों पर भविष्य में तीव्र विकास की आशा की जा सकती है।

पहली महत्त्वपूर्ण बात यह है कि विकास दौर के दो मुख्य चरण हैं। पहला दौर १९४७ से १९५० तक की अवधि का है। इस दौरान में औद्योगिक उत्पादन स्थिर रहा। दूसरे दौर में—१९५१ से लेकर अब तक—विकास कार्य-क्रम सतत रूप से चालू है। प्रारम्भिक काल के औद्योगिक गतिरोध के कई कारण थे। मुख्य कारण थे—बुरी तरह घिसी हुई मशीनों और औजारों के स्थान पर नए औजारों और मशीन आदि की प्राप्ति में कठिनाइयाँ, श्रमवर्ग में गम्भीर अस्थिरता, १९४७-४८ का लियाकतअली बजट (आय व्ययक), जिसके कारण उद्योगों पर भारी कर लगाए गए, तथा राष्ट्रीयकरण की चारों ओर से माँग थी, पूंजी मार्केट का प्राय ठप्प हो जाना, अत्यधिक आर्थिक नियन्त्रणों का होना; विभाजन के कारण कच्चा माल प्राप्त करने में कठिनाई, परिवहन की कठिनाइयाँ, तथा उद्योगपतियों में उपक्रम तथा उद्यम की कमी। फलस्वरूप औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि न हो सकी—औद्योगिक उत्पादन का सूचक अंक (१९४६=१००) १९४७ में गिरकर ९७·२ हो गया, १९४८ में वृद्धि की (१०८·४) और १९४९ में गिरकर १०५·७ तथा १९५० में १०५·० हो गया।

दूसरे दौर में (जूट उद्योग को छोड़कर) सभी उद्योगों में उत्पादन के सूचक अंकों में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। यदि (१९४६=१००) को आधार वर्ष मान लिया जाय तो १९५१—११७·२, १९५२—१२८·९, १९५३—१३५·३,

१९५४—१९६'५, तथा मार्च १९५५ में १६२ ६ हुआ। कई नए तथा पुराने उद्योगों के उत्पादन में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई है। पुराने उद्योगों में सूती कपड़ा, सीमेन्ट तथा नमक उद्योग आदि का जिक्र किया जा सकता है। १९५० में ३६,४२० लाख गज की तुलना में १९५६ में ५०,००० लाख गज उत्पादन हुआ। उत्पादन की यह वृद्धि १९५५-५६ के लक्ष्य से ३,८०० लाख गज अधिक थी। सीमेंट का उत्पादन १९४८ में २५ लाख टन था। १९५६ में इसका उत्पादन ४५ लाख टन हुआ। नमक का उत्पादन ६३५ लाख मन से बढ़कर ८५० लाख मन हुआ।

पूर्वस्थापित उद्योगों के विकास के अलावा, पिछले कुछ वर्षों में उत्पादन-क्षेत्र में नई दिशाओं का मार्ग खुला है। "गैर-सरकारी क्षेत्र" में—इनमें मोटर आदि के पुर्जों का संचय करना, जोड़ना और निर्माण, डीज़िल इंजनों का उत्पादन, शक्ति-चालित पम्पों का निर्माण, अल्यूमिनियम उद्योग, कपड़ा मशीनों का निर्माण, मशीनी औजारों, बॉल तथा रॉल बेयरिंग का ग्रेडिंग और असंख्य लघु इंजीनियरिंग उत्पादों, जैसे साइकिल, सिलाई की मशीन, गैस की लालटेनें, बिजली का सामान जैसे पंखा, तार, लैम्प, मोटर, ट्रांसफॉर्मर, ड्राई तथा स्टोरेज बैटरी, रेडियो, रासायनिक खाद तथा भारी रसायन जैसे सल्फ्यूरिक एसिड, सोडा ऐश, कास्टिक सोडा का निर्माण आदि शामिल है। अब अपने देश में कई प्रकार की औषधियों तथा दवाइयों का निर्माण भी होता है। अन्य उद्योगों की स्थापना भी हुई है, जैसे रेयन सतन्तु (Rayon filament), प्लाईवुड के सन्दूक, रेज़र ब्लेड, हाउस सर्विस मीटर, घरेलू रेफ्रीजरेटर, विसंवाहक (insulators), चमड़ा तथा लिनोलियम (linoleum) आदि।

हल्के इंजीनियरिंग तथा रासायनिक वर्ग के उद्योगों में पिछले कुछ वर्षों में महत्त्वपूर्ण विकास हुआ है। १९४६ में उत्पादन की तुलना में १९५४ में सिलाई मशीनों के उत्पादन में १३ गुना, साइकिल उत्पादन में ६ गुना, लालटेन उत्पादन में ११ गुना तथा डीज़िल इंजन उत्पादन में १९ गुना वृद्धि हुई।

स्वाधीनता के बाद विकास के अन्तर्गत उद्योगीकरण में सरकार का अधिकाधिक हाथ होता जा रहा है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत प्रायः एक दर्जन मूल उद्योग सरकार ने आरम्भ किए। सिंदरी फर्टीलाइज़र तथा चितरंजन लोकोमोटिव फैक्टरी आदि में तो काम भी चालू हो गया है और दूसरे कारखाने चालू होने वाले हैं। (विवरण के लिए निम्न प्रश्न का उत्तर भी देखिए।)

इस प्रकार हम देखते हैं कि युद्धोत्तर काल में औद्योगिक विकास का मुख्य लक्षण विविध उद्योगों का विकास है। इसलिए उपभोक्ता माल का उत्पादन बढ़ने के कारण इसका उल्टा स्वरूप भी धीरे-धीरे परिवर्तित हो रहा है। १९५२-५५ के चार *वर्षों की अवधि में औद्योगिक विकास २२% अथवा ५½% प्रति वर्ष की दर पर हुआ* है। यह सफलता मौजूदा क्षमता का पूर्ण उपयोग तथा क्षमता-विस्तार के कारण प्राप्त हुई है।

भौतिक सफलता से ज्यादा जरूरी आरम्भिक तथा विकासात्मक कार्य है जो इस अवधि में पूरा किया गया। उद्योगों तथा गैर-सरकारी उद्यम के प्रति सरकारी नीति

को स्पष्ट किया गया है। औद्योगिक विकास के सम्बन्ध म पूर्ववर्तिताएँ (priorities) निश्चित कर दी गई हैं और उन पर अमल किया जा रहा है। अनुसंधानशालाओ की स्थापना की गई है, वित्तीय सहायता का अधिकाधिक प्रबन्ध किया जा रहा है नदी घाटी योजनाओ द्वारा सस्ती बिजली पूर्ति का प्रबन्ध किया गया है कृषि विकास द्वारा उचित खाद्य तथा कच्चे माल की पूर्ति सुनिश्चित की जा रही है तथा वास्तविक उन्नतिशील राजकोषीय विकास नीति का निर्माण हुआ है और इस दिशा म उसका पूरा-पूरा पालन किया गया है। प्रथम योजना के दौरान म कई नए उद्योगो की स्थापना हुई।

इसके अलावा, द्वितीय योजना के अन्तर्गत भी देश मे उद्योगो के विकास को सम्मानित स्थान मिला है। ५,६०० करोड रु० के विनियाजन के प्राक्कलन म १ ४०० करोड रुपया अर्थात् २५% औद्योगिक क्षेत्र पर व्यय किया जाएगा लेकिन भारी उद्योगो के विकास की ओर विशेष बल दिया गया है। १,४०० करोड रु० की राशि मे से ४२५ करोड रुपया (कुल का ३० ४%) लोहा और इस्पात उद्योग पर व्यय किया जायगा, २४० करोड रु० (१७ २%) मशीन बनाने के कारखाना पर १०० करोड रु० (७ १%) सीमट तथा रसायन आदि पर १०० करोड रु० (७ १%) रासायनिक खाद पर, ७५ करोड रु० (५ ४%) खनिज तथा खनिजो की खोज पर ५० करोड रु० (३ ६%) मौजूदा सरकारी उद्योगो पर तथा ३० करोड रु० की राशि (२ १%) अल्यूमिनियम पर। उपभोक्ता माल के कारखाने तथा उद्योग पर १०० करोड रु० (७ १%) खर्च किया जाएगा। शेष २०० करोड रु० (१४ ३%) घरेलू तथा घरेलू उद्योगो पर व्यय किया जाएगा।

द्वितीय पचवर्षीय योजना म प्राइवेट क्षेत्र मे भारी मशीनो और मशीनी पुर्जों के निर्माण और उत्पादन की व्यवस्था की गई है। उदाहरणार्थ बिजली के सामान के उत्पादन पर, हिन्दुस्तान मशीन टूल्स (Hindustan Machine Tools) नामक कारखाने के विस्तार पर, तथा ऐसे ही उद्योगो के विकास पर बल दिया गया है। बगलौर म १ २ करोड रु० की लागत पर सरकारी बिजली का कारखाना लगाया जा रहा है। इसी प्रकार इस क्षेत्र मे हवाई इजिन और वायरलैस सैट के निर्माण की भी व्यवस्था है। द्वितीय पचवर्षीय योजना की प्रगति पर यदि हम विहगम दृष्टि डालें तो देखेंगे कि प्राय सभी सुनियोजित उद्योगो का समुचित विकास हुआ है। यदि हम (१९५१=१००) १०० को १९५१ का औद्योगिक प्रगति का सूचनाक मानें तो १९५६ म सूचनाक १३२ ८ था, और १९५७ म १३७ ३। बाइसिकिलो, मोटरो, बिजली के मोटरो, परिवर्तको (Transformers), शक्तिचालित पम्पो आदि के उत्पादन म ३३% से ६०% तक वृद्धि हुई है। कई अन्य उद्योगो में भी, जिनम सीमट, शक्कर, डीज़िल इजिन प्रमुख हैं १०% से २८% तक उत्पादन वृद्धि हुई। सार्वजनिक क्षेत्र में भी १९५५ म सर्वाङ्गीण उन्नति हुई थी। ये सब चिह्न हमारी औद्योगिक प्रगति के मार्ग पर आशावर्द्धक स्थल हैं।

प्रश्न २—सरकार द्वारा हाल में चालू किए गए औद्योगिक उद्यमो का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

अथवा

भारत में सार्वजनिक उद्यमों के विकास का संक्षिप्त विवरण लिखिए।

Q. 2—Give a brief account of the Industrial enterprises started by the Government in recent years.

Or

Write a brief note on the development of public enterprises in India

विभाजनोत्तर वर्षों के औद्योगिक काल में सरकार द्वारा उद्योग की स्थापना महत्त्वपूर्ण घटना है। कई उद्योगों में भारी पूँजी की जरूरत पड़ती है। इसके अलावा प्राप्ति भी काफी देर बाद होती है, इसलिए गैर-सरकारी पूँजी जोखिम आदि के भय से इस ओर पैसा लगाने में असमर्थ रहती है। अप्रैल १६४८ के औद्योगिक नीति विवरण में सरकार ने "मिश्रित अर्थ-व्यवस्था" की घोषणा की थी। इसका अर्थ यह है कि सरकार गैर-सरकारी उद्यम के विकास में सहायता करके देश में औद्योगिक उन्नति के लिए कटिबद्ध है। इस नीति के अनुसरण करने के परिणामस्वरूप हाल के वर्षों में कई सरकारी औद्योगिक उपक्रमों की स्थापना हुई है। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(१) सिन्द्री रासायनिक खाद फैक्टरी (बिहार) (The Sindri Fertilizer Factory, Bihar)—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद २३ करोड़ रुपये की लागत से पूरा किया गया प्रथम राज्य-स्वामित्व का प्रधान उपक्रम है। यह एशिया में सब से बड़ा और रासायनिक खादों का नवीनतम कारखाना है। १,००० टन प्रति दिन के हिसाब से इसकी अमोनिया सल्फेट बनाने की वार्षिक क्षमता साढ़े तीन लाख टन की है। इसने ३० अक्टूबर, १६५१ से उत्पादन का कार्य आरम्भ किया था। १६५५-५६ में इस कारखाने में ३.२ लाख टन खाद तैयार हुई। १६५७-५८ में ३.३२ लाख टन खाद तैयार की गई। सिन्द्री कारखाने में तैयार की गई खाद की लागत भी कम है। सार्वजनिक क्षेत्र में यह सर्वाधिक लाभ का उपक्रम है। यह उद्योग हमारी गम्भीर खाद्य समस्या को भी सरल करेगा।

नाइट्रोजन रासायनिक खादों जैसे यूरिया (urea) तथा अमोनियम नाइट्रेट आदि के उत्पादन की वृद्धि के लिए इस कारखाने का विस्तार किया जा रहा है। १६५४-५५ की सञ्चालकों की रिपोर्ट में इस बात का उल्लेख किया गया है कि कारखाने की क्षमता ६०% बढ़ा दी जाएगी। १ सितम्बर, १६५४ को २½ करोड़ रु० की लागत से एक कोयले की भट्ठी (coke oven) लगाई गई थी। इस यन्त्र में लगी पूँजी का उपबन्ध इसी के स्रोतों से हुआ था। १६५४-५५ में इससे १,२०,१४१ टन कोक का उत्पादन हुआ। जैसा कि पहले ही वर्णन किया जा चुका है, भारत में इसी प्रकार के तीन अन्य कारखाने खोले जा रहे हैं।

(२) चित्तरंजन इंजन कारखाना (The Chittaranjan Locomotive Factory)—यह कारखाना पश्चिमी बंगाल के चित्तरंजन नामक स्थान में सरकार का द्वितीय महान् औद्योगिक उपक्रम है। यह लगभग १५ करोड़ रु० की लागत से

बनाया गया है। इसने भारतीय रेलों के लिए इंजिन बनाने का कार्य आरम्भ कर दिया है। आशा थी कि १६५३ तक इंजिनो के पुर्जे भारत म ही बनने लगेंगे। ६ जनवरी, १६५४ को उपर्युक्त कारखाने ने १०० वा इजन तैयार करके योजना के लक्ष्य प्राप्त कर लिये थे। प्रथम योजना के अन्दर लक्ष्य निर्धारित किया गया था कि १६५५-५६ तक १२० इंजिन और ५० उष्णक (boilers) इस कारखाने म तैयार होने लगेंगे। किन्तु इस कारखाने ने लक्ष्यो को बहुत पीछे छोड दिया और वास्तव में २०० सामान्य इंजिन और १५० उष्णक (boilers) तैयार किए। द्वितीय योजना में, विश्वास किया जाता है, कि इस कारखाने मे ३०० इंजिन प्रति वर्ष बनने लगेंगे।

इसके अतिरिक्त मद्रास राज्य मे पीरम्पुर नामक स्थान पर ७ ३ करोड की लागत का रेलो के डिब्बे बनाने का एक कारखाना खोला गया है। यह एशिया का सबसे बडा रेल के डिब्बो का कारखाना है। प्रथम वर्ष मे इस कारखाने मे स्विटजरलैण्ड के बने पुर्जों से २० डिब्बे तैयार होगे। बाद मे शनैं-शनैं पुर्जे भी भारत म ही तैयार किए जाएँगे। आशा है कि १६५६ के बाद इस कारखाने म ३५० डिब्बे तैयार होने लगेंगे। इसके बाद इन डिब्बो के सभी भाग इसी कारखाने म तैयार होने लगेंगे। इस कारखाने मे लगभग २,००० मज्दूर हैं जिनमे ७५% कुशल और प्रशिक्षित श्रमिक हैं। यह कारखाना भारत और स्विटजरलैण्ड के सहयोग का फल है।

(३) विशाखापत्तनम में हिन्दुस्तान पोत-निर्माण का कारखाना (The Hindustan Shipbuilding Yard at Vishakhapatnam)—यह कारखाना आन्ध्र में है। यह राज्य और सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी (Scindia Steam Navigation Company) का सयुक्त उद्यम है। वस्तुत, यह उक्त कम्पनी द्वारा चलाया जा रहा था किन्तु वह इसे सफल न बना सकी। इसलिए, सरकार ने जनवरी १६५२ में इसके अधिक शेयर खरीद लिये और उसे चलाने में सम्मिलित हो गई। हाल ही मे फ्रास की एक जहाजी फर्म के साथ पाच वर्ष के लिए समझौता किया गया है, जो इस कारखाने के पुनस्सगठन तथा विकास की दिशा मे प्रौद्योगिक सहायता प्रदान करेगी। पचवर्षीय योजना मे बर्थों की सख्या में वृद्धि, भिन्न कारखानो का विस्तार, और साथ ही इजनो तथा ब्वायलरो का निर्माण करने के लिए १४ करोड रु० की व्यवस्था रखी गई है।

(४) मशीनी औजारो का कारखाना (Machine Tools Factory)—बगलौर के निकट जलाहाली में मशीनी औजारों का कारखाना है। खरादें, दाते कटाई और बरमे की मशीनें बनाने मे प्रौद्योगिक सहायता प्राप्ति के लिए एक प्रमुख स्विस फर्म के साथ समझौता किया गया है। इस सारी योजना पर ८ ३७ करोड रु० की लागत का अनुमान किया गया है। इसमे चार करोड रु० की वस्तुओं का वार्षिक उत्पादन होगा। यह कारखाना देश म गुरु और लघु इंजीनियरिंग उद्योग का अग्रगामी होगा। यह कारखाना सम्पूर्ण हो चुका है और मई १६५६ से इसमें उत्पादन प्रारम्भ हो गया है। १६५७-५८ मे इस कारखाने म ४०० मशीनें तैयार हुई और १६६०-६१ तक यह ८०० मशीनें तैयार करने लगेगा।

इस कारखाने का नियन्त्रण और प्रबन्ध १ मार्च, १९५३ से हिन्दुस्तान मशीन टूल लि० बंगलोर को सौंप दिया गया है, जिसमें सरकार के ८५ प्रतिशत और स्विस फर्म के १५ प्रतिशत हिस्से हैं। द्वितीय योजना में इसके विकास के लिए २ करोड़ रु० का उपबन्ध किया गया है।

(५) हिन्दुस्तान भवन निर्माण उद्योग (Hindustan Housing Factory)—दिल्ली के निकट भवन-निर्माण का कारखाना है। यह भारत सरकार और स्वीडिश फर्म का संयुक्त कारखाना है। इसका उपयोग भवन-निर्माण के लिए आवश्यक पदार्थों के उत्पादन में किया जाएगा। तीन वर्ष की अवधि में इसकी वार्षिक प्राप्ति १.५ करोड़ हो जाने की आशा है।

(६) पेन्सिलिन उद्योग (Penicillin Factory)—पूना के निकट पिम्परी में विश्व स्वास्थ्य संगठन (World Health Organization) और संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्राष्ट्रीय बाल आपात कोष (United Nations International Children Emergency Fund) की सहायता से एक पेन्सिलिन फैक्टरी की स्थापना की गई है। इसमें सरकार ने १३० लाख रु० का अंशदान और शेष दो संगठनों ने १२ लाख रु० दिए हैं। इसके स्वामित्व और प्रशासन-अधिकार भारत सरकार के होंगे। भारत सरकार द्वारा नियुक्त विशेषज्ञ समिति की सिफारिशों पर इसकी क्षमता को ६०% बढ़ाने का निश्चय किया गया है। विस्तार के पश्चात् इस कारखाने से २८ से ३२ लाख मीगा इकाई (mega) पेन्सिलिन प्रतिवर्ष तैयार होगी।

(७) डी० डी० टी० फैक्टरी (D. D. T. Factory)—संयुक्त राष्ट्र संघ (U. N. O) की उक्त दो संस्थाओं की सहायता से एक डी० डी० टी० का कारखाना भी चालू किया गया है। एक निजी लिमिटिड कम्पनी द्वारा सरकार इसका प्रबन्ध करेगी। १९५५ में यह कारखाना चालू हो गया था। इसकी क्षमता प्रतिवर्ष ७०० टन डी० डी० टी० तैयार करने की है। यह डी० डी० टी० मलेरिया की रोकथाम के लिए प्रयोग में आएगी। इस कारखाने की कुल लागत ५१.७५ लाख थी जिसमें से संयुक्त राष्ट्र संघ की उक्त दोनों संस्थाओं ने १६.७५ लाख रुपया दिया। १९५८ में इस कारखाने का आकार दुगुना कर दिया गया। भारत सरकार ने एक दूसरा कारखाना केरल राज्य में आलवी नामक स्थान में खोला है जिसमें अप्रैल १९५८ से उत्पादन प्रारम्भ हो गया है।

(८) टेलीफोन तार फैक्टरी (The Telephone Cable Factory)—जिला बर्दवान (प० बंगाल) में रूपनारायणपुर में टेलीफोन तार की फैक्टरी ने दिसम्बर १९५४ में उत्पादन-कार्य आरम्भ किया। इसके आधार पर टेलीफोन के तारों की आयातों की आवश्यकता नहीं रहेगी। अकेले तार और डाक विभाग की वार्षिक आवश्यकताएँ लगभग ८० लाख रुपए की हैं जो अब इसी कारखाने से पूरी होंगी।

(९) राष्ट्रीय उपकरण फैक्टरी (The National Instruments Factory)—जादवपुर (कलकत्ता) में नेशनल इन्स्ट्रुमेंट फैक्टरी स्वास्थ्य, शिक्षा, रक्षा तथा अन्य उद्देश्यों के उपकरणों को बनाने के लिए शीघ्रतापूर्वक बनाई जा रही है। नई योजनाओं में ऐनकों के शीशे तथा सूक्ष्म प्रकार के ऐसे उपकरणों का निर्माण शामिल किया

गया है जो देश म इससे पहले कभी नही बन थ । आशा की जाती है कि ७० लाख रु० का वार्षिक उत्पादन होगा।

(१०) हिंदुस्तान स्टील लि० (The Hindustan Steel Ltd)—हिंदुस्तान स्टील कम्पनी लि० राज्य का औद्योगिक उपक्रम है। उडीसा म रूरकेला नामक स्थान पर एक बडा लोहे और इस्पात का कारखाना खडा किया गया है। इस कारखाने की प्रारम्भिक क्षमता ५ लाख टन थी किंतु यह बढकर १० लाख टन तक हो सकती है। तकनीकी और आर्थिक सहायता के लिए एक जमन फम (क्रप और डेमाग) के साथ संधि की गई है जो कारखाना खडा करेगी। यह फम लगभग १७० करोड रु० की पूंजी लगाएगी। भारत सरकार और जमन फम के शयरो का ४ १ का अनुपात है। १६५६ के फरवरी मास म इस कारखाने स लोहा तैयार होना प्रारम्भ हो गया है। इसका सबसे अच्छा पक्ष यह है कि इसके द्वारा भारतीयो को न सिफ कारखाना चलाने बल्कि डिजाइन और निर्माण कार्यों म भी प्रशिक्षण दिया जाएगा तथा उन्ह अधिकतम मात्रा म काम पर लगाया जाएगा। इसके पूर्ण होने से देश के औद्योगिक ढाँचे के मूल विकास म सहायता मिलेगी।

दूसरा लोहे और इस्पात का कारखाना भिलाई (मध्य प्रदेश) म १३१ करोड रु० की लागत पर तैयार किया जा रहा है। इस कारखाने म ७,७०,००० टन स्टील बिक्री के लिए तैयार किया जाएगा। पश्चिमी बगाल म दुर्गापुर म एक तीसरा लोहे और इस्पात का कारखाना लगाया जा रहा है। इसकी लागत अनुमानत १३८ करोड रु० होगी और यह लगभग ७ ६०,००० टन इस्पात प्रतिवर्ष तैयार करेगा।

इन निर्माण कार्यो के अतिरिक्त भारत सरकार के प्रतिरक्षा मत्रालय न अन्य कई विशाल कारखाने चालू कर रखे ह जैसे हिंदुस्तान एयर क्राफ्ट लि० बगलौर, (Hindustan Aircraft Ltd , Bangalore) प्रोटोटाइप मशीन टूल फैक्ट्री अम्बरनाथ (Prototype Machine Tool Factory, Ambarnath)। हाल ही में मत्रालय ने निश्चय किया है कि इन कारखानो की अतिरिक्त क्षमता को नागरिक माल उत्पादन के काम म लाया जाएगा। १६५४ म भारत सरकार न फ्रांसीसी फम स कान्ट्रैक्ट किया है जिसके अनुसार बगलौर म इलैक्ट्रानिक्स, रेडियो तथा रॉडर उपकरण बनाने के लिए भारत इलैक्ट्रानिक उद्योग की स्थापना की जाएगी।

प्रश्न ३—भारत के औद्योगिक विकास से सम्बन्धित मुख्य त्रुटियो पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

Q 3—Discuss the p incipal drawbacks regarding the industrial development of India

भारत म निचले जीवन स्तरो का मुख्य कारण उसका औद्योगिक रूप म पिछडापन है। न केवल यह कि उद्योगो का बहुत कम विकास हुआ है बल्कि जो भी विकास हुआ है वह भी भयकर दोषो द्वारा प्रताडित है। अब हम उसके विभिन्न महत्वपूर्ण अगो की सम्पूर्ण स्थिति का परीक्षण करेंगे।

१. सर्वप्रथम, देश के आकार, उसकी विशाल जनसंख्या और उसके विशाल एवं भिन्न रूपों के प्राकृतिक साधनों को दृष्टि में रखते हुए जिस सीमा तक उसका औद्योगिक विकास हुआ है, वह अत्यधिक क्षीण है। वस्तुतः अभी तो हमने उद्योगीकरण की पहली ही सीढ़ी पर पाँव रखा है।

इङ्गलैंड, बैल्जियम और जापान जैसे कहीं छोटे देशों की तुलना में हमारा कुल औद्योगिक उत्पादन भी बहुत कम ही है।

२ 'मूल' उद्योगों का अभाव (Absence of Key Industries)—जो थोड़ा औद्योगिक विकास हुआ है, वह केवल एक-पक्षीय है, अर्थात्, केवल उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योगों की दिशा में ही विकास हुआ है, जबकि मूल उद्योगों का विकास हुआ ही नहीं। लोहा और इस्पात तथा सीमेंट ही केवल दो ऐसे उद्योग हैं, जिनकी प्रगति के विषय में कुछ गर्व किया जा सकता है।

३ विदेशी निर्भरता (Foreign Dependence)—देश के भीतर मूल उद्योगों के विकास के अभाव में भारत बहुत जरूरी मशीनों, मशीनी औजारों, मिल स्टोरों आदि के विषय में बाहरी देशों की दया पर आश्रित है। यदि कहीं युद्ध के कारण बाहरी देशों से उनकी पूर्ति खतरे में पड़ जाए, तो उस असहाय पराश्रयता के कारण हम सहज ही अपने औद्योगिक विकास की शोचनीय अवस्था का अनुमान कर सकते हैं।

४. विद्यमान उद्योगों का विकास अस्त-व्यस्त दशा में हुआ है (Development of our Industries in a haphazard fashion)—हमारे अधिकांश उद्योग देश भर में असमान रूप से विभाजित हैं। उनमें से अनेक या तो बम्बई में केन्द्रित हैं अथवा प० बंगाल में, जिसका परिणाम यह है कि बाकी देश को अपनी अत्यावश्यक पूर्तियों के लिए इन दोनों कोनों की ओर देखना पड़ता है।

५. विदेशी प्रभुत्व (Foreign Domination)—हमारे उद्योगीकरण का एक अन्य असंतोषप्रद रूप विदेशी पूँजी का प्रभुत्व है। हमारे उद्योगों के स्वामित्व, नियन्त्रण और प्रबन्ध में विदेशियों का बहुत बड़ा हिस्सा है। सर एम० विश्वेश्वरैया के अनुसार, भारतीय उद्योगों में आधी से अधिक पूँजी विदेशियों की है। प्रायः सब उद्योगों में मुख्य व्यवसाय, विशेषतः जूट, चाय, ऊनी वस्त्र, विदेशियों के हाथों में हैं।

६ औद्योगिक एवं प्रशिक्षित श्रमिक वर्ग का अभाव (Dearth of Trained Personnel)—सुदृढ़ औद्योगिक विकास के लिए कुशल कारीगरों की नितान्त आवश्यकता है, किन्तु अभी तक, बहुत थोड़े ऐसे भारतीय हैं, जिन्हें नवीनतम औद्योगिक कुशलता में प्रशिक्षण प्राप्त है। कुशल कारीगरों तथा औद्योगिक प्रशिक्षण प्रदान करने की सुविधाओं के अभावों के कारण हमारी औद्योगिक प्रगति में बड़ी भारी बाधा हुई है। इस समय, हमारे अनेक उद्योगों में विदेशी कुशल कारीगरों की एक बड़ी संख्या नियोजित है।

७ अपर्याप्त और दोषपूर्ण वित्तीय संगठन (Inadequate and Defective Organisation of Finance)—हमारे उद्योगों के लिए अपर्याप्त और दोषपूर्ण वित्तीय

संगठन भी एक भारी कमी है। यहाँ औद्योगिक बैंक नहीं है। हमारे व्यापारिक बैंको का उद्योगो के विकास के प्रति सर्वथा उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण है। हमारे विद्यमान उद्योगो के लिए वित्तीय प्रबन्ध या तो विदेशियो द्वारा होता है अथवा उसके लिए मैनेजिंग एजेंसी प्रणाली एक अन्य उपाय है। हमारे औद्योगिक विकास पर इन दोनो उपायो का अत्यधिक हानिपूर्ण प्रभाव हुआ है। अभी हाल ही मे उद्योगो के लिए दीर्घकालीन ऋण देने के लिए कई संस्थाओ का उदय हुआ है जिनमे औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation) राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (National Industrial Development Corporation) और औद्योगिक ऋण और नियोजन निगम (*Industrial Credit and Investment Corporation*) प्रमुख रूप से उल्लेख्य है।

८ पुराने ढर्रे की और घिसी पिटी मशीनें (Obsolete and Worn out Machinery)—कुछ सम्मानित अपवादो को छोड़कर हमारे अधिकांश उद्योगो को, अन्य औद्योगिक रूप मे उन्नत देशो के तत्सम उद्योगो की तुलना मे कम से कम एक पीढी पिछड़े हुए कहा जा सकता है। हमारे अधिकांश उद्योगो मे समय से पिछड़ी हुई मशीनो से काम लिया जा रहा है।

हमारे उद्योगो के प्रबन्ध स्तर भी अन्य औद्योगिक देशो की तुलना मे बहुत निम्न हैं। हमारे उद्योग के कर्णधारो ने वैज्ञानिक प्रबन्ध को नहीं अपनाया है।

प्रश्न ४—मौजूदा भारतीय उद्योगो के अभिनवीकरण पर एक टिप्पणी लिखिए।

Q 4—Write a note on rationalisation of Indian industries at present

पिछले वर्षों मे भारत मे उद्योगो के अभिनवीकरण का विषय बड़ा विवादास्पद रहा है। इस विवाद का मुख्य बल पटसन तथा रूई मिल उद्योगो पर अधिक केंद्रित रहा है। इसका कारण बिलकुल सीधा है—जमशेदपुर के लोहे तथा इस्पात के कारखाने को छोड़कर, अन्य सभी उद्योग (रूई तथा पटसन कपड़ा उद्योग के अलावा) इतने पुराने नहीं हैं कि उनमे अधिक आधुनिकीकरण की जरूरत हो। टाटा आयरन एण्ड स्टील वर्क्स के सम्बन्ध मे, जो कि मूल उद्योगो मे से है सरकार की सहायता से आधुनिकीकरण का काम चालू है।

रूई तथा पटसन के कारखाना उद्योगो मे अभिनवीकरण करने के तीन मुख्य कारण हैं (i) उपकरण आदि लगाने के कारण देनगी, (ii) श्रम लागत की *उत्तरोत्तर वृद्धि, तथा (iii) विदेशी स्पर्द्धा।*

पिछले २० वर्षों से अधिक काल मे इन उद्योगो की उपकरण लगाने में देनगी बढ़कर बहुत हो गई है। १९३० के आस पास मंदी के जमाने मे अदायगी नहीं हो पाई थी। इसके बाद युद्ध काल में कल पुर्जों पर अधिक भार पड़ने के उपरान्त भी बदली नहीं हो सकी थी। युद्ध के बाद मे आयात निर्यात नियन्त्रणो के कारण उपकरण प्राप्ति कठिन थी तथा रूई और पटसन की कमी के कारण आधुनिकीकरण का प्रश्न खटाई में पड़ता रहा।

इसके पश्चात्, हाल ही के वर्षों में, श्रम-सगठनों की शक्ति में वृद्धि होने तथा श्रम सम्बन्धी प्रगतिवादी कानून बनने से श्रम लागत बढ रही है, इसलिए आधुनिक ढंग की मशीनें लगाना और अधिक आकर्षक हो गया है।

इसके अलावा सबसे प्रमुख समस्या विदेशी स्पर्द्धा की है। इनमें सबसे अधिक प्रतिस्पर्द्धा की सम्भावना पटसन उद्योग में है। पाकिस्तान में आधुनिक ढग के पटसन मिलों की स्थापना, तथा इसके स्थान पर अन्य माल के आविष्कार आदि तथा भारी मात्रा मे माल तैयार होने के कारण भारत मे इस उद्योग का भविष्य बहुत उज्ज्वल नही है। इसलिए मई १९५४ में पटसन उद्योग जाँच आयोग (Jute Industry Enquiry Commission) ने सिफारिश की कि अभिनवीकरण से सम्बन्धित समस्याओं की ओर सरकार को अधिक से अधिक विचार करना चाहिए। इस आयोग के अनुसार उद्योग के अभिनवीकरण के लिए ५० करोड रु० की रकम जरूरी है।

यद्यपि पटसन उद्योग के अभिनवीकरण की आवश्यकता को पूरे तौर पर स्वीकार किया जा रहा है, लेकिन कपडा मिल उद्योगों में श्रम की ओर से अभिनवीकरण का बडा विरोध हुआ है। श्रम की ओर से यह तर्क पेश किया जाता है कि स्वचालित करघों को लगाने से उद्योग म सैंकड़ो मजदूरों को काम पर से हटा दिया जाएगा।

यह तो स्पष्ट ही है कि यह मत एकांगी है। इस बात से इनकार नही किया जा सकता कि इस योजना को मानने से बेरोज़गारी फैलेगी, लेकिन यह तो निश्चित रूप से सम्भव है कि अभिनवीकरण के कार्यक्रम को कई चरणों में बाँटा जा सकता है। इसके अलावा उद्योग की सभी इकाइयों में अभिनवीकरण के लिए इतनी पूंजी कहाँ है? जबकि सभी मशीनों को बदलने के लिए ५०० करोड रु० की राशि आवश्यक है, उपलब्धि के नाम पर कठिनाई से ५०-६० करोड रु० की राशि जुटाई जा सकती है। इसके अलावा अभिनवीकरण न करने के खतरे की ओर किसी का ध्यान नहीं गया। यदि अभिनवीकरण पर तत्काल ध्यान नहीं दिया गया तो निर्यात का काम चौपट हो जाएगा। यह भारी हानि होगी। दूसरे दृष्टिकोण से यदि देखा जाए तो माल सस्ता होने से माँग बढने की सम्भावना है और इस प्रकार उद्योग के विस्तार से नियोजन का विस्तार भी होगा। इससे उपभोक्ता को भी लाभ होगा। अभिनवीकरण के फलस्वरूप उत्पादन बढने से श्रमिक का शेयर भी बढेगा और इसकी मजदूरी मे वृद्धि भी होगी।

इस तरह हम देखते है कि उचित तथा राष्ट्रीय नीति वह होगी जो कार्य-क्षमता तथा उन्नति में बाधक बनने के स्थान पर इन उद्देश्यों की प्राप्ति में प्रोत्साहन दे। लेकिन इस बात का ज्यादा ध्यान रखना होगा कि इस ओर धीरे-धीरे बढा जाए जिससे बेरोजगारी की समस्या कम से कम हो और उद्योगों के विस्तार के अनुरूप छटनी के लिए (retrenched) श्रमिकों को दोबारा काम में ले लिया जाए। साथ ही यह आशा भी की जाती है कि योजना के अन्तर्गत विकास-कार्यों के कारण देश में रोजगार के अवसर बढेंगे।

सितम्बर १९५४ म अभिनवीकरण के पक्ष म लोकसभा ने एक सकल्प पारित किया। इस अवसर पर वाणिज्य तथा उद्योग मत्री ने सरकार की नीति की घोषणा की। उन्होने कहा कि अभिनवीकरण के लिए प्रत्येक आवेदन पत्र पर, उसके हालात के अनुसार, जुदा विचार किया जाएगा। इसका इस प्रकार से किया जाएगा जिससे बेरोजगारी की समस्या उत्पन्न न हो तथा श्रमिको के कष्ट निवारण के लिए ऐसी इकाइया पर जिनका अभिनवीकरण हुआ है कर लगाया जाएगा जिसम विस्थापित श्रमिको को समय पर सहायता दी जा सके। अब यह आशा की जाती है कि प्रबन्ध तथा श्रम मिलकर सहयोग और आत्मीयता से इस कायक्रम का पूरा कर सकने म सहायक होगे।

केन्द्रीय श्रम मन्त्रालय ने अभिनवीकरण के सम्बन्ध म नया तरीका खोजा है। यह तरीका श्रम और नियोजक के बीच एक समझौते की व्यवस्था करता है। इस समझौते की शर्तो म एक शर्त यह है कि विभिन्न उद्योगा का अभिनवीकरण श्रमिको और नियोजक वर्ग के बीच समझौते और बातचीत के द्वारा हो। समझौते की शर्त है कि जब ऐसा अभिनवीकरण अभीष्ट हो जिसके द्वारा कुछ श्रमिको के विस्थापित होने का भय हो तो ऐसे अभिनवीकरण से पूव नियोजक या प्रबन्धक को श्रमिक सघो को कम से कम तीन सप्ताहो का और अधिक से अधिक तीन महीने का नोटिस देना होगा। उक्त नोटिस म अभिनवीकरण की तफसील उसकी तारीख श्रमिको की नई ड्यूटियाँ तथा उनकी होने वाली आय सबका जिक्र होना चाहिए। इसके पश्चात् नियोजक या प्रबन्धक एक ओर, और श्रमिक सघ के प्रतिनिधि मिलकर बातचीत करेंगे। फिर श्रमिक सघ अपनी रिपोर्ट प्रबन्धको को देंगे। यदि प्रबन्धक वर्ग और श्रमिक वर्ग में मतैक्य है, तो अभिनवीकरण का कार्य पूर्व घोषित तिथि को प्रारम्भ हो जाएगा। यदि अभिनवीकरण के फलस्वरूप कुछ श्रमिक बेकार हो जाते है तो समझौते के अनुसार निर्माणी (plant) को बढाना होगा या कार्यक्षेत्र बढाना होगा ताकि विस्थापित श्रमिक काम पर लगाए जा सकें। समझौते की एक शत यह भी है कि यदि कोई स्थान है तो किसी श्रमिक को विस्थापित नही किया जा सकता। और अन्त मे विस्थापित श्रमिको को दूसरे उद्योगो के लिए तकनीकी प्रशिक्षण की व्यवस्था करनी होगी, ताकि विस्थापित श्रमिक वैकल्पिक काम पा सके।

यदि दुर्भाग्यवश कुछ श्रमिको को विस्थापित होना ही पडे तो विभागो म नोटिस लगाने पडेंगे और श्रमिको से पूछना पडेगा कि कौन श्रमिक स्वेच्छा से मुआवजा (Compensation) लेकर विस्थापित होने को तैयार है। यह मुआवजा १९४७ के औद्योगिक विवाद अधिनियम की शर्तों के अनुरूप होगा। समझौते के अनुसार विस्थापित श्रमिक उसी नियोजक के अधीन भी काम पर लगाए जा सकते हैं। उक्त समझौते के अनुसार मध्यस्थो की भी व्यवस्था है जो श्रमिको और नियोजको दोना को मान्य होगे और जो दोनो विवादग्रस्त पक्षो के बीच मध्यस्थता करेंगे।

जुलाई १९५७ म भारतीय श्रम सम्मेलन हुआ था। उक्त सम्मेलन म अभिनवीकरण के सम्बन्ध में तीन शर्तें रखी गई थी—(क) अभिनवीकरण के फलस्वरूप श्रमिको की छटनी न हो, और न श्रमिको की आय म कमी हो, (ख) अभिनवीकरण

के फलस्वरूप जो लाभ हो उसमें समाज, नियोजक और श्रमिक वर्ग सभी को भाग मिले; (ग) कार्य के भार का उचित ज्ञान और उचित बटन हो।

सरकार ने आदेश दिया कि किसी उद्योगपति को अभिनवीकरण से पहले सरकार से यह प्रमाण-पत्र प्राप्त करना आवश्यक होगा कि अभिनवीकरण के फलस्वरूप देश का आर्थिक लाभ होगा।

अप्रैल १९५९ में राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (National Industrial Development Corporation) ने अभिनवीकरण के लिए नयी योजना प्रकाशित की। उक्त निगम, सूती वस्त्र उद्योग और पटसन उद्योग को नई मशीनें देने में, पुरानी मशीनों की मरम्मत में या अन्य सुधार कार्य में वित्तीय सहायता देगा। इस अभिनवीकरण सम्बन्धी व्यय के लिए कारखाना २५% धन तुरन्त जमा करेगा तथा ७०% धन की निगम व्यवस्था करेगा। उक्त ७०% धन को कारखाना ६% की ब्याज सहित पाँच बराबर किश्तों में चुकाएगा।

अध्याय १६

औद्योगिक वित्त और प्रबन्ध

(Industrial Finance and Management)

प्रश्न १—भारत में औद्योगिक वित्त व्यवस्था की वर्तमान प्रणाली का वर्णन कीजिए। इसके सुधार के सम्बन्ध म अपने सुझाव दीजिए तथा यह बताइए कि इस बारे में आजकल क्या किया जा रहा है। (दिल्ली १९५३, जे० एण्ड के० १९५३)

Q. 1—Describe the existing system of industrial finance in India Offer your own suggestions for improving it and say what is at present being done in this connection (*Delhi 1953 J & K 1953*)

भारत मे विशाल और लघु दोनो ही उद्योगो को वित्त का प्राय अभाव ही रहा है। यह हमारे वर्तमान औद्योगिक पिछड़ेपन के मुख्य कारणो मे से एक है। हम औद्योगिक वित्त के विषय मे वर्तमान स्थिति के विभिन्न अगो पर विचार करने से पूर्व सक्षेप से उल्लेख करेंगे कि वर्तमान समय म हमारे उद्योगो के वास्तविक वित्तीय साधन क्या हैं ?

वित्तीय साधनो के स्रोत (Sources of Finance)—हमारे अधिकाश उद्योगो, विशेषत, हमारे सूती मिल उद्योग जैसे महान् उद्योगो के लिए अवरुद्ध पूँजी के निम्न चार महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं—

(i) अश और ऋण-पत्र (Shares and Debentures)—अधिकाश पूंजी शेयरो या अशो की बिक्री से प्राप्त की जाती है। अशो के अलावा, ऋण पत्र भी जारी किए जाते हैं, किन्तु इनसे बहुत थोडी पूंजी मिलती है, क्योकि ये न तो पूंजी लगाने वालो (विनियोजको) और न ही कम्पनियो मे लोकप्रिय हैं। इसके अलावा बैंक ऐसे व्यवसायो को ऋण देने में प्राय सकोच करते हैं, जिन्होने ऋण-पत्रो को जारी किया हो।

(ii) प्रबन्ध अभिकर्त्ता (Managing Agent)—चूंकि भारतीय जनता औद्योगिक धन्धो मे विनियोग (पूंजी लगाने) करने की अपेक्षा सरकारी प्रतिभूतियो में विनियोग करना अधिक पसन्द करती है, इसलिए शेयर या अश पूंजी अधिकाशत अपर्याप्त होती है। इसलिए, औद्योगिक व्यवसायो को वित्त के लिए सामान्यतया अपने मैनेजिग एजेंटो या प्रबन्धाभिकर्त्ताओ पर निर्भर करना पडता है। प्रबन्धाभिकर्त्ता अशो की बडी भारी राशि क्रय करते हैं, विस्तार के लिए पेशगी धन देते हैं, और कठिनाई के समय व्यवसायो की सहायता करते हैं।

(iii) निक्षेप निधि (Deposits)—लोगो से निक्षेप निधि लेना एक अन्य साधन है। अहमदाबाद की कपडे की मिलो ने इस स्रोत से पर्याप्त वित्त प्राप्त किया

था। किन्तु यह विधि बहुत असन्तोषजनक है और इस पर भरोसा नहीं किया जा सकता। तनिक सी अशान्ति होते ही निक्षेप निधि निकालने की सम्भावना हो सकती है। इसके अतिरिक्त, इस प्रकार की अल्पकालिक निक्षेप निधि से दीर्घावधि विनियोजन की योजनाओं को वित्त देना भी बुद्धिमानी नहीं है।

(iv) बैंकों से नकद ऋण (Cash Credit from Banks)—उद्योग नकद ऋण विधि से स्टॉक के आधार पर व्यापारिक बैंकों से ऋण लेते हैं। लेकिन यह विधि भी दोषपूर्ण है। क्योंकि सम्भव है कि मन्दी के काल में अग्रिम न दिया जाए, और पुराने ऋणों को भी फिर से जारी न करके उन्हें वापिस मांग लिया जाय, जिससे उद्योग के पास कोष का अभाव हो जाए।

इन मुख्य स्रोतों के अतिरिक्त, हाल ही में शुरू किया गया औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation) भी है (इसके विषय में आगामी प्रश्न में चर्चा की जाएगी।) पुनर्वास वित्त निगम (Rehabilitation Finance Corporation) भी एक सस्था है जिसे भारत सरकार ने पाकिस्तान के विस्थापित उद्योगपतियों के उद्योग-व्यवसायों के लिए शुरू किया है, और जिसने १९४८ से ३० जून, १९५३ तक ६३ करोड रुपए बांटे। बडे-बडे शहरों में देशी बैंकर (सेठ और शराफ), जो अधिकतर छोटे और मध्य-स्तर के उद्योगों को धन देते हैं और उद्योगों को राज्य-सहायता के अधिनियमों के अधीन राज्य सरकारें सीधे ऋण देती हैं और राज्य वित्त निगम (State Finance Corporations) भी इस दिशा में छोटे उद्योगों को उधार देते हैं। जून १९५५ में सघ सरकार ने राज्य सरकारों को सूचना दी कि वह उनको कुछ निधि देगी जिससे वे लघु उद्योगों को उधार देने के नियमों को सरल बना सकें। इस निधि में राज्य सरकार द्वारा अशदान की हुई राशि से दुगुनी राशि केन्द्रीय सरकार द्वारा दी जाएगी। इसके अलावा राज्य बैंक के उपक्रम पर राज्य बैंक तथा एजेंसियों द्वारा लघु उद्योगों की सफलता के लिए सहयोजित उपबन्ध की योजना बनाई गई है। हाल ही में उद्योगों को वित्तीय सहायता देने के लिए तीन नए निगमों की स्थापना की गई है—(i) राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (National Industrial Development Corporation) (२० अक्टूबर १९५४ को स्थापित); (ii) भारत का औद्योगिक साख तथा विनियोजन निगम (Industrial Credit and Investment Corporation of India) (५ जनवरी १९५५ को स्थापित); तथा (iii) राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम (National Small Industries Corporation) (फरवरी १९५५ में स्थापित); तथा पुनर्वित्त निगम (Refinance Corporation) (जून ५, १९५८ को जिसकी रजिस्ट्री हुई)। इन निगमों के कृत्यों और नियमों का वर्णन प्रश्न ३ के अन्तर्गत किया जाएगा।

औद्योगिक वित्त की वर्तमान प्रणाली की प्रधान विशेषताएं (Main Features of the Present System of Industrial Finance)—भारत में औद्योगिक वित्त के विभिन्न स्रोतों की गणना करने के बाद, अब हम सारी स्थिति का आलोचनात्मक परीक्षण कर सकते हैं। वर्तमान प्रणाली के निम्न असन्तोषप्रद रूप तत्काल ही ध्यान में आ जाते हैं।

(i) औद्योगिक वित्त की सुविधाएँ अत्यधिक कम हैं। यहाँ कोई औद्योगिक बैंक नहीं है (इंडस्ट्रियल फाइनान्स कार्पोरेशन, जो हाल ही मे शुरू किया गया उसकी अभी चर्चा की जाएगी)। औद्योगिक रूप मे उन्नत देशों में औद्योगिक बैंक हैं। इनके अतिरिक्त वहाँ निर्गमन गृह (Issuing Houses) हैं, जो उद्योगों का धन देने में बहुत महत्त्वपूर्ण भाग लेते हैं। कुछ समय पूर्व तक हमारे यहाँ कोई ऐसी संस्था नहीं थी। लेकिन पिछले वर्षों मे दीर्घावधि औद्योगिक वित्त का उपबन्ध करने के लिए कई निगम बनाए गए हैं, जैसे औद्योगिक वित्त निगम (१६५४) राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (१६५४), भारत का औद्योगिक साख तथा विनियोजन निगम (१६५५), राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम (१६५५) अन्य राज्य वित्त निगम तथा पुनर्वित्त निगम आदि।

(ii) वित्त के वर्तमान स्रोतों की अपर्याप्तता के अतिरिक्त, उनमें भयंकर त्रुटियाँ भी हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, लोगों से प्राप्त निक्षेपों पर भरोसा नहीं किया जा सकता, मैनेजिंग एजेंट या प्रबन्धाभिकर्त्ता वित्त देने के बदले बहुत बड़ी कीमतें वसूल करते हैं, और व्यापारिक बैंक ऐसी कठोर और पुरानी लीक पर चलते हैं कि उनसे उद्योग को लाभ नहीं हो सकता। वह सामान्यतया व्यक्तिगत जमानत या अवरुद्ध पूँजी पर धन देने को तैयार नहीं होते और उसके विपरीत सहज वसूली-योग्य जमानत पर जोर देते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि उनसे सहायता नहीं मिल पाती। इसका परिणाम यह है कि 'संयुक्त स्कन्ध बैंकों द्वारा सहायता की जो कुल राशि मिलती है, वह प्राय उपेक्षणीय मात्रा है। राजकोषीय आयोग (Fiscal Commission) (१६४६ ५०) ने भी बलपूर्वक उल्लेख किया है कि व्यापारिक बैंकों से प्राप्त वर्तमान साख सुविधाएँ हमारे उद्योगों की वृद्धिपूर्ण आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त नहीं हैं।'

(iii) न केवल औद्योगिक वित्त अपर्याप्त है, वह महँगा भी बहुत है। लघु और मध्य स्तर के उद्योग बैंकों से बहुत कम ऋण लेने योग्य होते हैं। सामान्यतया वह व्यक्तिगत जमानत पर ऊँची दरों से देशी महाजनों और साहूकारों से ऋण लेते हैं। इसके अतिरिक्त बैंक ब्याज की ऊँची दर भी लेते हैं और हमारे उद्योग उसका भार वहन करने योग्य नहीं होते।

(iv) हमारे औद्योगिक वित्त की एक अन्य स्पष्ट विशेषता यह है कि इस क्षेत्र में राज्य का प्राय महत्त्वहीन सहयोग है। निःसन्देह, सब राज्यों में उद्योगों की राज्य सहायता सम्बन्धी अधिनियम विद्यमान हैं जिसके आधार पर राज्य सरकारें औद्योगिक उद्यमों के लिए अग्रिम देती हैं किन्तु इन अधिनियमों के अधीन जो वित्त-प्रबन्ध किया जाता है, वह अपर्याप्त होता है। राज्य से ऋण प्राप्त करने के लिए जो लम्बी चौड़ी कार्रवाई करनी पड़ती है, उसके कारण इस प्रकार के ऋण लोकप्रिय नहीं हैं।

सुधार के सुझाव (Suggestions for Improvement)—इस बारे में ३ मुख्य सुझाव ये हैं—(क) उद्योगों में सार्वजनिक नियोजनों को प्रोत्साहन देने का उपाय करना, (ख) ऐसे उपाय काम में लाने जिनसे मौजूदा संस्थाएँ औद्योगिक

वित्त उपलब्ध करने में अधिकाधिक काम कर सकें; और (ग) इस उद्देश्य के लिए नई उचित संस्थाओं की स्थापना करना। अब हम प्रत्येक पर विस्तार सहित विचार करेंगे।

(क) उद्योगों में सार्वजनिक विनियोजन को प्रोत्साहन देने के उपाय
(Measures to Stimulate Investment in Industries)

(i) निर्गमन गृह (Issue Houses)—इग्लैण्ड में स्थापित निर्गमन गृहों के अनुरूप ही भारत में भी ऐसे गृहों की स्थापना होनी चाहिए जिसमें पूँजी मार्केट में नई पूँजी संग्रह की जा सके।

(ii) विनियोजन न्यास तथा इकाई न्यास (Investment Trusts and Unit Trusts)—ऐसे न्यासों को चालू करना चाहिए जिसमें आम साधन-सम्पन्न व्यक्तियों को उद्योगों की ओर झुकने और पैसा लगाने का प्रोत्साहन मिले। यह भारतीय स्थिति में उचित रूप से अच्छा रहेगा, क्योंकि यहाँ लोग प्राय औद्योगिक इकाइयों में पैसा लगाने से डरते हैं।

(iii) श्रेष्टि-चत्वरों (Stock Exchanges) की संख्या बढ़ाई जाए जिससे विनियोजन करने वाली जनता को औद्योगिक इकाइयों के स्टॉक क्रय-विक्रय करने में आसानी हो।

(iv) प्रबन्ध अभिकरण व्यवस्था (Managing Agency System) के दोषों को दूर करना चाहिए चूंकि इनका विनियोजन पर बड़ा दूषित प्रभाव पड़ता है।

(v) जनता की बिखरी हुई तथा लघु बचत को संग्रह करने का प्रयास करना चाहिए। ऐसी विशेष बैंकिंग संस्थाएँ चालू करनी चाहिएँ जो थोड़ा पैसा जमा कराने वालों को विशेष सुविधाएँ प्रदान करें।

(vi) सर्वसाधारण की छोटी और बिखरी हुई बचतों का आर्थिक उपयोग होना चाहिए। विशेष प्रकार के बैंक गाँव-गाँव में खुलने चाहिएँ जहाँ छोटी बचत वाले लोग निक्षेप जमा कर सकें।

(ख) मौजूदा संस्थाओं की कार्रवाइयों का विस्तार करने के उपाय
(Measures for Enlarging the Activities of Existing Institutions)

(i) इस विषय में सबसे महत्त्व का सुझाव यह है कि वाणिज्यिक बैंकों तथा बीमा कम्पनियों को दीर्घावधि औद्योगिक वित्त उपलब्ध करने के हेतु अधिकाधिक काम करना चाहिए। इसके लिए सब से आवश्यक मार्ग यह होगा कि ऋण देने वाले बैंक बीमा कम्पनियों के साथ मिलकर सिंडिकेट या व्यवसाय संघ (Consortium) की स्थापना करें जो औद्योगिक इकाइयों के नए शेयरों और ऋण-पत्रों को जारी करने में हामीदार बनने अथवा विनियोजन का काम करें।

(ii) बीमा कम्पनियों को औद्योगिक वित्त के लिए अधिक अंशदान के प्रति प्रोत्साहित करना। बीमा अधिनियम को इस प्रकार संशोधित किया जाए कि बीमा

कम्पनियाँ अपनी निधि का अधिक भाग औद्योगिक शेयरो और ऋण पत्रो म लगा सकें। जहाँ तक वाणिज्यिक बैंको का सम्बन्ध है रिजर्व बैंक उद्योगा म अधिक लगान के लिए ऋण देने तथा पुन हुण्डी भुनाने आदि के उचित समायोजन द्वारा मदद कर सकता है।

(iii) औद्योगिक वित्त निगम तया राज्य वित्त निगमों की निधि तथा गतिविधियों का विस्तार करना चाहिए। इसे पूरा करन का एक उपाय तो यह है कि इनके शेयरा और बांडो को रिज़र्व बैंक अधिनियम के अन्तगत अग्रिमो के उद्देश्य के लिए सरकारी प्रतिभूतिया (securities) के समतल पर (at par) रखा जाए। इन निगमा को ऋण पत्रो के रूप म ऋण देने की छूट देनी चाहिए जिसस उचित समय में इन्हे मार्केट म रखा जा सके। नए उद्यमा को प्रोत्साहन देन के लिए ऋण की रकम पर ब्याज की दर घटानी चाहिए।

(ग) नई वित्त-सस्थाओ की स्थापना
(Establishment of New Financing Institutions)

नए औद्योगिक उद्यमो को प्रोत्साहन देने के लिए नए किस्म के विकास निगम (Development Corporation) की जरूरत है। यह वित्त देने वाले निकाय से अधिक होनी चाहिए—वास्तव म इसे औद्योगिक उद्यमा की नई दिशाएँ सुझानी चाहिएँ, उन्ह बढावा देना तथा वित्त पोषण करना चाहिए और जैसे ही उनसे लाभ होने लग उन्हे गैर सरकारी उद्यम के हाथो म सौप देना चाहिए। इस स्तर पर वे इसे लेन के लिए तैयार हो जाएँग। इसके अलावा गैर सरकारी क्षत्र म तकनीकी सलाह तथा वित्त का उपबन्ध भी इसी सस्था का काम है।

लघु स्तरीय उद्योगो के लिए भी विशेष विकास निगम (Development Corporation) की जरूरत है। इसकी सिफारिश शराफ समिति (Shroff Committee) ने की थी।

सरकार द्वारा अपनाए गए उपाय (Steps taken or being taken by the Government)—औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना १९४८ में हुई थी। इसकी रचना, कार्य आदि की चर्चा अगले प्रश्न मे की गई है। अधिनियम म हाल ही म किए गए सशोधना द्वारा इसकी उपयोगिता काफी बढा दी गई है। मार्च १९५८ के अन्त तक १२ राज्य वित्त निगमो की स्थापना हो चुकी थी। इन निगमो ने १९५७ ५८ म ४७७ करोड रु० के ऋण विभिन्न उद्योगो को स्वीकृत किए किन्तु केवल ३ ७१ करोड रु० के ऋण लिए गए। १९५६ म राज्य वित्त निगम अधिनियम का सशोधन हुआ। सशोधित अधिनियम के मुख्य उपबन्ध निम्नलिखित हैं—(i) दो या अधिक राज्या के लिए सयुक्त राज्य वित्त निगम की स्थापना या किसी राज्य वित्त निगम के क्षेत्राधिकार को बढाकर दूसरे राज्य तक लागू करना, (ii) निगम केन्द्रीय या राज्य सरकारो के अभिकर्ता के रूप में कार्य कर सकें या वे भारतीय औद्योगिक वित्त निगम के अभिकर्त्ता के रूप म कार्य कर सकें, (iii) राज्य सरकारा की जमानत पर या किसी अनुसूचित बैंक की जमानत पर या राज्य सहकारी बैंक की जमानत पर

उद्योग को साख उपलब्ध हो सके, (iv) निगम, सरकारी प्रतिभूतियों की जमानत पर रिजर्व बैंक से ऋण ले सके, (v) रिजर्व बैंक, निगम के कार्यकलाप की जांच कर सके।

पिछले वर्षों मे रिजर्व बैंक ने शराफ समिति की नियुक्ति की और उससे गैर-सरकारी क्षेत्र के लिए वित्त का उपबन्ध करने के लिए सिफारिशें करने को कहा। मई १९५४ मे इसकी रिपोर्ट पेश की गई तथा इसमें से कई सिफारिशों को कार्यान्वित किया जा चुका है। अन्य बातों के साथ-साथ रिजर्व बैंक ने—जुलाई १९५४ मे एक समिति की स्थापना की जिसका काम बैंकों और बीमा कम्पनियों द्वारा विस्तार से ऐसे व्यवसाय सघ या सिंडीकेट बनाने के काम पर विचार करना था, जो औद्योगिक कम्पनियों को नए शेयर तथा ऋण-पत्र जारी करने के लिऐ हामीदार बने अथवा विनियोजन करे।

१९५६ मे भारतीय स्टेट बैंक ने छोटे उद्योगों को वित्तीय सहायता देने की दिशा मे बडा कदम उठाया था। इस योजना में केन्द्रीय उद्योग विभाग, राज्यो के उद्योग विभाग, राज्यों के वित्तीय निगम और राज्यों के सहकारी बैंक प्रमुख भाग ले रहे हैं। इस योजना के अन्तर्गत ६९६ छोटे और कुटीर उद्योगों को २,३७,३६,००० रु० की सहायता १९५८ में दी गई थी।

औद्योगिक वित्त के क्षेत्र में सबसे प्रमुख और नया विकास राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम, भारत का औद्योगिक साख तथा विनियोजन निगम तथा राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम की स्थापना है।

पुनर्वित्त निगम (Refinance Corporation)—जून १९५८ मे पुनर्वित्त निगम की स्थापना हुई। इस निगम को इस उद्देश्य से स्थापित किया गया था कि गैरसरकारी क्षेत्र में मध्यम आकार के उद्योगों को मध्यमावधि के ऋण प्राप्त हो सकें। देश के १५ बडे-बडे बैंकों और जीवन बीमा निगम (Life Insurance Corporation) को इस निगम योजना में शरीक किया गया है। यह निगम इस समय १२.५ करोड़ रु० की पूंजी से प्रारम्भ हुआ है, किन्तु यह पूंजी बाद में बढ जाएगी। जबकि रिजर्व बैंक ५ करोड रु० देगा। यह निगम उन बैंकों को ऋण की व्यवस्था करेगा, जिन्होने द्वितीय पचवर्षीय योजना से सम्बन्धित उद्योगों में उत्पादन बढाने के लिए ऋण दिए हैं। पुन कटौती के लिए वे ऋण ही मान्य होगे, जो ३ वर्षों और ७ वर्षों की अवधि के बीच के लिए दिए गए होंगे, और ५० लाख रु० से अधिक के न होंगे।

इस उद्देश्य के लिए रिजर्व बैंक अधिनियम और स्टेट बैंक अधिनियम में आवश्यक सुधार कर लिये गए हैं। रिजर्व बैंक अधिनियम के सशोधित अधिनियम में उपबन्ध है कि रिजर्व बैंक ऐसी वित्तीय सस्थाओं को ऋण देगा जो उद्योगों को मध्यमावधि के ऋण देंगे। उसी प्रकार स्टेट बैंक (सशोधित) अधिनियम ने उपबन्ध किया है कि स्टेट बैंक ६ माह से अधिक के ऋण अचल सम्पत्ति की जमानत पर दे सकेंगे और इस सम्बन्ध में अब तक के लगे बन्धन समाप्त समझे जाएँगे।

उपर्युक्त से यह स्पष्ट है कि सरकार उद्योगों के विकासार्थ वित्त आदि का

उपलब्ध करने के प्रति पूर्ण सजग है। अब द्वितीय योजना के अन्तर्गत औद्योगिक विकास पर बड़ा बल दिया जा रहा है। इसलिए औद्योगिक वित्त के उपबंध के लिए उचित कारवाई की जा रही है। वास्तव में यह भविष्य के लिए नही सम्बद स्थिति का सूचक है।

प्रश्न २—औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation) के सगठन और कृत्यो तथा कार्यवहन का आलोचनात्मक उल्लेख कीजिए।

[कल० १९५२ तथा १९५६ गौहाटी ऑनर्स १९५३ बम्बई १९५४]

Q 2—Give a critical account of the organization functions and working of the Industrial Finance Corporation of India

(*Cal 52 and 1956 Gauhati Hons 1953 Bombay 1954*)

सघटन—भारत में चिरकाल से विशेष रूप में द्वितीय विश्व युद्ध के बाद औद्योगिक बैंक की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी क्योंकि युद्धोपरान्त देश में तीव्र गति से उद्योगीकरण की आवश्यकता और इच्छा बढ रही थी। इसलिए भारत सरकार ने १ जुलाई १९४८ को औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation) की स्थापना की।

इसका उद्देश्य उद्योगो की मध्य और दीर्घकालिक पूंजी आवश्यकताओ के लिए साख की व्यवस्था करना है। निगम की अधिकृत पूजी १० करोड रुपए की है जिसे प्रति ५ हजार रुपए के २० हजार प्रदत्त शेयरो में विभाजित किया गया है। इनमें से ५ करोड रुपए के १० हजार शेयरो को प्रथमावस्था में जारी किया गया है और उन्हें केंद्रीय सरकार रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंको बीमा कम्पनियो विनियोजन न्यासो सहकारी बैंको तथा अन्य वित्त सस्थाओ ने क्रय कर लिया है। इस प्रकार सस्थाएँ इस निगम की अशधारी हैं तथा निजी व्यक्ति इसके अशधारी या शेयरहोल्डर नही हैं।

केंद्रीय सरकार ने निगम के हिस्सो की गारण्टी दी है—अर्थात् मूलधन के पुन भुगतान के लिए और साथ ही २½% लाभाश का भुगतान करने के लिए।

वित्तीय स्रोतो में वृद्धि करने के लिए कार्पोरेशन को बॉड और ऋण पत्र जारी करने का अधिकार है किन्तु इसका कुल योग प्रदत्त पूंजी के चौगुने से अधिक नही होना चाहिए। इन बॉडो तथा ऋण पत्रो के पुन भुगतान और २½% के ब्याज के लिए भी केंद्रीय सरकार प्रतिज्ञाबद्ध है। कार्पोरेशन जनता से निक्षेप भी स्वीकार कर सकती है किन्तु वह कम से-कम १० वर्ष से पूर्व पुन भुगतान योग्य नही होंगे।

कृत्य (Functions)—कार्पोरेशन या निगम को निम्न कार्यों का अधिकार प्रदान किया गया है—

(क) ऋणो या अग्रिम का अनुदान अथवा औद्योगिक व्यवसायो के ऋण पत्रो को क्रय करना जो २५ वर्षों के अन्दर पुन भुगतान योग्य होंगे।

(ख) औद्योगिक व्यवसायो स्टॉको शेयरो या ऋण पत्रो का बीमा करना। किन्तु बीमा करने के इस कृत्य का पालन करने में जो कोई हिस्से या ऋण पत्र कार्पोरेशन या निगम वसूल करेगा उन्हें सात वर्षों के अन्दर अन्दर बेच देना होगा।

(ग) औद्योगिक व्यवसायों द्वारा उत्पन्न किए ऋणों की गारण्टी करना कि जो २५ वर्षों के अन्दर-अन्दर पुनः भुगतान योग्य हैं और जिन्हें सार्वजनिक बाजार में ऋणों के लिए जारी किया गया है।

फरवरी १९५२ तक, निगम ५½% ब्याज लेता था और समय पर पुनः भुगतान के एवज में ½% बट्टा देता था। अनन्तर, इसे ६% और उपरान्त ६½ प्रतिशत कर दिया गया है। इसके बाद २३ अप्रैल, १९५७ को ब्याज की दर बढ़ाकर ७% कर दी गई। जल्दी भुगतान (लौटाने) पर छूट उसी दर पर दी जाती है।

निगम केवल दीर्घकालीन ऋणों का अनुदान कर सकता है और वह भी केवल पब्लिक लिमिटेड कम्पनियों को ही। वह प्राइवेट लिमिटेड कम्पनियों तथा साभेदारी के व्यवसायों को ऋणों का अनुदान नहीं करता। न ही यह औद्योगिक उद्यम के हिस्से क्रय करके उनका हिस्सेदार बन सकता है। राज्य-स्वामित्व के व्यवसाय भी इसके क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं हैं। इसके कार्य-कलाप व्यापारिक बैंकों के, जो केवल अल्पावधि अग्रिम देते हैं, पूरक हैं, प्रतियोगी नहीं। जो भी हो, यह बहुत पहले से निर्णय किया गया था कि कार्यकारी पूंजी के लिए भी सीमित-स्तर पर ऋण दिए जाएँगे, खासकर उन व्यवसायों को, जिनकी प्रगति कार्यकारी पूंजी के अभाव के कारण रुकी हो। इसके अतिरिक्त कार्पोरेशन सामरिक तथा राष्ट्रीय महत्व के उद्योगों के विकास के लिए विशेष यत्न करता है। लघु और मध्य-स्तर के उद्योग इसके अन्तर्गत नहीं आते, क्योंकि यह राज्य वित्त निगमों (State Finance Corporations) के अधिकार-क्षेत्र में आते हैं।

औद्योगिक वित्त निगम जिन व्यवसायों को ऋण प्रदान करता है, उनकी निरन्तर देखभाल करता है, इसलिए ऐसे व्यवसाय सावधानी के साथ और सुदृढ़ आधारों पर कार्य करेंगे। इसके अतिरिक्त निगम ऋणों के आवेदन-पत्रों की तकनीकी विशेषज्ञों द्वारा जाँच कराता है, और इस प्रकार उद्योगों को तकनीकी परामर्श उपलब्ध हो जाता है और इससे उद्योग लाभान्वित होते हैं। निगम ने कपड़ा-व्यवसाय सम्बन्धी प्रस्तावों की जाँच के लिए वस्त्र-व्यवसाय परामर्शदात्री समिति की स्थापना की है।

१९४८ के औद्योगिक वित्त निगम अधिनियम में संशोधन किया गया। यह संशोधन प्रथमतः, कार्पोरेशन के कार्य-कलापों के क्षेत्र में वृद्धि के लिए; द्वितीय, उसके साधनों में अभिवृद्धि के लिए, जिससे वह औद्योगिक उद्यम की अधिक सेवा कर सके, किया गया था। इसलिए, व्यक्तिगत अग्रिमों की सीमा को ५० लाख रुपए से बढ़ाकर १ करोड़ रुपए कर दिया गया है और पोत-निर्माण कम्पनियों को कार्पोरेशन द्वारा वित्तीय साख प्रबन्ध के लिए औद्योगिक व्यवसायों की परिभाषा में शामिल कर लिया गया है। इसके अतिरिक्त, विदेशी ऋणों पर सरकार की गारण्टी के आधार पर कार्पोरेशन विश्व बैंक से ऋण लेने योग्य हुआ है और उस बैंक के साथ वस्तुतः ८० लाख डालरों के ऋण का समझौता किया गया है। इसके अतिरिक्त, वह रिजर्व बैंक से ३ करोड़ रुपए तक ऋण ले सकता है (किन्तु १८ मास से अधिक के लिए नहीं) और केन्द्रीय सरकार तथा रिजर्व बैंक अपने शेयरों पर लाभांश वसूल नहीं करेंगे; प्रत्युत उनके लाभांशों को निगम के विशेष अधिरक्षण कोष में तब तक जमा

किया जाएगा, जब तक उस कोष म ५० लाख रुपया जमा नही हो जाता। १९५५ में पुन सशोधन अधिनियम पारित हुआ। इसके अतगत अन्य उपबधो के अतिरिक्त यह भी शामिल है कि (i) निगम को केन्द्रीय सरकार से ऋण लेने के अधिकार की मजूरी तथा (ii) केन्द्रीय सरकार की आज्ञा से ७ वर्ष तक की अवधि के लिए स्टाक, शेयर, बांड अथवा ऋण-पत्र आदि रखने की छूट। उक्त सशोधित अधिनियम आज्ञा देता है कि कोई उद्योग, उत्पादन प्रारम्भ करने के पूर्व भी ऋण ले सकता है।

इसके बाद फिर नवम्बर १९५७ म औद्योगिक वित्त निगम अधिनियम म सशोधन हुआ। उक्त सशोधन के अनुसार निगम को अधिकार मिला है कि वह (१) प्रदत्त पूंजी (Paid up Capital) और रक्षित कोष के दस गुने तक ऋण ले सकता है, जब कि मौलिक अधिनियम में केवल पाँच गुनी राशि तक ऋण ले सकने की व्यवस्था थी। (२) राज्य सरकारो और स्थानीय सरकारो से भी निक्षेप प्राप्त कर सकेगा जब कि मौलिक अधिनियम म उसे केवल पब्लिक से निक्षेप लेने की छूट थी। और (३) पूंजीगत माल के आयातको से अग्रिमो की वापिसी म समय की छूट दे सकेगा। सशोधित अधिनियम के अनुसार औद्योगिक वित्त निगम से अनेक नये उद्योग भी केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारो, अनुसूचित बैंको और राज्य सरकारी बैंको की गारण्टी पर लाभ उठा सकेंगे।

कार्यवहन और मूल्याकन (Working and Estimate)—१९४८ म अपने प्रारम्भ से लेकर ३१ मार्च, १९५८ तक निगम ने ५७ ४२ करोड रुपए के ऋणो की स्वीकृति की है (जिसमें से २५ ३९ करोड रु० का ऋणियो ने उपयोग नही किया)। निगम ने अभी इतना लाभ नही कमाया है जिससे २½% का लाभाश दिया जा सके। इसलिए ३० जून, १९५४ को इसने सरकार से घाटा पूरा करने के लिए ३१ लाख रु० लिया। जुलाई १९५२ से जून १९५३ की अवधि में निगम अपनी कमाई में से पूर्ण लाभाश दे सका। इसकी असफलता का एक कारण इसका अपने काम को समुचित ढग से न चलाना रहा है। उदाहरण के लिए सोदेपुर फैक्टरी को दिए गए ऋण से इस भारी नुक्सान हुआ। इसके अलावा जब इसके भवन बनाने की बात खत्म की गई तो भवन निर्माता को दी गई १ ४९ लाख की रकम बट्टे खाते मे डालनी पडी।

जो भी हो, जिस ढग से इसने कार्य किया है, उसके विषय मे जनता ने इस की आलोचना की है। इसकी कार्यवहन पूंजी अपर्याप्त बताई जाती है, विशेषत देश के आकार और उसके लक्ष्य को दृष्टि मे रखते हुए कि जो इसे औद्योगिक प्रगति मे अभी पूर्ण रखना है। इस तरह इस बात का अनुभव किया जाता है कि निगम जो सहायता प्रदान कर रहा है, वह वस्तुत पर्याप्त नही है। औद्योगिक वित्त निगम ने द्वितीय योजना काल म १५ करोड रु० की राशि अपने वित्तीय कार्यक्रम को बढाने की दृष्टि से माँगी है। और १३ ५ करोड रु० की राशि निगम को प्राप्त भी हो गई है, जिससे वह वित्तीय सहायता के कार्यक्रम को बढा रहा है। ससद म इस बात पर काफी चर्चा रही कि निगम ऋण देने म पक्षपात करता रहा है और ब्याज की ऊँची दर लेता रहा है। असतोष का एक अन्य कारण यह भी है कि इसने प्राय आधुनिकीकरण तथा विस्तार के लिए ऋण दिया है। नई इकाइयो की स्थापना के लिए बहुत कम

ऋण दिया है। लेकिन १९५४-५५ में इस दिशा में कुछ परिवर्तन दृष्टिगोचर हुआ। इस वर्ष में १८ नई इकाइयों को ५.५ करोड़ की राशि दी गई और इसके विपरीत ६ पुरानी इकाइयों को १.८ करोड़ की रकम मंजूर की गई।

वस्तु-स्थिति यह है कि निगम के वर्तमान पूंजी-साधनों को, विशेषत. वर्तमान प्रारम्भिक स्तरों में अत्यधिक लघु नहीं मानना चाहिए। जिस देश में पूंजीगत विकास के लिए ऋणों की उचित परम्परा नहीं रही है, उसके विषय में गर्व करते हुए अंधाधुंध बढ़ना गलत होगा। इसके अतिरिक्त, निगम का ही सही काम तो पूंजी बाजार का पूरक बनना है, न कि उसकी जगह लेना। इसलिए पूंजी निर्माण और पूंजी विकास की उच्च दर पर अधिक भरोसा करना चाहिए। जहाँ तक सम्बन्ध निगम के स्रोतों के विकास का है, ज्यों-ज्यों आवश्यकता में वृद्धि होगी, पूंजी साधनों में भी वृद्धि की जा सकती है। जहाँ तक ब्याज की दर का सम्बन्ध है, बाजार-दर की तुलना में ब्याज-दर भी अत्यधिक नहीं है—आखिर कार्पोरेशन को अपनी सफलता के लिए व्यापारिक सिद्धांत पर ही कार्य करना होगा।

जहाँ तक प्रश्न यह है कि अधिकांश ऋण नयों की अपेक्षा विद्यमान उद्योगों को दिए जा रहे हैं, इसका अर्थ केवल यह है कि नई औद्योगिक इकाइयाँ इस प्रकार के आधार पर नहीं स्थापित की जाएँगी कि जो कार्पोरेशन के वर्तमान तथा भावी वैत्तिक साधनों को मतिपूर्वक समाप्त कर सकें। नई इकाइयों और उद्योगों के पोषण के लिए एक प्रकार का विकास निगम होना चाहिए, जो उन्हें रियायती दरों पर धन उपलब्ध कर सके। वास्तव में औद्योगिक विकास निगम (I. F. C) को वाणिज्यिक आधार पर काम करना है और बाजार-दर पर ब्याज लेना है।

औद्योगिक वित्त निगम के विरुद्ध अनियमितताओं की जो शिकायतें थीं उन्हीं को लेकर एक संसदीय जाँच समिति ने निगम के कार्यकलापों की आलोचनात्मक जाँच की थी, और उक्त समिति की निगम के प्रशासन-सम्बन्धी सिफारिशों को कार्यान्वित किया जा रहा है।

इसलिए, समग्र रूप में, यह निष्कर्ष निकालना उचित होगा कि निगम ने एक अत्यावश्यकता की पूर्ति की है और साथ ही उत्साहवर्द्धक आरम्भ किया है। आशा की जाती है कि कुछ समय बीतने पर यह संस्था अधिक लाभ प्रदान करेगी।

नोट—सुधार सम्बन्धी सुझावों के लिए उपर्युक्त प्रश्न १ के सम्बन्धित उत्तर को ध्यान से पढ़िए।

प्रश्न ३—राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम, भारत के औद्योगिक ऋण तथा विनियोजन निगम, तथा राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम के विधान तथा कृत्यों पर प्रकाश डालिए।

Q 3—Give the constitution and functions of the National Industrial Development Corporation, the Industrial Credit and Investment Corporation of India, and the National Small Industries Corporation.

राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम, भारत का औद्योगिक ऋण तथा विनियोजन निगम तथा राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम आदि की स्थापना उद्योगों को दीर्घावधि वित्त-

व्यवस्था करने के लिए हुई थी। इन निगमों के विधान तथा कृत्यों की रूपरेखा नीचे दी जा रही है—

राष्ट्रीय उद्योग विकास निगम (National Industrial Development Corporation)—इस निगम की स्थापना २० अक्तूबर १९५४ म हुई थी। यह एक प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी है और इसकी अधिकृत पूंजी एक करोड रुपया है और प्रदत्त (paid up) पूंजी १० लाख रुपया। इसका पूर्ण उपबन्ध भारत सरकार द्वारा हुआ है। अपनी कार्यगत पूंजी बढाने के लिए यह निगम शेयर तथा ऋणपत्र (debentures) जारी कर सकता है। इसका प्राथमिक उद्देश्य उद्योगो की उस सीमा तक वित्तीय सहायता करना है जिस तक वह सयोजित विकास म सहायक हो। इसम पूंजीगत माल के निर्माण को पूर्ववर्तिता दी जाएगी तथा औद्योगिक योजनाओ के अध्ययन और जाँच का काम शुरू किया जाएगा। इन्हे लागू करने म गैर सरकारी क्षेत्र म उपलब्ध औद्योगिक उपकरण, अनुभव तथा कौशल आदि का अधिकतम उपयोग करन पर बल दिया जाएगा। निगम उद्योगो की स्थापना भी कर सकता है, जिससे गैरसरकारी क्षेत्र में सहायक उद्योगो के विकास म सहायता मिलेगी।

१९५५ में भारत सरकार ने निगम द्वारा चालू होने वाले कई उद्योगो का अनुमोदन किया। जहाँ जरूरी था विशेषज्ञो तथा फर्मों के साथ मिलकर इन योजनाओ की विस्तृत जांच की गई। सूती वस्त्र और पटसन उद्योगो के पुनर्स्थापन तथा आधुनिकीकरण और आवश्यक वित्त की मजूरी के लिए इसे सरकार की एजेंसी माना गया। मार्च १९५८ तक राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम ने ६ सूती वस्त्र के कारखानो को २ २६ करोड रु० के ऋण दिए हैं और ५८ लाख रु० के ऋण दो पटसन के कारखानो को दिए हैं। एन० आई० डी० सी० की कार्यवाहियो को चालू रखने के लिए द्वितीय योजना म ५५ करोड रुपए का उपबन्ध किया गया है। इस धनराशि में से २०-२५ करोड की रकम रूई तथा पटसन कपडा उद्योगो के आधुनिकीकरण पर व्यय की जाएगी और शेष राशि मूल और भारी उद्योगो पर।

भारत का औद्योगिक ऋण तथा विनियोजन निगम (Industrial Credit and Investment Corporation of India)—५ जनवरी, १९५५ म इसकी स्थापना प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी के रूप में हुई। इसका उद्देश्य गैर-सरकारी क्षेत्र म उद्योगो की सहायता करना था। निगम की अधिकृत पूंजी २५ करोड रुपया है। मौजूदा जारी की गई पूंजी ५ करोड रुपए है—इसमे १०० रु० के मूल्य के ५ लाख शेयर हैं। निगम के शेयर, बीमा अधिनियम, १९३८ की धारा २७ (क) के अनुसार अनुमोदित विनियोजन है। आरम्भ म निर्गमित ६ करोड की राशि के अशो में से, २ करोड के अश कई भारतीय बैंको और बीमा कम्पनियो द्वारा लिए गए थे—इनम निगम के कई डायरेक्टर तथा उनके मित्र और साथी भी शामिल हैं एक करोड की राशि के अश राष्ट्रमण्डल तथा इगलैण्ड के बैंक, बीमा कम्पनियो तथा अन्य कम्पनियो द्वारा लिए गए, बाकी ५० लाख के अश सयुक्त राज्य अमेरिका के निगमो तथा वहा के निवासियो द्वारा लिए गए, शेष १ ५ करोड की राशि फरवरी १९५५ म भारत में जारी की गई और यह निर्गमन जरूरत से ज्यादा पूरा हुआ। मार्च १९५५ में भारत

सरकार ने निगम को बिना ब्याज ७·५ करोड़ रुपया दिया। इस राशि के मिलने के १५ वर्ष पश्चात् इसे १५ समान किश्तों में सरकार को वापस लौटाना है। आयात सामग्री, उपकरण तथा सेवाएँ आदि के क्रय के लिए विश्व बैंक ने निगम को विभिन्न मुद्राओं म १०० लाख डालर की रकम देने का आश्वासन दिया है। यह ऋण १५ वर्ष के लिए होगा और इस पर ४-५/८% का ब्याज लगेगा। निगम को ऋण लेने की शक्ति दी है, यदि ऋण ली गई तथा गारण्टी की गई राशि कुल अक्षत पूंजी (unimpaired capital) तथा अतिरिक्त पूंजी और भारत सरकार से लिये गए रक्षित धन और अवशिष्ट अग्रिम के तीन गुना से अधिक न हो। विश्व बैंक ने जुलाई १६५६ मे एक अन्य ऋण १०० लाख डालर का निगम को दिया है। उसी समय भारत सरकार ने भी १० करोड़ रु० का एक अतिरिक्त ऋण निगम को स्वीकृत किया, जो अमेरिका से प्राप्त कृषि उपज सामग्री की बिक्री के धन से दिया जाएगा।

निगम के मुख्य कृत्य निम्न होंगे—(१) गैरसरकारी क्षेत्र में औद्योगिक उद्यम के सृजन, विस्तार तथा आधुनिकीकरण मे सहायता, (२) ऐसे उद्योगों में आन्तरिक तथा बाह्य—दोनों प्रकार की गैरसरकारी पूंजी को प्रोत्साहन तथा उन्नति देना, तथा (३) औद्योगिक विनियोजन के गैरसरकारी स्वामित्व को प्रोत्साहन देना, उन्नति तथा विनियोजन मार्केट का विस्तार करना। इन कृत्यों की पूर्त्ति के लिए, यह निम्न कार्य करेगा—(i) दीर्घावधि अथवा मध्यमावधि अथवा समन्याय से वित्त का उपबन्ध करना, (ii) नए शेयरों तथा प्रतिभूतियों (securities) को जारी करना तथा हामीदार बनना, (iii) अन्य गैरसरकारी विनियोजन स्रोतों द्वारा निधि उपलब्ध कराना, (vi) जितनी तीव्र गति से सम्भव हो पुनः मूल्यांकन द्वारा पुन विनियोजन के लिए निधि उपलब्ध कराना, तथा (v) प्रबन्ध, तकनीकी तथा प्रशासनीय सलाह देना तथा भारतीय उद्योगों के लिए प्रबन्ध, तकनीकी तथा प्रशासकीय सेवाएँ दिलाने में सहायता करना।

१६५८ के अन्त तक यह निगम १,३३७ लाख रु० के ऋण स्वीकृत कर चुका था। जुलाई १६५६ तक इस निगम ने ६·८ करोड़ रु० के ऋणों का अभिगोपन (underwrite) किया था। किन्तु निगम को केवल १·८ करोड़ रु० के अंश और ऋण-पत्र लेने थे और शेष ५ करोड़ रु० प्राइवेट क्षेत्र से प्राप्त हो गए। इस प्रकार इस निगम ने प्राइवेट विनियोजन को प्रोत्साहित किया है। नए ऋणों के सहित, निगम के पास जुलाई १६५६ तक ३२·१ करोड़ रु० की पूंजी थी।

राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम (National Small Industries Corporation)—इस निगम की स्थापना फरवरी १६५५ में हुई। इसका काम वित्तीय सहायता करना तथा भारत में लघु उद्योगों के संरक्षण और बढ़ावे का काम करना था। लघु उद्योग वे हैं जिनमें आमतौर पर शक्तिचालित कारखानों में ५० से कम तथा शक्तिरहित कारखानों में १०० से कम मजदूर काम पर लगे हों। तथा इनकी पूंजी आस्तियाँ ५ लाख रु० से कम हों। इस निगम का पञ्जीयन गैरसरकारी सीमित कम्पनी के रूप में १० लाख रु० की प्राधिकृत पूंजी से भारत सरकार द्वारा हुआ। सरकार इसे उचित कार्यवहन पूंजी का उपबन्ध करेगी।

निगम के मुख्य कृत्य इस प्रकार हैं—(i) लघु स्तरीय इकाइयों के लिए सरकारी क्रय (Government Orders) का उचित शेयर दिलाना, (ii) ऐसी इकाइयों को जिन्होंने सरकारी क्रय आदेश प्राप्त कर लिया हो ऐसे नयों को पूरा करने तथा स्टैंडर्ड वस्तुओं के निर्माण के लिए आवश्यक ऋण और तकनीकी सहायता का प्रबन्ध कराना, (iii) विशाल तथा लघु स्तरीय उद्योगों के बीच परस्पर समायोजन स्थापित करना, जिससे सहायक वस्तुएं, पुर्जे तथा लघु स्तरीय उद्योगों के लिए आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति हो सके, तथा (iv) लघु स्तरीय इकाइयों के लिए बैंक और इस प्रकार की अन्य संस्थाओं द्वारा ऋण का अभिगोपन करना तथा गारण्टी करना तथा (v) छोटे उद्योगों को किराए पर मशीनों की व्यवस्था करना। केन्द्रीय सरकार से ऋण लेकर राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम, लघु उद्योगों की उपयुक्त सहायता करता है। अपने जन्म-काल से मार्च १९५८ तक इस निगम को १३० करोड़ रु० के ऋण और २८ लाख रु० के अनुदान मिल चुके हैं। १९५८-१९५९ के राष्ट्रीय आय व्ययक में इस निगम के लिए १८० करोड़ रु० की व्यवस्था की गई थी।

१९५७ में चार सहायक निगम स्थापित किए गए थे जिनमें से हर एक की अधिकृत पूंजी १० लाख थी।

ऊपर जिन तीन निगमों की स्थापना का वर्णन किया गया है उनके द्वारा देश में औद्योगिक वित्त व्यवस्था का समुचित प्रबन्ध होगा और अब हमारे उद्योग वित्त की कमी का अनुभव न करेंगे, ऐसी आशा की जाती है।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (International Finance Corporation)—भारतीय उद्योगों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम से भी वित्तीय सहायता मिल सकती है। यह अन्तर्राष्ट्रीय ऋण देने वाली संस्था है। इसकी स्थापना १९५६ में हुई थी। ५७ देशों ने ९,३६,६४,००० डालर की पूंजी से इस निगम को चालू किया था। इस पूंजी में भारत का अंश ४४,३१,००० डालर है। यह विश्व बैंक के निकट सम्पर्क में कार्य करता है। इसका मुख्य कार्य यह है कि अविकसित देशों के आर्थिक विकास में सहायता दे। यह निगम उत्पादक प्राइवेट उद्यमों के लिए बिना सम्बन्धित देश की सरकार की गारण्टी की अपेक्षा किए हुए प्राइवेट पूंजी और प्रबन्ध की गारण्टी पर ही वित्तीय सहायता देता है। इस दृष्टि से इसके कार्यकलाप विश्व बैंक के कार्यकलापों से भिन्न हैं। यह निगम सरकारी स्वामित्व के उद्योगों को भी सहायता नहीं देता। यह सरकारी प्रबन्धाधीन उद्योगों को भी सहायता नहीं देता। प्राइवेट उद्योगों को ऋण देकर और तदर्थ सरकारी गारण्टी की अपेक्षा न करके निगम गैरसरकारी उद्यमों को प्रोत्साहन देना चाहता है।

ऋण देने से पूर्व निगम (I F C) उन लोगों के राष्ट्रीय चरित्र और उनकी व्यावहारिक प्रतिष्ठा की जाँच करता है जिनके साथ उसे व्यवहार करना है। जिस उद्यम के लिए ऋण माँगा जाता है, उसकी भी प्रत्येक दृष्टिकोण से परीक्षा की जाती है।

१९५८ की अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (I F C) की रिपोर्ट से पता चलता है कि निगम ने उतने ऋण तो नहीं दिए जितने कि निगम की सहायता पर अन्य

गैरसरकारी क्षेत्रों से सम्बन्धित उद्योगों को प्राप्त हुए। निगम का मुख्य लाभ यह है कि उसके द्वारा किसी उद्योग को अधिकाधिक देशी और विदेशी प्राइवेट पूंजी प्राप्त होती रहती है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम उत्पादकों में प्राइवेट पूंजी लगवाने का एक निमित्त है।

निगम ने अपने दो वर्षों के कार्यकाल में १,०४,१७,००० डालर के ११ ऋण स्वीकृत किए हैं। फरवरी १६५६ में निगम ने भारत में पहली बार रिपब्लिक फोर्ज कम्पनी (Republic Forge Company) नामक एक सर्वथा नई उद्योगशाला को डा० १५,००,००० (७५ लाख रु०) का एक ऋण दिया था। उक्त कम्पनी हैदराबाद (भारत) में मशीनी उपकरणों का उत्पादन करती है। निगम ने हमको दूसरा ऋण डालर ८,५०,००० (४२५ लाख रु०) का अप्रैल १६५६ में पूना के किर्लोस्कर्स आयल एंजिन्स (Kirloskars Oil Engines) नामक फर्म के लिए दिया था।

विदेशी पूंजी (Foreign Capital)

हम पूर्व विभाग में देख चुके हैं कि भारतीय पूंजी किस प्रकार छिपी पड़ी है, और फलस्वरूप, हमारे उद्योगों के विकास के लिए स्वतः प्राप्य नहीं है। औद्योगिक विकास के एक बड़े भाग की अब तक की सफलता का श्रेय विदेशी उद्यम को है। तो प्रथम हमें यह विचार कर लेना चाहिए कि हमारे उद्योगों में विदेशी पूँजी की सीमा और क्षेत्र क्या है।

अनुमान (Estimates)—हाल ही में रिज़र्व बैंक आफ इण्डिया ने भारत में १६४६ से विदेशी विनियोजनों का विस्तृत सर्वेक्षण किया था। उक्त सर्वेक्षण की रिपोर्ट १६५० में प्रकाशित हुई थी। इस गणना के अनुसार, देश में ३० जून १६४८ तक विदेशी विनियोजन की कुल राशि ३२०.४२ करोड रु० आंकी गई है। इस राशि में से ६६.८ करोड़ रुपया नियन्त्रण-रहित विनियोजन था और २५३.६२ करोड रुपया नियन्त्रण-सहित विनियोजन था। २३० करोड़ रुपया ब्रिटिश विनियोजन का था। उनका ही प्रभुत्व था तथा वह कुल विनियोजन का ७२% था। संयुक्त राज्य अमरीका का विनियोजन १८ करोड़ रु० का था। कठिनाई से २०% निर्माण उद्योगों में लगा था और वह भी पटसन और रूई जैसे हल्के उद्योगों में।

रिज़र्व बैंक ने १६५४ में एक और सर्वेक्षण किया। इस सर्वेक्षण की रिपोर्ट से पता चला कि ३१ दिसम्बर, १६५३ तक ४२१ करोड़ रु० की विदेशी पूंजी भारत में विनियोजित थी। उसमें से ८०% सीधा विनियोजन था। मुख्य विनियोजन इंगलैण्ड का था अर्थात् ३५० करोड़ रु० का। संयुक्त राज्य अमरीका की ओर से २१ करोड़ की राशि लगी थी।

यद्यपि, प्रायः सब उद्योगों में मुख्य व्यवसाय विदेशी स्वामित्व वाले हैं, तथापि विदेशी पूंजी निम्न उद्योगों में विशेष रूप से प्रबल है : चाय और कहवा के बगीचों में, पोत-निर्माण, खानों, चमड़ा, जूट, ऊनी वस्त्र, साबुन, रबड़, माचिस और इंजीनियरिंग उद्योग। वैस्टर्न इंडिया मैच कं० लि० (दियासलाई), लीवर्स ब्रदर्स लि० (साबुन), डनलप कम्पनी (रबड़), इम्पीरियल कैमिकल्स लि० (रासायनिक उद्योग) कुछेक बड़े-बड़े विदेशी स्वामित्व के औद्योगिक उपक्रमों के उदाहरण हैं।

अब हम विदेशी पूंजी के साथ जुड़े हुए लाभों तथा हानियों की चर्चा करेंगे और भारत के आर्थिक विकास में उसने जो भाग लिया है, उसका विशेष उल्लेख करेंगे।

लाभ (Advantages)—साधारणतया, विदेशी पूंजी के उपयोग से निम्न लाभ होते हैं—

(i) विदेशी पूंजी देश के प्राकृतिक साधनों का शोषण करने के लिए लाभदायक ही नहीं अपितु अपरिहार्य भी हो सकती है। पूंजी और व्यापार उपक्रम दोनों ही देश में विद्यमान न होने की अवस्था में आर्थिक विकास केवल विदेशी पूंजी के आधार पर ही सम्भव होगा।

(ii) जब कोई नया उद्योग शुरू करना होता है तो उसके लिए योजना और स्वत प्रेरणा की बड़ी भारी आवश्यकता होती है। उद्योग के नए क्षेत्र में किसी व्यापार की रचना और उन्नति करना न केवल कठिन है, वरन् हमेशा इस बात का खतरा होता है कि अन्तत उद्योग की वह दिशा उद्योग प्रारम्भ करने वाली कम्पनियों को भी भारी क्षति पहुँचा सकती है। इसलिए विदेशी पूंजी व्यापार की नई दिशाओं को शुरू करने में महत्वपूर्ण कार्य करती है।

(iii) इसमें सन्देह नहीं कि विदेशी पूंजी से शुरू किए व्यापार के लाभ अधिकांशत विदेशियों के होते हैं किन्तु ऐसे उद्योगों में नियोजित श्रम को चुकता की गई पगारें तो देश के भीतर ही रह जाती हैं। यह कोई कम लाभ नहीं है। इसके अतिरिक्त विदेशी पूंजी को तो यथासमय आखिर अदा करना ही होगा किन्तु बहुमूल्य स्थायी सम्पतियों का भी तो निर्माण हो जाता है, जैसे, रेलें, सिंचाई कार्य आदि। इनसे आर्थिक विकास की ओर अधिक उन्नति होती है।

(iv) औद्योगिक प्रशिक्षण के उन अवसरों के संयोजन का एक अन्य लाभ है, जो विदेशी पूंजी के साथ उद्योगों के स्थापित करने से उत्पन्न होते हैं। यदि उद्योग नहीं होंगे, तो लोग ऐसा प्रशिक्षण क्योंकर प्राप्त करेंगे। वस्तुत देश में औद्योगिक वातावरण उत्पन्न हो जाता है, जो देशी पूंजी और उपक्रम को प्रेरणा प्रदान करता है।

हानियाँ (Disadvantages)—भारत में विदेशी पूंजी की वास्तविक स्थिति सुखद नहीं रही है, और विपरीतत इसके विषय में गम्भीर आलोचना हुई है। इसके उपयोग से देश को निम्न हानियां हुई हैं—

(i) राजनीतिक प्रभुत्व (Political Domination)—विदेशी पूंजी का निकृष्ट रूप राजनीतिक क्षेत्र में प्रकट हुआ है। विदेशी हितों के स्वार्थ उत्पन्न हो गए, जो स्वार्थवश, विदेशी शासन को जारी रखना पसन्द करते थे, और फलत, देश की राजनीतिक मुक्ति के हमेशा विरोधी थे।

(ii) निर्भरता (Dependence)—कड़े विदेशी नियन्त्रण के कारण, देश अपने उद्योगों के मामलों में पूर्णतया विदेशियों पर निर्भर हो गया। यहाँ तक कि मूल उद्योग और ऐसे उद्योग जो राष्ट्रीय प्रतिरक्षा के लिए अनिवार्य थे वे भी विदेशों के ही प्रभाव पूर्ण नियन्त्रण में थे।

(iii) शोषण (Drain)—विदेशी पूंजीपति शासक देश के हितों की चिन्ता

नहीं करते थे। उदाहरणार्थ, उन्होंने खनिज-साधनों का विकास देश-हित के लिए नहीं प्रत्युत अपने निजी उद्देश्यों के लिए किया था।

(iv) विभेद (Discrimination)—विदेशी पूंजीपति अपने निजी नागरिकों के पक्ष में और भारतीयों के विरुद्ध निकृष्ट प्रकार का भेद-भाव बरतने लगे। भारतीयों को निश्चित विधि के अनुसार महत्त्वपूर्ण प्रशासनात्मक और तकनीकी पदों से बाहर रखा जाता था। औद्योगिक शैलियों और विधियों को नितान्त गुप्त रखा जाता था।

प्रश्न ४—भारत में विदेशी पूंजी के नियोजन के विषय में जिस नीति का अनुसरण होना चाहिए, उसके सम्बन्ध में अपना निश्चित मत दीजिए।

Q. 4—Give your considered views regarding the policy which should be followed in respect of the employment of foreign capital in India.

भूतकाल की घटनाओं से जान पड़ता है कि भारत में विदेशी पूंजी अपने साथ बड़ा भारी अभिशाप भी लाई थी। हम यह भली प्रकार जानते हैं कि विदेशी पूंजी ने हमारे देश पर इंगलैण्ड के राजनीतिक प्रभुत्व को जारी रखने में किस प्रकार योगदान किया और किस प्रकार विदेशी पूंजीपतियों ने आन्तरिक आर्थिक विकास को उन्नत करने के बजाय अपने निजी लाभ के लिए हमारे बहुमूल्य प्राकृतिक स्रोतों का शोषण किया। इसलिए स्वाभाविक ही है कि भारत में विदेशी पूंजी के नियोजन के विरुद्ध जनमत पाया जाता है।

इससे अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि हमें विदेशी पूंजी की आवश्यकता है। इसके बिना, देश में आर्थिक विकास के चरण को विस्तृत करना सम्भव नहीं जो कि अपने देशवासियों के वर्तमान के घोर निम्न जीवन-स्तर को उन्नत करने के लिए अत्यावश्यक है। मौलिक उद्योगों का विकास करना होगा। हमें अपनी नव-विजित स्वतन्त्रता की भी जी-जान से रक्षा करनी है, और इसके लिए, शक्तिशाली वायु-सेना और जल-सेना का भी निर्माण करना है। निरन्तर वृद्धिपूर्ण जनसंख्या को अन्न भी देना है और उन उद्देश्यों के लिए बेकार भूमियों का सुधार करना होगा और बहुत सी बहु-उद्देश्यीय नदी-योजनाओं को पूर्ण करना होगा। किन्तु इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विशाल पूंजी की जरूरत है, जब कि हमारी पूंजी सम्बन्धी आवश्यकताओं और घरेलू बचतों के बीच बड़ी भारी खाई है। तिस पर भी जो अत्यल्प बचतें हम करते हैं वे भी दबी पड़ी रहती हैं और उनसे पूंजी का निर्माण नहीं होता।

तनिक विचार कीजिए कि हमको कितनी विशाल पूंजी की आवश्यकता है। १९५३-५४ की चलार्थ और वित्त सम्बन्धी रिपोर्ट में बताया गया था कि प्रथम पंचवर्षीय योजना के लिए देश में उपलब्ध पूंजी १,१२३ करोड़ रु० थी। जब कि योजना के लिए आवश्यकता थी २,२४४ करोड़ रु० की। इसी प्रकार द्वितीय योजना को पूरा करने के लिए भी ८०० करोड़ रु० की विदेशी सहायता की आवश्यकता है। यदि अभीष्ट विदेशी ऋण नहीं मिलते, तो फिर या तो हमको विकास योजनाओं में काट-छांट करनी होगी, या फिर घाटे की वित्त-व्यवस्था का आश्रय लेना होगा। सार्वजनिक क्षेत्र की इन महान् वित्तीय आवश्यकताओं में यदि हम प्राइवेट क्षेत्र की

आवश्यकताओं को भी जोड दें तो निस्सदेह हमको बहुत बडी विदेशी सहायता की आवश्यकता है।

हमारे अपर्याप्त पूँजी साधनो का न केवल पूरक बनने म ही विदेशी पूँजी का महत्व निहित है प्रत्युत इस कारण भी कि पूँजीगत उपकरण और साथ ही साथ प्रौद्योगिक तथा औद्योगिक ज्ञान लाभ भी केवल विदेशी पजी के साथ ही प्राप्त किया जा सकता है।

अब हमको ऐसी नीति अपनानी चाहिए जो विदेशी पजी को आकर्षित करे। इसी कारण विदशी पूजी पर लगे अनेक ऐसे प्रतिब धो का अब उल्लेख तक अनावश्यक हो गया है कि जिनके विषय मे एक समय प्रबल आयोजन उपस्थित किया गया था। यही बात इस समय हमारी सरकार ने भी की है। अप्रैल १९४८ म सरकार की औद्योगिक नीति मे जिन कुछ एक प्रतिब धो को सम्मिलित किया गया था उनमे अप्रैल १९४९ में, प्रधान मत्री के विधान सभा मे दिए गए वक्तव्य मे पर्याप्त सशोधन भी कर दिया गया था।

इस उत्तरकालीन वक्तव्य म निम्न तीन महत्त्वपूर्ण आश्वासन दिए गए थ—

(क) सामान्य औद्योगिक नीति को लागू करन मे विदेशी और भारतीय व्यवसाय के बीच कोई भेद-भाव नही बरता जाएगा।

(ख) देश की विदेशी विनिमय स्थिति के अनुरूप लाभो को भेजने तथा पूंजी को लौटाने सम्बन्धी युक्तिसगत सुविधाएँ प्रदान की जाएँगी।

(ग) वर्तमान म राष्ट्रीयकरण का कोई विचार नही है। किन्तु राष्ट्रीयकरण का विचार होने की दशा मे विदेशी विनियोजको को न्यायपूर्ण और उचित मुआवजा दिया जाएगा।

जो भी हो, हमे इस ओर विशेष सतर्क रहना होगा कि जिस विदेशी पूंजी का हम आयात करें उसमे कोई राजनीतिक शर्त नही होनी चाहिए। इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि विदेशी पूंजी केवल पूरक बनती है और देशी पूजी तथा उपक्रम का प्रतिस्थापन नही करती। देश को विदेशी पूँजी के विनियोजन से लाभ होगा बशर्ते कि इसका उपयोग निम्न दिशाओ में हो—(i) सार्वजनिक योजनाएं जिनके लिए विदेशी पूँजी, उपकरण और प्रौद्योगिक ज्ञान की आवश्यकता है, (ii) नए औद्योगिक व्यवसाय, जिसके लिए देशी उपक्रम प्राप्त नही हो रहा, (iii) विद्यमान उद्योग, जो घरेलू माँग को पूरा करने के लिए पर्याप्त गति के साथ विस्तृत नही हो रहे। भारत सरकार इन सावधानियो पर पहले ही से सतर्क है।

दो ऐसे मुख्य मार्ग हैं जिनसे किसी देश मे विदेशी पूजी आ सकती है—एक साम्य पूँजी क रूप का है अर्थात्, या तो अकेले विदेशियो द्वारा अथवा देश के नागरिको के साथ मिलकर नए औद्योगिक उद्यमो को शुरू किया जाए और इस प्रकार के व्यवसायो के लिए अधिकारा पूंजी हिस्सो, आदि के रूप मे विदेशियो द्वारा क्रय होनी चाहिए। दूसरी विधि यह है कि वैदेशिक सरकार अथवा अर्द्ध-सरकारी सस्थाओ से नियत ब्याज पर विदेशी पूँजी या तो सरकार प्राप्त करे अथवा बडे बडे औद्योगिक व्यवसाय स्वत प्राप्त करें और ऐसी पूंजी का औद्योगिक विकास के लिए उपयोग

किया जाए। इन दोनों मे पहली विधि बेहतर है। नए उद्यम की जोखिम विदेशी नियोजक स्वय उठा लेते हैं तथा मन्दी के समय ब्याज की निश्चित दर का बोझा भी नही पड़ता।

इस विधि में श्रेष्ठ आधार यह होगा कि विदेशी और भारतीय पूँजीपतियों के बीच पारस्परिक साझेदारी की प्रणाली हो। इससे भारतीय नागरिकों को औद्योगिक अनुभव प्राप्त होगा। इसलिए हमारी नीति सयुक्त उपक्रमो की इस प्रणाली को प्रोत्साहन देने वाली होनी चाहिए। इस दिशा मे पूर्वत: ही श्रीगणेश हो चुका है, जैसे, मोटरकारो के निर्माण के लिए बिरला नफिल्ड सघ (Birla Nuffield Combine), रग सामग्री के निर्माण के लिए टाटा इम्पीरियल कैमिकल इडस्ट्रीज (Tata Imperial Chemical Industries) की साझेदारी, और बाइसिकिलों के निर्माण के लिए सेन-रैले (Sen-Raleigh) की साझेदारी। इस तरह की साझेदारी के व्यवसायो की सख्या मे वृद्धि होनी चाहिए। जो भी हो, ऐसे समझौते सरकारी मजूरी से होने चाहिएँ और उनमें भारतीयो को प्रशिक्षण प्रदान करने और उन्हें गुप्त विधियों के ज्ञान-लाभ की व्यवस्थाएँ भी करनी चाहिएँ।

विदेशी सरकारें भी अनुदान या ऋणों के रूप में विदेशी पूंजी दे सकती हैं। पिछले कुछ वर्षों में भारत को सयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत यूनियन से पर्याप्त वित्तीय सहायता उपलब्ध हुई है। अभी हाल ही मे विदेशी मुद्रा की सकटापन्न स्थिति में भारत ने कई भिन्न देशों मुख्यत अमेरिका, इगलैण्ड, पश्चिमी जर्मनी, कनाडा और जापान से पर्याप्त सहायता ली थी। सोवियत रूस ने भी सरकारी स्तर पर भारत को पर्याप्त पूँजी उधार दी। अगस्त १९५९ तक भारत को रूस से ३०० करोड रु० की सहायता प्राप्त हो चुकी थी।

पूंजी-निर्माण
(Capital Formation)

हमारे अनथक यत्नो के बावजूद भी, विदेशी पूँजी किसी सराहनीय सीमा तक नहीं आ रही, परन्तु हमारा औद्योगिक विकास अब अधिक देरी सहन नहीं कर सकता, इसलिए, हमें स्व-सहायता पर ही निर्भर रहना होगा।

अर्थ (Meaning)—केवल धन बचाने से ही पूंजी का निर्माण नही हो जाता। यह उससे कही अधिक बड़ी बात है, और इसमें तीन विस्तृत चरणों का समावेश है—(१) बचतों की उत्पत्ति करना, जो इच्छापूर्वक बचत करने और बचत करने की शक्ति पर निर्भर है; (२) इन बचतों को विनियोग-योग्य कोषों में परिणत करने के द्वारा इनका सग्रह करना; (यह दूसरी विधि बैंकिंग प्रणाली की योग्यता पर निर्भर करती है); और (३) इन विनियोग-योग्य कोषों से पूँजीगत वस्तुओं को प्राप्त करना (यह व्यापार उपक्रम पर निर्भर है।)

अब हम अपने देश में पूंजी-निर्माण की स्थिति के विषय मे चर्चा करेंगे।

प्रश्न ४—भारत में पूँजी-निर्माण के महत्त्व पर विचार कीजिए। कौनसे अश, विशेषत: हाल ही के वर्षों में इसका अवरोध कर रहे थे? इसकी वृद्धि के लिए आप क्या सुझाव दे सकते हैं?

Q 4—Discuss the importance of capital formation in India What factors have been retarding it, particularly in recent years ? What suggestions can you offer to stimulate it ?

हमारे देश के भयकर निम्न जीवन-यापन स्तरो के कारण आर्थिक विकास शीघ्रातिशीघ्र होना चाहिए। हमारे कृषि और उद्योग दोनो ही बुरी तरह पिछड़ हुए है। दूसरी ओर, जनसख्या सरपट गति से बढती जा रही है। इन बातो को ध्यान में रखकर प्रथम और द्वितीय योजनाएँ शुरू की गई। इन योजनाओ की सफलता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है पूँजी का अभाव। अभी कुछ दिनो से उन्नत देशो से पूँजी प्राप्त करने के यत्न किए जा रहे है किन्तु प्रत्युत्तर म निराशा से ही पाला पडा है। बावजूद हमारे विश्वासो के हम बहुत ही थोडी किन्तु बहुमूल्य पूँजी प्राप्त हुई है। इसलिए, हमें वर्तमान सकट म अपनी सहायता के लिए अपने देश म से ही पूँजी *निर्माण करना है। हमारे सामने रूस और जापान के उदाहरण ह। दोनो ने अपना* आर्थिक निर्माण मुख्यत अपने आन्तरिक पूँजी-निर्माण द्वारा किया। यह पूँजी निर्माण उन्होंने सयमपूर्ण जीवन के आधार पर सम्भव किया। हम बताया गया है कि जापान ने अपने आर्थिक विकास के प्रारम्भिक वर्षों में अपनी वार्षिक आय की ५० प्रतिशत तक बचाया। इसी प्रकार रूस मे, उसकी प्रथम पचवर्षीय योजना के काल म, देश की राष्ट्रीय आय का ¼ से ⅓ तक विनियोजित था (अर्थात, मरम्मत और नवीकरण के लिए सामान्य विनियोजनो से अतिरिक्त)।

किन्तु भारत मे आन्तरिक पूँजी-निर्माण की गति अत्यन्त धीमी रही है। १९४८-४९ से लेकर १९५३-५४ तक देश म आन्तरिक पूँजी निर्माण समस्त राष्ट्रीय आय का ४.२% से ६.८% तक रहा है। *यह गति अति मन्द है और इस गति स न तो देश का* आर्थिक कायाकल्प होगा, और न निम्न जीवन स्तर म कुछ सुधार *होगा*। अनुमान लगाया गया है कि जिस देश की जनसख्या १½% प्रति वर्ष की दर से (जैसा कि भारत मे है) बढ रही हो, उस देश को ४% या ५% प्रति व्यक्ति आय का भाग (बढी हुई जनसख्या को भोजन देने के लिए) पूँजी-निर्माण म लगाना चाहिए। और यदि फिर आगे आर्थिक विकास अभीष्ट है तो लगभग २०% राष्ट्रीय आय, विकास के कार्य म पूँजी रूप मे लगनी चाहिए।

इस दर में वृद्धि के उपायो की चर्चा से पूर्व, हम पहले वर्तमान निम्न दर के कारणों का विश्लेषण करने की चेष्टा करेंगे।

वे तत्व जिन्होंने पूँजी निर्माण के मार्ग में बाधा उपस्थित की है (Factors which have hindered capital formation in India)—(i) सर्वप्रथम, देश म *अल्प वार्षिक उत्पादन के कारण बचत की अत्यल्प दर है। बचतें अन्तत उपभोग* के उपरान्त उत्पादन का आधिक्य ही तो है। जब उत्पादन केवल इतना ही होता है कि न्यूनतम स्तरो से उपभोग के लिए ही पर्याप्त हो, तब हम सुविधापूर्वक बचत की सीमा की क्या आशा कर सकते है ?

(ii) जो कुछ भी थोडी बचत हो पाती है वह उद्योगो म लगाने के लिए नहीं दी जाती। इसके विपरीत, इसे दबा लिया जाता है। इसी कारण भारतीय पूँजी को सकोचशील कहा जाता है।

(iii) पूंजीपति उद्योगों के राष्ट्रीयकरण से अत्यधिक भयभीत हो गए थे। वस्तुत, अधिकांश उद्योगों के सम्भाव्य राष्ट्रीयकरण के विषय में अनेक ज़िम्मेदार राजनीतिक नेताओं ने बहुत ही निराधार बातें की। जो भी हो, यह भय निराधार था। १९४८ में औद्योगिक नीति सम्बन्धी दिया गया वक्तव्य और पर्याप्त मुआवजे के बिना राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध भारतीय संविधान (अनुच्छेद ३१) का निर्देश इस दिशा के सभी सन्देहों को नष्ट कर देता है। परन्तु १९५६ में संविधान के संशोधन से जो यह निर्णय हुआ कि मुआवजे की रकम का निर्धारण कार्यपालिका करेगी, इसमें पुनः पूंजी के विनियोजकों को शंका ने आ घेरा है और वे पूंजी लगाने में हिचक रहे हैं।

(iv) करारोपण की उच्च दर ने भी पूंजी-निर्माण को निरुत्साहित किया है। १९४७-४८ के लियाकतअली बजट ने वृद्धिपूर्ण करारोपण के कारण पूंजी-निर्माण को भयकर धक्का पहुँचाया। इसमें सन्देह नहीं कि बाद के अर्थ-मन्त्रियों ने कई छूटें और रियायतें देकर लियाकत बजट की बुराइयों को दूर करने की चेष्टा की थी, किन्तु उनके परिणामों के लिए समय तो चाहिए ही। किन्तु इन्हीं दिनों पचवर्षीय योजनाओं की आवश्यकताओं को पूरी करने के लिये करारोपण की उच्च दरें और साथ ही साथ मृत्यु-कर और सम्पत्ति-कर आदि ने बचत और विनियोजन को भारी क्षति पहुँचाई है।

(v) समाज में, सम्पत्ति-विभाजन की दिशा में भी परिवर्तन हुआ है। उदाहरणार्थ, मध्य-वर्ग, जिसे बचत करने और विनियोग की आदत थी, मुद्रास्फीति के कारण बर्बाद हो गया है। किसान और औद्योगिक मजदूर, जो इस समय बचत करने की स्थिति में हैं, विनियोजन के आदी नहीं।

(vi) हाल ही के वर्षों में, विनिमय स्कन्धों में अत्यधिक सट्टेबाजी हुई है, जिसके फलस्वरूप पूंजी कीमतों में विस्तृत स्फीति हुई है। इससे स्वभावत, वास्तविक विनियोजक उद्योगों में पूंजी लगाने के लिए प्रेरित नहीं हुआ।

(vii) द्वितीय विश्व-युद्ध के आरम्भ के साथ संयुक्त पूंजी कम्पनियों का अंधाधुन्ध जन्म हुआ। किन्तु इस तरह की कम्पनियों की मैनेजिंग एजेन्टों के दूषणों के कारण दुर्गति हुई। इस प्रकार अनेक विनियोजक बर्बाद हो गए। इसने सामान्यतः विनियोजन के मार्ग को रोक दिया।

(viii) इधर हाल के कुछ वर्षों में सरकार ने कुछ उद्योगों और कुछ औद्योगिक श्रमिक वर्ग पर कतिपय नियन्त्रण लगाये हैं जो उद्योगों के विनियमन की दृष्टि से नितान्त आवश्यक थे। किन्तु इन नियन्त्रणों के कारण भी पूंजी के विनियोजन पर उल्टा असर पड़ा है। हाल के श्रम सम्बन्धी विधान ने भी उद्योगों को वित्तीय कठिनाई में डाल दिया है। इससे भी पूंजी-निर्माण में बाधा आई है।

उपचार (Remedies)—पूंजी निर्माण की समुचित दर की अत्यावश्यकता को दृष्टि में रखते हुए, हाल ही के वर्षों में उत्पन्न हुई बुराइयों का न केवल निरोध करने के लिए ही उपाय करने होंगे प्रत्युत पूंजी-निर्माण की उचित वृद्धि के लिए भी प्रबल और निश्चित उपाय करने ही होंगे।

विविध उपायों में, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि देश में जल्दी ही जल्दी सुदृढ़ बैंकिंग संस्थाओं का विकास किया जाय। इससे अधिक ग्राम रचना या संरचना करने के लिए बैंकिंग विषयक सुविधाओं का विस्तार करना चाहिए क्योंकि सम्पत्ति वितरण का सरकाव ग्राम-क्षेत्रों की दिशा में हुआ है। १९४९ की ग्राम बैंकिंग जाँच समिति ने इस सम्बन्ध में बहुमूल्य सुझाव उपस्थित किए थे। देश में ग्रपसंग्रह (दबान) की आदत का सख्ती के साथ सामना करना चाहिए। छोटी छोटी बचतें करने वाला विपद्‌ स्त्रियों में बचत आन्दोलन को सगठित करना चाहिए।

समुचित विनियोगों में बचतों के मुक्त बहाव को प्रोत्साहन देने के लिए स्थान विनियमों को उनके सट्टे सम्बन्धी कार्य कलापों से अलग करना चाहिए। कम्पनी सम्बन्धी कानून में इस ढंग से संशोधन होना चाहिए कि मैनेजिंग एजेंटों को उनके कार्य करने के ग्रवसर ही न रहें। विनियोजन करने वाली जनता का अपने विनियोगों को भिन्न रूपी बनाने और इस प्रकार जोखिम को फैलाने के लिए विनियोग प्रन्यासों की स्थापना की जानी चाहिए। नये उद्योगों की स्थापना, उनके विकास और उनकी वित्त-व्यवस्था के लिए औद्योगिक विकास निगमों (Industrial Development Corporations) की स्थापना होनी चाहिए, जो उद्योगपतियों को समय समय पर तकनीकी सलाह दे सकें।

यह प्रसन्नता की बात है कि पिछले कुछ वर्षों में ऊपर बताये हुए उपायों पर अमल किया गया है। अतः आशा करना चाहिए कि देश में पूजी निर्माण का प्रोत्साहन मिलेगा। कम्पनी लॉ को १९५६ में पूरी तौर से दोहराया गया था तथा इसके अन्तर्गत एक राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (National Industrial Development Corporation) की स्थापना सरकारी स्वामित्व और प्रबन्ध में की गई। इसके अलावा एक अन्य गैरसरकारी औद्योगिक ऋण तथा विनियोजन निगम (Industrial Credit and Investment Corporation of India) की स्थापना की गई है। लघु बचत आन्दोलन तेजी से चालू किया गया है और राष्ट्रीय योजना ऋण (National Plan Loan) जमा किया गया। इस प्रकार पूजी निर्माण की समग्र स्थिति बड़ी सन्तोषजनक है।

मैनेजिंग एजेंसी प्रणाली
(Managing Agency System)

भारतीय उद्योगों के प्रबन्ध और वित्त व्यवस्था से सम्बन्धित समस्या मैनेजिंग एजेंसी की व्यवस्था है। यह विगत सदी के उत्तरार्द्ध में उत्पन्न हुई थी। इसकी उत्पत्ति के निम्न महत्त्वपूर्ण कारण थे—(i) भारतीय पूजी संकोचशील थी, (ii) संयुक्त स्कंध व्यापारिक बैंक विधि का विकास बाद में हुआ था, (iii) वित्तीय साधनों के लिए विशिष्ट संस्थाएँ नहीं थीं, जैसे निगम गृह (issue houses) और औद्योगिक बैंक, (iv) उपक्रम और प्रबन्ध विषयक कुशलता का अभाव।

अर्थ और कृत्य (Meaning and Functions)—मैनेजिंग एजेंट या तो साझेदारी की फर्में या प्राइवेट लिमिटेड कम्पनियां होती हैं, जो ऐसे व्यक्तियों के समूह द्वारा निर्मित होती हैं जिनके अधिकार में व्यापार उपक्रम और पर्याप्त वित्तीय

साधन होते हैं। उनके मुख्य उद्योगो सम्बन्धी कार्य निम्नलिखित होते हैं—(१) वह नये व्यवसायो को आरम्भ और उन्नत करते हैं। भारत में जूट मिलें, चाय के बागीचे और कोयला कम्पनियाँ मैनेजिग एजेंसी प्रणालियों द्वारा आरम्भ की गई थी, (२) वह उद्योगो के दिन-प्रति-दिन का प्रबन्ध-कार्य करते है, यह कृत्य अन्य देशों मे मैनेजर या मैनेजिग डाइरेक्टर करता है। (३) वह उद्योग के लिए वित्त-साधन की व्यवस्था करते है, या-तो प्रधान हिस्सेदारो के रूप मे अथवा सीधे ऋणों द्वारा या वैको द्वारा पेशगियो के लिए व्यक्तिगत जमानत के रूप मे। सितम्बर १९५५ मे तत्कालीन वित्त मन्त्री ने भारतीय लोकसभा मे बताया था कि देश में प्रबन्धाभिकर्त्ताओ (Managing Agents) ने उद्योगो के विकास मे प्राय: ५०-६० करोड रु० की पूँजी लगा रखी है। इसके अतिरिक्त, मैनेजिग एजेंटो की साख जनता और निजी अमानतो के क्रमश प्रवाह के लिए विश्वास प्रदान करती है; (४) वह अपनी कम्पनियो के उत्पाद की बिक्री के लिए और कच्चे पदार्थों, सचयो तथा मशीनो का क्रय करने के लिए एजेंटो के रूप मे कार्य करते हैं। सक्षेप मे प्रबन्धाभिकर्त्ता (Managing Agents) उद्योगो के प्रारम्भक, उन्नायक, प्रबन्धक और वित्त-पोषक सभी कुछ होते हैं।

इन सब सेवाओ के लिए उन्हे फर्मों से बिक्री, उत्पादन या लाभो पर बट्टे के रूप मे पारिश्रमिक मिलता है।

मूल्यांकन (Estimate)—राजकोषीय कमीशन (१९५०) के शब्दो में, इस प्रणाली ने "गत ७५ वर्षों में भारतीय उद्योगों की अपूर्व सेवा की है। उद्योगीकरण के प्रारम्भिक दिनों में जब न तो उपक्रम और न ही पूँजी की बहुतायत थी तब मैनेजिंग एजेंटों ने दोनों की व्यवस्था की और ये सूती, जूट, इस्पात आदि जैसे सुस्थापित उद्योग अपनी वर्तमान स्थिति के लिए कई सुविख्यात मैनेजिंग एजेंसी गृहों के उत्साहपूर्ण नेतृत्व एवं यत्नशील सतर्कता के ऋणी है।"

जो भी हो, इस प्रणाली मे कई बुराइयाँ भी पैदा हो गई। इस प्रणाली के लाभो तथा बुराइयो दोनो का सक्षेपत: उल्लेख किया जाता है।

लाभ—(i) हमारे प्रधान और सुस्थापित उद्योगो मे से अधिकाश लोहा और इस्पात, कपास, जूट, चाय इस प्रणाली के आधार पर स्थापित और विकसित हुए थे। (ii) उद्योगो का नेतृत्व और उन्हे चालू करने के अलावा, वे मन्दी-काल मे कई औद्योगिक व्यवसायो के विनाश को रोकने में साधन होते थे, क्योकि सामयिक वित्तीय सहायता के अभाव मे अनेक उद्योगो का अन्त हो सकता था। (iii) चूँकि कई अवस्थाओ म मैनेजिग एजेंटो की एक फर्म कई-कई फर्मों का नियन्त्रण करती है, इसलिए एकता सम्बन्धी विभिन्न लाभ प्राप्त होते हैं, जैसे, क्रय और विक्रय, और देख-भाल तथा दिन-प्रति-दिन के प्रशासन के मामलो मे बचतें, और आर्थिक सहयोग जिससे एक व्यवसाय के बचे हुए कोष दूसरे के लिए उपलब्ध होते हैं जिसे उनकी आवश्यकता होती है।

बुराइयाँ (Abuses)—(i) सर्वप्रथम, भारतीय मैनेजिग एजेंसी प्रणाली सामान्यतया वंशागत होती है, जिसके कारण प्रबन्ध अयोग्यतापूर्ण हो जाता है।

आखिर, इस बात का क्या भरोसा है कि एक कुशल सगठनकर्ता का बेटा भी वैसा ही कुशल होगा ? (ii) इस प्रणाली ने स्वतन्त्र और योग्य सचालकों के उदय मे बाधा डाली है क्योंकि प्रबन्ध मैनेजिंग एजेंटा के हाथ म होता है। अधिकाश औद्योगिक कम्पनियों के सचालकगण प्रबन्धाभिकर्ताओं (Managing Agents) की कठपुतली होते हैं। (iii) मैनेजिंग एजेंसी प्रणाली म वित्त उद्योग का सेवक होने की बजाय स्वामी बन गया है। उद्योगो का प्रबन्ध व्यक्तियों के एक समूह का इसलिए नही सौंपा जाता कि वे सचालन कार्यों म योग्य होते हैं प्रत्युत इसलिए कि उनके पास उद्योग की सहायता के लिए वित्तीय साधन होते ह। बहुधा, केवल वित्तीय विचारो के आधार पर ही एजेंसियाँ एक से दूसरे समूह को बदल दी जाती ह। (iv) मैनेजिंग एजेंटा के हाथो में शक्तियों के अत्यधिक केन्द्रीकरण के फलस्वरूप कई अलाभ हो जाते हैं, जैसे, कुछ व्यवसायो की कठिनाइयाँ सबके लिए प्रतिकूलतापूर्वक प्रतिक्रिया करती हैं, बहुत से व्यवसायो पर मैनेजिंग एजेंटा के सीमित वित्तीय साधनो का दबाव पडता है, इसके अतिरिक्त, सगठन योग्यता की अत्युच्च मात्रा के अभाव म वृहद स्तर के प्रबन्ध का परिणाम अयोग्यता और बर्बादी होता है इसके अतिरिक्त केन्द्रीभूत नियन्त्रण लेखा और आदेशो म घोटाले और हिस्सा आदि के नीचतापूर्ण व्यवहारो के अवसर प्रदान करता है। (v) सदिग्ध मैनेजिंग एजेंटों की कार्यकारिता म अनेक कदाचार होते हैं, जैसे, गुप्त और कानून विरुद्ध कमीशनें प्राप्त करना, लेखो मे बेईमानी, जान बूझकर हिस्सा कीमतो को ऊँचा करना, और उपरान्त बाजार में हिस्सो को बेचना, सक्षेप म कम्पनी के हितो की उपेक्षा करना, जिससे कुछ लोग *मैनेजिंग एजेंसी को 'ठगी की महान् प्रणाली' तक कहने लगे हैं।* (vi) *मैनेजिंग* एजेंटो के पारिश्रमिक को निश्चित करने की विधियों के विषय म भी गम्भीर आपत्तियाँ उठाई जाती हैं, अर्थात्, मैनेजिंग एजेंट बिक्रियो तथा उत्पादन पर कमीशन के कारण व्यवसाय के लाभो की चिन्ता किए बिना बिक्री और वृद्धिपूर्ण उत्पादन पर ही शक्ति लगाते हैं।

मैनेजिंग एजेन्सी व्यवस्था का सुधार
(Reform of the System)

(क) १९५६ की समवाय विधि से पूर्व (Prior to 1956 Company Law), १९३६ के समवाय अधिनियम में सशोधन (Amendment of the Companies Act of 1936)—१९३६ म इस प्रणाली के उपयुक्त दोषो को दूर करने के लिए १९१३ के इंडियन कम्पनी अधिनियम म सशोधन किया गया। इस प्रकार जो सुधार हुए वे निम्न हैं—(१) कोई भी मैनेजिंग एजेंट २० वर्ष से अधिक समय के लिए इस पद पर नियुक्त नही किया जा सकेगा। विद्यमान एजेंसियो का भी २० वर्ष के बाद अन्त कर देना होगा। फिर भी इस अवधि का नवीकरण किया जा सकता है। (२) यदि किन्ही अपराधो के कारण दडित हो, अथवा यदि दिवालिया घोषित हो तो उन्हे अवधि से पूर्व भी हटाया जा सकेगा। (३) अब उनका पारिश्रमिक नियत न्यूनतम की शर्त के साथ विशुद्ध लाभो का प्रतिशत अश कर दिया गया है। साथ ही विशुद्ध लाभो की गणना की विधि भी विस्तारपूर्वक नियत कर दी गई है।

(४) मैनेजिंग एजेंट संचालकों की कुल संख्या का ⅓ से अधिक मनोनीत नहीं कर सकते। (५) वह अपना निजी कोई प्रतियोगी व्यापार नहीं कर सकते। (६) एक ही मैनेजिंग एजेंट के अधीन कम्पनियों में से किसी एक के कोषों का दूसरी में उपयोग नहीं किया जा सकता। (७) मैनेजिंग एजेंटों को चालू लेखे के सिवा अन्य प्रकार के ऋण नहीं दिए जा सकते।

इन उपबन्धों के बावजूद भी, मैनेजिंग एजेंसी प्रणाली की बुराइयाँ जारी रहीं। इन बुराइयों को दूर करने के उद्देश्य से १९५० में सरकार ने भाभा कम्पनी लॉ समिति (Bhabha Company Law Committee) की स्थापना की। उक्त समिति ने मैनेजिंग एजेंसी प्रणाली के सुधार के लिये एक रिपोर्ट पेश की। उसी रिपोर्ट की सिफारिशों के आधार पर १९५६ का कम्पनी अधिनियम पास किया गया। किन्तु इस अधिनियम से पहले १९५१ के कम्पनी अधिनियम में सुधार किया गया। उक्त संशोधन में उपबन्ध किया गया कि मैनेजिंग एजेंसी सम्बन्धी परिवर्तन, यहाँ तक कि उनकी प्रथम नियुक्ति भी तथा उनके कार्यकाल में वृद्धि को केन्द्रीय सरकार से स्वीकृति लेना आवश्यक होगा। उसी वर्ष, भूतपूर्व वाणिज्य-मन्त्री श्री भाभा की अध्यक्षता में कम्पनी कानून सम्बन्धी परामर्शदाता कमीशन की भी नियुक्ति की गई, जिसे मैनेजिंग एजेंटों के ऊपर आवश्यक नियन्त्रण रखने के लिए सरकार को परामर्श देने का कार्य-भार सौंपा गया।

(ख) भारतीय समवाय, अधिनियम १९५६ (Indian Companies Act 1956)—यह अधिनियम १ अप्रैल, १९५६ को लागू हुआ। यह व्यापक विधान है और इसका उद्देश्य कम्पनी लॉ समिति की सिफारिशों के अनुरूप इसे बनाना है। मैनेजिंग एजेन्सी (managing agency) व्यवस्था को सुधारने की दिशा में इस अधिनियम के निम्नलिखित उपबन्ध हैं—

(i) इस व्यवस्था को समाप्त करने सम्बन्धी उपबन्ध (The Question of Discontinuance of the System)—केन्द्रीय सरकार को अधिकार है कि वह एक निश्चित तिथि से या १५ अगस्त ६०, जो भी बाद में हो, तीन वर्ष के अन्दर कुछ विशेष प्रकार के उद्योगों और व्यवसायों से मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली को समाप्त कर सकती है। किन्तु यह घोषणा तदर्थ नियुक्त समिति की सिफारिशों पर ही की जाएगी।

(ii) नियुक्ति और नियुक्ति की शर्तें (Appointment and Conditions of Appointment)—मैनेजिंग एजेन्टों की नियुक्ति को पहले तो स्वयं कम्पनी स्वीकार करे, फिर उस पर केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति आवश्यक होगी। पहली नियुक्ति १५ वर्ष से अधिक के लिए नहीं हो सकती और पुनर्नियुक्ति का समय २० वर्ष से अधिक नहीं होना चाहिए। अगस्त १९६० के बाद कोई मैनेजिंग एजेन्ट १० कम्पनियों से ज्यादा का एक ही समय में मैनेजिंग एजेन्ट नहीं हो सकता। १५ अगस्त, १९६० को सभी मैनेजिंग एजेन्टों का कार्यकाल समाप्त समझा जाएगा, बशर्ते कि उससे पहले नए अधिनियम की शर्तों के अनुसार उनकी पुनर्नियुक्ति नहीं हो जाती। भविष्य में कोई भी मैनेजिंग एजेन्सी वंशानुगत नहीं चलेगी।

(iii) मैनेजिंग एजेंटो की पदच्युति (Removal of Managing Agents)—यदि प्रबन्धाधीन कम्पनी धोखाधड़ी, विश्वासघात या दोषी प्रबन्ध के दोषा पर मैनेजिंग एजेंट को निकालना चाहे तो ऐसा कर सकती है। सजा पाए हुए या दिवालिया मैनेजिंग एजेंटो को भी हटाया जा सकता है।

(iv) मनेजिंग एजेन्टो की शक्तियो पर प्रतिबन्ध (Restrictions on the Powers of Managing Agents)—मैनेजिंग एजेन्ट की शक्तियो के ऊपर सचालको के मण्डल का नियन्त्रण रहेगा। मैनेजिंग एजेन्ट, ५ सचालको के मण्डल के लिए २ सचालक और ५ से कम सचालको के मण्डल के लिए केवल एक सचालक मनोनीत कर सकता है। इन उपबन्धो के अतिरिक्त कुछ अन्य नियन्त्रण भी मैनेजिंग एजेन्टो की शक्तियो के विरुद्ध लगा दिए गए है, जिनसे वे प्रबन्धाधीन कम्पनी या कम्पनियो मे गोलमाल न कर सकें। यदि मैनेजिंग एजेन्ट अपने अधिकारो का दुरुपयोग करेंगे तो उनके विरुद्ध कई सजाओ का उपबन्ध है।

(v) मैनेजिंग एजेन्टों का पारिश्रमिक (Remuneration of Managing Agents)—मैनेजिंग एजेन्ट को अधिक से अधिक कम्पनी के शुद्ध लाभ का १०% पारिश्रमिक के रूप म मिल सकता है। यदि उसका मासिक वेतन है, तो वह भी इस १०% लाभ म शामिल होगा। इससे अधिक पारिश्रमिक तभी दिया जा सकता है जबकि प्रबन्धाधीन कम्पनी तदर्थ सकल्प पारित करे और केन्द्रीय सरकार उसे स्वीकार कर ले।

भारत सरकार ने कम्पनी अधिनियम के उपर्युक्त उपबन्धो की क्रियान्विति के लिए समवाय विधि प्रशासन विभाग (Company Law Administration Department) की रचना की है। भारत सरकार ने परामर्शदाता आयोग की भी रचना की है जो सरकार को मैनेजिंग एजेंसियो पर लगे प्रतिबन्धो के जारी रखने या समाप्त करने पर परामर्श देगा।

यद्यपि यह अधिनियम पूर्ण नही है तो भी यह मैनेजिंग एजेंसी प्रणाली के दोषो को दूर करने का प्रयत्न अवश्य करता है। अभी देखना है कि अपने दोषो से रहित मैनेजिंग एजेंसी प्रणाली भारत मे सफल होगी या नही। समवाय विधि समिति (Company Law Committee) के शब्दो मे, "मैनेजिंग एजेंसी प्रणाली अपने दोषों से निवृत्त होने के बाद अब भी प्राइवेट उद्योगो के लिए वरदान सिद्ध हो सकती है।"

अध्याय १७

राज्य और उद्योगों का सम्बन्ध

(State in Relation to Industries)

भारत में उद्योगों के प्रति राज्य की नीति (State Policy towards Industries in India)—ऐसा शायद ही कभी हुआ हो कि उद्योगों ने सरकार की सक्रिय सहायता के बिना उन्नति की हो। इस सम्बन्ध में जापान का उदाहरण सर्वाधिक उल्लेखनीय है। यह कहा जाता है कि "जापान के आधुनिक उद्योगीकरण में राज्य ने दैवी पिता के समान सहायता प्रदान की है।" जर्मनी में भी उद्योगों का विकास राज्य की मदद से हुआ।

अब हम भारत में औद्योगिक विकास के सम्बन्ध में राज्य की नीति का संक्षिप्त सर्वेक्षण करेंगे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपने निजी हित में देशी उद्योगों को प्रोत्साहित किया था। किन्तु बाद में ग्रेट ब्रिटेन के उद्योगों के लाभ के लिए नीति को विपरीत कर दिया था। यहाँ तक कि जब देश कम्पनी से निकलकर सम्राट् के हाथों में चला गया, तब भी सरकार ने यथेच्छाकारिता (laissez faire) नीति का ही अनुसरण किया। उपरान्त, लार्ड कर्ज़न के काल में, सर्वप्रथम १९०४ में भारत सरकार ने उद्योग विभाग की स्थापना की। मद्रास में भी एक उद्योग विभाग स्थापित किया गया, जो एल्यूमीनियम और चमड़ा बनाने के उद्योगों में सक्रिय दिलचस्पी लेने लगा। परन्तु उस काल के भारत-सचिव ने सरकार के उस सीमा तक आगे बढ़ने का अनुमोदन न किया। उसके दृष्टिकोण ने सरकार के उत्साह को ठंडा कर दिया।

प्रथम विश्व-युद्ध काल की नीति (Policy During World War I)—प्रथम विश्व-युद्ध के छिड़ने के साथ आगामी चरण का उदय हुआ। ब्रिटिश सरकार ने अनुभव किया कि औद्योगिक रूप में उन्नत भारत उसके लिए कहीं अधिक सहायक होगा। फलत, उद्योगों के विकास की ओर ध्यान दिया जाने लगा। १९१६ में भारतीय साधनों और औद्योगिक सम्भाव्यताओं का विस्तृत पर्यवेक्षण करने के लिए भारतीय औद्योगिक आयोग (Indian Industrial Commission) की नियुक्ति की गई। १९१७ में उद्योगों के विकास करने के लिए भारतीय युद्ध-सामग्री मण्डल (Indian Munitions Board) की नियुक्ति की गई। सरकार की इस एकाएक दिलचस्पी और विदेशी प्रतियोग्यता के अभाव (युद्ध के कारण) के फलस्वरूप, कई नए उद्योग शुरू किए गए और विद्यमान उद्योगों का विस्तार किया गया।

विभेद संरक्षण नीति, १९२३ और उसके बाद (Policy of Discriminating Protection, 1923 and After)—युद्ध के बाद, १९१९ में उद्योग प्रान्तीय विषय बन गए। इसके अतिरिक्त, सरकार की राजकोषीय (fiscal) नीति में बड़ा

भारी परिवर्तन हुआ। अब तक ब्रिटिश पार्लियामेंट भारत के लिए राजकोषीय नीति का निश्चय करती थी। किन्तु १९३१ में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने राजकोषीय स्वायत्तता सयोजन (Fiscal Autonomy Convention) को स्वीकार किया जिससे भविष्य में भारत स्वतन्त्र राजकोषीय नीति का अनुसरण करने में मुक्त हो गया। इसलिए, १९२१ में समुचित राजकोषीय नीति की सिफारिशों के लिए भारतीय राजकोषीय कमीशन (Indian Fiscal Commission) की नियुक्ति की गई। इस कमीशन की सिफारिशों के आधार पर सरकार ने विभेदपूर्ण सरक्षण नीति को स्वीकार किया। यह भूतकाल से हटकर भविष्य की ओर महान् अग्रगामी चरण था। अब से लेकर केवल मौन दर्शक बने रहने के बजाय सरकार ने सरक्षण के अनुदान द्वारा भारतीय उद्योगों का सहायक बनने का वचन दे दिया जो इससे पूर्व कभी नहीं दिया गया था।

इस बीच, प्रान्तीय सरकारों ने भी उद्योगों की सहायता के लिए अनेक उपाय किए, विशेष रूप से लघु स्तर और कुटीर उद्योगों को सहायता प्रदान की गई।

१९३९ में द्वितीय विश्व-युद्ध के छिड़ने पर देखा गया कि भारत प्रथम विश्व-युद्ध के काल के समान ही औद्योगिक रूप में पिछड़ा हुआ है जब कि इसके मुकाबिले अन्य देशों ने पर्याप्त औद्योगिक उन्नति की थी। इसमें सदेह नहीं कि विभेदपूर्ण सरक्षण नीति के फलस्वरूप कुछ उपभोक्ता उद्योगों का विकास हुआ किन्तु अधिक महत्त्वपूर्ण यह था कि पूँजीगत वस्तुओं के भारी उद्योगों का तो अभी जन्म भी नहीं हुआ था।

द्वितीय विश्व युद्ध काल की नीति (Policy During World War II)—युद्ध की सफलता के लिए सरकार को उद्योगों के प्रति अपनी नीति में उदार होना पड़ा। १९४० में, वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसधानमण्डल (Board of Scientific and Industrial Research) की स्थापना की गई। देश में तकनीकी प्रशिक्षण की अनेक सस्थाएँ खोली गई। बहुत से नवयुवकों को उन्नत तकनीकी प्रशिक्षण के लिए विदेशों में भेजा गया। इनमें भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह था कि सरकार ने इस बात का भरोसा दिया कि युद्ध काल में जो उद्योग स्थापित किए जाएँगे उन्हें युद्ध के बाद सरक्षण हीन नहीं रहने दिया जायगा। सतर्कतापूर्वक आयोजित आधारों पर उद्योगीकरण के चरण का विस्तार देने के लिए केन्द्र में योजना और पुनर्निर्माण विभाग की स्थापना की गई। इन उपायों से कई पुराने उद्योगों का अधिक विस्तार हुआ और कई नए उद्योगों का विकास हुआ।

स्वाधीनता पूर्व की औद्योगिक नीति का मूल्यांकन (Estimate of Pre-independence Industrial Policy)—उपर्युक्त स्थिति के अनुरूप, राज्य की औद्योगिक नीति अत्यधिक मन्द थी और निश्चयपूर्वक सहायतापूर्ण नहीं थी। यदि यह अधिक सक्रिय, उदार और विस्तृत होती तो अधिक औद्योगिक प्रगति हो गई होती। राजकोषीय नीति भी प्राय तटस्थ-सी थी (इस पर चर्चा करते)।

प्रश्न ?—**स्वाधीनतोपरान्त भारत सरकार की औद्योगिक नीति का उल्लेख तथा मूल्यांकन कीजिए।** (हैदराबाद १९५८)

Q. 1.—State and examine the industrial policy of the Government of India since Independence. (*Hyderabad*, 1954)

स्वाधीनता प्राप्त हो जाने पर, स्वभावतः यह आशा की जाती थी कि सरकार देश में अत्यावश्यक उद्योगीकरण को सक्रिय रूप में उन्नत करने की नीति अपनाएगी। देश की राष्ट्रीय सरकार ने, जो औद्योगिक विकास की आवश्यकता के विषय में सतर्क थी, ६ अप्रैल, १९४८ को अपनी औद्योगिक नीति की घोषणा की। उस नीति में निम्न मुख्य बातें थीं .

१ उद्योगों को मोटे तौर पर चार वर्गों में बाँटा गया था—

(i) नितान्त सरकारी एकाधिकार (Exclusive Government Monopoly)—इस वर्ग में शस्त्रों और युद्ध-सामग्री का निर्माण, आणविक शक्ति का उत्पादन और नियन्त्रण और रेल-परिवहन का स्वामित्व और प्रबन्ध रखे गये।

(ii) सरकारी नियन्त्रित क्षेत्र (Government Controlled Sphere)—इस वर्ग में वे उद्योग आते हैं जिन्हें सरकार चलाएगी और उसी का स्वामित्व होगा, जब कि विद्यमान उद्योग १० वर्ष तक गैरसरकारी उद्यम द्वारा चलाए और विकसित किए जाएँगे। ऐसे कुछेक उद्योग ये हैं—लोहा और इस्पात, कोयला, हवाई जहाज-निर्माण और पोत-निर्माण।

(iii) राज्य-नियमन और नियन्त्रण के अधीन उद्योग (Industries Subject to State Regulation and Control)—इन्हें गैरसरकारी उद्यम द्वारा चलाया जाएगा। भारी रसायन, खांड, सूती और ऊनी वस्त्र, सीमेंट, कागज, नमक, मशीनी औजार आदि ऐसे कुछ उद्योग हैं जो इस वर्ग में आते हैं।

(iv) गैरसरकारी उद्योग (Private Enterprises)—शेष औद्योगिक क्षेत्र राज्य के सामान्य नियन्त्रण के अधीन गैरसरकारी उद्यम का क्षेत्र होगा।

सरकार द्वारा उद्योगों का यह वर्गीकरण यथेच्छाकारिता (Laisse Faire) और सामूहिकतावाद (Collectivism) दोनों उग्रावस्थाओं के मध्यमार्ग को अपनाता है और फलतः इसे मिश्रित या नियन्त्रित अर्थ-व्यवस्था का मार्ग कहा गया है।

२. कुटीर और लघुस्तर के उद्योगों को राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की दिशा में जो कार्य करना है, उसके विषय में स्पष्ट नीति घोषित कर दी गई है। यह स्वीकार कर लिया गया है कि देश के औद्योगिक ढाँचे में उन्हें अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण करना है। उन्हें विशाल स्तर के उद्योगों के साथ सम्बद्ध करने की आवश्यकता भी अनुभव कर ली गई है। ऐसे उद्योगों को चलाने की सर्वोत्तम विधि सहकारिता का आधार है।

३ प्रबन्ध और श्रम के बीच सतोषजनक सम्बन्धों के महत्त्व को भी महसूस कर लिया गया है। इस उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए सरकार ने निर्णय किया है कि श्रम को लाभों में से एक अंश दिया जाय और औद्योगिक उत्पादन सम्बन्धी सब मामलों में श्रम का सहयोग प्राप्त करे। उद्योगपतियों को भी विनियोजित पूंजी के लिए उचित पारिश्रमिक का भरोसा दिया गया है। औद्योगिक भवन-निर्माण की उन्नति की ओर विशेष ध्यान दिया जाएगा।

४. ऐसी सुदृढ तटकर नीति के निर्माण का भरोसा दिया गया है जो अनुचित विदेशी प्रतियोगिता को रोके और उपभोक्ताओ पर अधिक बोझा डाले बिना भारतीय सोतो की उपयोगिता बढाए।

५. करारोपण प्रणाली का परीक्षण और समन्वय करने के लिए भरोसा दिया गया है, जिससे बचत और उत्पादनशील विनियोग उत्साहित हो और जनसख्या के छोटे विभाग मे सम्पत्ति का अनुचित केन्द्रीकरण रुके।

६. विदेशी पूंजी के विषय म स्वामित्व और नियन्त्रण मे मुख्य भाग भारतीयो के हाथ म होगा, यद्यपि विशेष अवस्थाओ म ऐसा नहीं भी होगा। सब अवस्थाओ से समुचित भारतीय कर्मचारियो को तकनीकी कार्यों मे प्रशिक्षण प्रदान करने पर बल दिया जायेगा।

इस नीति के अनुसार कई ठोन कदम उठाए गए। अक्टूबर १९४८ मे, उद्योग को बडे कर सम्बन्धी रियायतें भी दी गई थी, जैसे औद्योगिक कच्चे पदार्थों पर से आयात-कर उठा लिया गया था, यन्त्रो, मशीनो पर से आयात-कर म १० से ५% तक की कमी की गई, नए उद्योगो की अवस्था मे पूंजी पर ५ वर्षों के लिए ६% की सीमा तक आय-कर से छूट दी गई, मूल्यह्रास की छूटो म अधिक उदारता की गई। जुलाई १९४८ मे, विशाल उद्योगो की वित्त-व्यवस्था के लिए औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation) की स्थापना की गई। कृष्णामाचारी राजकोषीय कमीशन १९४९ में नियुक्त किया गया। इस कमीशन ने विस्तृत राजकोषीय नीति के विषय में १९५० मे रिपोर्ट पेश की। सरकार ने उसकी सिफारिशो को स्वीकार कर लिया और जनवरी १९५२ म भारतीय तटकर कमीशन का सगठन किया गया। इस तटकर कमीशन को पुराने तटकरमण्डल की अपेक्षा कही अधिक विस्तृत अधिकार मिले हुए हैं। देश के औद्योगिक उद्यमो की कमी की पूर्ति के लिए केन्द्रीय सरकार ने कई बडे-बडे औद्योगिक उपक्रमो को आरम्भ किया है। बडे औद्योगिक अनुसन्धानो के लिए राष्ट्रीय प्रयोगशालाओ की एक शृखला स्थापित की गई है।

योजना कमीशन द्वारा प्रथम पचवर्षीय योजना मे, यद्यपि कृषि और सिंचाई को सर्वोच्च स्थान दिया गया था लेकिन उद्योगो की उपेक्षा नहीं की गई। उनके विकास के लिए प्राथमिकताएँ रखी गई थी और कई उद्योगो मे वृद्धि के लक्ष्यो को स्थापित किया गया था। (योजना में औद्योगिक नीति के विचार के लिए योजना विषयक अध्याय को देखें।) पूंजी उपकरणो (capital equipment) और तकनीकी कर्मचारियो को दिशा म विदेशी सहायता के लिए भी यत्न किया गया है। विशेष रियायतें आदि उपस्थित करने के फलस्वरूप तीन प्रधान विदेशी तेल कम्पनियों ने ५० करोड रु० की लागत से देश मे तीन तेल-शोधन के कारखाने शुरू करने के करार किये हैं।

उद्योगो के प्रति राज्य-नीति के विषय मे हाल ही की महत्त्वपूर्ण घटना यह है कि उसने अक्टूबर १९५१ मे उद्योग (विकास और नियमन) अधिनियम १९५१ को स्वीकार किया। यह अधिनियम उद्योगो के विषय में सरकार को अतिविस्तृत अधिकार प्रदान करता है। इसमें व्यवस्था की गई है कि पुराने उद्योग रजिस्ट्री कराएँ और नए उद्योग लाइसेंस लेने के बाद जारी किए जाएँ। संक्षेप में, उद्योग के निजी क्षेत्र में नियमन के

लिये यह अधिनियम राज्य का प्रधान साधन है, और सरकार की नई औद्योगिक नीति में इसे उपस्थित किया गया है।

इस अधिनियम में उद्योगों के लिए केन्द्रीय परामर्शदात्री परिषद् की नियुक्ति की व्यवस्था भी की गई है। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण उद्योग के लिए एक विकास परिषद् बनानी होगी। उसमें प्रबन्ध और श्रम तथा तकनीकी कारीगरों के प्रतिनिधियों का सयोजन होगा। इन विकास-परिषदों का मुख्य कृत्य होगा कि वे उत्पादन, सेवा तथा प्रबन्ध आदि के बारे में सलाह दें।

यह अधिनियम ८ मई, १९५२ को क्रियान्वित किया गया था। उसके साथ ही अधिनियम में प्रस्तावित उद्योगों के लिए केन्द्रीय परामर्शदात्री परिषद् की भी नियुक्ति की गई।

इस अधिनियम का मई १९५३ में सशोधन किया गया। ऐसा करने का मुख्य उद्देश्य इसके प्रभाव-क्षेत्र में वृद्धि करना था। जबकि मूलत, यह ३७ उद्योगों पर लागू होता था, प्रथम अक्टूबर, १९५३ से ४५ उद्योग इसके प्रभाव-क्षेत्र में सम्मिलित हो गए हैं।

हाल में सरकार ने पहले की अपेक्षा कहीं अधिक ध्यान लघु और कुटीर उद्योगों की ओर देना शुरू किया है। उद्योगों के लिए सस्ती बिजली और सस्ती साख की व्यवस्था से उद्योगों के विकास में विशेष उन्नति हुई है। औद्योगिक वित्त निगम के लाभों को और अधिक प्रभावी बनाने के उद्देश्य से कई राज्यों ने भी राज्य वित्त निगम स्थापित किये हैं। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि राष्ट्रीय विकास निगम (National Development Corporation), औद्योगिक साख और विनियोजन निगम (Industrial Credit and Investment Corporation of India), और राष्ट्रीय कुटीर उद्योग निगम (National Small Industries Corporation) जैसी कई सस्थाएँ उद्योगों के विकास के लिए स्थापित हुई हैं।

इसके अलावा द्वितीय पचवर्षीय योजना में उद्योगों पर विशेष बल दिया गया है। योजना में कुल विनियोजन (४,८०० करोड रु०) में से ८९० करोड रुपया (अर्थात् १८.५%) उद्योगों और उत्खनन पर व्यय किया जाएगा।

नई औद्योगिक नीति, १९५६ (New Industrial Policy, 1956)—स्वाधीनता के पश्चात् पहली बार, भारत सरकार ने ६ अप्रैल, १९४८ को अपनी औद्योगिक नीति सम्बन्धी एक व्यापक सकल्प जारी किया। औद्योगिक नीति की घोषणा होने के बाद १० वर्ष की अवधि में कई आर्थिक और राजनीतिक विकास हो चुके हैं, जैसे राज्य नीति के निदेशात्मक सिद्धान्तों का सूत्रपात, प्रथम पचवर्षीय योजना का पूर्ण होना आदि। इन मूल और व्यापक सिद्धान्तों को, दिसम्बर १९५४ के ससदीय अधिवेशन में सामाजिक और आर्थिक नीति का समाजवादी तन्त्र उद्देश्य मानकर, अधिक उपयुक्त दिशा दी गई। औद्योगिक नीति का सचालन भी इन्हीं सिद्धान्तों से होना चाहिए। इस कारण से भारत में राज्य की ओर से औद्योगिक नीति के सम्बन्ध में नई घोषणा करना आवश्यक हो गया।

इसलिए, ३० अप्रैल, १९५६ को प्रधान मन्त्री ने भारत की नई औद्योगिक नीति

के सम्बन्ध में भारतीय संसद् में चर्चा की। विकास करने वाली एजेंसिया के अनुसार उद्योगों को निम्न रूप से वर्गीकृत किया गया है—

(१) क अनुसूची में १७ उद्योग वर्णित हैं। १९४८ के मन्तव्य म ६ उद्योगों को सरकारी क्षेत्र में विकसित करने के स्थान पर इसम इन १७ उद्योगों के विकास का दायित्व सरकार का होगा। इस क्षेत्र के मुख्य उद्योग निम्नलिखित हैं—लोहा और इस्पात उद्योग, अणु शक्ति उद्योग, भारी मशीन निर्माण उद्योग खनिज तैल उद्योग, रेलवे यातायात, बिजली का उत्पादन और वितरण आदि। उद्योगों से सम्बन्धित सभी नई औद्योगिक फैक्ट्रियाँ केवल राज्य की ओर से स्थापित की जायेंगी।

(२) दूसरे वर्ग में १२ उद्योग रखे गए हैं जिन पर राज्य का स्वामित्व होगा, और इनम राज्य ही इन्हें आरम्भ करने का भार अपने ऊपर लेगा। लेकिन इन कार्यों में गैरसरकारी उपक्रम को सहायता के लिए शामिल किया जाएगा। इन उद्योगों को ख अनुसूची म शामिल किया गया है। इनमें एलूमीनियम तथा अन्य अलौह धातुएँ शामिल हैं, जैसे मशीन औजार, फेरो अलॉय रासायनिक खाद कृत्रिम रबर, तथा सड़क परिवहन और जल-परिवहन के लिए जरूरी सामान आदि।

(३) शेष उद्योग तीसरे वर्ग म आते हैं और उनके विकास का कार्य प्रायः गैर-सरकारी उपक्रम और उद्यम द्वारा आरम्भ किया जाएगा। पंचवर्षीय योजना में सूचित कार्यक्रम के अनुरूप सरकार की नीति गैरसरकारी क्षेत्र म इन उद्योगों के विकास को सुविधा तथा प्रोत्साहन देने की होगी। साथ ही परिवहन शक्ति तथा अन्य सेवाओं और राजकोषीय और अन्य उपायों के द्वारा भी सरकार अप्रत्यक्ष रूप से इन उद्योगों के विकास म सहायता देगी।

उद्योगों को तीन वर्गों में बाँटने का अर्थ यह नहीं है कि उन्हें तीन जुदा भागों में रख दिया गया है। अनुसूची क तथा ख म अवर्णित उद्योग भी सरकार अपने हाथ में ले सकती है। उचित रूप से यदि जरूरी हो तो अनुसूची 'क' म वर्णित उद्योग भी गैरसरकारी उद्यम को सौंपे जा सकते हैं।

जहाँ तक कुटीर अथवा ग्राम और लघु स्तरीय उद्योगों का प्रश्न है राज्य ऐसे क्षेत्र म विशाल उद्योगों द्वारा निर्माण पर नियन्त्रण लगाने की नीति पर चलता रहेगा। यह कार्य परस्पर अन्तर के अनुरूप करों अथवा अप्रत्यक्ष राज्य सहायता द्वारा पूरा किया जाएगा। लेकिन राज्य की नीति का उद्देश्य यह होगा कि यह विकेन्द्रित क्षेत्र को आत्म-निर्भर होने के लिए शक्तिशाली होना देखे तथा इसका विकास विशाल उद्योगों के साथ समन्वित हो जाए। इसलिए राज्य ऐसे उपाय अपनाएगा जिससे इन उद्योगों की प्रतियोगी शक्ति का विकास हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह जरूरी है कि उत्पादन की तकनीक में सतत सुधार तथा आधुनिक उपायों को अपनाया जाय। परिवर्तन की गति को ऐसे नियमित किया जाए जिससे, जहाँ तक सम्भव हो कुशल श्रमिकों को बेरोजगारी का मुँह न देखना पड़े। औद्योगिक सम्पदाओं की स्थापना, ग्राम्य सामूहिक वर्कशाप ग्राम्य बिजली विस्तार तथा सस्ती दर पर बिजली देने से इन उद्योगों की सहायता अवश्य हो सकती है।

सारे देश में समान रूप से औद्योगिक प्रगति हो, और देश के विभिन्न क्षेत्रों मे

औद्योगिक असन्तुलन उत्पन्न न होने पावे। इस उद्देश्य के लिये जिन क्षेत्रो में बिजली या परिवहन की सुविधाओं का अभाव है और जो क्षेत्र औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं, उनमे पहले बिजली और परिवहन एव यातायात की प्राथमिक सुविधाएँ उपलब्ध कराई जायें। साथ ही इन क्षेत्रो में रोजगार के अधिकाधिक अवसर भी उपलब्ध कराने होंगे।

सकल्प मे वर्णित है कि जहाँ भी सम्भव हो सहकारी सिद्धान्त को लागू किया जाए और गैरसरकारी क्षेत्र मे सहकारी पद्धति पर विकास की गतिविधि को बढावा दिया जाए।

श्रम की ओर इशारा करते हुए लिखा है कि जहाँ तक सम्भव हो श्रमिक और कारीगर को प्रबन्ध मे अधिकाधिक शामिल किया जाए। सरकारी उद्यमो को इस दिशा में उदाहरण पेश करना है।

नई नीति घोषणा से मौजूदा विदेशी पूँजी सम्बन्धी नीति में कोई परिवर्तन नही होता।

राजकोषीय नीति
(Fiscal Policy)

प्रश्न २—भारत में औद्योगिक विकास के विषय में विभेद-संरक्षण के रूप और कार्यकारिता का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

Q 2—Critically examine the nature and working of Discriminating Protection in respect of the industrial development in India.

विभेद संरक्षण (Discriminating Protection)—भारतीय राजकोषीय कमीशन (१९२१-२३) ने समष्टि रूप मे सरक्षण की सिफारिश नहीं की थी जिसके आधार पर किसी भी और प्रत्येक उद्योग पर उसे अविवेकपूर्ण रूप से लागू किया जा सकता। सरक्षण मे अन्तर्निहित भयो को छोडने तथा उपभोक्ता पर पडने वाले बोझे को कम करने के लिए कमीशन ने सिफारिश की थी कि केवल वाछनीय उद्योगों को ही सरक्षण प्रदान किया जाना चाहिए। यह जाँचने के लिए कि आया सरक्षण के लिए आवेदन करने वाला उद्योग वस्तुत उसका अधिकारी है, उसने निम्न तीन मुख्य शर्तें रखी थी। उन्हे त्रिसूत्र कहते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ सहायक शर्तें भी थीं।

(१) वह उद्योग ऐसा होना चाहिए कि जिसके अधिकार मे प्राकृतिक साधनों के लाभ हो, जैसे, कच्चे पदार्थों की पर्याप्त पूर्ति, सस्ती शक्ति, श्रम-पूर्ति और घरेलू मण्डी सतोषजनक हो।

(२) वह उद्योग ऐसा होना चाहिए, जो संरक्षण के बिना या तो सर्वथा विकसित न हो सकता हो अथवा इतनी गति के साथ विकसित न हो सकता हो कि जो देश-हित के लिए उचित हो।

(३) वह उद्योग ऐसा होना चाहिए, जो अन्तत. सरक्षण के बिना विदेशी प्रतियोगिता का सामना करने योग्य हो सके।

सहायक शर्तें ये थी—(i) वह उद्योग वृद्धिशील प्राप्ति के नियम के अनुसार हो;

(ii) ऐसा कोई उद्योग जिससे समयान्तर मे यह आशा की जा सके कि वह सम्पूर्ण घरेलू माँग को पूरा कर सकेगा (iii) वह उद्योग जो राष्ट्रीय प्रतिरक्षा के लिए अत्यावश्यक और साथ ही साथ आधारमूलक और मूल उद्योगों के लिए भी नितान्त आवश्यक हो।

इस नीति का स्वरूप (The Nature of the Policy)—इस नीति की कार्यकारिता का परीक्षण करने से पूर्व हम इस नीति के स्वरूप का आलोचनात्मक दृष्टि से परीक्षा करेंगे।

स्पष्टत त्रि सूत्र सहज आलोचना का विषय है। यह साफ साफ जाहिर होता है कि सरक्षण की जिस नीति की सिफारिश की गई थी उसका किस प्रकार कड़ी शर्तों के साथ जो उद्योगीकरण की प्रगति का अवरोध करने के लिए बनाए गए थे आघात किया गया। पहली और तीसरी शर्तें क्रियात्मक रूप म समान थी। उनका अर्थ यह था कि ऐसे किसी भी उद्योग को सरक्षण नही दिया जाएगा जो समाज के लिए स्थायी भार बन जाने वाला हो। वस्तुत पहली शर्त तीसरी शर्त की व्याख्या के रूप में थी। जो भी हो, दोनों को जुदा कर दिया गया था और यह स्पष्ट रूप से चाहा गया था कि ऐसे उद्योग के अधिकार म पर्याप्त श्रम पूर्ति या वृहद घरेलू बाजार जैसे तुलनात्मक लाभ होने चाहिएँ। इसका परिणाम यह था कि अनेक अवस्थाओं म उल्लिखित लाभ कठोर शर्तों का रूप धारण कर लेते थे क्योंकि सरक्षण की स्वीकृति से पूर्व उन्हें पूर्ण करना पड़ता था।

दूसरी शर्त एक सचाई थी और उसे शर्त भी नही कहना चाहिए क्योंकि यदि प्रतियोगिता नही तो कोई भी उद्योग सरक्षण के लिए आवेदन नही करेगा।

राजकोषीय कमीशन की अल्पसंख्यक विमति रिपोर्ट म कहा गया था कि सरक्षण के लिए उद्योगों के चुनाव के विषय मे किसी भी देश म ऐसी शर्तें नही रखी गई।

इसके अतिरिक्त इस नीति के रूप म एक आधारमूलक दोष था। सरक्षण को सामान्य आर्थिक विकास के साधन रूप मे नही माना जाता था प्रत्युत उसे एक ऐसा साधन माना जाता था जिसके आधार पर केवल विशिष्ट उद्योग विदेशी प्रतियोगिता का मुकाबला कर सकें और वह भी उस दशा मे होता था जब कोई उद्योग स्वत सरक्षण के लिए आवेदन करे। इस दृष्टिकोण को समक्ष रखते हुए आधारमूलक और मूल उद्योगों का विकास सम्भव नही था। इसके अतिरिक्त केवल फुटपुट उद्योग ही, जिन्हें सरक्षण दिया गया था विकसित हो सकते थे और सहायक उद्योगों की स्थापना और समष्टि रूप में औद्योगिक विकास की प्राप्ति की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था।

इस प्रकार यह सहज निष्कर्ष निकलता है कि विभेद-सरक्षण की नीति अपूर्ण एव अनुदार थी।

विभेद सरक्षण की कार्यकारिता (Working of Discriminating Protection)—सरकार ने विभेद-सरक्षण की इस नीति को स्वीकार किया और उसे ग्रहण किया द्वितीय विश्व-युद्ध के काल मे—अर्थात १९४० म सरकार ने सरक्षण

अनुदान की शर्तें तथा सहायता के अन्य रूपों को उदार कर दिया । अब हम इस बात का अध्ययन करेंगे कि सक्रिय रूप में यह किस प्रकार क्रियाशील हुई ।

इस नीति की सफलता (Achievements of Policy)

(१) संरक्षण के फलस्वरूप अनेक उद्योगों का विकास हुआ, जैसे लोहा और इस्पात, सूती वस्त्र, खाँड, कागज और कागज-गूदा, दियासलाई, मैगनेशियम क्लोराइड । इनमें से खाँड उद्योग को १९३२ में संरक्षण प्रदान किया गया था और इससे पूर्व नियामक रूप में इसका अस्तित्व ही नहीं था । किन्तु पाँच वर्षों में इस उद्योग का इतनी तेजी के साथ विकास हुआ कि देश खाँड में आत्म-निर्भर हो गया । संरक्षण के विस्तार के अधीन अन्य संरक्षित उद्योगों ने भी महान् प्रगति प्रदर्शित की । यह गणना की गई है कि सत्रह वर्षों के काल में, १९२२ से १९३९ तक (उससे लेकर कि जब इस नीति को अपनाया गया था, उस वर्ष तक कि जब द्वितीय विश्व-युद्ध छिड़ा), इस्पात के खंडों का उत्पादन आठ गुना विस्तृत हो गया, सूती वस्त्रों के उत्पादन में लगभग अढ़ाई गुनी वृद्धि हो गई, दियासलाई और कागज के उत्पादन में क्रमशः ३८% और ८०% की वृद्धि हुई, और गन्ने का उत्पादन १९२२ में २४ हजार टनों से १९३८ में ६ लाख ३१ हजार टन तक बढ़ गया ।

(२) महान् मन्दी के काल में, जबकि अन्य उद्योग मन्दी के कारण दबे थे, तो इस नीति के बल पर ही संरक्षण-प्राप्त उद्योगों ने वास्तविक रूप में विस्तार किया था ।

(३) इस नीति के लाभ केवल उपर्युक्त उद्योगों तक ही सीमित नहीं थे । अनेक उप एवं सहायक उद्योगों की भी उत्पत्ति हो गई, विशेषतः वह उद्योग, जो लोहा और इस्पात तथा सूती वस्त्रों के साथ सम्बद्ध थे ।

(४) कृषि पर भी इस नीति की अनुकूल प्रतिक्रिया हुई । सूती वस्त्र-उद्योग का विकास कपास की खेती करने वाले किसानों के लिए महान् लाभदायक सिद्ध हुआ । उसके कारण ऊँचे मूल्य वाली मध्यम और लम्बे रेशे (staple) की कपास के उत्पादन में वृद्धि हुई । गन्ने की दृष्टि से तो किसानों के लाभ इससे भी ज्यादा ठोस थे । गन्ना अधीन क्षेत्र में पर्याप्त वृद्धि हुई, उन्नत किस्मों के अनुपात में भी महान् वृद्धि हुई और प्रति एकड़ प्राप्ति भी उन्नत हो गई ।

आलोचना—उपर्युक्त सफलताओं के विपरीत हमें इस नीति की विफलताओं और त्रुटियों पर भी दृष्टिपात करना है ।

(१) यह देखा गया है कि लोहा और इस्पात उद्योगों के सिवा, अन्य जितने भी उद्योगों को इस नीति से लाभ पहुँचा, वह उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योग थे । पूंजीगत वस्तुओं के उद्योगों का सर्वथा अभाव था । इस प्रकार, इस नीति के कारण जो औद्योगिक विकास हुआ, वह बेमेल हुआ ।

(२) चूंकि यह नीति अनुदार और बेमन से बनाई गई थी, इसलिए जिस ढंग से यह क्रियाशील हुई, वह और भी ज्यादा आलोचना का विषय है । राजकोषीय कमीशन ने मूलतः सिफारिश की थी कि एक स्थायी तटकरमण्डल (Tariff Board) की स्थापना भी की जाय । किन्तु वास्तविक रूप में अस्थायी समितियाँ नियुक्त की जाती रहीं और सदस्यावलियों में अबाध परिवर्तन होते रहे । इसके कारण दीर्घ दृष्टिकोण

२. प्रतिरक्षा सम्बन्धी तथा अन्य सामरिक उद्योग (Defence and other Strategic Industries)—लागत की परवाह न करते हुए इनका सरक्षण होना चाहिए। अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए उनका विकास अत्यावश्यक है।

३. आधारमूलक या मूल उद्योग (Basic or Key Industries)—उनके महत्त्व को दृष्टि में रखते हुए, टटकर कमीशन सरक्षण की अवधि और शर्तों की जांच तथा व्यवस्था करे, सरक्षण की सीमा का निर्णय करे और समय-समय पर उनकी प्रगति का परीक्षण करे। उन्हें सरक्षण अनुदान करने के मार्ग में किसी प्रकार की कठोर शर्तें नही आने देनी चाहिएँ।

४. अन्य उद्योग—ऐसे किसी उद्योग को सरक्षण देने के लिए, कि जो उक्त सूचियो में सम्मिलित नही किया गया, राजकोषीय कमीशन ने निम्न सिद्धान्त उपस्थित किया है—"इस बात को दृष्टिगत रखते हुए कि उस उद्योग के अधिकार में आर्थिक सुविधाएं हैं अथवा उसे उपलब्ध हैं और उसके उत्पादन की वास्तविकता या सभाव्य लागत से यह आशा की जाती हो कि वह उचित समय के भीतर पर्याप्त रूप में इतना विकास कर लेगा कि बिना सरक्षण या सहायता के सफलतापूर्वक कार्य करता रह सकेगा," और/अथवा "वह एक ऐसा उद्योग है, जिसके लिए राष्ट्रीय हित की दृष्टि से सरक्षण या सहायता प्रदान करना उचित है और प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष लाभों को दृष्टि में रखते हुए, ऐसे सरक्षण या सहायता की सम्भावित लागत समाज के लिए अत्यधिक न हो।"

फिर भी कमीशन ने कठोर एव सूक्ष्म नियमो का सुझाव नही दिया। किसी उद्योग को सरक्षण प्रदान करने के लिए राष्ट्रीय हित ही एकमात्र सिद्धान्त रखा गया है। इसलिए कमीशन ने विशिष्ट रूप में लिखा है कि—

(क) यदि किसी उद्योग के अधिकार मे अन्य आर्थिक सुविधाएँ हैं, जैसे, आन्तरिक बाजार, श्रम-पूर्ति आदि, तो उसे केवल इस आधार पर संरक्षण देने से इनकार नही करना चाहिए कि देश के भीतर कच्चे पदार्थ नही मिलते।

(ख) किसी उद्योग के लिए यह आवश्यक नही होना चाहिए कि वह समूची घरेलू मण्डी की आवश्यकताओं को पूर्ण करे।

(ग) किसी उद्योग को सरक्षण देने के लिए न केवल विद्यमान घरेलू बाजार को ही दृष्टि में रखना चाहिए प्रत्युत सभाव्य निर्यात बाजार को भी दृष्टि में रखना होगा।

(घ) जो उद्योग सरक्षित उद्योगों के उत्पादों का उपयोग कर रहे हों, उन्हें क्षति-पूर्ति सरक्षण देना चाहिए।

(ङ) जिन नए उद्योगों के लिए महान् आरम्भिक पूँजी-विनियोजन की आवश्यकता हो, उन्हें सरक्षण का आश्वासन प्रदान करने की विशेष रूप से प्रबल आवश्यकता है।

(च) यदि राष्ट्रीय हित में आवश्यक हो, तो कृषि-विषयक जिन्सो का भी सरक्षण होना चाहिए, किन्तु ऐसी दशा में सरक्षण एक समय में पाँच वर्ष से अधिक काल का नही होना चाहिए और सरकार को उस सरक्षण-काल में ऐसे कृषि-सुधार का कार्य-क्रम बनाना होगा, जो उस अवधि को कम करने वाला हो।

(छ) सामान्यतया, संरक्षण काल में उद्योगों पर उत्पादन करों का भार नहीं डालना चाहिए।

कमीशन ने यह भी सिफारिश की है कि संरक्षण की बजाय अथवा उसके अलावा संरक्षणकरों में से प्राप्त आगम राजस्वों के अनुदान से एक विकास निधि (Development Fund) की रचना करनी चाहिए। जिन उद्योगों को आवश्यकता हो, उन्हें इस कोष में से सहायता दी जा सकती है। कतिपय अवस्थाओं के अधीन इस कोष से दी जाने वाली सहायताएँ तटकर संरक्षण की अपेक्षा अधिक वांछनीय होंगी।

तटकर कमीशन (Tariff Commission)—अब तक हमने स्वत नीति के अंगों के विषय में चर्चा की है। जो संस्था इस नीति को चलाने वाली है वह भी अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इस सम्बन्ध में राजकोषीय कमीशन ने सही तौर पर सिफारिश की है कि तटकर अधिकारी के दर्जे, अधिकारों और कृत्यों को उन्नत एवं विस्तृत करना चाहिए। उसने प्रस्ताव किया है कि ऐसे अधिकारी को तटकर कमीशन के नाम से पुकारना चाहिए। यह अन्य देशों के समान स्थायी संस्था होनी चाहिए और उसे सविहित आधार पर स्थापित करना चाहिए। उसके कृत्य अधिक विस्तृत होने चाहिएँ जिससे अपनी निजी प्रेरणा से भी वह संरक्षण करों में परिवर्तन के सुझावों के लिए जाँच-पड़ताल कर सके। इसके अतिरिक्त, उसे संरक्षण प्राप्त उद्योगों की कार्यकारिता का भी इन दृष्टियों से परीक्षण करना चाहिए कि संरक्षण के अधीन उन्होंने क्या प्रगति की है और समाज के प्रति अपने दायित्वों का उन्होंने कहाँ तक पालन किया है। उपरान्त उसे प्रति तीन वर्ष बाद इस सम्बन्ध में सरकार को सूचना भी देनी चाहिए। कमीशन के पास सब प्रकार के पर्याप्त स्थायी कार्यकर्त्ता भी होने चाहिएँ जिसमें आर्थिक अनुसंधान, लेखों और प्रशासन के लिए प्रशिक्षण प्राप्त तकनीकी कार्यकर्त्ता भी शामिल हों।

तटकर प्राधिकार में सुधार के उपरान्त इस बात की आवश्यकता है कि सरकार तटकर अधिकारी की सिफारिशों पर शीघ्र निर्णय करे। कमीशन ने सिफारिश की है कि साधारणतया सरकार को रिपोर्ट की प्राप्ति के बाद दो मास के भीतर निर्णय कर देना चाहिए।

शीघ्र औद्योगिक विकास की दृष्टि से राजकोषीय नीति को उद्योगों के लिए सहायता की अन्य विधियों से बलवती करना चाहिए। इसलिए, सरकार को ऐसे अराजकोषीय उपायों को अपनाना चाहिए और तटकर कमीशन को ऐसे उपायों की प्रगति के विषय में सूचित करते रहना चाहिए, जिससे वह औद्योगिक विकास के लिए सहायता के दोनों प्रकारों को शृंखलाबद्ध कर सके।

यह अत्यधिक प्रसन्नता की बात है कि सरकार ने राजकोषीय कमीशन की उक्त सिफारिशों को पूर्णत स्वीकार कर लिया है। तदनुसार, भारतीय तटकर कमीशन प्रस्तावित सुझावों के अनुरूप विस्तृत अधिकारों के साथ नियुक्त कर दिया गया है। इसने २१ जनवरी, १९५२ से कार्य आरम्भ कर दिया है और इन थोड़े ही वर्षों में इसने बहुत सा अच्छा कार्य किया है।

अध्याय १८

कुटीर और लघु उद्योग

(Cottage and Small-Scale Industries)

भारत में उद्योग सम्बन्धी हमारा अध्ययन कुटीर और लघु-स्तर के उद्योगों, उनके विकास की महान् आवश्यकता, उनके मुख्य प्रकारों, उनकी प्रमुख समस्याओं तथा उन समस्याओं के निराकरण की समुचित नीति पर विस्तृत विचार किये बिना पूरा नहीं हो सकता।

अर्थ—कुटीर उद्योग वह उद्योग है, जो पूर्णतया या मुख्यतया परिवार के सदस्यों की सहायता से किया जाता है, जो उसमें अपना समूचा समय या आधा समय लगाते हैं। इसके विपरीत, एक लघु-स्तर उद्योग मुख्यतया किराए के श्रम (नौकर रखे हुए मजदूरों) से चलाया जाता है। आमतौर पर इसमें १० से २५ श्रमिक तक होते हैं, तथा यान्त्रिक उपकरणों का उपयोग होता है। हाल ही में लघु उद्योग मण्डल (Small Scale Industries Board) ने लघु उद्योगों की परिभाषा करते हुए बताया था कि वे सब उद्योग, लघु उद्योग समझे जायेंगे जिनमें ५ लाख से कम पूंजी लगी हो और जिनमें ५० श्रमिकों से कम श्रमिक काम करते हों, और जो शक्ति का प्रयोग करते हों।

कुटीर उद्योगों की किस्में (Types of Cottage Industries)—अधिक स्पष्ट करने के लिए हम पहले कुटीर और लघु-स्तर उद्योगों के प्रमुख समूहों का अध्ययन करें।

'क' समूह में वे घरेलू उद्योग हैं, जो किसानों को पूरक कार्य प्रदान करते हैं, जैसे, हाथ-कर्घे की बुनाई, टोकरी बनाना, रस्सी बटना, शहद की मक्खियाँ पालना, रेशम के कीड़े पालना।

'ख' समूह में अधिकांशत ग्रामीण शिल्प हैं, जैसे, लोहार का काम, बढ़ई का काम, कोल्हू से तेल पेलना, मिट्टी के बर्तन बनाना, ग्राम-चमड़ा उद्योग, गाँव के पुराने जुलाहों का हाथ-कर्घे से बुनना, आदि। देश की ग्राम-अर्थ-व्यवस्था के साथ इनका निकट सम्बन्ध है।

'ग' और 'घ' समूह के कुटीर उद्योग शहरी क्षेत्रों में हैं। ये उद्योग उनमें लगे हुए श्रमिकों को पूरे वक्त का काम देते हैं। इसके कुछेक उदाहरण ये हैं, लकड़ी और हाथी दाँत की नक्काशी, खिलौने बनाना और सोने चाँदी के तार बनाना।

लघु उद्योगों की किस्में (Types of Small Scale Industries)—इसी प्रकार लघु-स्तर उद्योग भी ग्रामीण या शहरी हो सकते हैं। ये उद्योग भी आंशिक या पूर्ण-काल के हो सकते हैं। शहरी लघु-स्तर उद्योगों के ये उदाहरण हैं—मोजे, बनियान के छोटे-छोटे कारखाने, इंजीनियरिंग के कारखाने, छापेखाने आदि।

ग्रामीण लघु-स्तर उद्योगों में ग्रामीण क्षेत्रों के वे सब मौसमी कारखाने हैं, जो खास तौर पर कृषि उपज की विधायन (Processing) से सम्बन्धित हैं, जैसे, चावल और आटे की मिलें, खाण्डसारी के कारखाने, गुड बनाना। ग्रामीण क्षेत्रों में अभी तक ऐसे बहुत ही कम लघु-स्तर उद्योग हैं, जो सारे साल पूर्ण-काल व्यवसाय प्रदान कर सकें।

कुटीर और लघु-स्तर उद्योगों की समस्याएं (Problems of Cottage and Small Scale Industries)—इनमें से प्रत्येक समूह की अपनी निजी भिन्न भिन्न समस्याएँ हैं। कुटीर और लघु-स्तर उद्योगों के उपर्युक्त वर्गीकरण से प्रकट है कि इन उद्योगों की मोटे तौर पर निम्न समस्याएँ हैं—

१ वर्तमान ग्रामीण-शिल्पों के विकास की समस्या।

२ उन ग्राम उद्योगों के विकास की समस्या, जो किसानों को पूरक आय प्रदान कर सकते हैं।

३ वर्तमान शहरी शिल्पों के विकास की समस्या।

४ ग्रामीण क्षेत्रों में ऐसे नए उद्योगों को स्थापित करने की समस्या जो इस समय कृषि में लगी हुई फालतू श्रम-शक्ति को लाभपूर्ण रोजगार प्रदान कर सकें।

५ शहरी क्षेत्रों में लघु-स्तर उद्योगों के विकास की समस्या।

प्रश्न १—भारत के लिए एक उचित औद्योगिक विकास व्यवस्था की योजना में आप कुटीर तथा लघु उद्योगों का क्या स्थान निश्चित करेंगे? अपने उत्तर के पक्ष में युक्तियाँ दीजिये। (बम्बई १९५२, दिल्ली १९५४, कलकत्ता १९५६)

Q. 1—What role would you assign to cottage and small scale industries indevising a suitable industrial pattern for India? Give reasons in support of your answer. (*Bombay* 1952, *Delhi* 1954, *C U* 1956)

वृहद् यान्त्रिक उद्योग के इस युग में ऐसा जान पडता है कि कुटीर तथा लघु-स्तर-उद्योग के दिन ही बीत चुके। किन्तु यह बडी जल्दीबाजी का और नितांत गलत निष्कर्ष होगा।

भारत में कुटीर और लघु-स्तर उद्योगों के विकास का प्रश्न उसके विचित्र आर्थिक ढाँचे के कारण विशेष रूप से प्रबल है। भारतीय आर्थिक जीवन का सबसे चिंताप्रद लक्षण यह है कि उसकी काम करने वाली जनसंख्या का ⅔ से अधिक भाग कृषि में लगा हुआ है जबकि उद्योग में केवल १०% ही है। कम-से-कम गत ५० वर्षों के वृहत्-स्तर-उद्योग के इतिहास का निरीक्षण करने से पता चलता है कि इस प्रकार के उद्योग केवल ३० लाख श्रमिकों को रोजगार प्रदान कर सके हैं। इसलिए, यह आशा करना केवल स्वप्नमात्र होगा कि वृहत-स्तर उद्योग निकट भविष्य में सतुलित रूप से सबको आजीविका प्रदान करने की इस समस्या का निराकरण कर सकेंगे।

कृषि, जो कि जनता का मुख्य धन्धा है, मौसमी उद्योग है, और इस प्रकार केवल आंशिक नियोजन प्रदान करती है। चीनी, कपास और रूई की गाँठें बाँधने जैसे कई वृहत्-स्तर के उद्योग भी मौसमी हैं। अल्प-नियोजन और बेकारी की यह समस्या कुटीर और लघु उद्योगों के विकास को प्रोत्साहन देकर हल की जा सकती है।

ग्रामीण कुटीर उद्योग न केवल पूरक उपार्जनों के स्रोतों का काम करेंगे, प्रत्युत दुर्भिक्षों की गम्भीरता को भी कम करेंगे, क्योंकि ये उद्योग फसलें नष्ट होने की दशा में "धनुष में दूसरी डोरी के समान" सहायक सिद्ध होंगे।

इसके अतिरिक्त और भी दृढ़ कारण हैं जो कुटीर और लघु उद्योगों के महत्त्व पर जोर देते हैं। कुटीर और लघु उद्योग स्थानीय उपज की विधायन (Processing) और उनकी स्थानीय बाजारों में बिक्री के लिए विशेष रूप से उपयुक्त हैं। कुटीर शिल्पों के विषय में, जो कलापूर्ण, अर्द्ध-विलासिता या विलासिता की वस्तुएँ उत्पन्न करते हैं, जैसे, हाथीदाँत की नक्काशी, कढ़ाई, तिल्ला और गोटा बनाना आदि, उनकी वृहत्-स्तर के उद्योगों के साथ बिल्कुल कोई प्रतियोगिता नहीं है। यह एकदम उनका निजी क्षेत्र है। वस्तुत, अनेक कुटीर तथा लघु उद्योग ऐसे हैं, जो वृहत्-स्तर के उद्योगों के लिए, सामग्री या हिस्से देते हैं, जैसे, सूती वस्त्रों की मिलों के लिए बेलन, साइकिलों के पुर्जे, मशीनों के पुर्जे आदि। कुटीर और लघु उद्योगों का यह भी अपना अलग क्षेत्र है। इसी प्रकार, ऐसी बहुत सी सेवाएँ भी हैं जो वृहत् उद्योगों के इलाकों में विकसित हो गई हैं और उन्हें लघु-स्तर पर चलाया जाता है, जैसे तरह-तरह की मरम्मत के काम।

प्रश्न २—भारत में कुटीर और लघु उद्योगों की मुख्य कठिनाइयों का वर्णन कीजिए।

आपकी सम्मति में ऐसे उद्योगों की सहायता के लिए कौन से उपाय करने चाहिएँ? (आगरा, हैदराबाद, १६५४)

Q. 2—Enumerate the main difficulties of the cottage and small-scale industries in India.

What measures should, in your opinion, be taken for helping such industries? *(Agra, Hyderabad, 1954)*

बावजूद इस बात के कि हमारे देश में कुटीर और लघु उद्योग इस समय बहुमूल्य कार्य कर रहे हैं और कर सकते हैं, उनकी वर्तमान स्थिति बड़ी असंतोषजनक है। उनमें से कई एक, जो किसी समय अति समृद्ध थे, पहले ही नष्ट हो चुके हैं, कुछ लड़खड़ा रहे हैं और कुछ अपने आपको जीवित रखने भर के लिए कठिन संघर्ष कर रहे हैं। उनकी कुछ मुख्य कठिनाइयाँ यह हैं .

(१) सर्वप्रथम, घरेलू श्रमिकों की निरक्षरता, अज्ञान और पिछड़ी हुई विधियों के कारण मानवी श्रम की अक्षमता है।

(२) फिर आम तौर पर वे बड़े गरीब हैं और उन्हें सस्ती साख की सुविधाएं प्राप्त नहीं हैं। किसान की तरह वे भी साहूकार के पंजों में फँस में जाते हैं, जो उनसे ब्याज की ऊँची दर लेता है। या फिर वे अपनी वस्तुएँ जिन व्यापारियों को बेचते हैं उनसे ऋण लेते हैं। ये उन्हें कम कीमतों पर बेचने के लिए लाचार करके उनका बुरी तरह शोषण करते हैं।

(३) संगठित बाजार-बिक्री का अभाव—इस वजह से असहाय कारीगर पूर्णतया मध्यस्थों की दया पर आश्रित होते हैं। इसके अतिरिक्त, उनकी वस्तुओं के लिए सम्भावित माँग बढ़ नहीं पाती।

(४) कच्चे माल का परिमाण, क्वालिटी और नियमित सप्लाई सब बडी असतोष-जनक है। क्योकि वे कच्चा माल कम मात्रा म खरीदते हैं इसलिए उनसे अधिक कीमतें ली जाती है। मिल निर्मित सूत, पीतल और लोहे की चादरा जैसे अर्द्ध निर्मित माल को पाने मे उन्हे विशेष कठिनाई होती है।

(५) लघु उद्योगो के लिए उपयुक्त मशीनों तथा उपकरणों का अभाव—इनके निर्माण की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है। घरेलू शिल्पकार पुराने आदिम काल के औजारो का प्रयोग करते हैं।

(६) देश में आयात की हुई वस्तुओं तथा बृहत्-स्तर पर उत्पादित वस्तुओं स प्रतियोगिता।

सुधार के लिए सुझाव (Suggestions for Improvement)—देश के औद्योगिक ढांचे म उनका महत्त्वपूर्ण स्थान देखते हुए यह बडा ज़रूरी है कि कुटीर और लघु उद्योगा के वर्तमान दोषो का इलाज करने और इन उद्योगो की मुख्य कठिनाइयो को दूर करने के लिए जल्दी से जल्दी समुचित उपाय किए जायँ।

(१) सबसे पहले तो यह निर्णय करना है कि वर्तमान अवस्थाओ मे कौनसे पुराने घरेलू उद्योगों को चल निकलने का अवसर है और ऐसे अन्य उद्योग कौनसे हैं जो लाभपूर्ण ढग से शुरू किए जा सकते हैं। इसके लिए वर्तमान उद्योगो का विस्तृत सर्वेक्षण किया जाना चाहिए और प्रमुख कुटीर तथा लघु उद्योग के लिए उत्पादन-कार्यक्रम बनाए जाने चाहिएँ।

(२) कुटीर श्रमिकों की समुचित शिक्षा और प्रशिक्षण की व्यवस्था—इसके लिए विभिन्न जिला वे विशिष्ट औद्योगिक स्कूलो की स्थापना होनी चाहिए।

(३) तकनीक में उन्नति—कारीगर को उत्पादन की नवीन और अधिक किफायती विधियो से परिचित करना चाहिए।

(४) समुचित उपायो द्वारा अच्छे कच्चे माल की सप्लाई का भरोसा होना चाहिए।

(५) साख पर पूँजी व्यवस्था—इसके लिए सहकारी समितियाँ सर्वोत्तम एजेंसी हैं। शहरी केन्द्रो म लघु-स्तर उद्योगा के लिए राज्य वित्त निगम स्थापित होने चाहिएँ।

(६) स्वस्थ बाजार-बिक्री सगठन—सब महत्त्वपूर्ण नगरो मे बिक्री डिपो स्थापित होने चाहिएँ। समय समय पर कुटीर उत्पादा की प्रदर्शिनियाँ होनी चाहिएँ।

(७) सस्ती बिजली की व्यवस्था—जापान और स्विटजरलैण्ड म सस्ती बिजली शक्ति की सुविधा से लघु उद्योगो को बहुत सफलता मिली है।

(८) बृहत् स्तर उद्योगो के साथ सयोजन करना अत्यावश्यक है। कुटीर उद्योग बृहत्-स्तर उद्योगा के पूरक होने चाहिएँ।

(९) कुटीर और लघु उद्योगा को अधिरक्षित (*Reserved*) क्षेत्र देकर या अन्य उपायों से कुछ स्थायी काल के लिए सरक्षण दिया जाना चाहिए जिससे वे तकनीक और सगठन में अच्छा सुधार करके अपने पैरो पर खडे हो सकें और प्रतियोगिता का सामना कर सकें।

(१०) कुटीर और लघु उद्योगो के प्रत्येक वर्ग के लिए अपनी-अपनी समस्याओ

पर ध्यान देने और अपने-अपने विकास को बढाने के लिए अलग-अलग उचित रूप से सगठित होना चाहिए जिसे अपनी इच्छा से काफी कार्य करने का अधिकार हो।

(११) कुटीर और लघु उद्योगो की तकनीक में गवेषणा कार्य भी सगठित होना चाहिए।

(१२) इनके अतिरिक्त, उत्पादन के गुणात्मक स्तर भी निश्चित होने चाहिएँ और उत्पादन की सभी महत्त्वपूर्ण दिशाओ पर लागू होने चाहिएँ।

निष्कर्ष—उपरिवर्णित विभिन्न सुझाव अधिक सक्रिय और अपने लक्ष्य में अधिक सफल हो सकते हैं, यदि (क) लघु और कुटीर उद्योगो के क्षेत्र में सहकारिता के सिद्धान्त को ग्रहण किया जाय, (ख) राज्य-सहायता की सक्रिय नीति अपनायी जाय, और (ग) जनता मे स्वदेशी भावना को प्रोत्साहन दिया जाय।

प्रश्न ३—भारतीय अर्थ-व्यवस्था में कुटीर तथा लघु उद्योगों का महत्त्व प्रकट कीजिए और उनके विकास के लिए सरकार ने जो उपाय किए हैं, उनका उल्लेख कीजिए।

Q 3—Bring out the importance of cottage and small-scale industries in Indian economy and mention the steps taken by the Government to aid their development.

देश की अर्थ-व्यवस्था में कुटीर और लघु उद्योगो के महत्त्वपूर्ण स्थान के लिए उपरिलिखित प्रश्न १ को देखिये।

भारत सरकार कुटीर उद्योगो के विकास की दिशा में पर्याप्त काम कर रही है। सर्वप्रथम तो यह कि पिछले कई वर्षों में कई समुचित मण्डलों तथा संगठनों की स्थापना हुई है। इन्हे उपक्रम की विस्तृत शक्तियाँ तथा प्रभावी होने के लिए उचित निधि की व्यवस्था की गई है। सबसे पहले कुटीर उद्योग मण्डल की स्थापना हुई। मण्डल ने देश में मौजूदा कुटीर उद्योगो का सर्वेक्षण कार्य पूरा कर लिया है और वह अब कुटीर उद्योगो के विकास की ओर ध्यान देगा। अखिल भारतीय हाथकरघा मण्डल की स्थापना नवम्बर १९५२ में हुई। इसका उद्देश्य हाथ की बनी वस्तुओ की उन्नति और विकास करना है तथा देश-विदेश में उसकी बिक्री को बढ़ावा देना है। हाथ-करघा उद्योग के लिए जो देश का सबसे विशाल कुटीर उद्योग है, अखिल भारतीय हैण्डलूम मण्डल की स्थापना की गई है। यह बुनकरो मे सहकारी सस्थाएँ बनाने तथा हैण्डलूम माल की निकासी को बढावा देने पर बल दे रही है। १९५३ में इसने एक केन्द्रीय मार्केटिंग संगठन की स्थापना की। इसका मुख्य कार्यालय मद्रास में था। १९५४-५५ के दौरान मे केन्द्रीय सरकार ने पर्याप्त सहायता की रकम राज्य सरकारों को दी जिससे वे उन प्रदेशो की सहकारी संस्थाओ की वित्तीय सहायता कर सकें। राज्य सरकारो को वित्तीय सहायता देने का अर्थ वहाँ रगने, तैयार करने और विधायन करने के लिए सम्मिलित मशीनें लगाना, उन्नत टैक्नीकल उपकरणो की पूर्ति करना, तथा मार्केटिंग और बिक्री डिपो तथा बुनकर सहकारी सघो आदि की स्थापना करना था। खादी तथा ग्राम उद्योग मण्डल जिसकी स्थापना १९५३ में हुई, ग्राम उद्योग के विषय में काम करने वाली मुख्य सस्था है। १९५४ मे लघु स्तरीय उद्योग मण्डल की

स्थापना भी हुई। कुटीर और लघु उद्योगों को बढावा देने के लिए भारत सरकार भी प्रयत्न कर रही है। भारत सरकार तथा कई राज्य सरकारों ने कुटीर तथा लघु स्तरीय उद्योग निदेशालयों की स्थापना की है। १६५४ म केन्द्र मे लघु स्तरीय उद्योगों के लिए विकास कमिश्नर की नियुक्ति हुई।

सरकार द्वारा लघु और कुटीर उद्योगो के विकास के लिए स्वीकृत नए सिद्धान्तो का महत्व भी कम नहीं है। सरकार ने कुटीर तथा लघु स्तरीय उद्योगो की सहायता करने के लिए उसी प्रकार के विशाल उद्योगो पर उपकर लगाने के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है। ऐसे उद्योगो को अस्थायी सरक्षण द्वारा उत्पादन के क्षेत्र को रक्षित करके अथवा राज्य सहायता द्वारा उनकी सहायता की है। इस तरह मिल द्वारा तैयार कपडे पर प्रति गज उपकर लगाकर ६ करोड रु० प्रति वर्ष आय की आशा है। इसके अलावा कई प्रकार के उत्पादन को रक्षित करार दिया गया है (जैसे अब मिलो मे साडी का उत्पादन पिछली मात्रा का ६०% किया जा सकता है)।

कुटीर तथा लघु-स्तरीय उद्योगो की सबसे गम्भीर और कठिन समस्या वित्त की व्यवस्था है। इसलिए उन्हे साख सुविधाएँ देकर इन्हे दूर करने का प्रयास किया जा रहा है। इसलिये राज्यो में राज्य वित्त निगमों की स्थापना की जा रही है और इस समय इनकी सख्या १२ है। रिजर्व बैंक अधिनियम म एक सशोधन द्वारा यह उपबन्ध किया गया है कि वह राज्य सहकारी बैंको तथा वित्त निगमो को ऐसे उद्योगो के उत्पादन तथा मार्केटिंग के लिए निधि का उपबध करे।

हाल में ही सरकार ने अपनी स्टोर क्रय नीति को काफी उदार कर दिया है। एक निश्चित प्रतिशत तक अधिक कीमत के उपरान्त भी ऐसी वस्तुओ को अधिमान दिया जाता है। कई प्रकार की सरकारी वर्दियो मे खादी का उपयोग आवश्यक कर दिया गया है।

१६५३ में भारत सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय विशेषज्ञों के दल को भारत म आमन्त्रित किया था। इसने अपनी रिपोर्ट मे लघु-स्तरीय उद्योगो के विकास के लिए समन्वित कार्यक्रम की सिफारिश की। सरकार ने इस दल की सिफारिशो को स्वीकार कर लिया है। इनमे से मुख्य सिफारिशे ये है —(क) लघु स्तरीय उद्योगो के लिए टैक्नोलॉजी की चार क्षेत्रीय सस्थाएँ (ख) लघु उद्योग निगम (ग) बाजार और बिक्री सगठन तथा (घ) कई बहु उद्देशीय सस्थाओ आदि की स्थापना जो ऐसे उद्योगो को उत्पादन और प्रबन्ध विषयक नेतृत्व दे सकें। ये सब ऐसे उद्योगो के उत्पादन तकनीक तथा प्रबन्ध आदि के सुधार मे सहायक होगे। इन सस्थाओ की स्थापना की जा रही है। लघु उद्योग टेक्नोलाजी की सस्थाओ की स्थापना मद्रास, बम्बई, कलकत्ता तथा फरीदकोट म की गई है। इनकी कारवाई पर नियन्त्रण तथा सहयोजन करने के लिए विकास आयुक्त की नियुक्ति की जा चुकी है। फरवरी १६५५ में राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम की स्थापना हुई थी। यह निगम सरकार के क्रय विभागो से सम्पर्क रखता है और उनकी ओर से छोटी उद्योग इकाइयो को आदेश (orders) देता है। इसलिये यह निगम चाहता है कि लघु उद्योगो की इकाइया अपने नाम इसम रजिस्टर कराये।

सरकार सामुदायिक विकास क्षेत्रों और राष्ट्रीय विकास खण्डों में कुटीर तथा लघु उद्योगों को बढ़ावा देकर भी इन उद्योगों की सहायता कर रही है। कई राज्यों में छोटे उद्योगों को सस्ती बिजली भी उपलब्ध कराई जा रही है। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप कुटीर उद्योगों का विकास अवश्य होगा।

औद्योगिक संपदाएं (Industrial Estates)

यहां औद्योगिक सम्पदाओं की स्थापना का जिक्र करना उचित होगा। यह लघु-स्तरीय उद्योग बोर्ड की सिफारिशों पर किया जा रहा है। इसका उद्देश्य छोटे उद्यमी को फैक्टरी की जगह, उचित उपबन्ध, सचार आदि अर्जन करने में सहायता करना है। सरकार ने औद्योगिक कालोनियों अथवा सपदाओं को बनाने का निश्चय किया है जो १५ से ५० अथवा ६० एकड़ आकार की होगी।

प्रथम पचवर्षीय योजना में उपबन्ध किया गया कि केन्द्रीय सरकार १५ करोड़ रु० और राज्य सरकारें १२ करोड़ रु० लघु और कुटीर उद्योगों के विकास पर व्यय करेंगी। द्वितीय योजना में इन उद्योगों के विकास के लिये २०० करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है। द्वितीय योजना के प्रथम दो वर्षों में इन उद्योगों के विकास पर ५६ करोड़ रु० खर्च हो चुके हैं।

अब हम यह बताने का प्रयत्न करेंगे कि सरकार के प्रयत्नों के फलस्वरूप इन उद्योगों का कहा तक विकास हुआ है। सबसे प्रमुख सफलता हाथकरघा उद्योग को मिली है। जहा १९५१ में हाथकरघा उद्योग से ८४३० लाख गज कपड़ा तैयार होता था, प्रथम योजना के बाद १९५५-५६ में १४,५०० लाख गज कपड़ा तैयार होने लगा था। तब से हाथ करघे के कपड़े का उत्पादन और भी बढ़ गया है। हस्त शिल्पों के उत्पादन की दिशा में और भी आश्चर्यजनक उन्नति हुई है। देश में प्राय: १०० करोड़ रु० के हस्त शिल्प तैयार होते है जिनमें से प्राय ७ करोड़ रु० के शिल्प विदेशों को प्रतिवर्ष निर्यात किये जाते हैं। खादी के उत्पादन में और भी अधिक आश्चर्यजनक उन्नति हुई है। जहा १९५२-५३ में १ ९४ रु० करोड़ रु० की खादी का उत्पादन हुआ था, १९५७-५८ में १० १५ करोड़ की खादी तैयार हुई। जहा तक श्रम नियोजन का प्रश्न है १९५६-५७ में २१ २ लाख व्यक्तियों को खादी और अन्य ग्राम उद्योगों से पूर्ण कालिक या अशकालिक काम मिला।

अध्याय १६

औद्योगिक श्रम

(Industrial Labour)

भारतीय श्रम की कार्यक्षमता

(Efficiency of Indian Labour)

प्रश्न १—भारतीय औद्योगिक श्रम की कार्यक्षमता के विषय में अपने विचार व्यक्त कीजिए। देश में श्रम की कार्यक्षमता को उन्नत करने के लिये आप क्या सुझाव दे सकते हैं?

Q 1—Comment on the efficiency of Indian Industrial labour Make suggestions for improving labour efficiency in the country.

भारत में उद्योगपतियों की यह आदत बन गई है कि वह भारतीय औद्योगिक श्रम को अक्षम बताकर बदनाम करते हैं। हमारे औद्योगिक श्रमिकों की निम्न कार्यक्षमता प्रमाणित करने के लिए अनेक तुलनात्मक आंकड़े भी दिए गए हैं। उदाहरण के लिए, यह बताया गया है कि जबकि एक श्रमिक जापान में २४०, इंग्लैंड में ५४० से ६०० और अमरीका में ११२० तकुओं तक की देखभाल करता है, वहां भारत में वह केवल १८० तकुओं की देखभाल करता है। यह भी कहा जाता है कि जहां इंग्लैंड में एक जुलाहा ४ से ६ और अमरीका में ६ करघों तक पर काम करता है वहां भारत में केवल दो करघों पर ही काम हो पाता है। औद्योगिक कमीशन के सामने सर एलैक्जेंडर मैक्रोबर्ट ने अपनी गवाही देते हुए भारतीय श्रमिक की औसत कार्यक्षमता अंग्रेज श्रमिक के मुकाबिले में मोटे तौर पर ⅓ कही थी।

इस प्रकार की तुलनाएँ भारतीय श्रमिक की बहुत कम कार्यक्षमता प्रकट करने के लिए अपनायी जाती हैं। किन्तु यह निष्कर्ष अत्यधिक अतिशयोक्तिपूर्ण है। यदि भारतीय श्रम की उत्पादकता अपेक्षाकृत कम है तो यह पूर्णतया स्वत श्रमिक के दोषों अथवा उसकी निम्न क्षमता के ही कारण नहीं है। हमारे सामने अमरीका के ग्रेडी शिष्टमण्डल की गवाही भी है जो द्वितीय महायुद्ध-काल में भारत आया था। इसका मत था कि अंग्रेजी कारखानों में ६५ सेंट उपार्जन करने वाले भारतीय श्रमिक बहुत बढ़िया किस्म के औजारों को बना रहे थे। बम्बई के फायरस्टोन कारखाने में भारतीय श्रमिक अमरीका स्थित फायरस्टोन के कारखाने में काम करने वाले श्रमिक के बराबर उत्पादन करते दिखाई दिये। जमशेदपुर के टाटा स्टील कारखाने में प्रति आदमी की उत्पादन-क्षमता पिट्सबर्ग (अमरीका) में इसी प्रकार के कारखानों में अमरीकी श्रमिक की उत्पादन क्षमता के समान ही दिखाई दी।"

इस प्रकार की संख्या और परिमाण सम्बन्धी तुलनाओं को देखते समय पहला प्रश्न यह उठता है कि क्या काम करने की अवस्थाएँ भी वही हैं या नहीं। यदि काम करने की अवस्थाएँ एक दूसरे से अत्यधिक भिन्न हैं, तो इस प्रकार की तुलनाएँ उपस्थित करना सर्वथा असंगत है। कौन नहीं जानता कि अमरीका और इंग्लैंड जैसे देशों में

श्रमिक कहीं अधिक और कहीं बेहतर औजारों तथा मशीनों पर काम करते हैं। अमरीका में अपेक्षाकृत मशीनें सस्ती हैं और श्रम मँहगा है, और इसलिए एक श्रमिक को देखभाल के लिए बड़ी अधिक मशीनरी सौंपी जाती है। इसके मुकाबिले भारत की अवस्थाएँ इससे सर्वथा विपरीत हैं। श्रम के सस्तेपन के कारण एक मशीन पर अधिक श्रमिकों को लगाया जाता है। यही वजह है कि भारतीय श्रमिक थोड़े तकुओं या करघों की देखभाल करता है।

श्रम की क्षमता पर विचार करते हुए यह भी आवश्यक है कि हम अपने कारखानों के प्रबन्ध की क्षमता पर भी विचार करें। यह देखने में आएगा कि अक्सर श्रम की निम्न क्षमता का दोष अक्षम प्रबन्ध पर ही डालना पड़ेगा।

जिन अवस्थाओं में भारतीय श्रम को काम करना पड़ता है, वे अवस्थाएँ ही, न कि हमारे मजदूर, हमारे श्रम की क्षमता को कम करने वाले हैं। हमारे कारखाने अन्धकारमय हैं और हवादार नहीं हैं; गर्मियों में गर्म और जाड़ों में ठण्डे रहते हैं। शुद्ध पानी, भोजनालयों और नहाने की पर्याप्त सुविधाओं का, जो किसी भी उष्ण कटिबन्धीय देश में आवश्यक हैं, सर्वथा अभाव है।

जब हम सापेक्ष कार्यक्षमताओं की तुलना करते हैं तो हम साथ ही तनख्वाहों के सापेक्ष स्तरों की तुलना पर क्यों न ध्यान दें? मजूरी जीवन-स्तर निश्चित करती है और इस प्रकार कार्यक्षमता का निश्चय करने में इसका महत्त्वपूर्ण अंश है। इसलिए भारत में श्रम को दी जाने वाली कम मजूरी भी अपेक्षाकृत कम कार्यक्षमता के लिए उत्तरदायी है।

फिर, हमारी श्रम शक्ति जैसी कुछ इस समय है, उसमें कुछ स्वाभाविक दोष भी हैं जो हमारी अपेक्षाकृत कम कार्यक्षमता के कारण हैं। हमारे श्रमिकों में अज्ञान और निरक्षरता है। न केवल यह कि उसे उसके काम में निपुण करने के लिए किसी प्रकार की औद्योगिक शिक्षा नहीं दी गई है, वरन् वह लिखना-पढ़ना और सादा हिसाब तक लगाना नहीं जानता।

फिर पश्चिमी देशों का औद्योगिक मजदूर स्थायी रूप से नगरों में रहता है, जबकि भारत में वह अधिकांशत: गावों से आता है जहां वह वापस जाने के लिए हमेशा उत्सुक रहता है। कहावत है कि ढुलकते हुए पत्थर में काई नहीं जमती। क्योंकि मज़दूरों की तबदीली जल्दी-जल्दी होती है, इसलिए वे नए कारखाने, नई मशीनरी और नए तरीकों को न तो जल्दी सीख पाते हैं और न उनकी कार्यक्षमता बढ़ पाती है।

श्रम की कार्यक्षमता में उन्नति के सुझाव (Suggestions for Improving Labour Efficiency)—पूर्वोक्त विवेचन से यह समझ में आ गया होगा कि भारतीय श्रम वस्तुत: अक्षम नहीं है। अनेक बाहरी अवस्थाओं ने उसकी क्षमता को निम्न बना रखा है। ज्योंही उनका सुधार होगा, उसकी कार्यक्षमता में भी उन्नति होकर रहेगी। श्रम की कार्यक्षमता को उन्नत करने के कुछेक उपायों का हम उल्लेख करते हैं—

(i) सामान्य और तकनीकी शिक्षा का प्रसार, (ii) उचित मजूरी, (iii) काम करने की उन्नत अवस्थाएँ, (iv) काम करने के घंटों में कमी, (v) रहने के

मकानों में सुधार और (vi) उत्पादन बढाने के लिए प्रेरणाए (incentives) जैसे उत्पादन के अनुसार पैसा देना। इन उपायों के अतिरिक्त यह आवश्यक है कि राज्य ऐसे उपयुक्त उपाय करे जिससे श्रमिकों को पूरी सामाजिक सुरक्षा मिले वे अरक्षा की भावना से पीडित न हों और न वे रोजगारी के डर से परेशान हों।

प्रश्न २—गत ४० वर्षों के समय में भारत में फैक्टरी कानून के इतिहास में प्रमुख विधानों का वर्णन कीजिए, श्रम की क्षमता पर उनके प्रभावों का भी उल्लेख कीजिये। (आगरा १९५३)

Q 2—Describe the landmarks in the history of factory legislation in India during the past 40 years Discuss their influence on the efficiency of labour (*Agra* 1953)

प्रथम फैक्टरी अधिनियम १८८१ में स्वीकार हुआ था। यह मजे की बात है कि यह श्रम की रक्षा के लिए नहीं वरन् लंकाशायर के वस्त्र निर्माताओं के दबाव के कारण स्वीकार किया गया था। भारत में सस्ते श्रम की सहायता से भारतीय वस्त्र उद्योग के विकास के प्रति वे ईर्ष्या करने लगे थे। इस अधिनियम के द्वारा केवल बाल श्रम को एक सीमित संरक्षण दिया गया। द्वितीय फैक्टरी अधिनियम १८९१ में स्वीकार हुआ। इसमें बच्चे मजदूरों के बारे में और अधिक व्यवस्थाओं के अतिरिक्त स्त्री श्रम को भी कुछ संरक्षण दिया गया। उसके बाद १९११ के तीसरे फैक्टरी अधिनियम में ही सबसे पहली बार पुरुष श्रमिक वर्ग को भी कुछ संरक्षण प्रदान किया गया। उनके प्रतिदिन के काम करने के घंटों को १२ तक सीमित कर दिया गया।

फैक्टरी विधान में आगामी महत्वपूर्ण चरण १९२२ का फैक्टरी अधिनियम था। प्रथम विश्व-युद्ध के काल में कारखानों के मजदूरों की अवस्था में सुधार की माग आरम्भ हो गई थी। १९१९ में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की भी स्थापना हो गई। इसका परिणाम यह हुआ कि १९२२ में एक और फैक्टरी अधिनियम स्वीकार किया गया जिसका उद्देश्य भारत में श्रम विधान को विश्व के अन्य उन्नत देशों के बराबर लाना था। इसके द्वारा किसी भी कारखाने में १२ वर्ष की आयु से कम के बच्चे को नियोजित करने की मनाही कर दी गई और उनके लिए प्रतिदिन काम करने के घण्टे भी ६ नियत कर दिये। स्त्रियों के रात में काम करने पर रोक लगा दी गई। वयस्कों के लिये काम के घण्टे ६० प्रति सप्ताह तथा ११ प्रतिदिन के नियत कर दिये गए। उपरान्त १९२३ १९२६ और १९३१ में फैक्टरी विधान में गौण संशोधन किये गए।

१९२९ में श्रम के विषय में एक शाही कमीशन की नियुक्ति की गई। उसकी सिफारिशों पर १९३४ के भारतीय फैक्टरी अधिनियम के द्वारा आमूल सुधार किया गया। इस अधिनियम में कई नई बातों को प्रचलित किया गया जैसे कारखानों का मौसमी (seasonal) (जो वर्ष में १८० दिन से कम काम करते थे) और बारहमासी (perennial) में वर्गीकरण काम के घण्टों के समायोजन (spread over) का नया सिद्धान्त लागू करना अधिसमय (over time) का विनियमन इत्यादि। मौसमी कारखानों में काम करने के घण्टे प्रतिदिन ११ तथा सप्ताह में ६० नियत किए

गए और बारहमासी कारखानों में क्रमश: १० तथा ५४ घण्टे नियत किये गये। कारखानों में श्रमिकों को कुछ सुविधाएँ प्रदान करना भी जरूरी हो गया, जैसे विश्रामालय, बच्चों और स्त्रियों के लिए उपयुक्त कमरे, कारखाने में गर्मी कम करने के उपाय इस्तेमाल करना, आदि।

यह अधिनियम १९४६ में संशोधित हुआ। उसमें मौसमी कारखानों के लिए ५४ तथा बारहमासी के लिए ४८ घण्टे नियत किए गए।

१९४८ का फैक्टरी अधिनियम नवीनतम कानून है जो इससे पहले के सब फैक्टरी अधिनियमों को रद्द कर देता है, और उनके बदले फैक्टरी श्रम के लिए विस्तृत व्यवस्थाएँ करता है। अधिनियम का महत्त्व इस बात में है कि जहाँ १९३४ के अधिनियम में अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्न छोड़ दिए गए थे, जैसे, स्वास्थ्य और रक्षा से सम्बन्धित प्रश्न, राज्य सरकारों के नियम बनाने के अधिकार आदि, वहाँ अब इन प्रश्नों को अधिनियम में शामिल कर दिया गया है। इस प्रकार उनका पालन अब अधिक निश्चित होगा। इसके अतिरिक्त, नई फैक्टरियों के निर्माण तथा पुरानी फैक्टिरियों के विस्तार के लिए लाइसेंस प्राप्त करना तथा रजिस्ट्री कराना अनिवार्य कर देने के अलावा, पूर्व स्वीकृति तथा अनुमति भी आवश्यक कर दी गई है। इससे कार्य करने की अवस्थाएँ बेहतर हो सकेंगी। इस अधिनियम के मुख्य उपबन्ध ये हैं—

(i) क्षेत्र (Scope)—प्रस्तुत अधिनियम उन सब औद्योगिक संस्थानों पर लागू होता है, जिनमें १० या अधिक श्रमिक कार्य करते हैं और बिजली का उपयोग होता है, या जिनमें २० या अधिक श्रमिक काम करते हैं और जहाँ बिजली का उपयोग नहीं होता। अन्य कारखानों को भी एक विशेष विज्ञप्ति द्वारा इसके अधीन लाया जा सकता है। मौसमी और बारहमासी कारखानों का पुराना भेद खत्म कर दिया गया है।

(ii) मजदूरों के स्वास्थ्य, रक्षा और कल्याण के विषय में इस अधिनियम में विस्तृत व्यवस्थाएँ की गई हैं। मजदूरों के स्वास्थ्य की रक्षा करने के लिए सफाई, गन्दगी और गैसों को बाहर फेंकने, साफ हवा आने, तापमान, धूल और गैस को कमरे के बाहर निकालने के लिए पखों, अधिक भीड़ से बचाव, प्रकाश, पीने का पानी, पाखाने, पेशाब की जगहें, प्राथमिक चिकित्सा का प्रबन्ध आदि के बारे में उपबन्ध किये गए हैं। ५०० से ज्यादा मजदूर रखने वाले कारखानों में एम्बुलेंस रखना जरूरी है। मजदूरों की रक्षा के लिए यह उपबन्ध है कि मशीनरी के चारों ओर घेरा लगाया जाए, चलती मशीनों की देख-भाल और चालू रखने में सावधानी बरती जाए, आँखों का बचाव और जहरीली गैसों से बचाव किया जाए। कल्याण उपबन्धों में हैं—उचित तथा पर्याप्त पानी की सुविधा, २५० मजदूरों वाले कारखानों में कैन्टीन, ५० औरतों वाले कारखानों में शिशुगृह (Creches), जहाँ १५० मजदूर हों विश्राम-गृह, भोजन-गृह आदि, और जहाँ ५०० मजदूर हों, वहाँ वेलफेयर अफसरों की नियुक्ति।

(iii) बच्चों के नियोजन के लिए न्यूनतम आयु १४ वर्ष रखी गई है और किशोरावस्था के लिए ऊपरी आयु की सीमा १७ से १८ कर दी गई है।

(iv) वयस्कों के लिए काम के घण्टे सप्ताह में ४८ या ९ घण्टे प्रतिदिन नियत

किए गए हैं और बीच की छुट्टी मिलाकर एक वक्त में मजदूर को ज्यादा से ज्यादा १०½ घण्टे ड्यूटी पर रक्खा जा सकता है।

(v) १८ वर्ष से कम उम्र वालो के लिए काम के घण्टे ४½ प्रतिदिन तथा दैनिक काम के ५ घण्टे नियत किए गए हैं।

(vi) किसी भी वयस्क श्रमिक से आध घण्टे के विश्राम के बिना ५ घण्टे से अधिक लगातार काम नहीं लिया जा सकता।

(vii) सात बजे संध्या से लेकर ६ बजे प्रात के बीच बच्चो और स्त्रियो को काम पर लगाने की मनाही है। जिस मशीन पर चोट लगने का डर हो उस पर भी उन्हें नही लगाया जा सकता।

(viii) अधिसमय (Overtime) काम के लिए मजूरी की सामान्य दरो से दोगुना देना होगा।

(ix) साप्ताहिक छुट्टियो के अतिरिक्त प्रत्येक श्रमिक निरन्तर एक वर्ष तक कार्य करने के बाद मजूरी सहित निम्न दर से अवकाश का अधिकारी है वयस्क—काम के प्रति बीस दिन के बदले एक दिन, १८ वर्ष से कम आयु का व्यक्ति—कार्य के प्रति १५ दिन के लिए एक दिन।

श्रम सम्बन्धी अन्य विधान (Other Labour Legislations)—इस फैक्टरी विधान के अलावा अन्य अनेक प्रकार के श्रम विधान औद्योगिक श्रम की रक्षा तथा लाभ के लिए और उसकी क्षमता को उन्नत करने के लिए बनाए गए हैं। इनमे मजूरी-विधान सामाजिक सुरक्षा विधान और औद्योगिक सम्बन्ध विषयक विधान तथा श्रमिक संघो का उल्लेख किया जा सकता है।

खानों सम्बन्धी विधान (Mines Legislation)—खानो में काम करने वाले श्रमिको को संरक्षण प्रदान करने के लिए भी विधान का निर्माण हुआ है। १९५२ का खान अधिनियम सभी खानो पर लागू होता है। ऊपर काम करने वाले श्रमिको की न्यूनतम आयु १५ वर्ष नियत की गई है और पृथ्वी के अन्दर काम करने वाले श्रमिको की न्यूनतम आयु १८ वर्ष रखी गई है। १५ और १८ वर्ष के बीच की आयु वाले व्यक्ति भी जमीन के भीतर काम पर लगाए जा सकते हैं बशर्ते कि डाक्टर उन्हे वयस्क के समान पृथ्वी के अन्दर काम करने योग्य घोषित कर दे। पृथ्वी के ऊपर अधिक से अधिक ९ घण्टे प्रतिदिन काम लिया जा सकता है और पृथ्वी के अन्दर अधिक से अधिक ८ घण्टे प्रतिदिन। पृथ्वी के ऊपर काम करने वाले १८ वर्ष की आयु से कम के श्रमिको को ४½ घण्टे प्रतिदिन से अधिक काम पर नही लगाया जा सकता। सप्ताह में अधिक से अधिक ४८ घण्टे काम लिया जा सकता है। किसी एक दिन में अधिक से अधिक पृथ्वी के ऊपर १२ घण्टे काम लिया जा सकता है और पृथ्वी के अन्दर ८ घण्टे काम लिया जा सकता है। जो लोग १८ वर्ष से कम आयु के हैं और जिन्हें डाक्टर ने वयस्क के समान काम करने योग्य का प्रमाण-पत्र नही दिया है वे एक दिन में ५ घण्टो से अधिक के लिए खान में काम पर नहीं लगाए जा सकते। पृथ्वी के ऊपर काम करने वाले श्रमिको के लिए आराम का वक्फा वही है जो फैक्टरी विधान में है। अधिसमय काम (overtime work) के लिए यह व्यवस्था है कि पृथ्वी

के नीचे काम करने वाले श्रमिक सामान्य मजूरी का दूना पायेंगे, और पृथ्वी के ऊपर काम करने वाले श्रमिक सामान्य मजदूरी का ड्योढा पायेंगे। साप्ताहिक छुट्टी के अतिरिक्त मासिक वेतन पाने वाले श्रमिकों को १४ दिन की सवेतन छुट्टी १२ महीने की सेवा पर मिलेगी, और साप्ताहिक वेतन पाने वाले श्रमिकों को १२ महीने की सेवा पर एक सप्ताह की सवेतन छुट्टी मिलेगी। श्रमिकों के स्वास्थ्य, सुरक्षा और सामान्य कल्याण के सम्बन्ध में प्राय वही उपबन्ध हैं जो फैक्टरी अधिनियम में हैं। रात के ७ बजे से सुबह के ६ बजे तक स्त्रियां काम पर नहीं लगाई जा सकतीं, किशोर वयस्कों को शाम के ६ बजे से प्रात ६ बजे तक के बीच काम पर नहीं लगाया जा सकता। पृथ्वी के गर्भ मे स्त्रियों को काम पर नहीं लगाया जा सकता। खान-मण्डल (Mines Boards) स्थापित किये गये हैं जो खानों मे काम करने वाले श्रमिकों के स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रबन्धों की समय-समय पर जाच करते हैं। १९४८ में कोयले की खानों में काम करने वाले श्रमिकों को प्राविडेंट फड देने के लिए एक अधिनियम पास किया गया था, जिसके अनुसार श्रमिकों के मूल वेतन के हर रुपये पर एक-एक आना मालिक और मजदूर दोनों जमा करेंगे, जिससे प्राविडेंट फण्ड दिया जायगा। कोयले पर उप-कर लगाकर कोयला-खान श्रम कल्याण निधि (Coalmine Labour Welfare Fund) बनाई गई है, जिसका श्रमिकों के लिए मकानों की व्यवस्था करने में उपयोग किया जाता है।

बागान सम्बन्धी विधान (Plantation Legislation)—१९५१ का बागान श्रम अधिनियम चाय, कॉफी, रबर तथा सिन्कोना आदि के ऐसे बागान पर लागू होता है, जिसमें कम से कम ३० व्यक्ति काम पर लगे हों तथा २५ एकड अथवा अधिक भूमि पर काश्त होती हो। इस अधिनियम के अनुसार १८ वर्ष से कम आयु के बच्चे काम पर नही लगाये जा सकते। वयस्कों के लिए काम के घण्टो की अधिकतम सीमा ५४ है और १८ वर्ष से कम के व्यक्तियों के लिए ४० घण्टों की। एक दिन में अधिक से अधिक १२ घण्टे काम लिया जा सकता है। आराम का समय फैक्टरी अधिनियम के अनुकूल है। साप्ताहिक आराम के अलावा, वेतन-सहित वार्षिक छुट्टियों का उपबन्ध भी है। वयस्कों के लिए प्रति २० दिन काम पर एक छुट्टी तथा १८ वर्ष से कम के व्यक्तियों के लिए प्रति १५ दिन काम पर एक छुट्टी का उपबन्ध है। श्रमिकों के स्वास्थ्य और कल्याण का उपबन्ध भी है। स्त्रियों और बालकों को शाम के ७ बजे से सुबह के ६ बजे तक काम पर नहीं लगाया जा सकता।

दुकान तथा वाणिज्यिक संस्थान अधिनियम (Shops and Commercial Establishments Act)—१९४० मे सबसे पहले बम्बई में दुकान तथा वाणिज्यिक संस्थान अधिनियम पारित हुआ। अन्य राज्यों ने भी ऐसे अधिनियम पास किए। नियुक्ति के लिए व्यक्तियों की न्यूनतम आयु सीमा १२-१४ के बीच रखी गई। समय के घण्टे—प्रौढ व्यक्तियों के लिए ८ से १० तथा बच्चों और तरुणों के लिए ५ से ७ तय किए गए। प्रौढ व्यक्तियों के लिए साप्ताहिक समय ४८ से ५६ घण्टे (अधिकतम) तथा बालकों के लिए ३२ से ४० घण्टे। प्रतिदिन काम के घण्टों की सीमा ११ से १४ घण्टे रखी गई। बडों के लिए ४ से ६ घण्टे लगातार काम करने के बाद ½ से

१ घण्टे आराम का समय रखा गया। बच्चों के लिए ३ से ४ घण्टे लगातार काम करने के बाद ½ से १ घण्टे आराम का समय रखा गया। अधिसमय वेतन के लिए मजूरी के सवाए से दोगुना तक नियत किया गया। साप्ताहिक छुट्टी १ से १½ दिन तक की गई। बारह मास के लगातार काम के बाद वेतन-सहित वार्षिक छुट्टियों की संख्या १० से १६ दिन रखी गई। कुछ राज्यों में बीमारी तथा आकस्मिक छुट्टियों का उपबन्ध किया गया। कुछ राज्यों में स्वास्थ्य तथा आग से बचाव का उपबन्ध भी किया गया। बच्चों तथा औरतों से रात्रि में काम लेने पर पाबन्दी लगाई गई।

मजूरी सम्बन्धी विधान (Legislation in respect of Wages)—१९३६ में मजूरी का भुगतान सम्बन्धी अधिनियम (Payment of Wages Act) स्वीकार किया गया था। इसका उद्देश्य मजूरी के भुगतान को नियमित एवं शीघ्र करना और साथ ही नियोजकों द्वारा कटौतियों को सीमित करना था। यह केवल दो सौ रुपए से कम की मजूरी तथा वेतनों पर लागू होता है जो किसी फैक्टरी या रेलवे में प्रतिमास दी जाती है। अधिकतम मजूरी अवधि एक मास नियत की गई है और पगार करेंसी नोटों या मुद्राओं में दी जानी चाहिए। मजूरी आगामी मास की ७ तारीख तक या यदि मजदूरों की संख्या १००० से ज्यादा हो तो १० तारीख तक दी जानी चाहिए। जुर्माने के रूप में श्रमिक के उपार्जन में से किसी मास में दो पैसे प्रति रुपया से अधिक की राशि नहीं काटी जा सकती। जुर्मानों का रिकार्ड रखना होगा और उससे जो राशियाँ प्राप्त हों उन्हें श्रमिकों के कल्याण पर व्यय करना होगा।

मजूरी सम्बन्धी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण विधान १९४८ का न्यूनतम मजूरी अधिनियम (Minimum Wages Act of 1948) है। इसके अनुसार कुछ नियोजनों में न्यूनतम मजूरी नियत की गई है जिनमें कड़ी मशक्कत प्रचलित हो या जहाँ श्रम के शोषण की अधिक गुंजायश हो। प्रस्तुत अधिनियम के अधीन केन्द्रीय या राज्य सरकारों को कतिपय विशिष्ट उद्योगों में मजदूरों के लिए मजूरी की न्यूनतम दरें नियत करनी होती हैं। किन्तु कुछ कठिनाइयों के कारण इस कानून को लागू करने में देर हुई है।

प्रश्न ३—भारत में श्रमिक जनता के लिए उपलब्ध सामाजिक सुरक्षा के तत्त्वों का वर्णन कीजिए। वे कहाँ तक पर्याप्त हैं?

Q 3—Describe the elements of social security available to the working population of this country How far are they adequate?

पश्चिम के उन्नत देशों में सामाजिक या श्रम नीति का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व यह है कि उनमें राज्य बहुत दिनों से अपनी जनता के लिए पर्याप्त सामाजिक सुरक्षा प्रदान कर रहा है। भारत इस विषय में उनसे अभी पिछड़ा हुआ है। नए संविधान के अनुसार यद्यपि राज्य ने उत्तरदायित्व तो स्वीकार कर लिया है परन्तु वित्तीय कठिनाइयों के कारण वह अभी तक इस विषय में बहुत कुछ नहीं कर सका है। हाल ही में कुछ शुरूआत की गई है जिसके विषय में हम अभी चर्चा करेंगे।

इस देश में १९४८ तक जो सामाजिक सुरक्षा के कानून थे वे केवल १९२४ का श्रमिक प्रतिकर अधिनियम (Workmen's Compensation Act) तथा प्रसूति-

लाभ अधिनियम (Maternity Benefit Act) थे। प्रथम के अनुसार, श्रमिक यदि काम करते समय घायल हो जाय, तो उस दशा में मालिक को मुआवजा देना होता है। घातक दुर्घटना की अवस्था में मुआवजे की राशि मृतक की औसत मासिक मजूरी पर निर्भर है, और घायल होने की दशा में मासिक मजूरी और घाव की गम्भीरता दोनों पर।

राज्यों में स्वीकृत प्रसूति-लाभ अधिनियमों और केन्द्रीय सरकार द्वारा स्वीकृत खानों सम्बन्धी अधिनियम के अधीन नियोजित स्त्रियों को प्रसूति-भत्ते दिये जाते हैं।

कर्मचारी राज्य बीमा योजना (The Employees' State Insurance Scheme)—२४ फरवरी, १९५२ को प० नेहरू द्वारा इस योजना के उद्घाटन के साथ सामाजिक सुरक्षा की आधारशिला रखी गई थी। यह योजना १९४८ के कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम (१९५१ में संशोधित रूप) के उपबन्धों के अनुसार बनाई गई है। प्रथमावस्था में, यह फरवरी १९५२ में, दिल्ली तथा कानपुर में प्रचलित की गई, मई १९५३ में पंजाब के आठ औद्योगिक केन्द्रों में चालू की गई और जुलाई १९५४ में नागपुर में। किन्तु सितम्बर १९५४ तक भी इस योजना ने विशेष प्रगति नहीं की थी। फैक्टरी श्रम के १०% श्रमिकों को भी इस योजना का लाभ नहीं पहुँचा था किन्तु २ अक्तूबर, १९५४ को, जबकि यह योजना वृहत् बम्बई राज्य में चालू की गई तो इसका आश्चर्यजनक विकास हुआ। १९५५ में यह योजना आन्ध्र प्रदेश के कई नगरों, कलकत्ता, हावड़ा और सौराष्ट्र के कई औद्योगिक केन्द्रों में चालू कर दी गई। तब से इस योजना का और भी कई औद्योगिक केन्द्रों में श्रीगणेश हुआ है। फलस्वरूप १९५८ तक इस योजना के अधीन १३.६ लाख श्रमिक आश्वस्त थे। जहाँ-जहाँ यह योजना लागू होती है वहाँ शर्त यह है कि सम्बन्धित फैक्टरी बारह मासी (Perennial) चलती हो, शक्ति द्वारा चालित हो और उसमें कम से कम २० व्यक्ति काम करते हों। इस योजना का लाभ ४००) मासिक तक वेतन वाले श्रमिकों और क्लर्कों (Clerks) को मिलता है।

यह योजना बीमारी, प्रसूति और काम करते वक्त चोट लगने की दशा में बीमाशुदा श्रमिक के लिए नकद लाभों और चिकित्सा की व्यवस्था करती है। इसके अतिरिक्त, श्रमिक की मृत्यु हो जाने पर आश्रितों के लिए पैन्शनों के रूप में लाभों की व्यवस्था करती है। तदनुसार, बीमाशुदा श्रमिकों की नि:शुल्क चिकित्सा के लिए चिकित्सा-गृह खोले जा रहे हैं। १९५८ में आसाम, बिहार, मैसूर, पंजाब और राजस्थान में चिकित्सा का लाभ बीमाशुदा श्रमिकों के परिवारों को भी दे दिया गया।

प्रस्तुत योजना के प्रशासन का कार्य एक स्वायत्त संस्था को सौंपा गया है, जिसे कर्मचारी राज्य बीमा निगम (Employees State Insurance Corporation) कहते हैं। जहाँ तक इसके लिए धन का सम्बन्ध है, वह अंशदान द्वारा जमा होते हैं अर्थात् इसके लिए मालिक और मजदूर दोनों अंशदान करते हैं, और साथ ही केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें अंशदान करती हैं। कर्मचारी अपनी तनख्वाहों के आधार पर अपना अंशदान करते हैं, किन्तु केवल उन्हीं क्षेत्रों में जहाँ यह योजना प्रचलित की जा रही है। नियोजक, जहाँ प्रथमावस्था में योजना लागू की गई कुल मजूरी-भुगतान का

1½% अंशदान करेंगे और अन्य स्थानों के नियोजक साथ साथ ¾%। केन्द्रीय सरकार प्रथम पाँच वर्षों के लिए प्रशासनात्मक व्यय का ⅔ भाग और राज्य सरकार अपने अपने राज्यों में चिकित्सा सुविधा की ⅓ लागत वहन करेगी।

१९५७-५८ के अन्त में कर्मचारियों का अंशदान ३.५२ करोड रु० था और नियोजकों का अंशदान २.८३ करोड रु० था। उसी वर्ष में बीमाकृत व्यक्तियों को २.१३ करोड रु० लाभों के रूप में दिये गये थे।

सामाजिक सुरक्षा का एक अन्य महत्वपूर्ण खण्ड हाल ही में स्वीकृत कर्मचारी भविष्य निधि अधिनियम १९५२ है। इसके द्वारा औद्योगिक श्रमिक के भविष्य के विषय में व्यवस्था की गई अर्थात उस समय के लिए जब वह वृद्धावस्था के कारण काम मुक्त हो जाता है अथवा उसकी असामयिक मृत्यु की दशा में उसके आश्रितों के निर्वाह के लिए। प्रथमावस्था में यह अधिनियम ६ प्रधान सुसंगठित उद्योगों में भविष्य निधि के लिए अनिवार्य अंशदान की व्यवस्था करता है कपडा लोहा और इस्पात सीमेंट इंजीनियरिंग कागज और सिगरेट के उद्योगों में। यह इन उद्योगों से सम्बन्धित उन सब कारखानों पर लागू होता है जिनमें ५० या अधिक श्रमिक नियोजित हो और वे श्रमिक इसकी सीमा के अन्तर्गत होंगे जिन्होंने एक वर्ष की नौकरी पूरी कर ली है और जिनकी मूल मजूरी ५०० रु० मासिक से कम है। मालिक और मजदूर में से प्रत्येक को मूल मजूरी और महँगाई भत्ते का ६¼ अंशदान करना होगा। १९५६ में यह अधिनियम १८ अतिरिक्त उद्योगों में भी लागू किया गया जिनमें दियासलाई शक्कर चाय और काफी सम्मिलित थे और जिनमें ५० या इससे अधिक श्रमिक नियोजित थे। साथ ही यह अधिनियम चार खानों अर्थात सोना लोहा चूना और मैंगनीज सम्बन्धी उद्योगों पर भी लागू किया गया। दिसम्बर १९५६ में उक्त अधिनियम के संशोधन में सरकार को अधिकार मिला है कि वह सार्वजनिक और गैर-सरकारी क्षेत्रों में फैक्टरियों के अलावा अन्य संस्थाओं पर भी इस अधिनियम को लागू कर सकती है। दिसम्बर १९५८ के अन्त तक यह योजना ७१८९ उद्योग संस्थाओं पर लागू हो चुकी थी और २५ लाख कर्मचारी भविष्य निधि में अंशदान कर रहे थे। भविष्य निधि में १२१.५ करोड रु० अंशदान के रूप में आ चुका है।

१९५३ में सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी एक और अधिनियम पास हुआ। यह एक प्रकार से बेरोजगारी के विरुद्ध सामाजिक सुरक्षा का अस्त्र था। औद्योगिक विवाद अधिनियम (Industrial Disputes Act) को संशोधित करके इसकी रचना की गई थी। इस संशोधन का अभिप्राय यह है कि छटनी किये हुए कर्मचारी को कुछ मुआवजा मिल सके। यदि कोई श्रमिक कम से कम एक वर्ष तक किसी नियोजक के अधीन लगातार काम कर चुका है तो उसको बिना एक महीने के नोटिस के या नोटिस के स्थान पर बिना एक महीने का वेतन दिये अलग नहीं किया जा सकता। साथ ही उसको एक मुआवजा भी दिया जायगा जो एक पूरे वर्ष की सेवा के लिए या ६ महीनों से अधिक की सेवा के लिए भी १५ दिन के वेतन की व्यवस्था करता है। यह प्रबन्ध उन फैक्टरियों के कर्मचारियों पर लागू होता है जिनमें कम से कम ५० श्रमिक काम करते हों। इसके साथ ही यह अधिनियम बागान के कर्मचारियों पर भी लागू होता है।

निष्कर्ष—फिर भी सामाजिक सुरक्षा की दिशा मे ये कानून केवल सामान्य शुरुआत हैं। आशा की जाती है कि निकट भविष्य मे अधिक प्रगति हो सकेगी। किन्तु यह तो निश्चित ही है कि इंगलैंड तथा अमरीका जैसे उन्नत देशों के स्तरों तक पहुँचने मे तो अभी यथेष्ट समय लगेगा, जहाँ 'जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त' सामाजिक सुरक्षा के उपबन्ध किए जा चुके हैं। हमारे देश में सामाजिक सुरक्षा की दिशा में बिखरे-बिखरे से प्रयत्न हो हुए हैं, इसलिए सब प्रयत्नो के समन्वित फल अवश्य ही ठोस होते। फलस्वरूप प्राय कहीं तो दोहरी कार्यवाही है और कहीं अव्यवस्था है। इसलिए, इस समय हमको आवश्यकता यह है कि इन प्रयत्नों को सगठित किया जाय और सबको एक केन्द्रीय सगठन के अधीन कार्यान्वित कराया जाय। तब हमको अधिक अच्छे फल और किफायतशारी के दर्शन होंगे। मेनन समिति के चेयरमैन श्री वी० के० मेनन ने जो अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय की भारतीय शाखा के सचालक हैं, कहा है कि देश की समस्त सामाजिक सुरक्षा योजनाओं को एक केन्द्रीय सगठन के अधीन सगठित करना चाहिये। मेनन समिति ने दूसरी सिफारिश यह की है कि भविष्य निधि (Provident fund) को परिनियत पैन्शन योजना (Statutory Pension Scheme) में बदल देना चाहिए।

औद्योगिक सम्बन्धों विषयक विधान (Legislation in Respect of Industrial Relations)—इस श्रेणी मे तीन महत्त्वपूर्ण अधिनियम हैं, १९२६ का भारतीय श्रम-सघ अधिनियम (इसके लिए श्रम-सघ आन्दोलन सम्बन्ध प्रश्न के उत्तर को देखिये।), १९४६ का औद्योगिक नियोजन अधिनियम (यह उन सब स्थानों पर लागू होता है, जिनमें १०० या अधिक व्यक्ति नियोजित हों, और इसके अनुसार प्रत्येक नियोजक के लिये आवश्यक है कि वह उन सब स्थायी आज्ञाओं (standing orders) की प्रतिलिपियाँ उपस्थित करे जो उसने लागू की हों और साथ ही नियोजित मजदूरों तथा श्रमिक-सघ के विषय में जिससे वे सम्बन्धित हों, विहित विवरण भी); और १९४७ का औद्योगिक-विवाद अधिनियम तथा उसका १९५३ का सशोधन।

औद्योगिक विवाद (Industrial Disputes)—इससे पूर्व कि हम औद्योगिक विवाद सम्बन्धी अधिनियम का वर्णन करें हम भारत में औद्योगिक झगड़ों की निरतरता एव कारणों का सक्षेप मे उल्लेख करेंगे। औद्योगिक झगड़े पूँजीवादी प्रणाली के एक महत्त्वपूर्ण अश हैं। १९१८ तक, इस देश मे बहुत थोड़े औद्योगिक झगड़े होते थे, किन्तु युद्ध की समाप्ति के वर्षों मे जीवन-यापन की लागतों मे वृद्धि होने के कारण उनकी सख्या मे वढती हो गई, क्योंकि श्रमिकों की पगारों में आनुक्रमिक वृद्धि नहीं की जा रही थी।

तदनुसार, १९२९ का श्रम सघर्ष अधिनियम स्वीकार किया गया, जिसमें झगड़ों का निपटारा करने के लिए तत्सम्बन्धी बाहरी तन्त्र की स्थापना का निर्देश किया गया था। इस अधिनियम में प्रधान दोष यह था कि उसमें पारस्परिक वार्तालाप द्वारा प्रारम्भिक स्तरों में झगड़ों का निपटारा करने के लिए आन्तरिक तन्त्र की रचना का निर्देश नहीं था। इस दोष का, १९३४ में एक सशोधन द्वारा सुधार किया गया, जिसके अनुसार समझौता अफसरों की नियुक्ति का निर्देश किया गया था। बम्बई

म १६३८ का बम्बई औद्योगिक विवाद अधिनियम जिसने १६३४ के अधिनियम को प्रतिस्थापित किया था कही अधिक अग्रगामी था। इसके द्वारा पहले पहल अनिवार्य समझौते के सिद्धात को प्रचलित किया गया था। इसमें न केवल निर्णायको सम भौता कराने वालो आदि का निर्देश था प्रत्युत औद्योगिक न्यायालय के रूप म एक स्थायी तन्त्र की रचना की भी व्यवस्था की गई थी। इस उपबन्ध स भारत मे श्रम सम्बन्धी न्यायाधिकरण का उदय हुआ। जो भी हो आन्तरिक तन्त्र की अपेक्षा बाहरी तन्त्र पर ही अधिक भरोसा किया गया।

द्वितीय विश्व युद्ध की तत्काल समाप्ति के बाद के वर्षो म औद्योगिक अशाति ने घोर रूप धारण कर लिया। १६५० म स्वतन्त्र भारत म बम्बई की वस्त्र मिलो में सर्वाधिक गम्भीर हडताल हुई थी। यह लगभग दो मास रही। इस हडताल में प्राय १२८ लाख श्रमिक दिनो का नाश हुआ।

अगले तीन वर्षो म स्थिति म कुछ सुधार रहा। इन वर्षो म प्राय ३४ लाख से लेकर ३८ लाख श्रमिक दिन तक हडतालो के कारण नष्ट हुए। किन्तु १६५५ के बाद से पुन विवाद बढ रहे ह अत १६५६ १६५७ और १६५८ म लगभग ६५ लाख और ७० लाख श्रमिक दिनो के बीच व्यय नष्ट हुए हैं।

१६४८ और १६४६ म अपेक्षाकृत शाति का कारण दिसम्बर १६४७ म सर्व सम्मत औद्योगिक सन्धि था। यह औद्योगिक सन्धि सरकार उद्योगपतियो तथा श्रम के प्रतिनिधियो म दिल्ली कॉन्फ्रेन्स के फलस्वरूप हुई थी। एक केन्द्रीय परामर्शदात्री श्रम समिति का भी निर्माण किया गया जिसमें सरकार, नियोजको तथा श्रमिको के प्रतिनिधि सम्मिलित थे। इसका मुख्य उद्देश्य प्रबन्ध और श्रम के बीच बेहतर सम्बन्धो को उन्नत तथा उत्पादन म चतुर्दिक् वृद्धि करना था।

अब हम औद्योगिक सम्बन्धो के विषय म हाल ही के विधान की चर्चा करेंगे। १६४७ में औद्योगिक विवाद अधिनियम पास किया गया था। युद्ध काल मे चालू किया गया अनिवार्यत मध्यस्थ सिद्धात इसके द्वारा स्थिर रहा। इस अधिनियम के अधीन, सघर्ष सम्बन्धी रोक तथा निपटारे के लिए बाहरी एव आन्तरिक दोनो तन्त्रो की स्थापना की गई है। इस तन्त्र में निम्न का समावेश है कारखाना कमेटियाँ, समझौता कराने वाले अफसर, समझौतामण्डल, जाँच करने के न्यायालय और औद्योगिक न्यायालय तथा न्यायाधिकरण। इस प्रकार दो नई सस्थाओ का आविर्भाव हुआ। कारखाना कमेटियाँ, (नियोजको तथा श्रमिको के समान प्रतिनिधित्व के साथ सयुक्त कमेटियाँ, जिनका उद्देश्य दोनो के बीच अच्छे सम्बन्धो को उन्नत करना था), और औद्योगिक न्यायालय (जिसके एक या दो सदस्य होगे, जिनकी साधारण योग्यता हाईकोर्ट के जज की नियुक्ति के समान होगी)। इस अधिनियम के अनुसार सरकार को यह अधिकार दिया गया है कि वह प्रत्येक ऐसे औद्योगिक सस्थान म कारखाना कमेटियो की स्थापना कराए, जिनमे १०० या अधिक श्रमिक नियोजित हो। इन कमेटियो का उद्देश्य यह है कि वह दिन प्रति दिन के कार्य मे नियोजको तथा श्रमिको के बीच होने वाले सघर्षो के कारणो को दूर करें। यदि किसी प्रकार का सघर्ष विद्यमान हो या होने की सम्भावना हो, तो सरकार उस झगडे के निपटारे के लिए उसको समझौतामण्डल को

सौंप सकती है या जांच के लिए जाँच अदालत अथवा न्यायपूर्ण निर्णय के लिए न्यायाधिकरण को सौंप सकती है। यह तन्त्र किस प्रकार कार्य करता है, इसके लिए अधोलिखित प्रश्न ५ को देखें।

प्रस्तुत अधिनियम सरकार को कतिपय सेवाओं को सार्वजनिक उपयोगिताओं की सेवाएँ घोषित करने का अधिकार देता है। इसके अतिरिक्त, इस अधिनियम के अधीन सार्वजनिक उपयोगिता सेवा में किसी प्रकार की हडताल या तालेबन्दी कानून विरुद्ध होगी बशर्ते कि वह हडताल करने या तालाबन्दी की घोषणा करने से पूर्व ६ सप्ताह के अन्दर-अन्दर नियोजितों या नियोजकों को हडताल या तालाबन्दी का नोटिस दिये बिना जारी की जाती है या घोषित की जाती है। समझौता या न्यायालय सम्बन्धी कार्रवाई के विचाराधीन-काल में यदि किसी प्रकार की हडताल जारी की जाती है, तो वह भी कानून-विरुद्ध होगी।

जो भी हो, सरकार इस अधिनियम की क्रियाशीलता से संतुष्ट नहीं है। इसके अतिरिक्त, सरकार का आशय सपूर्ण देश के लिए समान भाव से एक कानून को लागू करना है। फलत, उसने १९५० में एक व्यापक औद्योगिक सम्बन्धो विषयक विधेयक तैयार किया। इस विधेयक का श्रमिकों तथा नियोजकों दोनों की ओर से तीव्र विरोध हुआ। श्रमिकों ने विशेषत अनिवार्य मध्यस्थता के सिद्धात का विरोध किया, जिसे वे हडताल के लिए अपने अधिकार के विरुद्ध कदम मानते हैं। वे इसे काला विधेयक कहकर बदनाम करते हैं। नियोजक उद्योगों के राज्य नियंत्रण से सम्बन्धित उपबन्ध के विषय मे विशेष रूप से विरोध करते थे।

जो भी हो, यह विधेयक अन्तरिम पार्लियामेंट के भग होने के साथ समाप्त हो गया। किन्तु १९५२ मे श्री वी० वी० गिरि भारत सरकार के श्रम मन्त्री हुए। वे प्रख्यात श्रम नेता हैं। उन्होने श्रम-सम्बन्धी विधान या बाध्य मध्यस्थता के स्थान पर पारस्परिक बातचीत और सामूहिक या श्रम संघीय नियोजन शर्तों के आधार पर देश में औद्योगिक शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न किया। इस दृष्टिकोण को गिरि दृष्टिकोण का नाम दिया गया। गिरि महोदय का औद्योगिक शांति का दृष्टिकोण ऐच्छिक समझौता और ऐच्छिक मध्यस्थता पर आधारित है, और वह सरकारी हस्तक्षेप युक्त मध्यस्थता के स्थान पर श्रम संघीय विचार-विनिमय को ऊपर से लादी हुई मध्यस्थता की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छा समझते हैं। इसलिये उन्होंने सभी पक्षों के साथ पर्याप्त विचार-विनिमय करने के बाद इन्हीं आधारों पर एक विधेयक तैयार कराया। किन्तु सितम्बर १९५४ मे गिरि महोदय ने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया। तब से सरकार नया विधान बनाने के स्थान पर १९४७ के अधिनियम को ही संशोधित करके उसी से काम चला रही है।

१९४७ के औद्योगिक विवाद अधिनियम का १९५६ में महत्त्वपूर्ण संशोधन हुआ। उक्त संशोधन के निम्न उपबन्ध ध्यान देने योग्य हैं— (क) अधिनिर्णयन (adjudication) की कार्यवाही को सरल बनाना, (ख) श्रम अपीलीय न्यायाधिकरण की समाप्ति। इस संशोधन के अनुसार विवादग्रस्त दोनों पक्षों को अधिकार है कि वे पचनिर्णय सम्बन्धी समझौते पर हस्ताक्षर कर लें और विवाद को पच या मध्यस्थ के

निर्णय के लिये सौंप दें। न्यायाधिकरण को हटा दिया गया है क्योंकि वह मुकद्दमेबाजी को प्रोत्साहन देता था। न्यायाधिकरण के खात्मे की माँग श्रम को रियायत थी। इस न्यायाधिकरण के बजाय संशोधन में तीन प्रकार के प्रारम्भिक न्यायाधिकरणों की स्थापना का उपबन्ध है। श्रम न्यायालय, औद्योगिक न्यायाधिकरण और राष्ट्रीय न्यायाधिकरण। श्रम न्यायालय का काम यह होगा कि वह किसी नियोजक के आदेश के औचित्य या अनौचित्य का अधिनिर्णय करेगा, औद्योगिक न्यायाधिकरण वेतन और काम के घंटों आदि के बारे में निर्णय देगा और राष्ट्रीय न्यायाधिकरणों में राष्ट्रीय महत्व के प्रश्न आयेंगे। इसमें एक से अधिक राज्यों सम्बन्धी विवाद पहुँचेंगे। संशोधित अधिनियम में उपर्युक्त तीन न्यायाधिकरणों में काम करने वाले न्यायाधीशों की योग्यताओं को भी निर्धारित कर दिया गया है। यह भी उपबन्ध किया गया है कि कोई नियोजक निश्चित शर्तों में तब तक कोई हेर फेर नहीं करेगा जब तक कि श्रमिकों को तदर्थ २१ दिन का नोटिस न दिया जायगा। यह भी उपबन्ध है कि यदि कोई कर्मचारी विवाद से असम्बद्ध दोष या गलती पर किसी विवाद के निर्णय के दिनों में सजा पाता है या नौकरी से अलहदा किया जाता है, तो ऐसा ठीक माना जायगा, किन्तु आशा यह व्यक्त की गई है कि नियोजक अपने इस अधिकार का सूझ-बूझ के साथ उपयोग करेंगे।

जुलाई १९५७ में भारतीय श्रम सम्मेलन हुआ था। उक्त सम्मेलन स्वीकार किया गया था जिन्हें विवादों के मध्य में दोनों पक्ष अर्थात् नियोजक और श्रमिक मानेंगे। इन सिद्धांतों में निम्नलिखित विशेष उलेख्य हैं— (क) बिना नोटिस के न तो हड़ताल होगी न तालाबन्दी, (ख) किसी औद्योगिक विवाद के सम्बन्ध में कोई इकतरफा कार्रवाही नहीं की जायगी, (ग) काम में और उत्पादन में शिथिलता नहीं आने दी जायगी, (घ) विवादों का निर्णय करने के लिए मौजूदा तन्त्र का ही सहारा लिया जायगा, (ङ) निर्णयों और समझौतों को शीघ्र कार्यान्वित कराया जायगा, (च) हिंसा, धमकी और अभित्रास का सहारा नहीं लिया जायगा। साथ ही जहाँ-जहाँ श्रमिक समितियाँ नहीं हैं वहाँ उनकी शीघ्र स्थापना, और वहीं श्रमिकों में अनुशासन कायम रखने का काम करेंगी।

परन्तु इन उपबन्धों का पालन किस प्रकार किया जाता है, इस पर बहुत कुछ निर्भर करेगा। यह आवश्यक है कि कीमतों को ऊँचा उठने से रोका जाय और उनको उचित स्तर पर ठहराया जाय, अन्यथा वेतन-वृद्धि की माँग बहुत तीव्र होगी, और फिर यदि वह माँग पूरी न की गई तो औद्योगिक शांति खटाई में पड जायगी। देश में औद्योगिक शान्ति बनाये रखने के लिए यह नितांत आवश्यक है कि नियोजक और श्रमिक वर्ग दोनों अपने आपको उद्योगों के साझीदार और संरक्षक समझें।

प्रश्न ४—भारत में औद्योगिक संघर्षों की रोक और निपटारे के लिए विद्यमान तन्त्र का संक्षिप्त वर्णन कीजिये। आप किन संशोधनों के सुझाव देंगे?

[बम्बई १९४२; मद्रास ऑनर्स १९५३, कलकत्ता १९५६]

Q 4—Briefly describe the existing machinery for the prevention and settlement of industrial dispute in india. What modification would you suggest?

(*Bombay* 1942, *Madras Hons* 1953, *C.U.* 1956)

पिछले अनुच्छेद में १६४७ के औद्योगिक विवाद अधिनियम को देखिये। यह अधिनियम औद्योगिक संघर्षों के निरोध और निपटारे के लिए समुचित तन्त्र की स्थापना करता है। इसके अतिरिक्त, यहाँ श्रमिक संघ भी हैं, जो सामूहिक बातचीत के द्वारा श्रम और प्रबन्ध के मतभेदों को दूर करने की चेष्टा करते हैं। १६४७ के अधिनियम के अधीन समझौता तन्त्र कारखाना कमेटियों से आरम्भ होता है। यदि वह पारस्परिक समझौता कराने में असफल होता है, तो समझौता अफसर दोनों दलों में समान समझौता कराने की चेष्टा करता है, यदि उसकी चेष्टाएँ असफल रहती हैं, सरकार उस मामले को समझौता मण्डल या किसी औद्योगिक न्यायाधिकरण को सौंप सकती है। यदि पूर्व-कथित भी समझौता नहीं करा पाता, तो सरकार ६ मास के अन्दर-अन्दर संघर्ष से सम्बन्धित आवश्यक तथ्यों का संग्रह करने के लिए इस मामले को जाँच के न्यायालय में भेज सकती है और उसके बाद उस प्रश्न को न्यायपूर्ण निर्णय के लिए औद्योगिक न्यायाधिकरण को सौंपा जाता है। न्यायाधिकरण का निर्णय दोनों दलों के लिए मान्य है। जो भी हो, सरकार को ३० दिन के भीतर उसे अस्वीकार करने या उसमें सुधार करने का अधिकार है। यहाँ इस बात का जिक्र कर देना ठीक होगा कि भारत सरकार ने अगस्त १६५४ में जिस बैंक न्यायाधिकरण के निर्णय का रूप-भेद करने में अपनी शक्ति का उपयोग किया उसी कारण से श्री वी० वी० गिरि ने केन्द्रीय श्रम मन्त्री के पद से इस्तीफा दिया था। किन्तु १६५६ के एक संशोधन के द्वारा उक्त अधिनियम ने न्यायाधिकरण को हटा दिया है क्योंकि उससे मुकदमेबाजी को प्रोत्साहन मिलता था। उसके स्थान पर तीन प्रकार के प्रारम्भिक न्यायाधिकरणों की स्थापना की गई है। (ऊपर प्रश्न तीन के उत्तर को देखिये) यह शुभ सुधार है।

सार्वजनिक उपयोगिता सेवाओं की अवस्था में कुछ अन्तर रखा गया है जबकि उनकी अवस्था में, सरकार के लिए यह अनिवार्य है कि वह उनमें होने वाले किन्हीं संघर्षों को समझौते के लिए सम्बन्धित अभिकरण को सौंपे, किन्तु अन्य अवस्थाओं में यह सरकार की निजी इच्छा है कि वह संघर्ष को समझौते के लिए भेजे अथवा सीधे औद्योगिक न्यायाधिकरण के हवाले करे। (सार्वजनिक उपयोगिताओं से सम्बन्धित अधिक उपबन्धों के लिए ऊपर के अनुच्छेद में सम्बन्धित अंश पढ़िये।)

इस प्रकार, विद्यमान औद्योगिक विवाद निरोधक तन्त्र आन्तरिक और बाहरी दोनों ही है। इसके अतिरिक्त, वह स्वेच्छापूर्वक समझौता तथा मध्यस्थता, अनिवार्य समझौता और न्यायपूर्ण निर्णय के लिए भी उपबन्ध करता है।

जो भी हो, प्रस्तुत अधिनियम के अधीन वर्तमान प्रणाली की बहुत आलोचना हुई। प्रथमत, सम्पूर्ण देश में विधान समान नहीं है। द्वितीयत, और इससे भी अधिक गम्भीर आपत्ति यह है कि अनिवार्य अधिनिर्णय पर बल दिया गया है। युद्धकाल में, और तत्काल बाद के युद्धोत्तर के कठिनाईपूर्ण वर्षों में, १६४७ के अधिनियम में समाविष्ट अनिवार्य अधिनिर्णय जैसा कठोर सिद्धान्त, सम्भवत, अनिवार्य होगा, किन्तु उसे अधिक दिनों तक बनाए रखना देश की औद्योगिक शान्ति के लिए अत्यधिक हानिपूर्ण होगा।

उपरान्त, जब तक ऐसा व्यक्ति उपलब्ध नहीं होता जिसकी औद्योगिक पृष्ठ-

भूमि पर्याप्त रूप म योग्यतापूर्ण हो उस दशा म अभिनिणय भी अवास्तविक हो सकता है और इस प्रकार या तो उद्योग पर अनुचित रूप म भारी बोझ पड जायगा अथवा श्रम के प्रति उचित न्याय नही हो सकेगा।

फलत सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सुझाव निम्नतम स्तर से आरम्भ कर सामूहिक विचार विनिमय पर सम्पूर्ण बल विवत्त करना है। उसके बाद स्वच्छापूर्वक समझौता तथा मध्यस्थता किन्तु न्यायाधिकरण द्वारा तो केवल अन्तिम चारा होना चाहिए। वस्तुत नन्दा के दृष्टिकोण और गिरि के दृष्टिकोण का यही सार है।

जिन व्यक्तियो की पर्याप्त औद्योगिक पृष्ठभूमि हो उनकी एक विशेषज्ञ समिति बननी चाहिए और वह समझौता तथा न्यायाधिकरण मण्डलो म कार्य कर। जीवन यापन लागत, पगारो, लाभो उत्पादन क्षमता तथा अन्य सम्बन्धित आकडा का भी सावधानी क साथ ऐसा सग्रह एव विश्लेषण होना चाहिए कि वे पारस्परिक वार्त्ता लापो तथा बाहरी मध्यस्थता के आधार बन सक।

जो भी हो प्रारम्भिक चरणो म एकाएक ऐच्छिक समझौते पर आश्रय कर लेने का भारी खतरा नही उठाना चाहिए। मन्द गति से चलन के औचित्य का एक पक्ष यह है कि देश में व्यापार सघ पूरी तौर पर गठित नही ह इसलिए यदि न्याय निर्णयन (Adjudication) उठा लिया जाए तो इसस श्रम को हानि होगी।

श्रमिक सघ आन्दोलन
(Trade Union Movement)

प्रश्न ५—भारत में श्रमिक सघ आन्दोलन की वृद्धि का वर्णन कीजिय।
(दिल्ली, १६५३)

बताइये कि इसके भावी विकास को सुदृढ आधारो पर किस प्रकार उन्नत किया जा सकता है ?

Q 5—Trace the growth of the Trade Union Movement in India (*Delhi* 1953)

State how its future development on sound lines can be promoted

प्रस्तुत आन्दोलन का जन्म (Growth of the Movement)—यद्यपि भारत में श्रमिक सघो को आरम्भ करने के लिए शुरू शुरू म इक्के दुक्के छुटपुट यत्न किए गए थे तथापि १६१८ म ही श्रमिक सघ की वास्तविक शुरूआत हुई। प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति पर भारत मे औद्योगिक श्रमिको म भयकर अशान्ति का सूत्रपात हुआ। पगार-वृद्धिया के लिए उस समय अनेक हडताल की गई। तदनुसार अनेक श्रमिक सघो का निर्माण हुआ, प्रथम मद्रास मे और उपरान्त अन्य औद्योगिक केन्द्रो म। प्रारम्भिक चरणो म इस प्रकार के सघ केवल हडताल समितिया ही थी और जैसे ही उनकी माँग पूरी हो जाती था उनका लोप हो जाता था।

१६२६ का श्रमिक सघ अधिनियम—लगभग पाच वर्षो के यत्नो के बाद १६२६ में भारतीय श्रमिक सघ अधिनियम स्वीकार किया गया। अब श्रमिक सघो को वैध रूप में सगठित किया जा सकता था। इस अधिनियम के अधीन यद्यपि श्रमिक सघो

को रजिस्ट्री कराना ऐच्छिक था, तथापि इसके अधीन रजिस्टर्ड श्रमिक संघों को कतिपय बहुमूल्य सुविधाएँ प्रदान की गई थीं।

किन्तु रजिस्टर्ड संघों पर कुछ दायित्व एवं प्रतिबन्ध भी लगाए गए हैं, जैसे, प्रबन्ध समिति के आधे सदस्य ऐसे होने चाहिएँ, जो संघ के अधीन फैक्टरी या फैक्टरियों में नियोजित हों। संघ के कोषों को राजनीतिक उद्देश्यों के लिए उपयोग में नहीं लाना होगा, लेखों का परीक्षित विवरण प्रतिवर्ष देना होगा। इसके अतिरिक्त, नियमों की प्रति एवं प्रबन्ध-समिति के सदस्यों की सूची भी देनी होगी। उनके रजिस्टरों का निरीक्षण भी किया जा सकता है। जिन उद्देश्यों के लिए उनके कोषों को खर्च किया जा सकता है, वह भी निश्चित कर दिये गए हैं।

द्वितीय विश्व-युद्ध ने ऐसी अवस्थाएँ उत्पन्न कीं, जिनसे आन्दोलन की अभिवृद्धि हुई। वृद्धिपूर्ण जीवन-यापन की लागत के कारण श्रमिक वर्ग ने अपने आपको संघों में संगठित करने के महत्त्व को अनुभव किया। गत २० वर्षों में इस आन्दोलन ने उल्लेखनीय प्रगति की। प्रस्तुत गतिशील विस्तार निम्न तीन तत्त्वों के कारण मुख्यतः हुआ—(१) श्रमिकों में अपने आपको इस दृष्टि से संगठित करने की महान् जाग्रति कि वह अपने जीवन-यापन-स्तर को उन्नत कर सकें, (२) संगठित श्रम के क्षेत्र को विस्तार देने के लिए केन्द्रीय श्रम-संगठनों के यत्न, (३) सामूहिक आदान-प्रदान और बातचीत को सुविधापूर्ण करने के लिए केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा स्वीकृत वैधानिक उपाय।

ऐसे शक्तिशाली केन्द्रीय श्रम-संगठनों का भी उदय हो रहा है, जिनमें किसी एक से श्रमिक संघ सम्बद्ध होते हैं। ये (सदस्यता क्रम से) इस प्रकार हैं—इंडियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस (Indian National Trade Union Congress) है जो यद्यपि १९४७ में बनाई गई थी, तथापि वर्तमान में सबसे बड़ी प्रतिनिधि संस्था बन गई है। केन्द्रीय संगठनों की कुल सदस्यता का लगभग आधा भाग इसमें है। इसके अतिरिक्त आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस (All India Trade Union Congress) है जिसमें साम्यवादियों का प्राधान्य है। इसमें समस्त केन्द्रीय श्रम संगठनों की सदस्य संख्या का $\frac{1}{4}$ भाग सम्मिलित है। इनके बाद हिन्द मजदूर सभा और सम्मिलित श्रमिक संघ कांग्रेस (United Trade Union Congress) है, जिनमें शेष श्रम संख्या सदस्य है।

आन्दोलन की कमियाँ और दोष (Handicaps and Defects of the Movement)—फिर भी यह कहना भूल होगी कि हमारे श्रमिक संघ आन्दोलनों ने पश्चिम के तत्सम आन्दोलनों की सफलताओं के समान उन्नति कर ली है। इसके अनेक कारण हैं, जिनमें महत्त्वपूर्ण ये हैं—

(१) भारत में औद्योगिक श्रम की अभी बड़ी भारी संख्या है, जिसे संघों में संगठित करना रहता है। इसके विपरीत, उदाहरणार्थ, इंगलैंड में औद्योगिक श्रमिकों का ८०% श्रमिक संघों का सदस्य है। उदाहरण के लिए जापान को ही देखिए, जिसकी जनसंख्या हम से पाँचवाँ हिस्सा है, किन्तु वहाँ १९५२ में २७,८५१ श्रमिक संघ थे, जिनके सदस्यों की संख्या ५७ लाख से ऊपर थी।

(२) अधिकाश नेतृत्व उन नेताओं के हाथों म है जो श्रमिक सघो से बाहर है। प्रस्तुत आन्दोलन की, कई रूपो म यह बडी भारी दुर्बलता हे। बाहरी लोगो को न तो उनकी समस्याओ का वास्तविक ज्ञान होता है और न ही उनम आवश्यक मात्रा में सहानुभूति होती है। अधिकाश अवस्थाओ म उनका अपना निजी माग होता है, बहुधा वे अपने राजनीतिक लक्ष्यो के कारण रुचि लेन हैं। श्रमिक सघो म से स्वत उत्पन्न हुआ नतृत्व ही इस आन्दोलन को वास्तविक शक्ति प्रदान कर सकता है। इगलैंड मे इस आन्दोलन की सफलता का एकमात्र यही कारण है।

(३) श्रमिकों की निरक्षरता और अज्ञान एक अन्य भीषण कमी है।

(४) भारतीय औद्योगिक श्रम का प्रवासात्मक स्वरूप भी श्रम द्वारा श्रमिक सघो मे रुचि लेने के माग मे बाधक है।

(५) भाषा, जाति, मत और रीति रिवाजों सम्बन्धी भिन्नताए श्रमिक सघो का सगठित एव शक्तिशाली बनान म उससे भी अधिक भीषण कठिनाई है।

(६) अल्प पगारें, दुर्बल शरीर और काम के लम्बे घण्टों के कारण श्रमिक न तो श्रमिक सघो को चन्दा दे सकते हैं और न ही उनके पास समय होता है और न ही उनम भावना होती है कि वे सघो क कार्यकलापो म दिलचस्पी ले सकें।

(७) इस आन्दोलन के माग म एक अन्य भीषण बाधा नियोजकों और स्वार्थियो द्वारा विरोध की रही है। नियोजको ने श्रमिक सघो के इस रूप को स्वीकार नही किया कि सघ अनधिकृत, अनियन्त्रित और आतकपूर्ण हडताल रोकने के योग्य होते हैं।

(८) श्रमिक संघ नेताओं का अतिवादी दृष्टिकोण—स्वत श्रमिक सघो के नेता भी बहुधा पूँजीवादी प्रणाली का अन्त करने के नारो द्वारा अपने नियोजको के विरोध को भडकाते रहते हैं। वह विद्यमान प्रणाली के ढाँचे के अन्तर्गत सुलह-पूर्ण नीति का अनुसरण नही करते।

(९) सर्वाधिक गम्भीर दोष, प्रस्तुत आन्दोलन मे आन्तरिक मतभेद की विद्यमानता है। ऐसे लोग जिनके भिन्न राजनीतिक लक्ष्य होते हं सघो मे प्रविष्ट हो जाते हैं और अपने उद्देश्य के लिए उन्हे चलाने की कोशिश करते हैं।

(१०) सघो की कार्यकारिता मे जनतान्त्रिक भावना का भी अभाव है।

(११) लाभपूर्ण कार्यकलापों का अभाव—भारत में बहुत कम ऐसे श्रमिक सघ है जो अपने लाभपूर्ण और श्रम-कल्याणकारी कृत्यों की ओर ध्यान देते हैं। अब तक वह मुख्यत अपने लडाकू कृत्यो से सम्बन्धित थे जैसे हडतालो या सगठन। इस कारण श्रमिक सघो के कार्यकलापो ने श्रमिको को बहुत प्रभावित नही किया।

इस आन्दोलन को शक्तिशाली बनाने के लिए सुझाव (Suggestions for Strengthening the Movement)—देश के औद्योगिक जीवन म श्रमिक सघो को जो महत्त्वपूर्ण काय करना है, उसे दृष्टि में रखते हुए यह आवश्यक है कि इस आन्दोलन को सुदृढ आधारो पर सगठित करना चाहिए।

इस सम्बन्ध म निम्न महत्त्वपूर्ण सुझाव उपस्थित किये जा सकते हैं—(१) श्रमिक-वर्ग को शिक्षित किया जाए। (२) इस बात का यत्न करना चाहिए कि स्वत

औद्योगिक श्रमिकों में से ही इस आन्दोलन के नेतृत्व का विकास हो। (३) इस आन्दोलन को चलाने के लिए जनतान्त्रिक भावना का समावेश करना चाहिए। (४) श्रमिक सघो के नेताओं को चाहिए कि वे वर्तमान उग्र एव विनाशकारी दृष्टिकोण की अपेक्षा अधिक नम्र तथा रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाएँ। (५) वर्तमान की अपेक्षा भविष्य के कल्याणकारी कार्यकलापों पर अधिक बल देना चाहिए। (६) नियोजकों को भी औद्योगिक शान्ति के हित में सामूहिक आदान-प्रदान के लाभों को समझना चाहिए। एक बार जब वह श्रमिक सघों के सत्य रूप को अनुभव कर लेंगे, तो उनसे सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण अपनाने की आशा की जा सकती है।

पंचवर्षीय योजनाओं में श्रम नीति और कार्यक्रम

(Labour Policy and Programmes in the Five-year Plans)

प्रश्न ७—**द्वितीय पंचवर्षीय योजना के श्रम-सम्बन्धी कार्यक्रम और नीति पर नोट लिखिए।**

Q. 7—Write a note on the Labour Policy and Programme in the Second Five-year Plan.

समाज के समाजवादी ढाँचे के अगीकार होने से श्रम नीति में कई रूपभेद होने जरूरी हैं। समाजवादी सिद्धान्तों और समाज की स्थापना के लिए औद्योगिक लोकतन्त्र का निर्माण होना बड़ा जरूरी है। योजना आयोग ने श्रम-सम्बन्धी प्रतिनिधि तालिका (panel) की रचना की, जिससे उचित श्रम नीति बनाई जा सके। द्वितीय योजना का कार्यक्रम इस तालिका (panel) के परिणामों के आधार पर बना।

श्रमिकों के हितों की रक्षा तथा उत्पादन-लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए दृढ श्रमिक सघों का निर्माण बड़ा जरूरी है। श्रमिकों में सघों को आत्म-निर्भर रूप से चलाने के लिए योग्यता पैदा करने के लिए श्रमिक सघ दर्शन तथा उपायों सम्बन्धी प्रशिक्षण देना जरूरी है। संघों को मान्यता देने के लिए राज्यों द्वारा तत्सम्बन्धी सविहित उपबन्ध (statutory provisions) बनाने आवश्यक हैं। सघों की वित्तीय स्थिति में सुधार करना चाहिए। श्रमिक सघ के सदस्यों में अनुशासन की भावना उत्पन्न करने के लिए नियमित रूप से चन्दा वसूली पर जोर देना चाहिए।

औद्योगिक कार्यक्रम की पूर्ति के लिए औद्योगिक शान्ति नितान्त आवश्यक है। जून, १९५५ में अहमदाबाद मिल ओनर्स एसोसिएशन (Ahmedabad Mill Owners' Association) तथा टेक्सटाइल लेबर एसोसिएशन (Textile Labour Association) के बीच तथा अन्य बम्बई मिल ओनर्स एसोसिएशनों तथा राष्ट्रीय मिल मजदूर सघ, बम्बई, तथा एक अन्य टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी लि०, जमशेदपुर तथा उनके श्रमिकों के सघ के बीच हुए समझौते से स्वस्थ विकास होने का स्पष्ट आभास मिलता है। अन्तिम करार में, पहली बार, उत्पादन, आधुनिकीकरण तथा विस्तार में वृद्धि के लिये श्रमिकों के सहयोग को आवश्यक माना गया है।

इसमें रोचक उपायों द्वारा औद्योगिक शान्ति पर बल दिया गया है। विवादों से बचने तथा समझौते पर अधिक बल दिया गया है। यदि विवाद आरम्भ हो जाय तो उसे परस्पर बातचीत और मध्यस्थ निर्णय द्वारा निबटाने का प्रयास करते हैं।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए केन्द्रीय और राज्य सरकारों को इसके लिए उचित तन्त्र का प्रबन्ध करना पड़ता है। औद्योगिक विवाद अधिनियम में उचित संशोधन करने की जरूरत है। पंचाटों (awards) और करारों के लागू करने के लिए उपयुक्त तन्त्र की जरूरत है। इसलिए स्थायी संयुक्त सलाहकार तन्त्र बनाने पर विचार हो रहा है।

योजना को सफलतापूर्वक लागू करने के लिए श्रम तथा प्रबन्ध में अधिकाधिक मेल की जरूरत है। इससे (क) उत्पादन वृद्धि को बढ़ावा मिलेगा (ख) कर्मचारियों में अपने काम की ठीक समझ आयगी, तथा (ग) उनकी अभिव्यक्ति की भावना की पूर्ति होगी। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रबन्ध के प्रतिनिधियों तकनीकी कर्मचारियों तथा श्रमिकों की मिली जुली परिषदें बनाना होगा।

यह भी जरूरी है कि मजूरी सम्बन्धी नीति बनाई जाय जिसका उद्देश्य वास्तविक वृद्धिशाली मजूरी का ढांचा बनाना हो। श्रमिक के उचित मजूरी अधिकार को मान्यता देनी चाहिए। किन्तु साथ ही सीमान्त इकाइयों की तालाबन्दी सम्बन्धी विवादास्पद विचारों तथा परिणामस्वरूप बेरोजगारी की समस्याओं के प्रति भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। यह बात सदैव मन में रखनी चाहिए कि मजूरी में सुधार सिर्फ उत्पादन में बढ़ोतरी द्वारा ही हो सकता है। दो बातें वाञ्छनीय हैं—(क) ऐसे सिद्धान्त बनाना जिससे मजूरी श्रमिक वर्ग की आकांक्षाओं के अनुरूप हो तथा (ख) अन्तरिम अवधि में मजूरी सम्बन्धी विवादों का निपटारा। पहले के लिए मजूरी सम्बन्धी निर्धारण आवश्यक है तथा दूसरे के लिए त्रिदलीय मजूरी मण्डल की जिसमें नियोजकों तथा श्रमिकों के समान प्रतिनिधि हों तथा जिसमें एक स्वतन्त्र अध्यक्ष हो नियुक्ति की जाय।

सामाजिक सुरक्षा के लिए कर्मचारी भविष्य निधि योजना के विस्तार की सिफारिश की गई है। इसके अन्तर्गत औद्योगिक तथा वाणिज्यिक संस्थानों के १०,००० मजदूर हैं। साथ ही अंशदान ६¼% से बढ़ाकर ८⅓% किया गया है। कर्मचारी राज्य बीमा योजना के अन्तर्गत श्रमिकों के परिवारों को दवादारू का प्रबन्ध करने का प्रश्न विचाराधीन है।

अभिनवीकरण से उत्पन्न समस्याओं से निपटने के लिए एक उच्च शक्ति-सम्पन्न प्राधिकारी की स्थापना की सिफारिश की गई है। ठेके पर काम करने वाले श्रम की समस्याओं को सुलझाने के लिए भी उचित उपायों की सिफारिश की गई है। स्त्री श्रमिकों की समस्याओं की ओर विशेष ध्यान दिया गया है।

द्वितीय योजना के अन्तर्गत 'श्रम तथा श्रम कल्याण' कार्यक्रम में विकास के लिए ३० करोड़ रुपय (१८ करोड़ रुपये केन्द्रीय सरकार द्वारा तथा १२ करोड़ रुपय राज्य सरकारों द्वारा) का उपबन्ध किया गया है। कार्यक्रम में शिक्षकों के लिए विशेष प्रशिक्षण कुशल शिल्पि कारीगरों के लिए शिक्षा (apprenticeship) योजना, कारीगरों के प्रशिक्षण रोजगार सेवा संगठन का विस्तार तथा केन्द्रीय श्रम-संस्था का विस्तार आदि शामिल हैं।

अध्याय २०

परिवहन
(Transport)

भूमिका—किसी देश के आर्थिक जीवन की सहज उन्नति और अधिक विकास के लिए परिवहन तथा संचार के साधनों की अत्यावश्यकता होती है। भारत सरीखे देश में परिवहन और संचार के विकसित साधनों का तो और भी ज्यादा महत्त्व है; क्योंकि यह आकार में एक उप-महाद्वीप है, इसका बहुत लम्बा-चौड़ा क्षेत्र है, इसके बहुत से अविकसित क्षेत्रों का विकास होना है, और इसकी इतनी बड़ी जनसंख्या को भोजन और वस्त्र उपलब्ध कराना है। कृषि, उद्योग, व्यापार अथवा अन्य कोई भी कार्यकलाप, अधिकांशतः परिवहन और संचार के साधनों के विकास पर निर्भर करते हैं। इसके सामाजिक और सांस्कृतिक लाभों के अतिरिक्त, एक योग्य प्रकार की परिवहन प्रणाली प्रभावी प्रशासन तथा राष्ट्रीय प्रतिरक्षा के लिए अत्यावश्यक है।

भारत में परिवहन के साधनों की मुख्य किस्में—(१) रेलें, (२) सड़कें, (३) जल-मार्ग, और (४) हवाई मार्ग।

(क) रेलें—रेलें आन्तरिक परिवहन की प्रधान साधन हैं। वस्तुओं के आवागमन का ८०% तथा यात्रियों के आवागमन का ७०% वहन करती हैं। यद्यपि रेल-मीलों की दृष्टि से भारत एशिया में सबसे महान् है और विश्व-देशों में (अमरीका, रूस तथा कनाडा अग्रणी हैं) चतुर्थ है, तथापि देश के महाद्वीपीय आकार को समक्ष रखते हुए हमारे कुल रेल-मील बहुत अपर्याप्त हैं। जबकि भारत में प्रति सौ वर्गमील क्षेत्र के लिए २८ मील की रेल है, इंगलैंड और जर्मनी प्रत्येक में २० मील है, और बेल्जियम में ४० मील है। कनाडा में भारत की प्रति एक लाख की जनसंख्या के लिए ११ रेल-मीलों के विपरीत ४६५ रेल-मील हैं।

प्रो० राव के शब्दों में, हमारी रेलों की एक अन्य त्रुटि यह है कि उनमें "आत्म-निर्भरता का अभाव है" अर्थात्, वह अपने लिए इंजनों, सवारी और मालगाड़ियों तथा अन्य अधिकांश आवश्यकता की वस्तुओं के लिए बाहरी देशों पर आश्रित रही हैं। सरकार ने पश्चिमी बंगाल के चितरंजन नामक स्थान में इंजन बनाने का कारखाना चालू किया है। टाटा कम्पनी ने भी जमशेदपुर में इंजन बनाने शुरू कर दिए हैं। माल और सवारीगाड़ियों के डिब्बे बनाने का कारखाना भी स्थापित किया गया है।

उद्योग और कृषि के लिये रेलों की उपयोगिता में वृद्धि करने वाली अनुकूल रेल-दर नीति बनाई गई है। इससे पूर्व, भारत में रेलें चिरकाल तक विदेशियों के हाथों में रहीं, जिसके फलस्वरूप रेल-दरों का निर्माण ऐसे ढंग से किया गया था कि वह सहायता की बजाय भारतीय स्वार्थों के लिए घातक थी। किन्तु अब रेल-दरों सम्बन्धी स्थिति में सुधार हो गया है।

वर्तमान में रेलो की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समस्या रेल-प्रणाली के पुनर्वास, अर्थात् गत शेषो के नवीकरण और इजनो, मालगाडियो, सवारीगाडियो तथा खुले डिब्बो के प्रतिस्थापन की है। इसके बाद वस्तुओ तथा यात्रियो के बढे हुए आकार को ढोने के लिए व्यवस्था प्रदान करने की समस्या है।

हमारी योजनाएँ और रेलो का विकास (Plans and the Railways)—प्रथम पंचवर्षीय योजना मे रेलो के विकास के लिये ४०० करोड रु० का उपबन्ध किया गया था। प्रधान उद्देश्य तो युद्ध-पूर्व की कार्य योग्यता के स्तर को पुन जारी करना था। इस ४०० करोड रु० मे से ८० करोड रु० तो केन्द्रीय सरकार को देना था और शेष का प्रबन्ध रेलो को अपने निजी साधनो से करना था। वास्तव म रेलवे ने उपबन्धित राशि से ३२ करोड रु० अधिक व्यय किय। द्वितीय योजना मे परिवहन और सचार के लिए १,३८५ करोड का उपबन्ध किया गया है। ६०० करोड मे मे ५०% रेलो के लिए है। इससे १५% अतिरिक्त यात्री परिवहन तथा ३५% माल ढुलाई पर व्यय होगा। कुल व्यय में से रेलवे विभाग अपने राजस्व म से १५० करोड रु० का उपबन्ध करेगा। प्रथम योजना में उन आस्तियो (assets) को ठीक करने का प्रयत्न किया गया था जो पिछले वर्षों में दबाव के कारण घिस गई थी। द्वितीय योजना मे पर्याप्त विस्तार का लक्ष्य रखा गया है। योजना मे परिवहन के विभिन्न अगो में समन्वय करने का उपबन्ध है। प्रथम योजना-काल मे ४३० मील लम्बी रेले जो युद्ध काल में उखाडी गई, फिर से चालू की गई। ३८० मील लाइन डाली गई। ४६ मील छोटी लाइनो को बडी लाइनो (metre gauge) मे परिवर्तित किया गया। द्वितीय योजना म १,६०७ मील-रेलो को डबल किया जाएगा। २६५ मील मीटर गज को ब्रॉड गज म बदला जाएगा। ८२६ मील रेल-पथ बिजली से चलेगा तथा १,२६२ डीजल से। ८४२ मील नई लाइनो का निर्माण होगा, ८,००० मील पुरानी लाइने बदली जाएँगी। २,२५८ इजन तथा १,०७,२४७ माल के डिब्बे और ११,३६४ सवारी डिब्बे खरीदे जाएँगे।

प्रश्न १—भारत में रेल-निर्माण के मुख्य प्रभावो पर विचार कीजिये और बताइये कि किस प्रकार इसने देश के सामाजिक और आर्थिक जीवन मे आमूल क्रान्ति कर दी है ?

Q 1—Discuss the principal effects of railway construction in India Show how it has entirely revolutionised the social and economic life of the country ?

सम्भवत भाप के इजन का आविष्कार ही एकमात्र महान् अश था, जिसने ग्रेट ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति को सहज बनाया। भारत एशिया म सर्वप्रथम देश था, जिसने इस आविष्कार का उपयोग किया और इसके आशातीत और महत्त्वपूर्ण परिणाम भी प्रकट हुए। वस्तुत, देश मे रेल-निर्माण ने ही उसकी अर्थ-व्यवस्था को वर्तमान रूप और आकार प्रदान किया है। सुविधा के लिए हम अपनी अर्थ व्यवस्था के विभिन्न अवयवभूत अगो के अनुसार प्रभावो का अध्ययन करेंगे।

कृषि—सर्वप्रथम हम कृषि को देखते हैं तो पता चलता है कि रेलो ने इसके मौलिक स्वरूप को ही बदल दिया है। जबकि, पहले कृषि को केवल जीवन निर्वाह के

लिए ही किया जाता था, अब रेलो ने इसे व्यापारिक रूप प्रदान कर दिया है। ग्रामों को मडियो तथा बन्दरगाह-स्थित नगरो के साथ जोडने के द्वारा रेलों ने किसान के लिये यह सम्भव बना दिया कि वह न केवल अपने निजी उपभोग के लिए ही उत्पन्न करे, प्रत्युत बाजार के लिए भी उत्पादन करे। इस प्रकार नगदी वाली फसलें विस्तृत रूप से उगाई जाने लगी।

उद्योग—उद्योगो को देखते हुए हमें मालूम होता है कि रेलो ने कोयला और कच्चे पदार्थों को औद्योगिक केन्द्रो में पहुँचाने के लिए और उपरान्त निर्मित वस्तुओ को देश के सब भागो में वितरण के लिए सहज और सस्ता परिवहन प्रदान करके उनके विकास मे ठोस अशदान किया है। श्रम को गतिशील करने की सुविधा प्रदान करके रेलो ने उद्योगो की और भी अधिक सहायता की है।

व्यापार—रेलो ने देश के आन्तरिक और विदेश व्यापार को व्यापक रूप में विस्तार प्रदान किया है। सारे देश में बहुत बडी सख्या मे बाजारो का विकास हो गया है। आन्तरिक भाग से कच्चे पदार्थों को सग्रह करके बन्दरगाहो तक पहुँचाने की सुविधा से निर्यातो को प्रोत्साहन मिला है। इसी प्रकार, आयातें कई गुना बढ गई हैं।

दुर्भिक्ष—रेलो को जिन अनेक सफलताओं का श्रेय है, उनमें एक दुर्भिक्षो के निवारण के विषय में भी है। दुर्भिक्षो के कारण जो आतक हुआ करता था, वह नष्ट हो गया है, क्योंकि रेलें आधिक्य के क्षेत्रो से कमी वाले क्षेत्रो को शीघ्र ही वस्तुएँ पहुँचा सकती हैं। दुर्भिक्ष अब 'खाद्य विषयक दुर्भिक्ष' नही रह गए, अब तो वह केवल "द्रव्य-विषयक दुर्भिक्ष" हो गए हैं।

रेलो के राजनीतिक एव सामाजिक प्रभाव भी कम महत्त्वपूर्ण नही हैं। देश के भिन्न भागो को मिला देने, और इस प्रकार लोगो में पारस्परिक आदान-प्रदान की सुविधा के कारण, रेलो ने राष्ट्रीय एकता की भावना पैदा की है। हमारे विशाल देश का प्रभावपूर्ण प्रशासन भी सम्भव हो गया है।

देश में सामाजिक क्रान्ति उत्पन्न करने मे रेलो का महान् अश रहा है। वह ग्रामो में नवीन सभ्यता को विकसित करने तथा मनुष्यो के हृदयो को उदार बनाने की साधन हुई हैं। वह जाति-बन्धन की कठोरता एव संयुक्त-परिवार प्रणालियों को भग करने में सहायक हुई हैं।

विपरीत प्रभाव—जो भी हो, अब तक हमने चित्र के केवल एक पहलू का ही उल्लेख किया है। हम रेल-विकास के घातक प्रभावो की उपेक्षा नही कर सकते। रेलो के उदय से पूर्व हमारे यहाँ अत्यधिक समृद्ध देशी उद्योग थे। किन्तु रेलो के कारण भारतीय बाजारों में मशीन-निर्मित सस्ती विदेशी वस्तुओ की बाढ-सी आ गई और इस प्रकार हमारे समृद्ध घरेलू उद्योगों पर घातक प्रहार हुआ।

हमारे देशी उद्योगो पर इस हानिपूर्ण प्रभाव के अतिरिक्त, हमारी ग्राम अर्थ-व्यवस्था भी अत्यधिक गड़बडा गई। इन उद्योगो से विस्थापित लोग पुन. भूमि की ओर चले गए और इस कारण औसत जोतें अधिकाधिक छोटी हो गई। भूमि पर जन-सख्या के भारी दबाव ने कृषि की उत्पादन-क्षमता को अत्यधिक कम कर दिया है।

कच्चे पदार्थों के निर्यात के प्रोत्साहन द्वारा रेलो ने देश के साधनों को बाहर

भेजने में सहायता की है। इस प्रकार आयात और निर्यात सम्बन्धी विदेशी व्यापार जिसे रेलो ने प्रोत्साहित किया देश के हितों के लिए घातक सिद्ध हुआ।

चूंकि रेलो का निर्माण विदेशी पूंजी से हुआ था इसलिए वे विदेशी पूंजी से होने वाली अनेक बुराइयों के लिए उत्तरदायी थी।

इसमें तो सन्देह नहीं कि रेलो के विकास के कारण जाति पक्षपात और संयुक्त परिवार प्रथा के बन्धन ढीले हो गए किन्तु इसके विपरीत पंचायत प्रथा नष्ट हो गई और फलस्वरूप मुकदमेबाजी में वृद्धि हो गई।

अनेक स्थानों पर रेल लाइनों का ऐसे ढंग से निर्माण किया गया कि उनसे प्राकृतिक जल निष्कासन मार्ग रुक गये। इसके कारण प्रभावित क्षेत्रों में जल सिमट हो गया और मलेरिया फैल गया।

जो भी हो यह भली प्रकार मालूम हो जाता है कि देश में रेल निर्माण के फलस्वरूप जो बुराइयाँ हुई उनसे सहज ही बचा जा सकता था बशर्ते कि इस विषय में पर्याप्त सावधानी बरती जाती और समुचित नीति ग्रहण की जाती। दूसरे शब्दों में ये विपरीत प्रभाव रेल विकास में स्वाभाविक नहीं होते। इसके विपरीत इसके लाभ स्पष्ट एवं स्वाभाविक हैं और वह सहन किए अलाभो को क्षीण कर देते हैं। वस्तुत रेलो ने विकास से देश के आर्थिक और सामाजिक जीवन में क्रान्ति उत्पन्न हो गई है।

प्रश्न २—रेल वित्त व्यवस्था या आयव्ययक के विषय में टिप्पणी लिखिए।

Q 2—Write a note on Railway Finance

हमें अपनी रेलो की वित्त व्यवस्था या आयव्ययक का अध्ययन करते हुए यह बातें देखनी हैं—प्रथमत रेलवे की समृद्धि में उतार चढाव और द्वितीयत रेल आयव्ययक का भारत सरकार के सामान्य आयव्ययक के साथ सम्बन्ध।

१८५८ से १८९८ तक भारत में रेलो से घाटा होता रहा। इस काल में कुल घाटा ५८ करोड रु० का हुआ था।

१८९८ के बाद सन् १९०८ और १९२१ के दो वर्षों को छोडकर रेलें १९३० तक लाभ का उपार्जन करती रहीं।

रेल आयव्ययक का अलगाव, १९२४ २५ (*Separation of Railway Finance 1924 25*)—एकवर्थ कमेटी की सिफारिशों पर १९२४ २५ से रेल आय व्ययक को सामान्य आयव्ययक से जुदा कर दिया गया और तब से लेकर रेलवे आय व्ययक सामान्य आयव्ययक से जुदा तैयार और पेश किया जाने लगा। रेलें अब सामान्य आयव्ययक के सहारों पर निर्भर नहीं रह गई थी और न ही अब सामान्य आयव्ययक रेलो के हानि-लाभो द्वारा विचलित हो पाता था।

सामान्य आयव्ययक और रेल-आयव्ययक का सम्बन्ध अब १९२४ के अलगाव समझौते द्वारा शासित होता था। इसके अनुसार रेलो को व्यापारिक आधारों पर विनियोजित पूंजी पर १% वार्षिक अंशदान करना होता था और साथ ही ३ करोड रु० के लाभ आधिक्य का छोटा सा अंश देना होता था। सामरिक महत्व की रेलवे लाइनों की हानियों को सामान्य बजट के नाम लिखा जाता था। एक मूल्य ह्रास कोष तथा रेलवे अधिरक्षण कोष की भी स्थापना की गई थी।

अलगाव परम्परा की क्रियाशीलता—१९२९-३० तक इस रीति के आधार पर भली प्रकार कार्य सम्पन्न हुआ। १९२९-३० तक रेलों को लाभाधिक्य हुए और फलस्वरूप, वह सामान्य राजस्व में नियत अंशदान करती रह सकी।

किन्तु १९३०-३१ से लेकर १९३५-३६ तक, किसी प्रकार के लाभों की तो चर्चा ही छोड़िये, वह ब्याज दायित्वों को पूर्ण करने के लिए पर्याप्त आयों का भी उपार्जन न कर सकी। इस हानि के लिए १९३० के आस-पास की मन्दी और रेल-सड़क प्रतिस्पर्द्धा उत्तरदायी थी।

पुनरुत्थान—अन्तत १९३६-३७ में, रेलों ने एक बार पुनः लाभों का उपार्जन प्रारम्भ किया। इन लाभों को पहले तो उन ऋणों के बदले भुगतान करना था जो मूल्य-ह्रास कोष में से प्राप्त किए गए थे और इसके बाद यदि कुछ बच जाता, तो केवल उसे ही सामान्य राजस्वों के लिए दिया जा सकता था। जो भी हो, सरकार पहले अपने अंशदान को प्राप्त करने के लिए उत्सुक थी। तदनुसार, १९४८ तक के लिए मूल्य-ह्रास कोष के लिए भुगतानों को रीत्यागत उपबन्धों के आधार पर स्थगित कर दिया गया। इसके फलस्वरूप, केन्द्रीय सरकार और साथ-ही-साथ मूल्य-ह्रास कोष के बकाया अंशदान १९४८ में पूर्णतया चुका दिये गए।

युद्ध-काल के वर्षों में रेल आयव्ययक—द्वितीय विश्व-युद्ध के छिड़ने से रेलों ने अभूतपूर्व समृद्धि का अनुभव किया। आवागमन में वृद्धि हो गई और सड़क तथा जल-पोत सम्बन्धी यातायात की प्रतियोगिता का लोप हो गया। फलस्वरूप, रेलों के उपार्जनों में सीमा से अधिक उन्नति हो गई।

युद्ध और स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद रेलवे आयव्ययक (Railway Finances since the War and Independence)—युद्ध के बाद रेल अर्थ-व्यवस्था कुछ कठिन हो गई। इसका अति विशिष्ट कारण यह था कि विभाजन के कारण बड़ी भारी असुविधा हो गई थी। किन्तु शीघ्र ही रेलों की आय के विषय में सुधार दिखाई देने लगा।

अब रेलों में आय भी निरन्तर बढ़ रही है और रेलों पर व्यय में भी निरन्तर वृद्धि हो रही है। परन्तु रेलों की शुद्ध आय में घट-बढ़ होती रहती है। रेलों की आय में वृद्धि से यह पता चलता है कि योजनाओं की क्रियान्विति के फलस्वरूप देश की आर्थिक गतिविधियों में विस्तार हुआ है। और चूंकि योजनानुसार रेलों के विकास और उनकी समृद्धि पर स्वयं रेलों को अपने साधन-स्रोतों से धन जुटाना है इसलिए रेलों ने सवारी भाड़ा और माल पर भी भाड़े पर वृद्धि कर दी है।

जहाँ तक रेलों का अंशदान सामान्य राजस्व की ओर होना है, उस सम्बन्ध में नया समझौता हुआ है।

नवीन रेलवे वित्तीय समझौता (The Railway Convention 1949)—दिसम्बर १९४९ में यह नई नीति ग्रहण की गई। वह प्रथम बार, १९५०-५१ के आयव्ययक पर लागू की गई, और पांच वर्ष तक प्रचलित रहनी थी।

इसके मुख्य उपबन्ध ये हैं—

(i) रेलवे के आयव्ययक और सामान्य आयव्ययक को अलग-अलग बने रहना

था और सामान्य आयव्ययक को रेलों में विनियोजित पूँजी पर प्रतिवर्ष ४% नियत लाभांश दिया जाना था।

(ii) मूल्य ह्रास कोष के लिए प्रतिवर्ष न्यूनतम १५ करोड़ रु० अंशदान करना होगा।

(iii) रेल विकास कोष निम्न उद्देश्यों के लिए आयोजित करना होगा। यात्रियों की सुविधाओं तथा श्रम-कल्याण के लिए और ऐसी योजनाओं का वित्त-व्यवस्था करनी होगी जो आवश्यक तो होंगी किन्तु परमावश्यक में लाभ प्रदान नहीं होगा। विद्यमान उन्नति कोष इस नए कोष में मिला दिया जायगा किन्तु इसमें गुंजाइश रखी गई है कि ३ करोड़ रु० प्रतिवर्ष यात्रियों की सुविधाओं पर व्यय करना होगा।

(iv) पूँजी और आय के बीच व्यय के वितरण नियमों का भी संशोधन किया गया था।

प्रस्तुत संशोधित समझौता स्पष्टतया पुराने की अपेक्षा उन्नत दशा का है। यह अपेक्षाकृत सरल है और सामान्य आयव्ययक के लिए नियत राशि का आश्वासन प्रदान करता है। इसके साथ रेलें अपने लाभांशों का सदुपयोग करने में भी स्वतन्त्र हैं।

रेलवे समझौता (१९५४)—मई १९५४ में रेलवे कन्वेन्शन समिति की स्थापना हुई। इस समिति ने १९५४ के समझौते को रद्द करने और उसके स्थान पर नया समझौता तैयार करने के लिए कहा। सरकार ने नया समझौता स्वीकार किया और १९५५-५६ से क्रियान्वित कर दिया। रेलवे द्वारा सामान्य राजस्व को दी जाने वाले लाभांश की दर वही रखी गई है किन्तु नई लाइनों के निर्माण के सम्बन्ध में लाभांश की दर कम कर दी गई है। यह कम दर नई लाइनें बनाने के पाँच वर्षों बाद तक रहेगी। प्रति वर्ष रेलवे ह्रास आस्तियों में अतिरिक्त पूँजी जमा करने के कारण ह्रास निधि का वार्षिक अंशदान बढ़ाकर ३५ करोड़ रुपया कर दिया है।

हाल ही के रेलवे के आयव्ययक पर दृष्टिपात करने से हम अपनी रेलों की वित्तीय स्थिति का मूल्यांकन कर सकते हैं—

	वर्ष १९५८-५९ संशोधित आयव्ययक (करोड़ रु० में)	वर्ष १९५९-६० आयव्ययक (करोड़ रु० में)
(१) सकल यातायात प्राप्ति ..	३९४४	४२२०
(२) सामान्य व्यय	२७४२	२८३७
(३) मूल्य ह्रास रक्षित कोष को दिया ..	४५०	४५०
(४) सकल व्यय [(२)+(३)+अन्य]	३३४	३४६४
(५) शुद्ध रेलवे आय	६३०	७५६
(६) सामान्य राजस्व को दिया गया लाभांश	५००	५४४
(७) शुद्ध लाभ या आधिक्य ...	१३०	२०२

वास्तव में अब भारतीय रेल योजना में वित्तीय स्थायित्व के उपायों को अपना लिया गया है।

(ख) सड़क परिवहन—भारत ग्रामों का देश है। यह अत्यावश्यक है कि ग्रामों को नगरों और मण्डियों के साथ और एक दूसरे के साथ मिलाया जाय। केवल तभी अधिक उत्पादन हो सकेगा और बेहतर बाजार-बिक्री होगी। किन्तु यह खेद की बात है कि अभी तक हमारे देश में सड़कों की कुल लम्बाई अत्यधिक अपर्याप्त है।

सड़कों का निम्न वर्गीकरण किया गया है—(i) राष्ट्रीय राजमार्ग, (ii) राज्य राजमार्ग, (iii) जिला सड़कें और (iv) ग्राम सड़कें।

राष्ट्रीय राजमार्ग देश के एक छोर से दूसरे छोर तक जाते हैं, राज्यों की राजधानियों, बड़े-बड़े नगरों और बन्दरगाहों को परस्पर मिलाते हैं। वह बाहरी देशों को मिलाते हैं, अर्थात् पाकिस्तान, बर्मा, नेपाल और तिब्बत। १ अप्रैल, १९४७ से लेकर राष्ट्रीय राजमार्गों के निर्माण और रक्षा के लिए वित्तीय दायित्व केन्द्रीय सरकार का हो गया है।

हमारे राष्ट्रीय राजमार्गों में निम्नलिखित राजमार्ग सम्मिलित हैं:—उत्तरी ग्राण्ड ट्रक रोड (दिल्ली से अमृतसर, पाकिस्तान की सरहद तक); पूर्वी ग्राण्ड ट्रक रोड (दिल्ली—आगरा—कानपुर—कलकत्ता), आगरा से बम्बई, दिल्ली से बम्बई (अहमदाबाद होकर), कलकत्ता से बम्बई (नागपुर होकर), बम्बई—मद्रास; कलकत्ता-मद्रास रोड और वाराणसी, कुमारी अन्तरीप रोड।

राज्य राजमार्ग राज्यों के अन्तर्गत व्यापार का मुख्य साधन हैं। वह जिला मुख्य कार्यालयों और महत्त्वपूर्ण नगरों को राष्ट्रीय राजमार्गों के साथ मिलाते हैं। वह राज्य सरकारों के अधिकार में हैं।

जिला सड़कें उत्पादन और मण्डियों के क्षेत्रों की सहायता करती हैं और उन्हें एक दूसरे के साथ या राजमार्गों और रेलों के साथ मिलाती हैं। अधिकांशतः यह रोड़ी की हैं और फलत, बरसात में इन पर मोटरें नहीं चल सकतीं।

ग्राम सड़कें ग्रामों को एक-दूसरे के साथ मिलाती हैं और निकटतम जिला सड़क, राजमार्ग, रेल या नदी घाट के साथ जोड़ती हैं।

तीसरा और चौथा वर्ग स्थानीय संस्थाओं के दायित्वाधीन है।

भारत में सड़क-विकास अभी हाल ही तक उपेक्षित बना रहा है। १९१९ से लेकर, सड़कों की रक्षा तथा निर्माण के लिए प्रान्त ही एकमात्र उत्तरदायी थे। प्रान्तीय सरकारों तथा जिला बोर्डों के पास कोषों के अभाव के कारण सड़क निर्माण की गति बहुत ही कम हुई। १९२८ में सड़क विकास कमेटी ने सूचित किया था कि सड़क-विकास का कार्य राष्ट्रीय महत्त्व का विषय है और प्रान्तीय सरकारें तथा स्थानीय संस्थाएँ उसे सन्तोषजनक रूप में पूर्ण नहीं कर सकतीं। इस समिति की सिफारिशों पर केन्द्रीय सड़क-विकास कोष की स्थापना की गई, जिसका से केन्द्र सड़क-विकास के लिए प्रान्तों को अनुदान करना था।

१९४३ में, भारत सरकार ने नागपुर में चीफ इंजीनियरों का सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन ने सड़क-विकास की दसवर्षीय योजना बनाई। यह योजना इस समय

नागपुर योजना कहलाती है। इसका लक्ष्य यह था कि विकसित कृषि क्षेत्र में कोई भी ग्राम मुख्य सड़क से ५ मील से अधिक दूरी पर नहीं होना चाहिए। इस सम्मेलन की सिफारिश पर ही केन्द्रीय सरकार ने राष्ट्रीय राजमार्गों का पूर्ण वित्तीय दायित्व ग्रहण किया था। इस योजना के अधीन ३१ मार्च, १९५० तक समाप्त होने वाले तीन वर्षों मे सड़क-विकास पर २७·११ करोड़ रुपया खर्च किया गया।

केन्द्र में सरकार ने एक सड़क संगठन की स्थापना की है जो राष्ट्रीय राजमार्गों का विकास और राज्य सरकारों को अनुदान करने के अतिरिक्त सड़क सम्बन्धी गवेषणा करता है, सड़क सम्बन्धी आँकड़े संग्रह करता है, मशीनों की थोक में प्राप्ति का प्रबन्ध करता है और विदेशों मे सड़क इंजीनियरों के प्रशिक्षण का इंतजाम करता है।

१९५२ में एक केन्द्रीय सड़क गवेषणाशाला (Central Road Research Institute) की भी दिल्ली में स्थापना की गई है जिसका उद्देश्य सड़कों तथा उनके निर्माण से सम्बन्धित तकनीकी समस्याओं का अध्ययन करना है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के काल मे केन्द्रीय सरकार ने २७ करोड़ रुपये की राशि का उपबन्ध किया है जो राष्ट्रीय राजमार्गों पर और चार करोड़ रुपया राज्यों को मिलाने वाली अन्य सड़कों पर खर्च किया जाएगा। राज्यों की योजनाओं में ७३·५ करोड़ रुपये का उपबन्ध किया गया है। ग्राम सड़कों के निर्माण को प्रोत्साहन देने के लिए, जिनकी वस्तुतः बड़ी भारी आवश्यकता है, एक योजना बनाई गई है जिसके अनुसार यदि ग्रामवासी या तो नकद में अथवा श्रमदान द्वारा लागत का एक तिहाई अंशदान करें तो शेष दो तिहाई सरकार देगी (जो केन्द्र और राज्य सरकारों में बराबर बँट जाता है)। केन्द्रीय सड़क गवेषणा कोष में से इस उद्देश्य के लिए एक करोड़ रुपया रखा गया। प्रथम पंचवर्षीय योजना में ३,००० मील लम्बी नई सड़कों तथा १६,१७ हजार मील लम्बी ग्राम की सड़कों के निर्माण (सामूहिक प्रयास द्वारा) का अनुमान किया गया। इन पाँच वर्षों में केन्द्रीय सड़क निधि की रकम जोड़कर कुल व्यय अनुमानतः १५५ करोड़ हुआ।

द्वितीय योजना में केन्द्रीय और राज्यों के कोषों को मिलाकर प्राय २४६ करोड़ रु० सड़कों के विकास पर व्यय किये जायेंगे। इसके अतिरिक्त २५ करोड़ रु० केन्द्रीय सड़क निधि से उपलब्ध होंगे। केन्द्रीय सरकार ११५० मील लम्बी नई सड़कों का निर्माण करेगी। इसके अतिरिक्त यह राष्ट्रीय राजपथों पर व्यय करेगी तथा ५०० मील सड़कों की मरम्मत करेगी। राज्यों की योजनाओं में १८ हजार मील पक्की सड़कों के निर्माण की व्यवस्था है जिस पर प्राय १६२ करोड़ रु० व्यय होगा। द्वितीय योजना में अविकसित क्षेत्रों में सड़क निर्माण के कार्यक्रम को प्राथमिकता दी गई है।

मोटर लारियाँ और ट्रक तथा बैलगाड़ियाँ सड़कों पर परिवहन के दो रूप हैं।

बैलगाड़ियाँ—हमारे ग्रामीण क्षेत्रों में प्राचीन ढंग की बैलगाड़ियाँ परिवहन का सर्वाधिक सामान्य रूप हैं। जो भी हो, मोटर परिवहन धीरे धीरे इसका स्थान ले रहा है, यद्यपि बैलगाड़ियों का पूर्णतया अन्त करने में अभी बहुत समय लगेगा।

मोटर परिवहन—मोटरगाड़ियाँ सड़क यातायात की सर्वोत्तम साधन हैं। देश के

आकार और जनसंख्या को दृष्टि में रखते हुए उनकी संख्या अभी बहुत थोड़ी है। भारत में १,३५० व्यक्तियों के पीछे एक मोटर गाड़ी है, जब कि अमरीका में ३ व्यक्तियों के पीछे एक, इंगलैंड में १५ के लिए एक, तथा फ्रांस में १६ के पीछे एक है।

मोटरगाड़ियों की अपर्याप्तता के अतिरिक्त मोटर-परिवहन चिरकाल तक असंगठित बना रहा है। ऐसी दशा में उसने रेलों के साथ भयंकर प्रतियोगिता की जिसके फलस्वरूप रेलों को वित्तीय हानि हुई। सड़क परिवहन के इस असंगठित और अपर्याप्त प्रकार ने भारत को "असमृद्ध रेलें तथा अपर्याप्त सड़कों का निकृष्ट रूप" प्रदान किया। फलतः, १६३६ में मोटर-परिवहन को नियंत्रित एवं सूत्रबद्ध करने के लिए मोटरगाड़ी अधिनियम स्वीकार किया गया। मोटरगाड़ियों के चलाने को नियंत्रित करने के लिए प्रत्येक प्रान्त में प्रदेशीय परिवहन अधिकारियों का संयोजन किया गया।

मोटर परिवहन का राष्ट्रीयकरण—रेल-सड़क प्रतियोगिता से बचने के लिए रेल-सड़क को सूत्रबद्ध करने की चेष्टा की जा रही है। गत कुछ वर्षों से मोटर परिवहन के राष्ट्रीयकरण की दिशा में यत्न हो रहे हैं। अधिकांश राज्यों ने सड़क परिवहन का विभिन्न मात्राओं में आंशिक राष्ट्रीयकरण कर दिया है।

इस आशय से कि सड़क परिवहन सेवाओं को संयोजित और नियमित किया जाय, साथ ही अन्तर्राज्यीय राजमार्गों को भी नियमाधीन चलाने के उद्देश्य से हाल ही में भारत सरकार ने अन्तर्राज्यीय परिवहन आयोग (Inter-State Transport Commission) की स्थापना की है। सड़क परिवहन के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में निम्न तर्क दिये गए हैं—

१. इससे कार्यक्षमता में वृद्धि होगी। इसका कारण यह है कि उचित रूप से प्रशिक्षित कर्मचारी इन्हें चलाएँगे तथा विशाल स्तर पर चलाने से अन्य किफायतें भी होंगी।

२. राज्य द्वारा सड़क परिवहन सेवा चालू होने से सड़कों के विकास और उन्नति की ओर ध्यान दिया जाना स्वाभाविक है।

३ यात्रियों को भी उन्नत सुविधाएँ मिलने की सम्भावना है, जैसे आरामदेह सीटें, स्टैंड, लाइन, विश्रामगृह, जलपान गृह, अग्रिम टिकट सुविधा, समय सारणी तथा छपी हुई दरें, मरहम-पट्टी की सुविधा आदि।

४. मोटर परिवहन कर्मचारियों की दशा में भी विशेष रूप से मजूरी दर, पदोन्नति, सेवा सुरक्षा, छुट्टी, ग्रेचुइटी (उपदान) तथा पेंशन (वार्धक्य निवृत्ति वेतन) आदि में अवश्य सुधार होगा।

५. सरकार द्वारा सड़क परिवहन का काम हाथ में लेने से रेल-सड़क परिवहन में अधिक सहयोग होगा।

६. सरकार को इससे राजस्व का नया स्रोत मिलेगा। सरकार की वित्तीय स्थिति में भी सुधार होगा और आर्थिक विकास के लिये धन उपलब्ध होगा।

लेकिन वास्तविक अनुभव के आधार पर ये सब आशाएँ पूर्ण नहीं हुई हैं। बम्बई, उत्तर प्रदेश तथा दिल्ली में ऐसी सेवाएँ बहुत सफल नहीं रही हैं।

इसलिए हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि सरकार सड़क परिवहन के राष्ट्रीयकरण के काम को धीरे धीरे आगे बढ़ाये जिसमे कार्यक्षमता की वृद्धि राज्य के इस दायित्व को भली प्रकार निभा सके।

प्रश्न 3—भारत में रेल सड़क परिवहन के बीच प्रतियोगिता का स्वरूप क्या है ? इन दोनों के बीच बेहतर समन्वय के लिए आप क्या सुझाव दे सकते हैं ?

(बम्बई १९५२ हैदराबाद १९५४)

Q 3—What is the nature of the competition between road rail transport in India ? How would you bring about a better coordination between the two ? (*Bombay 1952 Hyderabad 1954*)

रेल सड़क प्रतियोगिता—मोटर परिवहन की गतिशील उन्नति के कारण उसकी रेलों के साथ अत्यधिक अस्वस्थ प्रतियोगिता हो गई। रेल सड़क प्रतियोगिता का स्वरूप इस बात में निहित है कि मोटर परिवहन सामान किराए की न्यून दरों के आधार पर रेलों से अधिक आय वाले परिवहन को छीन लेता है और इसके फलस्वरूप रेलों के लिए भारी वस्तुओं का परिवहन रह जाता है जो कमती किराया दर चुकाने वाला होता है। दूसरे शब्दों में मोटर या सड़क परिवहन रेलों की कमाई को हड़प कर जाता है। इसके अतिरिक्त यह अत्यधिक अन्यायपूर्ण प्रतियोगिता है क्योंकि जहाँ रेलों पर अनेक पाबंदियाँ और विनियमन लागू होते हैं वहाँ अभी हाल ही तक मोटर परिवहन ऐसे किसी अनुशासन का पालन नहीं करता था।

१९३२ में रेल सड़क प्रतियोगिता की जाँच के लिए सरकार ने मिचलकर्कनैस कमेटी की नियुक्ति की थी। इस समिति ने प्रतियोगिता का उन्मूलन करने के लिए मोटर परिवहन के नियमन के एक उपाय का सुझाव दिया था।

१९३७ में वेजवुड रेल जाँच समिति ने भी सिफारिश की थी कि मोटर परिवहन का समुचित नियन्त्रण करके मोटर परिवहन की अनुचित प्रतियोगिता से रेलों की रक्षा करनी चाहिए। उसने यह भी सिफारिश की थी कि रेलों को सड़क परिवहन में भाग लेना चाहिए।

तदनुसार, १९३९ में मोटर गाड़ी अधिनियम स्वीकार किया गया। इसमें सड़क क्षेत्रों के लिए जिनमें प्रत्येक प्रान्त विभाजित किया गया था प्रदेशीय परिवहन अधिकारी की नियुक्ति का निर्देश था। क्षेत्रीय अधिकारियों के कार्य को सूत्रबद्ध करने के लिए प्रत्येक प्रान्त में एक प्रान्तीय परिवहन अधिकारी नियुक्त किया गया था। ये अधिकारी-वर्ग मोटरगाड़ियों का नियन्त्रण करते हैं। इसलिए मोटरगाड़ियाँ केवल स्वीकृति-पत्र के अधीन चल सकती हैं यात्रियों की अधिकतम संख्या जो वे ले जा सकती हैं, वह निश्चित कर दी गई है उन्हें नियत समयों तथा काम करने के घण्टों का पालन करना होता है और उनमें नियोजितों के लिए शर्तें भी निर्धारित कर दी गई हैं। सब मोटर-गाड़ियों को तृतीय दल द्वारा जोखिम उठाने के लिए बीमा कराना अनिवार्य कर दिया गया है। इन नियमों या किसी अवस्था में उल्लंघन करने पर जुर्मानों का दण्ड निर्धारित किया गया है। इस प्रकार मोटर परिवहन को रेलों के समान समुचित नियमों के अधीन कार्य करने योग्य बनाया गया है।

रेल-सड़क समन्वय (Rail-Road Co-ordination)—मोटर-परिवहन का विनियमन करना ही पर्याप्त नही है। राष्ट्रीय हित मे, यह अत्यावश्यक है कि देश मे परिवहन सम्बन्धी सेवाएँ ऐसे ढग से विकसित होनी चाहिएँ कि सब प्रकार की बर्बादी एव सेवाओ के दोहरीकरण से बचा जाए। इसलिए एक समुचित नीति भी बनाई जानी चाहिए, जिसका उद्देश्य मोटर-परिवहन को ऐसे ढग से विकसित करना हो कि रेलो के साथ प्रतियोगिता करने के बजाय यह उनके लिए पूरक सिद्ध हो। दूसरे शब्दो मे, सडक-सेवाओ को रेलो की पूर्ति और साथ ही उनके द्वारा परिवहन होने वाले आवागमन का वितरण भी करना चाहिए। सडको को रेलो के समानान्तर चलाने की बजाय, यथासम्भव, इस ढग से बनाना चाहिए कि वह रेलमार्गों के समकोणो पर हो।

इसके अतिरिक्त, देश के विस्तृत हित की दृष्टि से, परिवहन के इन दोनों रूपो को उन कृत्यों तक ही सीमित रहना चाहिए जिनके लिए वह उपयुक्त है। दूसरे शब्दो मे, इसके कृत्यों का समुचित विभाजन होना चाहिए। उदाहरणार्थ रेलें बोझल एव दूरी के आवागमन के लिए अधिक उपयुक्त हैं, जबकि मोटर-परिवहन मध्यम बोझों एव अल्प दूरियों तथा जल्दी खराब होने वाली वस्तुओ का वहन करने के लिए अधिक उपयुक्त है।

किन्तु जहाँ वे एक दूसरे के समानान्तर चलती हो, इसके लिए अत्यावश्यक है कि दोनो के बीच स्वस्थ प्रतियोगिता होनी चाहिए, अर्थात्, दोनो पर कड़े विनियमन की शर्त होनी चाहिए। पारस्परिक घातक नीतियो से मुक्ति के लिए रेलों को राज्य-मार्गों के स्वामित्व मे भागीदार बनाना चाहिए। युद्ध-काल में युद्ध-परिवहन के सदस्य सर ई० वैंयल ने सुझाव दिया था कि सडक परिवहन का स्वामित्व त्रिदलीय रूप का होना चाहिए। यह तीन दल ये होगे . सडको के निजी परिचालक, सम्बन्धित राज्य सरकारें और रेलें। कुछेक राज्यो में सडक-परिवहन के स्वामित्व के इस त्रिदलीय आधार को ग्रहण कर लिया गया। हाल ही में अप्रैल १९५६ में भारत सरकार ने श्री के० सी० नियोगी की अध्यक्षता मे रेल-सडक संयोजन समिति नियुक्त की है जो रेल-सडक प्रतियोगिता के प्रश्न पर हर दृष्टिकोण से विचार करेगी। साथ ही उक्त समिति देश के दोनो महान् परिवहन साधनो मे सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए उपयुक्त सुझाव भी देगी।

देश मे योग्य परिवहन प्रणाली के विकास के लिए न केवल रेल-सडक समन्वय होना चाहिए, प्रत्युत परिवहन के विभिन्न सब रूपों मे समन्वय होना चाहिए, अर्थात् एक सामान्य परिवहन सूत्रबद्धता होनी चाहिए। समन्वय के इस कृत्य के लिए भारत सरकार ने केन्द्रीय परिवहन मण्डल स्थापित किया है। देश का आर्थिक विकास देश के लिए समुचित रूप मे सूत्रबद्ध परिवहन प्रणाली पर ही अधिकांशतः निर्भर करता है।

सड़क परिवहन निगम अधिनियम, १९५० के अन्तर्गत निगम स्थापित किए जाने से, जिसमें रेलवे विभाग भी भाग लेगा, यह आशा की जाती है कि रेल परिवहन तथा सड़क परिवहन में परस्पर समन्वय की वृद्धि होगी, और देश के हित मे समन्वय की प्राप्ति होगी।

(ग) जल-मार्ग (Waterways)

जल-परिवहन सब से पुराना और सस्ता परिवहन का एक रूप है। यह निम्न दर्जे की बोझल एवं भारी-भरकम जिन्सों का परिवहन करने के लिए लाभकारी है जैसे, कोयला इमारती लकड़ी और कच्ची धातें। इसके अतिरिक्त आपात कालों में, जल परिवहन देश की प्रतिरक्षा और सुरक्षा के लिए परिवहन के वैकल्पिक साधन के रूप में अत्यावश्यक हो सकता है।

भारत में जल मार्गों को दो मुख्य वर्गों में बाटा जा सकता है—(१) आन्तरिक जल मार्ग, (२) समुद्रीय या जल पोत परिवहन।

अन्तर्देशीय जल पथ (Inland Waterways)—यह खेद का विषय है कि विशाल क्षेत्र होने के बावजूद हमने अन्तर्देशीय जल मार्गों का अधिक विकास नहीं किया। जर्मनी तथा पश्चिमी योरोप के कई अन्य देशों में जल मार्गों का आश्चर्य जनक जाल फैला हुआ है।

हमारे देश में अनुमानतः ५७६० मील लम्बे अन्तर्देशीय जल मार्ग हैं जबकि रेल पथों की लम्बाई ३५००० मील है। देश में नौ परिवहन योग्य केवल चार नदियाँ हैं गंगा नदी, ब्रह्मपुत्र (उत्तर में) और गोदावरी एवं कृष्णा नदी दक्षिण में। केन्द्रीय जल और विद्युत आयोग (Central Water and Power Commission) का मत है कि गोदावरी, कृष्णा नर्वदा और ताप्ती नदियों के द्वारा नौका परिवहन सम्बन्धी कठिनाइयाँ हल की जा सकती हैं। आयोग इस दृष्टि से उक्त नदियों को गंगा के समान ही महत्त्वपूर्ण समझता है।

जहाँ तक नौवहन सम्बन्धी नहरों का सम्बन्ध है वह बहुत ही थोड़ी हैं। उनमें प्रधान ये हैं उत्तर प्रदेश में गंगा नहर (जो हरिद्वार से कानपुर तक जाती है) और शारदा नहर, मद्रास में बकिंघम नहर तथा उड़ीसा में तटवर्ती नहर प्रणाली। इन सब से ४३०० मील की नौवहन सुविधाएँ प्राप्त होती हैं।

सरकार अब जल मार्गों की आवश्यकता के विषय में जागरूक है। १९४५ में केन्द्रीय जल मार्ग सिंचाई तथा नौवहन आयोग का आयोजन किया गया था, किन्तु अब इसका नाम केन्द्रीय जल तथा विद्युत् आयोग रखा गया है। कुछेक बहु-उद्देश्यीय नदी-योजनाओं में जैसे दामोदर घाटी योजना और हीराकुड योजना में, महत्त्वपूर्ण रूप में नौवहन सुविधाओं का समावेश किया गया है। १९५२ में गंगा-ब्रह्मपुत्र जल परिवहन मण्डल की स्थापना की गई थी जो इन दो महान् नदी प्रणालियों में जल-मार्गों का विकास करेगा। दूसरी पंचवर्षीय योजना में अन्तर्देशीय जल मार्गों के विकास के लिए ३ करोड़ रुपये का उपबन्ध किया गया है।

जल-पोत परिवहन (Marine Transport)—भारत जैसे देश के लिए, जिसका समुद्र तट लगभग ३,००० मील है और जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दृष्टि से संसार के छ बड़े राष्ट्रों में से एक है, जलपोत परिवहन के विकास पर जितना बल दिया जाय, कम है। देश की प्रतिरक्षा के हित में तथा शक्तिशाली व्यापारिक जलपान निर्माण के लिए सरकार जलपोत निर्माण में अब गहरी दिलचस्पी ले रही है। कुछेक बन्दरगाहों का विकास किया जा रहा है। विशाखापटनम के जल-पोत निर्माण

कारखाने में सरकारी आर्थिक सहायता से कुछ जहाज तैयार किए जा चुके हैं और उन्हें समुद्र में चालू कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त सरकार की ओर से अन्यों का निर्माण हो रहा है। इस कारखाने को सिन्धिया कम्पनी से खरीद लिया गया है और हिन्दुस्तान शिपयार्ड लि० को सौंप दिया गया है, जिसमें सरकार का नियन्त्रणपूर्ण अधिकार है। डफरिन नामक प्रशिक्षण पोत के अतिरिक्त बम्बई में नॉटिकल एण्ड इंजीनियरिंग कालेज तथा कलकत्ता में मैरिन इंजीनियरिंग कालेज ने व्यापार-नौ-वहन के लिए अफसरों को शिक्षा देने के कार्य आरम्भ कर दिए हैं। दो जल-पोत (एक कलकत्ता में और दूसरा विशाखापटनम में) नौ-भटों (ratings) को प्रशिक्षण प्रदान करते हैं। नौसैनिक प्रशिक्षण की उचित व्यवस्था के द्वारा अनेक नौसैनिक, नौ-इंजीनियर और अन्य नौ-अधिकारी प्रशिक्षित किये जा चुके हैं। भारतीय जहाजों के निर्माण को बढ़ावा देने के लिए नौ-सचालन महानिदेशालय (Directorate General of Shipping) की स्थापना की गई है।

सरकार की नवीन 'शक्तिशाली' जल पोत नीति के अनुसार, १९५१ से तटवर्ती व्यापार शत-प्रतिशत रूप में भारतीय जहाजों के लिए सुरक्षित कर दिया गया है। फलस्वरूप इस समय, भारत का सारा तटवर्ती व्यापार भारतीय जहाजों को ही मिलता है।

प्रथम योजना के आरम्भ में भारत में ३,९१,७०० टन भार के जल-पोत थे। प्रथम योजना का लक्ष्य ६,००,००० टन वृद्धि करना था, जिससे इस अवधि २,१५,००० टन वृद्धि हो सके। किन्तु प्रथम योजना में ४,८०,००० टन के जलपो भारत के पास थे। द्वितीय योजना में ३,००,००० टन वृद्धि करनी है। इस प्रका द्वितीय योजना के अन्त तक कुल भार ९,००,००० टन हो जायगा।

१९५८-५९ के अन्त तक भारत के पास ६,४६,००० टन भार के जल-पोत और इस समय १,२०,००० टन भार के जहाज तैयारी में हैं। अभी हाल में जल-पो विकास निधि (Shipping Development Fund) की स्थापना हुई है। इस निधि से लगातार जल-पोत निर्माण के कार्यक्रम को सहायता दी जाती रहेगी। अप्रैल १९५ में राष्ट्रीय जलपोत मण्डल (National Shipping Fund) की स्थापना हुई है यह मण्डल सरकार को जलपथ विकास और जलपोत निर्माण के कार्यक्रम के सम्बन्ध में परामर्श देगा।

(घ) हवाई परिवहन (Air Transport)

प्रश्न ४—भारत में हवाई परिवहन की वर्तमान दशा और भावी सम्भाव्यताओं की समीक्षा कीजिये।

Q 4—Examine the present position and future possibilities of air transport in India

यह परिवहन का सर्वाधिक नवीन रूप है और इसने द्वितीय विश्व-युद्ध के छिड़ने से लेकर अब तक के अल्प काल में आशातीत प्रगति की है।

देश के महाद्वीपीय आकार, पूर्व में उसकी केन्द्रीय स्थिति, वर्ष के अधिकांश भाग में शुद्ध वायुमण्डल और उपयुक्त हवाई अड्डे प्रदान करने वाले मैदान, यह सब ऐसे अनुकूल अंश हैं जो भारत को एक दिन महान् हवाई शक्ति बनायेंगे।

सरकार असैनिक वायु प्रबन्ध के गतिशील विकास में अत्यधिक गम्भीर और सक्रिय रुचि लेती रही है और ले रही है क्योंकि परिवहन के साधन रूप में इसके महत्त्व के अतिरिक्त, यह देश की प्रतिरक्षा के लिए अत्यावश्यक है। इसके अतिरिक्त असैनिक हवाई यातायात आपात कालों में महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकता है जैसा कि विभाजन के बाद निष्कासन और भूचाल के बाद आसाम में सहायता कार्यों तथा असम में और अन्यत्र बाढ़ सम्बन्धी सहायता कार्यों में देखा जा चुका है। हवाई परिवहन कम्पनियों की जिन दो महत्त्वपूर्ण विधियों से सरकार सहायता कर रही है वह यह हैं— (क) हवाई तेल में छूट देने के द्वारा और (ख) रात में हवाई डाक ले जाने के द्वारा।

भारत में हवाई सेवाओं के विकास में तीन स्पष्ट चरण रहे हैं (१) द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व और उसके दौरान में प्रारम्भिक हवाई अनुभव (२) १९४५ से १९५० तक प्राइवेट हवाई कम्पनियों का उपक्रम (३) १९५३ में हवाई सेवाओं का राष्ट्रीयकरण। १९३२ और १९३३ के बीच दो प्राइवेट कम्पनियों ने अनुसूचित हवाई सेवाएँ प्रारम्भ की थीं। इन कम्पनियों को सरकार ने कई प्रकार से सहायता दी थी। उदाहरण के लिए डाक ले जाने सम्बन्धी ठेका उन्हीं को लाभदायक दरों पर दिया गया था। युद्ध काल में हवाई यातायात में पर्याप्त वृद्धि हुई थी, किन्तु वह मुख्यतया रक्षा सेवाओं से सम्बन्धित थी। युद्ध के दिनों में माल और डाक ढोने के अलावा हवाई जहाजों से यात्री भी पर्याप्त संख्या में आने जाते थे। युद्ध के पश्चात् अमरीकी सरकार से डैकोटा जहाज सस्ती कीमत पर प्राप्त हो गये थे। इससे प्राइवेट हवाई सेवाओं की उन्नति हुई। १९५० तक अनेक नई-नई हवाई कम्पनियाँ हवाई परिवहन का काम करने लगी थीं। इस विकास को रात्रि वायु मेल सेवाओं और सर्वतोमुखी डाक सेवाओं से पर्याप्त सहायता मिली। सरकार ने इन कम्पनियों को पैट्रोल पर छूट दी। इससे भी इस दिशा में उन्नति हुई। किन्तु इतने पर भी इन हवाई कम्पनियों की आर्थिक दशा खराब हो रही थी। अतः सरकार ने हवाई परिवहन जाँच समिति की सिफारिश पर १९५३ के अगस्त मास में हवाई परिवहन का राष्ट्रीयकरण कर दिया। संसद् ने अधिनियमित किया और दो निगम इण्डियन एयरलाइन्स कार्पोरेशन (Indian Airlines Corporation) तथा एयर इण्डिया इन्टरनेशनल (Air India International) की स्थापना की गई। प्रथम कार्पोरेशन (I A C) देश के अन्दर और पास पड़ौस के देशों तक हवाई सेवाओं की व्यवस्था करता है जबकि दूसरा निगम (A I I) दूर दूर तक अन्तर्राष्ट्रीय सेवाएँ प्रदान करता है। हवाई सेवाओं में नवीकरण और सस्ती हवाई सेवाएँ प्रदान करने के लिए हवाई सेवाओं का राष्ट्रीयकरण आवश्यक समझा गया था। स्थिति यह है कि जहाँ एयर इण्डिया इण्टरनेशनल (A I I) सामान्य लाभ में चल रहा है, इण्डियन एयरलाइन्स कार्पोरेशन (I A C) भयंकर घाटे की स्थिति में है।

हमारे देश में बहुत से (८४) हवाई अड्डे हैं जिन पर सरकार का पूर्ण नियन्त्रण और अधिकार है। हवाई कार्य में प्रौद्योगिक शिक्षण के लिए सुविधाएँ भी प्रदान की जा रही हैं। १९४८ में, इलाहाबाद में नागरिक हवाई उड़ान केन्द्र खोला गया था जिसमें वायुयान चालक, इंजीनियर, हवाई अड्डों का नियन्त्रण करने वाले अफसर, रेडियो ऑपरेटर और कारीगर प्रशिक्षित किए जाते हैं।

अध्याय २१

भारत का व्यापार

(Trade of India)

अपने देश की कृषि, उद्योग और परिवहन का अध्ययन करने के बाद, अब हम व्यापार का अध्ययन करेंगे। भारतीय व्यापार की निम्न तीन मुख्य किस्में हैं : (क) आन्तरिक व्यापार, (ख) बाहरी या विदेश व्यापार, और (ग) मध्यपत्तन (entrepot) व्यापार।

प्रस्तुत अध्ययन हम आन्तरिक व्यापार के साथ आरम्भ करते हैं।

प्रश्न १—भारत के आन्तरिक व्यापार का महत्त्व बताइए और उसका संक्षिप्त विवरण दीजिए।

Q 1—Bring out the importance of the Internal Trade of India and give a brief account of it

गत सौ वर्षों के काल में देश के विदेश व्यापार पर अनुचित बल का कारण ग्रेट ब्रिटेन के साथ हमारा लम्बा सम्पर्क था। नि:सन्देह, इंग्लैंड, जापान, स्विट्जरलैंड और बेल्जियम जैसे छोटे देशों के लिए विदेश व्यापार जीवन और मृत्यु का प्रश्न है।

किन्तु, भारत की अवस्था इससे सर्वथा भिन्न है। हमारी स्थिति प्रायः एक महाद्वीप के समान है, जिसमें भौगोलिक और जलवायु सम्बन्धी अवस्थाओं की अत्यधिक बहुरूपता है, जिससे यहां सब प्रकार की कृषि फसलें उत्पन्न होती हैं। इसके उपरान्त, हमारी द्वितीय महत्तम जनसंख्या है जिससे एक विशाल मंडी का निर्माण होता है। इसलिए, हमारा आन्तरिक व्यापार विदेश व्यापार की अपेक्षा कई गुना बड़ा है।

ऐसा होने पर भी आन्तरिक व्यापार की अत्यधिक उपेक्षा की गई है और इसके स्पष्टीकरण के लिए भी हमें बहुत दूर नहीं जाना होगा। भारत में विदेशी सरकार ने अपने निजी स्वार्थ के लिए विदेश व्यापार को उन्नत किया। भारतीय रेलों का निर्माण भी इसीलिए हुआ था कि वे आन्तरिक व्यापार की उपेक्षा करके विदेश व्यापार के लिए अनुकूल थीं। उन्होंने देश के भीतरी उत्पादन और केन्द्रों को एक दूसरे के साथ मिलाने के बजाय समुद्र-तट-स्थित नगरों को भीतरी भाग के साथ मिलाया। इसके अतिरिक्त, रेल-दरों की नीति इस ढंग से बनाई गई थी कि निर्यात के लिए देश के कच्चे पदार्थों के संग्रह और आयातित (आयात की हुई) वस्तुओं के वितरण को प्रोत्साहन मिले। इसके अतिरिक्त, हमारा देश ऋणी था और हम अपने ऋण-दायित्वों आदि का भुगतान करने के लिए, जो ३० करोड़ रु० वार्षिक से अधिक होते थे, व्यापार का अनुकूल सन्तुलन रखना होता था। इसके फलस्वरूप भी विदेश व्यापार को बल प्राप्त हुआ।

लेकिन उपर्युक्त कारण अब प्रभावी नहीं हैं। द्वितीय विश्व-युद्ध के दिनों में भारत ऋणदाता देश बन गया। इसके अलावा, देश में परिवहन के साधनों के अधिक

विकास और महान् उद्योगीकरण से आतरिक व्यापार की मात्रा मे अत्यधिक वृद्धि होगी। लगभग ६०० देशी रियासतो का भारतीय गणतन्त्र म मिल जाना एक अन्य अनुकूल कारण है। उनके विलय से पूर्व इनम से अधिकाश रियासतो के अपने निजी आगम शुल्क थे और उनके कारण देश के अन्दर वस्तुओ के स्वतन्त्र आवागमन पर बहुत बाधाएँ थी किन्तु अब ये पाबन्दियाँ तेजी से उठायी जा रही है। हमारी पंचवर्षीय योजनाओ के फलस्वरूप भी हमारा औद्योगिक और कृषि उत्पादन काफी मात्रा मे बढा है। साथ ही हमारे परिवहन और सचार साधनो मे भी निरतर सुधार हो रहा है।

हमारे आतरिक व्यापार के मुख्य केन्द्रो म बम्बई कलकत्ता और मद्रास के बन्दरगाह तथा भीतरी नगरो म दिल्ली अमृतसर कानपुर अहमदाबाद आगरा और श्रीनगर को सम्मिलित किया जा सकता है। राज्यो म उत्तर प्रदेश का सर्वाधिक आतरिक व्यापार है किन्तु यह बन्दरगाही नगरो के अन्तर्गत व्यापार तक ही सीमित है। किन्तु जब बन्दरगाहो तथा भीतरी नगरो के साथ व्यापार की दृष्टि से आका जायगा तो बम्बई सबसे अग्रणी है।

हमारे आतरिक व्यापार का एक विलक्षण रूप यह है कि इसका लगभग दो तिहाई भीतरी भाग से बन्दरगाहो को जाता है और इसके विपरीत भी और बाकी का एक तिहाई भीतरी भाग म ही होता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि ऐसा इसलिए है कि बन्दरगाह वाले नगरो को भीतरी भाग के साथ जोड़ने के लिए रेलो का निर्माण किया गया था और साथ ही रेल दर भी ऐसी नियत की गई थी कि इन स्थानो के साथ व्यापार करने को प्रोत्साहन मिले।

देश के आकार जनसख्या और विशाल तथा बहुरूपी प्राकृतिक साधनो की दृष्टि से हमारे आतरिक व्यापार की मात्रा कही अधिक बडी हो सकती थी। अनेक ऐसे कारण रहे है जिन्होने हमारे आन्तरिक व्यापार की मात्रा को निम्न बनाए रखा है। परिवहन और सचार के साधन पर्याप्त रूप मे विकसित नही हुए। न ही बैंकिंग और साख-सम्बन्धी पर्याप्त विकास हो पाया है जो आन्तरिक व्यापार के लिए अत्यावश्यक है।

आतरिक व्यापार के विस्तार के लिए परिवहन और सचार साधनो तथा बैंकिंग का शीघ्रतापूर्वक विकास होना चाहिए। इस उद्देश्य के लिए जिन महत्त्वपूर्ण उपायो का सुझाव दिया जा सकता है उनम कुछ इस प्रकार है—कृषि जिन्सो का प्रामाणीकरण और क्रम स्थापन अन्य वस्तुओ के लिए व्यापार चिन्हो को अपनाना बाजार बिक्री की उन्नत विधियाँ और सुविधाएँ ग्रहण करना वस्तुओ का विज्ञापन करना बढिया पैकिंग नष्ट हो जाने वाली वस्तुओ के लिए शीत सग्रहण या कोल्ड स्टोरेज विधियो को अपनाना वाणिज्य सम्बन्धी सूचना और आकडो का सग्रह तथा प्रकाशन। यह प्रसन्नता का विषय है कि उपयुक्त दिशाओ मे उचित प्रयत्न किए जा रहे है। उदाहरण के लिये बाटो की मीट्रिक प्रणाली जो सारे देश म प्रचलित किया जा रहा है मानक संस्था (Standards Institution) की स्थापना की जा चुकी है वाणिज्य और औद्योगिक आकडे दिन प्रतिदिन शुद्धतर तैयार किए और प्रकाशित हो रहे है

पर्याप्त नहीं थे, फलत अनुकूल सन्तुलन को बनाए रखने के लिए सोने का निर्यात करना पड़ा, जिससे घरेलू दायित्वों को पूर्ण किया जा सके।

(घ) जहाँ तक व्यापार की दिशा का सम्बन्ध है हमारे निर्यातों में इग्लैंड की स्थिति विशेष रूप से प्रभुत्व की थी। प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व कुल आयातों में इग्लैंड का अंश लगभग ६३ प्रतिशत होता था। युद्ध के बाद यह अनुपात गिरता चला गया और १९३८-३९ में ३३ प्रतिशत रह गया। उसी वर्ष हमारे कुल निर्यातों का ४४ प्रतिशत इग्लैंड गया। हमारे विदेश व्यापार में इग्लैंड के मुकाबले में अन्य किसी देश का आधा भी अंश नहीं था।

द्वितीय विश्व युद्ध के समय की स्थिति (Position During World War II)—युद्ध के कारण व्यापार की स्थिति में पर्याप्त परिवर्तन हो गए। (i) हमारे निर्यातों में निर्मित वस्तुओं के अनुपात में वृद्धि होती गई। युद्ध उद्देश्यों के लिए भारी माँग के कारण इन निर्यातों में जूट-निर्मित वस्तुओं का स्थान सर्वोच्च हो गया। सूती वस्त्रों के निर्यात में भी वृद्धि हुई, अर्थात् १९३८-३९ में ८ करोड़ रु० से १९४२-४३ में ४६ करोड़ रु० हो गई।

(ii) हमारे निर्यातों में कच्चे पदार्थों के अनुपात में भी कमी हुई क्योंकि युद्ध-काल में देश में कुछ उद्योग स्थापित हो चुके थे। उदाहरणार्थ, हम पहले तिलहनों का निर्यात करते थे विशेषत, मूँगफली बड़ी भारी मात्रा में भेजी जाती थी। किन्तु, युद्ध-काल में हमने तेल निकालने का अपना निजी उद्योग स्थापित कर लिया।

(iii) एक अन्य महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हमारे विदेश व्यापार की दिशा के सम्बन्ध में हुआ। अमरीका और ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल तथा मध्य पूर्व के देशों के साथ हमारा पहले की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापार शुरू हो गया। जर्मनी और जापान जैसे शत्रु देशों के साथ हमारा व्यापार प्राय बन्द हो गया।

(iv) हमारा व्यापार संतुलन युद्ध-काल में पहले की अपेक्षा अधिक अनुकूल हो गया। जबकि निर्यातों में वृद्धि हुई और आयातों में बड़ी भारी न्यूनता, क्योंकि निर्यात करने वाले देश युद्ध में व्यस्त थे और जहाजों के आवागमन में भीषण कठिनाइयाँ थीं। व्यापार का अनुकूल सन्तुलन क्रमश १९४१-४२, १९४२-४३ और १९४३-४४ में ८० करोड़ रु०, ८४ करोड़ रु० और ९२ करोड़ रु० तक बढ़ गया।

विभाजन के बाद की स्थिति (Position After Partation)—अधिकांशत देश के विभाजन और अंशत, कतिपय महत्त्वपूर्ण समस्याओं की अनिवार्यता के कारण भारत के विदेश व्यापार में आधारभूत परिवर्तन हो गए हैं।

वर्तमान में हमारे विदेश व्यापार के महत्त्वपूर्ण लक्षण निम्नलिखित हैं—

(१) सर्वप्रथम हमारे विदेश व्यापार का कुल मूल्य क्रमश उन्नत हो रहा है। १९३८-१९३९ में यह ३२१ करोड़ रुपये था। किन्तु १९४८ में यह ९०१ करोड़ रु० था और १९४९ में यह १०६० करोड़ रु० का था। इस उन्नति के तीन कारण थे—(क) खाद्य सामग्री, कपास तथा कच्ची जूट जो हमारे निर्यात की प्रधान मदें थीं, अब आयात की बड़ी मदें बन गईं, (ख) भारी खाद्यान्न आयात, तथा (ग) आयातों और निर्यातों की कीमतों में भारी वृद्धि। कोरियाई युद्ध के कारण १९५० में हमारा

अन्तर-युद्ध काल मे (दो युद्धों के बीच का काल—१६१६-३६) हमारा व्यापार इंग्लैंड के मुकाबले मे किसी अन्य के साथ आधा भी नही था, वहा इंग्लैण्ड पर यह अत्यधिक पराश्रयता शीघ्रतापूर्वक कम हो रही है। हमारे व्यापार मे अमरीका, आस्ट्रेलिया, पश्चिमी जर्मनी, मिस्र, कनाडा का अंश बहुत बढ गया है, और इंग्लैण्ड का कम हो गया है। कनाडा और अमरीका के साथ व्यापार का विस्तार विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जहां युद्ध से पूर्व अमेरिका और कनाडा के साथ हमारा व्यापार समस्त व्यापार का ८-१०% ही था, वह अब बढकर लगभग २०% हो गया है।

मुद्रा-चलन के क्षेत्रो की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण दिशा-परिवर्त्तन हुआ है। जहां युद्ध से पूर्व, डालर क्षेत्रो के साथ, भारत का केवल १० प्रतिशत विदेश व्यापार था, अहाँ अब यह अनुपात २५ प्रतिशत तक उन्नत हो गया है। मध्य पूर्व और सुदूर-पूर्व के देशो के साथ व्यापार में भी बहुत उन्नति हो रही है। समग्र रूप म, हमारे व्यापार की दिशा मे अब कही अधिक बहुरूपता हो गई है।

(vi) डालर-क्षेत्र और यूरोपीय देशों के साथ व्यापार में असन्तुलन—युद्ध से पूर्व, भारत के पास अपने व्यापार सतुलन म डालर आधिक्य होता था। युद्ध के बाद यह पूरी तरह विपरीत हो गया है। भारत को डालर की बडी भारी कमी हो गई है। इसलिए डालर क्षेत्र से माल मगाने पर प्रतिबन्ध लगाने पडे और इस क्षेत्र को निर्यात बढाना आरम्भ किया गया। पिछले चार पाच वर्षों में देश के उद्योगीकरण के लिए भारी मात्रा मे पश्चिमी यूरोपीय देशो से पूंजीगत माल मगाना पडा है, इसलिए पश्चिमी जर्मनी, और अन्य पश्चिमी यूरोप के कुछ देशो के साथ हमारा व्यापार सन्तुलन अत्यधिक घाटे का रहा है। यह असन्तुलन हमारे डालर क्षेत्रीय असन्तुलन से भी अधिक है। इसी कारण इग्लैंड के साथ भी हमारा व्यापारिक सन्तुलन घाटे का है।

प्रश्न ३—१६३६ से लेकर भारत के निर्यातो और आयातो की कौनसी प्रवृत्तियां रही हैं? स्पष्ट कीजिए कि भारतीय अर्थ-व्यवस्था के कतिपय परिवर्त्तनो में ये प्रवृत्तिया किस प्रकार प्रतिबिम्बित होती हैं? (दिल्ली १६५२)

Q. 3—What are the trends in India's exports and imports since 1939? *Show how these trends reflect certain changes in the Indian economy.* (*Delhi* 1952)

(१६३६ से लेकर, समग्र रूप म विदेश व्यापार की मुख्य प्रवृत्तिया के लिए ऊपर के प्रश्न के उत्तर को देखिये, निर्यातो और आयातो की प्रवृत्तिया के लिए, प्रश्न २ के अतिरिक्त अधोलिखित प्रश्न ५ के उत्तर को भी देखिये) भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे निम्नलिखित मुख्य परिवर्त्तन इन प्रवृत्तियो द्वारा प्रतिबिम्बित हुए (i) खाद्य-सम्बन्धी न्यूनता, (ii) औद्योगिक कच्चे पदार्थों की अपूर्णता, (iii) वृद्धिपूर्ण औद्योगिक विकास और उत्पादन की भिन्न-रूपता, (iv) अर्थ-व्यवस्था म मुद्रा-स्फीति का बढता हुआ दबाव।

प्रश्न ४—भारत के विदेश व्यापार की रचना और दिशा के सम्बन्ध में आपने क्या परिवर्तन और प्रवृत्तिया देखी हैं?

(बम्बई, जम्मू तथा काश्मीर १६५३, पटना तथा पजाब १६५४)

इस अंग का अध्ययन सम्बन्धित देश के आर्थिक विकास के चरण की समुचित धारणा उपस्थित करता है। फलत, भारत के निर्यात और उसके आयात की मुख्य वस्तुओं का विस्तृत विश्लेषण विशेषत महत्वपूर्ण एव रुचिकर होगा। चूंकि आर्थिक अवस्थाएँ निरन्तर परिवर्तनशील होती हैं, इसलिए हम मुख्य रूप से वर्तमान स्थिति पर विचार करेंगे।

निर्यात (Exports)

सर्वप्रथम, हम निर्यातो पर ही विचार करते हैं। यथाक्रम महत्वपूर्ण विवेचन में निर्यात की मुख्य जिन्सें निम्न हैं—

जूट निर्मित वस्तुएँ (Jute Manufacturer)—चाय और जूटनिर्मित वस्तुएँ निर्यात की सर्वाधिक महत्वपूर्ण वस्तुएँ हैं। इसके अतिरिक्त ये सर्वोत्तम डालर उपार्जन की साधन हैं। विभाजन के बाद और १९४९ में भारत और पाकिस्तान के बीच विनिमय सम्बन्धी गतिरोध के फलस्वरूप, कच्ची जूट की पूर्तियों में बड़ी भारी कमी हो गई। जो भी हो, १९५१ की भारत पाकिस्तान व्यापार सन्धि और कच्चे जूट के अधिक घरेलू उत्पादन ने जूट निर्मित वस्तुओं को पुन अग्रणी स्थिति प्राप्त करने योग्य बना दिया। कोरियाई युद्ध ने भी जूट निर्मित वस्तुओं के निर्यातों को बढ़ावा दिया। किन्तु कोरियाई युद्ध की समाप्ति के बाद से हमारे जूट-निर्मित माल के निर्यात गिरने लगे। तब से भारत सरकार जूट निर्मित माल के निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिये निर्यात शुल्क कम कर रही है। १९५८ में जूट-निर्मित माल के निर्यात का मूल्य १०३ ८ करोड रु० था जबकि १९५७ में ११४ ६० करोड रु० का जूट-निर्मित माल निर्यात हुआ था।

चूंकि कृषि-विषयक फसलों को भरने-बाँधने के लिए जूट निर्मित बोरे सर्वोत्तम होते हैं, इसलिए कृषि प्रधान देश जूट निर्मित वस्तुओं के हमारे प्रधान ग्राहक हैं। अमरीका सबसे बड़ा आयातक है, आस्ट्रेलिया इग्लैंड अर्जेन्टाइना क्यूबा मिश्र, बर्मा, स्याम और कनाडा अन्य महत्वपूर्ण आयातक देश हैं।

चाय (Tea)—भारत विश्व भर में चाय का निर्यात करने वाला सबसे बड़ा देश है। इग्लैंड हमारी चाय का प्रधान ग्राहक है और हमारी कुल चाय निर्यातो का ७०% लेता है। अमरीका, कनाडा, सोवियत रूस, आयरलैंड मिश्र, ईरान और पाकिस्तान आदि अन्य देश हैं, जो हमारी चाय क्रय करते है। १९५८ में भारत ने १३६ ५ करोड रु० की चाय निर्यात की थी जबकि १९५७ में १२३ ४ करोड की चाय का निर्यात हुआ था। अमेरिका में भारतीय चाय का बाजार विकसित करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं और इस दिशा मे सफलता मिल रही है।

सूती कपडा (Cotton Piece-goods)—द्वितीय विश्व-युद्ध के प्रारम्भ के साथ सूती वस्त्रों तथा सूत के निर्यातो के महत्व में वृद्धि होने लगी है। इस दिशा मे १९४८-४९ के ३६ करोड रु० से १९५०-५१ में १३७ करोड रु० की उन्नति प्रकट हुई है। भारत में उत्पादन की वृद्धि तथा विदेशी प्रतियोगिता के कारण (विशेष रूप से जापान की ओर से) अब निर्यात पर अधिक बल दिया जा रहा है। इसलिए विभिन्न प्रकार के कपड़ो पर से भारत सरकार ने निर्यात-शुल्क कम किए हैं और हटा दिए हैं। इसके अलावा निर्यात बढ़ावा समिति की स्थापना की है तथा निर्यात के लिए आयात

अब वनस्पति तेल का बडी भारी मात्रा मे निर्यात होता है। १९५६ मे ७८ करोड रु० के वनस्पति तेल और तिलहनो का निर्यात हुआ था, जबकि १९५७ मे ११४ करोड रु० का तेल और तिलहन का निर्यात हुआ था।

हमारे निर्यात व्यापार की कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ निम्नलिखित हैं :—काजू, (१९५७-५८ में १५.८ करोड रु०), ऊन और अन्य बाल (१९५८ मे ९.४ करोड रु०); दस्तकारी का सामान (१९५८ मे ६.५ करोड रु०), कोयला (५.८ करोड रु०), कच्चा पटसन (१९५६ की अप्रैल से पुन निर्यात प्रारम्भ किया गया है)। अनेक निर्मित वस्तुओं का भी निर्यात होता है जिनका अलग तो कोई विशेष महत्त्व नही है फिर भी उनसे करोडो रुपए का विदेशी विनिमय प्राप्त होना है। हल्के इजीनियरिंग उद्योग के विकास से इस दिशा म पर्याप्त लाभ होने की आशा है।

द्वितीय विश्व-युद्ध के प्रारम्भिक काल से और विशेषत विभाजन के फलस्वरूप हमारे निर्यातों की रचना में महान् परिवर्तन हो गया है। युद्ध और विभाजन से पूर्व, कच्ची जूट, कपास और खाद्यान्न निर्यात की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण जिन्से थी। युद्ध-काल में, देश म खाद्य की कमी के साथ-साथ, खाद्यान्नो के निर्यात म न्यूनता आरम्भ हुई और अन्तत उसका लोप हो गया। इसके अतिरिक्त, विभाजन ने कच्ची जूट और कपास के निर्यातो का (छोटे परिमाणो म कुछ किस्मों के सिवा) क्रियात्मक रूप में अन्त कर दिया। इस प्रकार जहाँ द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व देश के निर्यातो मे कच्चे पदार्थों और खाद्य सामग्री का प्रभुत्व था, वहाँ विभाजन के बाद निर्मित वस्तुएँ निर्यात की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण श्रेणी म आ गई हैं।

समग्र रूप में निर्यातों की दिशा-परिवर्तन के सम्बन्ध में, इग्लैंड हमारा सर्वश्रेष्ठ ग्राहक है और हमारे कुल निर्यातो का एक-चौथाई उसका भाग है। उसके बाद अमरीका है; उसका अश, विशेषत मुद्रा-अवमूल्यन के बाद, पर्याप्त रूप में उन्नत हो गया है। १९५७ मे हमारे निर्यातो का २०.९% अमेरिका ने खरीदा। हमारे निर्यातो को लेने वाले अन्य महत्त्वपूर्ण देश ये हैं आस्ट्रेलिया, बर्मा, अर्जेन्टाइना, पाकिस्तान, श्रीलका, जापान, कनाडा, पूर्वी अफ्रीका, क्यूबा, फ्रास, जर्मनी, बेल्जियम नीदरलैड्स, इटली, अदन, ईराक, ईरान, मिश्र और मलयप्रदेश आदि।

आयात (Imports)

हाल ही के वर्षों में, हमारे आयातों की रचना में भी महान् परिवर्तन हो गया है। देश में भीषण खाद्य-समस्या की अत्यावश्यकता, तीव्रतापूर्वक उद्योगीकरण की इच्छा के कारण मशीनो तथा पूँजीगत-उपकरणो का भारी आयात, विभाजन, जिसके कारण भारतीय मुख्य उद्योगों जैसे, सूती वस्त्र तथा जूट-निर्मित वस्तुओ के लिए कच्चे पदार्थों की बडी भारी कमी हुई, वे प्रधान अग हैं, जिनके आधार पर यह परिवर्तन हुआ है। अब हम आज की स्थिति के अनुसार, मुख्य आयातो का विश्लेषण करेंगे।

खाद्य सामग्री (*Foodstuffs*)—इसमे सन्देह नही कि द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व भी हम खाद्यान्नो के विशुद्ध आयातकर्त्ता थे, किन्तु गेहूँ क उचित निर्यात के लिए आधिक्य था। परन्तु देश में खाद्य की न्यूनता अधिकाधिक कष्टकर होती जा रही थी, विशेषत. विभाजन के बाद, और इस प्रकार भारी आयातो की आवश्यकता हुई।

इस भाँति खाद्य-सामग्री हमारे आयातों की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशिष्ट मद है। खाद्यान्नों के निर्यात से हमारे डालर विनिमय पर अत्यधिक विपरीत प्रभाव पड़ा है। १६४८-१६४६ से १६५२-१६५३ तक के पाँच वर्षों में ७०३·३ करोड रु० के खाद्यान्न का आयात किया गया। ३० सितम्बर, १६५८ तक के २½ वर्षों में लगभग २५५६ करोड रु० के खाद्यान्न का आयात किया गया था। १६५१-५२ में २२०·३ करोड रु० के खाद्यान्न का आयात किया गया था। अथवा यूँ कह कि देश के कुल वार्षिक आयातों का २५% आयात खाद्यान्न था। १६५८ में ११२ १ करोड रु० के खाद्यान्न का आयात हुआ था। सत्य यह है कि मौसम की खराबी की वजह से हम को खाद्यान्न का अत्यधिक मात्रा में आयात करना आवश्यक हो जाता है।

अमेरिका, आस्ट्रेलिया, कनाडा, अर्जेण्टाइना, बर्मा और स्याम से हम विशेष रूप से खाद्यान्न का आयात करते हैं।

मशीनें (Machinery)—उद्योगीकरण की योजनाओं को वेगपूर्वक क्रियान्वित करने के लिए सब प्रकार की मशीनों के आयात करने थे। १६५६-५७ और १६५७-५८ में क्रमश २३३ ० करोड और १८८ ६ करोड रु० की मशीनों का आयात हुआ था। अगले कुछ वर्षों में भी मशीनों का भारी संख्या में आयात करना पड़ेगा। अभी हमें इस दिशा में आत्म-निर्भर होने में समय लगेगा। इंग्लैंड, अमरीका तथा जर्मनी हमें मुख्यत मशीनों की पूर्ति करते हैं।

कच्ची जूट (Raw Jute)—विभाजन के कारण कच्ची जूट के भारी आयातों की आवश्यकता हो गई। इससे पूर्व यह हमारे निर्यात की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु थी किन्तु कच्चे जूट के लिए हमको पाकिस्तान पर निर्भर रहना पड़ रहा है। अब घरेलू उत्पादन भी बढ़ रहा है। १६५२-५३ में हमारा जूट का उत्पादन लगभग २½ या तीन गुना बढ़ा था। किन्तु अब भी हम इस क्षेत्र में आत्म-निर्भर नहीं हैं। इसलिए अब भी जूट का आयात जारी है यद्यपि उसकी मात्रा में पर्याप्त कमी निरन्तर हो रही है। (१६५५-५६ म १० ३३ करोड रु०, १६५६-५७ मे ७·६ करोड रु०, और १६५७-५८ में ६ ४ करोड रु०)।

कपास (Raw Cotton)—कच्ची जूट के सामान ही, यह भी हमारे निर्यात की प्रधान वस्तु थी, किन्तु विभाजन के बाद से, यह खाद्यान्नों के अनन्तर आयात की द्वितीय मुख्य वस्तु बन गई है। मिस्र, ब्रिटिश पूर्वी अफ्रीका, सूडान और अमरीका इसके मुख्य स्रोत हैं। मुद्रा-अवमूल्यन के उपरान्त भारत-पाक व्यापार गतिरोध के कारण पाकिस्तान से कपास का आयात बन्द हो गया। मार्च १६५१ में वह पुन जारी हुआ किन्तु अत्यल्प मात्रा में। कपास के विषय म आत्म-निर्भरता प्राप्ति के लिए, भारत सरकार भी अपनी योजनाओं को सफल बनाने के यत्न कर रही है। इस दिशा में कुछ सफलता भी मिली है। १६५८ में २६ ७ करोड रु० की कच्ची कपास का आयात हुआ था जबकि १६५७ में ४८ ६ करोड रु० की कच्ची कपास का आयात करना पड़ा था।

खनिज तेल (Mineral Oils)—भारत म तेल-उत्पादन की अपर्याप्तता के कारण तेल, विशेषत पैट्रोल के बड़े भारी आयातों की आवश्यकता होती है। १६५८ में ७४·८ करोड रु० का तेल आयात करना पड़ा था जबकि १६५७ में १०७·५ करोड

रु० का खनिज तेल आयात हुआ था। ईरान कुवैत बर्मा तथा संयुक्त राज्य अमरीका खनिज तेल के मुख्य सम्भरण करने वाले देश हैं।

लोहा और इस्पात (Iron and Steel)—पिछले कुछ वर्षों में अत्यधिक तीव्र गति से उद्योगीकरण की आवश्यकताओं के कारण देश को बहुत भारी मात्रा में लोहे और इस्पात का आयात करना पड़ा। १९५७ और १९५८ में क्रमशः १४७० करोड़ रु० और ९७ ८ करोड़ रु० का लोहे और इस्पात का आयात हुआ था।

गाड़िया (Vehicles)—१९५८ में ५२ ५ करोड़ रु० की गाड़ियों का आयात हुआ। इनमें जहाजो हवाईजहाजो और नावो के आयात सम्मिलित नहीं हैं। यद्यपि भारत में मोटर परिवहन के विकास की बड़ी गुंजाइश है और इसलिए अगले कुछ वर्षों में गाड़ियों का आयात बढ़ाना चाहिये किन्तु चूंकि हमारी विदेशी विनिमय की स्थिति अत्यन्त कठिन है इसलिये इस दिशा में आयातों पर प्रतिबन्ध लगाना पड़ेगा। मोटर ट्रक और बसों का आयात मुख्य रूप से अमरीका इंग्लैंड तथा कनाडा से होता है। अब इन्हें देश में बनाने का प्रयास किया जा रहा है लेकिन स्थिति सुधरने में काफी समय लगेगा।

आयातों की अन्य महत्त्वपूर्ण मदें ये हैं रसायन औषधियां और भेषज (६५ ३ करोड़ रु०) रंग और वार्निश (८ ९ करोड़ रु०) लोहेतर धातु तथा उनकी निर्मित वस्तुएं (१९५७ ५८ में ३३ ५ करोड़ रु०) कैंची छुरियाँ तथा लोहे का सामान (१९५७ ५८ में १९ २ करोड़ रु०) बिजली की वस्तुएं तथा यंत्र (४९ ० करोड़ रु०) कागज पेस्ट बोर्ड और स्टेशनरी (८ ३ करोड़ रु०)। [कोष्ठकों में दिये अंक १९५८ में उनके मूल्य को प्रकट करते हैं]

आयातों के स्वरूप में भी भारी परिवर्तन हो गया है। जबकि युद्ध से पूर्व निर्मित पदार्थों का ही प्रभुत्व होता था विभाजन के बाद खाद्यान्नों तथा कच्चे पदार्थों के आयात निर्मित वस्तुओं से अधिक हो गये। १९५४ ५५ में आयात निर्यात की स्थिति समान रही। १९५४ ५५ के मूल्य अनुपातों से स्थिति के इस सापेक्ष परिवर्तन का पता चलता है। खाद्य वर्ग तथा कच्चा माल ४९ ७% था जबकि तैयार माल ५० ३% था।

समग्र रूप में हमारे आयातों में भिन्न देशों के अंशों का जहां तक सम्बन्ध है १९५७ में इंग्लैंड से २३ २% अमेरिका से १९ ९% तथा पश्चिमी जर्मनी से सर्वाधिक आयात हुए। अन्य महत्त्वपूर्ण देश जिनसे आयात किये जाते हैं ये हैं मिश्र ईरान जर्मनी जापान पूर्वी अफ्रीका बर्मा पाकिस्तान कनाडा आस्ट्रेलिया बेल्जियम नीदरलैंड्स इटली स्विटजरलैंड स्वीडन श्रीलंका मलाया।

भारत पाकिस्तान व्यापार
(Indo Pakistan Trade)

प्रश्न ६—भारत और पाकिस्तान के बीच व्यापार की गति का परीक्षण कीजिए और उसकी प्रकृति एवं उसके भविष्य का भी वर्णन कीजिए।

Q 6—Survey the course of trade between India and Pakistan and bring out its nature and prospects

१५ अगस्त, १६४७ को भारत, कृत्रिम रूप में, दो स्वतन्त्र राजनीतिक भागों में बँट गया। फिर भी, स्वभावत यह आशा की जाती थी कि वस्तुओं का आदान-प्रदान दोनो देशों के बीच कम-से-कम कुछ वर्षों तक अबाध रूप से जारी रहेगा।

यथापूर्व स्थिति समझौता (Standstill Agreement)—तदनुसार, दोनों देशों के बीच प्रतिबन्ध-हीन व्यापार जारी रखने के लिए यथास्थिति सधि हुई। मार्च १६४८ में यथास्थिति सधि की समाप्ति पर दोनो देशों के बीच का व्यापार आयात-निर्यात सम्बन्धी अनेक नियन्त्रणों का विषय बन गया।

भारत-पाक व्यापार समझौता, मई १६४८ (Indo-Pak Agreement, May 1948)—जुलाई १६४८ से लेकर जून १६४६ तक की अवधि के लिए भारत-पाक व्यापार सधि हुई और कतिपय पदार्थों के विनिमय की व्यवस्था की गई। भारतीय और पाकिस्तानी रुपये के बीच साम्य प्रदान करने के लिए एक भुगतान सधि की गई। चालू भुगतान और पूंजी परिवर्त्तन बिना किसी नियन्त्रण के होने थे।

दोनो देशों के बीच राजनीतिक सम्बन्धों की सर्वथा अप्रिय स्थिति के कारण इस व्यापार-सन्धि के अधीन व्यापार का प्रवाह अनुमानित स्तरों से बहुत कम हुआ, विशेषत. भारत से निर्यात। पाकिस्तान ने विपरीत प्रशुल्क नीतियों का आश्रय लिया।

अवमूल्यन और व्यापार गतिरोध (Devaluation and Trade Dead-lock)—जून १६४६ में एक अन्य व्यापार-सन्धि हुई, जिसकी अवधि जुलाई १६४६ से लेकर जून १६५० तक थी। इस व्यापार-संधि की क्रियाशीलता १६ सितम्बर १६४६ को भारतीय रुपये के अवमूल्यन के कारण भग हो गई। पाकिस्तान सरकार ने अपने रुपये का अवमूल्यन न करने का निर्णय किया। जून १६४६ की भारत-पाक व्यापार सधि इस तरह सर्वथा मृत-पत्र बन गया, और यह दोनो ही देशों के लिए घातक था।

अल्पसख्यकों के विषय में नेहरू-लियाकत सन्धि के फलस्वरूप अप्रैल १६५० में एक व्यापार-सन्धि हुई। विनिमय दर के प्रश्न से बचने के लिए, इनमें कुछ जिन्सो के लिए सन्तुलित विनिमय की व्यवस्था की गई। यह सन्धि सितम्बर १६५० में समाप्त हो गई और इसे और नही बढाया गया पर इसी बीच जून १६५० मे कोरियाई युद्ध के आरम्भ के कारण समूची स्थिति मे भारी परिवर्तन हो गया।

भारतीय जूट-निर्मित वस्तुओं तथा सूती वस्त्रों की भी अत्यधिक माँग हो गई। जो भी हो, ये उद्योग मुख्यत· कच्ची जूट और कपास की न्यूनता के कारण, माँग में एकाएक वृद्धि का लाभ उठाने योग्य नही थे। इन विचारो के आधार पर इस वस्तु-स्थिति को स्वीकार करना पड़ा कि पाकिस्तान के साथ व्यापार पुन· जारी करना चाहिए और खाद्य, कच्ची जूट और कपास की पूर्त्तियों का प्रवाह शीघ्रतापूर्वक आरम्भ होना चाहिए। जूट उद्योग, जूट-निर्मित वस्तुओं के लिए विदेशों से प्राप्त उन्नत कीमतो के कारण, अब पाकिस्तानी कच्ची जूट के लिए ४५% की उच्च कीमतों का भुगतान करने योग्य था। फलत:, भारत सरकार ने देश-हित की दृष्टि से पाकिस्तानी रुपये की विनिमय-दर को स्वीकार करने का निर्णय किया।

भारत-पाक व्यापारिक सन्धि, १९५१—तदनुसार फरवरी १९५१ को कराची में एक व्यापार-सन्धि हुई, जिसकी अवधि ३० जून १९५२ तक रखी गई।

पाकिस्तान सरकार ने भारत को जूट की ३५ लाख गांठ ४ लाख टन चावल और २३ लाख टन गेहूँ की पूर्ति का दायित्व लिया। बदले में भारत को जून १९५१ की समाप्ति से पूर्व ६ लाख टन तथा जुलाई १९५१ और जून १९५२ के बीच १२ लाख टन कोयले की पूर्ति करनी थी।

कुछ अन्य जिन्सों के पारस्परिक आयातों और निर्यातों के विषय में दोनों देशों ने निश्चित सीमाओं तक स्वीकृति दी थी। दोनों सरकारों ने जिन्सों की एक अन्य सूची सर्वमुक्त सामान्य लाइसेंस में उपस्थित की थी। भारतीय मिलों को इस बात की छूट थी कि वह पाकिस्तान के बाजार से जितने परिमाण में चाहें कपास खरीद लें। इस व्यापार-सन्धि से दोनों देशों के बीच व्यापार का प्रवाह आरम्भ हुआ। जो भी हो, सन्धि में जिन वस्तुओं के विनिमय की व्यवस्था की गई थी उनके परिमाण न्यून थे।

भारत पाक व्यापार सन्धि, अगस्त, १९५२—अगस्त, १९५२ में एक नई व्यापार-सन्धि हुई। इसकी अवधि ३० जून १९५३ तक थी और बाद में ३० सितम्बर १९५३ तक बढ़ा दी गई थी। पूर्व सन्धियों की अपेक्षा इसमें कुछ भिन्न आधार उपस्थित किए गए थे। इसका आधार यह था कि दोनों देशों के बीच का व्यापार अनुसूची में लिखित जिन्सों तक ही सीमित नहीं रहेगा। दोनों देशों ने स्वीकार किया था कि स्टर्लिंग अथवा अन्य तरल मुद्राचलन के क्षेत्रों को आयातों और साथ ही साथ निर्यातों के लिए दो में से किसी भी देश द्वारा जारी किए लाइसेंस यथास्थिति भारत और पाकिस्तान के लिए भी वैध होंगे।

पूर्व सन्धि के अनुरूप सन्धि की अनुसूचियों में कतिपय जिन्सों की विशिष्ट मात्राओं अथवा मूल्यों की व्यवस्था कर दी गई। प्रस्तुत सन्धि का सर्वाधिक स्मरणीय रूप यह था कि उसमें जूट, कोयला और कपास के विषय में कोई व्यवस्था नहीं रखी गई थी। पाकिस्तान ने अपने महाद्वीपीय क्रेताओं को लाभ प्रदान करने लिए भारत जाने वाले जूट निर्यातों पर विवेकपूर्ण लाइसेंस फीस लागू की थी। क्योंकि उसने उसे हटाना मंजूर नहीं किया था, इसलिए भारत का वह स्थिति अमान्य थी।

एक तीन-वर्षीय सन्धि (१ जुलाई १९५३ से आरम्भ होने वाली) १९ मार्च १९५३ को की गई। पाकिस्तान ने भारत के लिए जूट-निर्यातों पर विवेकपूर्ण निर्याम-शुल्क और लाइसेंस फीस को हटाना स्वीकार कर लिया और भारत ने पाकिस्तान से कोयले की वही कीमत लेनी मंजूर कर ली जो वह अपने भारतीय उपभोक्ताओं से प्राप्त करता है और साथ ही तीन वर्ष के लिए कच्ची जूट की न्यूनतम १८ लाख गाँठें प्रतिवर्ष के हिसाब से लेने का ठेका किया। १९५३-५४ में भारत-पाक व्यापार निम्न स्तर पर हो गया। इस वर्ष भारत की ओर से पाकिस्तान को ८.०२ करोड़ का निर्यात तथा १९.२७ करोड़ रुपये का आयात हुआ। १९५४-५५ में भी १९५३-५४ जैसा व्यापार हुआ, अर्थात् ९.५५ करोड़ रु० का निर्यात और आयात १९.३८ करोड़ रु०। १९५५-५६ में आयात २०.९ करोड़ रु० का और निर्यात ८.९ करोड़ रु० का। पाकिस्तान को भारत की मुख्य निर्यात मदें हैं—कोयला, सूती तैयार माल, मसाले

तथा मुख्य आयात मदें हैं—कच्ची जूट, फल तथा तरकारियाँ और कच्ची खालें और चमड़ा।

कोरियाई युद्ध की समाप्ति के कारण पाकिस्तानी निर्यात के लिए विश्व भर में माँग कम हो गई। अन्त में उसे अपने रुपये का अवमूल्यन करना पड़ा। ३१ जुलाई, १९५५ में पाकिस्तान का रुपया, भारतीय रुपये के साथ, समान स्तर पर आ गया। इस प्रकार भारत-पाकिस्तान के निर्यात-व्यापार की एक मुख्य बाधा खत्म हो गई। फिर भी व्यापार में यथेष्ट वृद्धि नहीं हुई।

१९ जुलाई, १९५५ को एक समझौता हुआ। इसमें, अन्य बातों के साथ, जूट और कोयले के आदान-प्रदान को जारी रखने के उपबन्ध के साथ अन्य वस्तुओं के व्यापार को पुन आरम्भ करने का उल्लेख किया गया। एक अन्य महत्त्वपूर्ण उपबन्ध सीमा तटवर्ती लोगों के लिए अबाध रूप से थोड़ी मात्रा में वस्तुओं में व्यापार की छूट देना था।

भारत-पाक व्यापार समझौता, १९५७—जनवरी १९५७ में अगला करार हुआ। आशा थी कि इस करार से दोनों देशों के बीच व्यापारिक गतिरोध समाप्त हो जायगा। दोनों देशों की सरकारों ने स्वीकार किया कि एक सरकार दूसरे देश को व्यापार के सम्बन्ध में अनुग्रहीत राष्ट्र का दर्जा प्रदान करेगी। भारत से पाकिस्तान को निर्यात होने वाली चीज़ों में निम्नलिखित चीज़ें मुख्य थी :—कोयला, रासायनिक पदार्थ, दवाएँ, मशीनें, बिजली का सामान, सिनेमा की फिल्में, शक्कर, चाय आदि। पाकिस्तान से भारत को निर्यात होने वाली वस्तुओं में निम्नलिखित मुख्य थी — कच्चा जूट, खाले, चमडे, मछली, मसाले, शहद, सिनेमा फिल्में, खेलकूद का सामान, चीर-फाड के डाक्टरी औजार आदि। जिन वस्तुओं का ऊपर की अनुसूची में जिक्र नहीं है, उनका भी सम्बन्धित देश के नियमों के अनुसार आदान-प्रदान हो सकता है। भारत ने वायदा किया कि वह पाकिस्तान को एक लाख टन कोयला प्रति मास देगा। दोनों देशों का सीमावर्ती व्यापार पहले की तरह ही चलता रहेगा। यह भी निश्चित हुआ कि इस करार की क्रियान्विति पर प्रति ६ महीने बाद पुनरीक्षण हुआ करेगा।

सत्य यह है कि भारत और पाकिस्तान की आर्थिक समृद्धि एक दूसरे की पूरक है। इसलिए दोनों देशों का हित इसी में है कि वे दीर्घकालीन सहयोग की नीति अपनायें।

मुद्रा-अवमूल्यन और भारत का विदेशी व्यापार
(Devaluation and India's Foreign Trade)

भारत के विदेश व्यापार के इतिहास में १९ दिसम्बर, १९४९ का दिन विशेष महत्त्व का है। इस दिन अमरीकी डालर की दृष्टि से भारतीय रुपये का ३०.५ प्रतिशत द्वारा अवमूल्यन किया गया था। भारत ने यह कदम स्वेच्छा से नहीं उठाया था, किन्तु वह ऐसा करने के लिए बाध्य हुआ था, क्योंकि इंगलैण्ड और स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्य सभी देशों ने (सिवा पाकिस्तान के) अपनी मुद्राओं का उसी सीमा तक अवमूल्यन किया था। कई स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर की मुद्राओं का भी अवमूल्यन हुआ था।

इस प्रकार के समष्टि मुद्रा-अवमूल्यन की आवश्यकता डालर-विषयक बड़े भारी

प्रभाव के कारण हुई थी। य देश डालर अभाव की कठिनाई को निरंतर अनुभव कर रहे थे। अमरीका के मुकाबले में समूचा स्टर्लिंग क्षेत्र अपने भुगतान सतुलन के विषय में अत्यधिक घाटे में था। फलस्वरूप स्टर्लिंग क्षेत्र का सोना और डालर संचय बहुत तेजी के साथ खाली हो रहे थे। सोने के संचय में इस गतिमान गिरावट को रोकने के लिए एक ही विधि थी कि अमरीका को अधिकाधिक निर्यात किया जाए और उस देश से आयातों में कमी की जाए और इस प्रकार भुगतान सतुलन को सन्तुलित किया जाए। परन्तु विद्यमान कीमतों पर निर्यातों को विस्तार न दिया जा सका।

जो भी हो, धरतू कीमतों में कमी किए बिना अमरीका के लिए इन निर्यातों को सस्ती करने की भी एक विधि थी। यह अमरीकी डालर के विनिमय में अपनी निजी मुद्राओं को अधिक देने के द्वारा सम्पन्न हो सकता थी जिससे कि अमरीकी आयात-कर्त्ता समान संख्या में डालरों का भुगतान करके उससे अधिक वस्तुएं क्रय कर सकें। इसका अर्थ था स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों की मुद्राओं का मुद्रा अवमूल्यन। यही एक कारण था कि इन सब मुद्राओं का अवमूल्यन हुआ।

इसके बावजूद भी कि भारत का व्यापार सन्तुलन विशेषतः अमरीका के साथ विपरीत था उसने स्वतः अपने रुपये का अवमूल्यन न किया होता किन्तु अन्य अनेक देशों के मुद्रावमूल्यन से सारी स्थिति ही बदल गई। प्रतिरक्षात्मक उपाय की दृष्टि से भारत के लिए अन्य चारा नहीं था, और उसे मुद्रावमूल्यन में अन्य देशों के साथ खड़ा होना पड़ा। भारतीय निर्यातों का लगभग तीन चौथाई उन देशों को जाता था, जिन्होंने अवमूल्यन का निर्णय किया था। यदि वह अवमूल्यन न करता तो जिन देशों ने अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन किया था उनकी दृष्टि से भारतीय निर्यातों की कीमत उन्नत हो जाती और ऐसे निर्यात अनिवार्यतः कम हो जाते। इसके अतिरिक्त, न केवल यह कि ये देश ही उसके प्रधान क्रेता थे, प्रत्युत उसके कई एक निर्यातों के प्रधान प्रतिद्वन्द्वी भी थे। इस प्रकार यदि वह अवमूल्यन न करता, तो ये प्रतिद्वन्द्वी अपनी मुद्राओं के अवमूल्यन के कारण उन मण्डियों पर अधिकार कर लेते जहाँ भारतीय निर्यात जाते थे। उस अवस्था में भारतीय निर्यात के लिए वह अधिक घातक होता।

इस प्रकार, इन अवस्थाओं में भारत को अपने रुपये का अवमूल्यन करना पड़ा। अब हम इस बात का परीक्षण करेंगे कि इस मुद्रा अवमूल्यन द्वारा भारत का विदेश व्यापार किस प्रकार प्रभावित हुआ।

प्रश्न ७—उन परिस्थितियों का वर्णन कीजिए जिनके कारण सितम्बर १९४९ में भारतीय रुपए का अवमूल्यन हुआ? इस मुद्रा अवमूल्यन के तात्कालिक परिणाम क्या हुए? (पंजाब १९५८)

(प्रथम भाग के लिए पूर्व विभाग को देखिए)

Q 7—Explain the circumstances that led to the devaluation of the Indian rupee in September 1949

What were the immediate consequences of this devaluation? *(Punjab 1948)*

(For the first part see the preceding section)

परिणाम (Consequences)—१६ सितम्बर, १९४९ को भारतीय रुपये के अवमूल्यन ने भारतीय विदेशी व्यापार के प्रस्तुत काल में एक निर्णायक स्थिति उत्पन्न की थी। इसका (i) निर्यातों, (ii) आयातों, और फलस्वरूप, (iii) हमारे व्यापार-सन्तुलन पर, (iv) व्यापार की शर्तों पर, और (v) व्यापार की दिशा पर अति विशिष्ट प्रभाव हुआ। क्योंकि पाकिस्तान ने, स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्य सब सदस्यों के असदृश, अवमूल्यन न करने का निर्णय किया था, इसलिए, भारत के मुद्रावमूल्यन के भारत-पाक व्यापार पर भी अति गम्भीर प्रभाव हुए। अब हम प्रत्येक शीर्षक से सम्बन्धित प्रभावों की कुछ विस्तार के साथ परीक्षा करेंगे।

निर्यातों पर प्रभाव—मुद्रावमूल्यन का सर्वाधिक स्मरणीय प्रभाव भारतीय निर्यातों का महान् विस्तार था। ये निर्यात अमरीका और कनाडा जैसे कठोर मुद्राचलन के क्षेत्रों को विशेष रूप में किए गए। सूती वस्त्रों, खालों और चमड़े (निर्मित), तेल और तिलहनों, तम्बाकू, अभ्रक, लाख, चमड़ा के निर्यातों में बहुत वृद्धि हुई। सूती वस्त्रों के हमारे निर्यातों में तो वस्तुतः आश्चर्यजनक उन्नति दिखाई दी, मुद्रावमूल्यन के प्रथम १२ मासों में ही केवल स्टर्लिंग-क्षेत्रीय देशों को ३१ करोड़ रु० से उन्नत होकर ८२ करोड़ रु० के मूल्य के सूती वस्त्र सम्बन्धी निर्यात किये गये।

इसके अलावा, उनकी दिशा में भी एक परिवर्तन हुआ था। प्रस्तुत स्थिति में स्टर्लिंग मुद्राचलन के क्षेत्रों से डालर तथा अन्य कठोर मुद्राचलन के देशों को निर्यात जाने आरम्भ हो गये थे, जैसे, चाय, मसाले, चमड़ा, अभ्रक, लाख, मैंगनीज,कहवा आदि के।

अवमूल्यन से जूट-निर्मित वस्तुओं के निर्यातों को विशेष लाभ नहीं हुआ, क्योंकि पाकिस्तानी कच्चे जूट के भारत में आने वाले आयातों में न्यूनता हो गई थी।

किन्तु मुद्रावमूल्यन के फलस्वरूप भारतीय निर्यातों में जो भारी वृद्धि हुई उसका कारण केवल मुद्रावमूल्यन ही नहीं कहा जा सकता। इस श्रेय में दो अन्य महत्त्वपूर्ण अंश भी साझीदार थे। दोनों में अधिक महत्त्वपूर्ण कोरियाई युद्ध का छिड़ना तथा फलस्वरूप अमरीका और अन्य योरोपीय देशों के पुनः शस्त्रीकरण के कार्यक्रम हैं।

निर्यातों के विस्तार के लिए जो अन्य अंश जिम्मेदार था, वह भारतीय निर्यातों को उन्नत करने के लिए सरकारी प्रोत्साहनपूर्ण कार्रवाइयाँ थीं। उसे इसलिए ऐसा करना पड़ा कि एक तो भुगतान-सन्तुलनों की खाई को पाटना था, और साथ ही अत्यावश्यक खाद्य-सामग्री, कच्चे पदार्थों और पूँजीगत उपकरणों के क्रय के लिए आवश्यक विदेशी विनिमय का उपार्जन करना था।

आयातों पर प्रभाव—जैसी कि आशा थी, मुद्रावमूल्यन के कारण आयातों में कमी हुई। उन देशों की आयातों की कीमतों में भी उत्कर्ष हुआ जिन्होंने अवमूल्यन किया था। ऐसा होने का कारण यह था कि ऐसे देशों के निर्यात योग्य आधिक्यों की उन डालर तथा अन्य कठोर मुद्राओं के देशों से बड़ी भारी माँग आ रही थी जिनके लिए मुद्रावमूल्यन के कारण उनकी कीमतों में न्यूनता हो गई थी।

व्यापार-सन्तुलन पर प्रभाव (Effect on Balance of Trade)—निर्यातों

में विस्तार और आयातों में सकुचन के फलस्वरूप व्यापार सन्तुलन जो अत्यधिक प्रतिकूल था, अनुकूल हो गया। निम्न आँकड़े स्वतः इसके प्रमाण हैं—१९४८-४९ में, वाणिज्यिक व्यापार में १०४ करोड रु० का प्रतिकूल सन्तुलन था। १९४९-५० में व्यापार-सन्तुलन की प्रतिकूलता ८२ करोड रु० रह गई। तथा पर १९५० के वर्ष की समाप्ति पर २५ करोड रु० का अनुकूल सन्तुलन था।

व्यापार की शर्तों पर प्रभाव—मुद्रावमूल्यन का एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रभाव यह था कि व्यापार विषयक हमारी शर्तों में स्पष्टतया उन्नति हुई और वह हमारे अनुकूल हो गईं।

भारत पाकिस्तान व्यापार गतिरोध—भारत के विदेशी व्यापार पर मुद्रावमूल्यन का अत्यधिक गम्भीर प्रभाव यह था कि भारत पाक व्यापार सर्वथा ठप्प हो गया। (गतिरोध के लिए, प्रश्न ६ के उत्तर को देखिए)

निष्कर्ष—इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि मुद्रावमूल्यन से इच्छित उद्देश्य की पूर्ति हुई। राजकोषीय आयोग (१९४९-५०) के शब्दों में 'भारत ने अवमूल्यन का निर्णय अपनी रक्षार्थ किया था। वह उद्देश्य सफल हुआ। एक वर्ष पहले जैसी हमारी आर्थिक स्थिति थी, उसको देखते हुए हम अवमूल्यन के फलस्वरूप लाभ की स्थिति में हैं।"

भारत के शोधन शेष
(India's Balance of Payments)

द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व शोधन शेष की स्थिति (Position Before World War II)—द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व, भारत का शोधन शेष या भुगतान सतुलन (व्यापार सन्तुलन से भिन्न रूप में) सामान्यतः वर्ष-प्रतिवर्ष सन्तुलन में रहता था। व्यापार-सन्तुलन सामान्यतया अनुकूल था, आयातों से निर्यातों के आधिक्य को 'घरेलू दातव्यों' के भुगतान में इस्तेमाल किया जाता था जो ३० से ४२ करोड रु० तक प्रतिवर्ष होते थे। यदि किसी वर्ष में उसके आयातों की अपेक्षा निर्यात इतने अधिक न होते कि जिससे घरेलू दातव्यों का भुगतान किया जा सके, तो उस कमी की पूर्ति के लिए सोने का निर्यात किया जाता था। सन् तीसी के वर्षों में सोने के विक्रय द्वारा ही (१९३१ ३२ से १९३९-४० तक ३६२ करोड रु० के मूल्य का सोना) भुगतान-सन्तुलन को सन्तुलित रखा गया था।

द्वितीय विश्वयुद्ध के दिनों में शोधन शेष की स्थिति (Position during World War II)—युद्ध-काल में, भारत के व्यापार-सन्तुलन अत्यधिक अनुकूल थे। इससे वह न केवल अपने विदेशी ऋण को ही लौटाने योग्य हुआ प्रत्युत उसने युद्ध की समाप्ति पर १,७०० करोड रु० तक के विदेशी स्टर्लिंग-शेष का भी निर्माण कर लिया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद शोधन शेष की स्थिति (India's Balance of Payments since Independence)—किन्तु युद्ध के बाद विशेषकर स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद, हमारी शोधन शेष की स्थिति घाटे की हो गई।

प्रश्न ८—स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से भारत की शोधन शेष की स्थिति पर

प्रकाश डालिए । सरकार ने समय-समय पर शोधन शेष की विपरीत स्थिति को सुधारने के क्या क्या उपाय किए ? वे उपाय कहाँ तक सफल हुए ?

Q 8—Briefly review the position of India's Balance of Payments since independence Indicate the remedial measures adopted from time to time by the government; and state how far they were successful ?

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारतीय शोधन शेष की स्थिति का तीन भिन्न अवस्थाओं में अध्ययन किया जा सकता है। (क) स्वतन्त्रता प्राप्ति से लेकर सितम्बर १९४९ के रुपये के अवमूल्यन तक, (ख) सितम्बर १९४९ से लेकर प्रथम पचवर्षीय योजना की समाप्ति अर्थात् १९५५-१९५६ तक, और (ग) द्वितीय पचवर्षीय योजना के प्रारम्भ से लेकर अबतक।

(क) प्रथम अवस्था—विभाजन से अवमूल्यन तक (First Phase from Partition to Devaluation)—युद्ध के बाद, विशेषत विभाजन के बाद युद्ध-काल के अर्जित शोधन शेष, शीघ्र ही समाप्त हो गये। इस विषम स्थिति के निम्नलिखित कारण थे —

(i) खाद्य के भारी आयात—यह खाद्य की समष्टि रूप में विश्व भर में कमी के काल में हुआ जबकि खाद्य पदार्थों की कीमतें अत्यधिक ऊँची थीं।

(ii) औद्योगिक कच्चे पदार्थों के भारी आयात—कच्ची जूट और कपास सम्बन्धी। विभाजन से पूर्व कपास, कच्ची जूट और खालें तथा चमड़े हमारे निर्यात की मुख्य वस्तुएँ थीं और अब उन्हें अत्यधिक लागत पर आयात करना पड़ा।

(उक्त दोनों विषयों के विस्तार के लिए, देखें प्रश्न २ का उत्तर।)

(iii) युद्ध-काल के नियन्त्रणों और सयमित उपायों के कारण विदेशी उपभोक्ता-वस्तुओं के लिए अपरिमित माँग थी। इसका परिणाम यह हुआ कि आयात अत्यधिक हुए।

(iv) युद्ध-काल में औद्योगिक यन्त्रों और मशीनों का प्रतिस्थापन भी न हो सका। युद्ध की समाप्ति के बाद इस उद्देश्य के लिए पूँजीगत वस्तुओं का आयात करना पड़ा।

(v) देश में विकास की बड़ी-बड़ी योजनाओं, नदी-घाटी-योजनाओं, औद्योगिक उद्यमों आदि का श्रीगणेश किया गया। इनके कारण पूँजीगत उपकरणों के बृहत् आयात करने पड़े।

(vi) देश की मुद्रास्फीति ने आन्तरिक विक्रय और बाहरी क्रय के लिए अच्छा बाजार बना दिया। सरकार की दोषपूर्ण अर्थ-युद्ध-नीति के कारण मुद्रास्फीति हुई थी।

(vii) देश में सब तरफ उत्पादन सम्बन्धी ह्रास भी शोधन शेष की स्थिति को विपरीत करने वाला था।

(viii) बड़ी भारी संख्या में दूतावासों, उपदूतावासों आदि का उद्घाटन और अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में अधिक भाग लेने के कारण विदेशी विनिमय का अधिक व्यय सरकार अपने शोधन शेष (Balance of Payments) की गिरती हुई

इस काल में हमारी शोधन शेष स्थिति में इतने घाटे का कारण यह है कि हमने विकास योजनाओं के लिये बहुत व्यय किया है। मशीनों, लोहे और इस्पात के आयात पर अत्यधिक व्यय किया है। उदाहरण के लिये जहा १९५५-५६ मे मशीनों और धातुओं के आयात पर २९९ करोड रु० व्यय किये गये थे, १९५६-५७ मे ४४२ करोड रु० और १९५७-५८ मे ५३४ करोड रु० व्यय किये गये। दुर्भाग्यवश खाद्य सम्बन्धी आयातो पर बहुत अधिक व्यय किया जा रहा है। सितम्बर १९५८ तक के २½ वर्षो मे २९५·६ करोड रु० का खाद्यान्न आयात किया गया, जबकि १९५५-५६ में केवल २९ करोड रु० का खाद्यान्न आयात हुआ था। विपरीत शोधन स्थिति के कुछ अन्य कारण भी हैं जिनमें प्रतिरक्षा व्यय की अधिकता, कच्चे औद्योगिक पदार्थों की अत्यधिक माग, फालतू मशीनी उपकरण, प्रतिस्थापन व्यय आदि। किसी सीमा तक ऊँची कीमतें और ऊँचे परिवहन व्यय भी विपरीत शोधन शेष स्थिति के लिए उत्तर-दायी हैं।

इतने भयकर और निरन्तर घाटो से देश के सीमित विदेशी विनिमय साधनों पर अत्यधिक दबाव पडना अवश्यम्भावी था। अत विदेशी विनिमय की कमी महसूस होने लगी। इस स्थिति को सुधारने के लिये अनेक उपाय करने पडे हैं। अक्तूबर १९५७ मे वैधिक उपबन्धो के द्वारा रिजर्व बैंक में विदेशी प्रतिभूतियो के सम्बन्ध में कुछ सुधार किये गये। अबतक ४०० करोड रु० की विदेशी प्रतिभूतियो और ११५ करोड रु० के स्वर्ण पिण्ड के स्थान पर अब भविष्य मे २०० करोड रु० की विदेशी प्रतिभूतिया और ११५ करोड रु० का स्वर्ण पिण्ड ही यथेष्ट होगा। आयात पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिये गए हैं। पूंजीगत माल के आयातको को तभी आयात लायसेंस मिलेंगे जबकि वे बाद मे भुगतान करने की स्वीकृति प्राप्त कर चुके हों या वे अपनी योजना में से इतना विदेशी विनिमय बचा सकें हों जो मौजूदा भुगतान तुरन्त करने की स्थिति में हो। निर्यातो को प्रोत्साहन देने के सम्बन्ध मे भी अनेक उपाय किये गये हैं।

भारतीय वाणिज्य की नीति और व्यापार संधियाँ
(Indian Commercial Policy and Trade Agreements)

स्वतन्त्र व्यापार और विवेकपूर्ण सरक्षण (Free Trade and Discriminating Protection)—ठीक १९२३ तक, भारतीय व्यापार-नीति यथेच्छाचारिता पर आधारित थी, अर्थात् भारत स्वतत्र व्यापार की नीति का अनुसरण करता था। कुछ आयात कर लागू किये जाते थे, किन्तु उनका उद्देश्य घरेलू उद्योगो की रक्षा के लिए विदेशी वस्तुओं के प्रवेश को रोकने की बजाय राजस्व प्राप्त करना था। १९२३ में, विवेकपूर्ण संरक्षण की नीति को ग्रहण किया गया, जिसके द्वारा सहायता के अधिकारी उद्योगों को समय-समय पर सरक्षण प्रदान किया गया। इस प्रकार, स्वतन्त्र व्यापार के सिद्धात का पूर्णतया अनुसरण न रहा।

सन् तीसों के काल में वाणिज्य की नीति—ओटावा सन्धि (Commercial Policy during the Thirties. The Ottawa Agreement)—१९२९ में आरम्भ हुई महान् मंदी ने विश्व-व्यापार को भारी धक्का पहुँचाया। तदनुसार, प्रत्येक देश ने सब प्रकार की विधियो से अपनी आयातो पर प्रतिबन्ध लगाए, जैसे, उच्च राजकोषीय

कर, कोटा, विनिमय नियंत्रण, और यहा तक कि कतिपय वस्तुओं के आयातों का पूर्ण अवरोध। तदनुसार, भारतीय वाणिज्य की नीति में भी परिवर्तन होना था।

विश्व व्यापार में मदी के फलस्वरूप इग्लैंड को भी बहुत हानि सहन करनी पड़ी थी। उसने भी अपनी प्राचीन स्वतन्त्र व्यापार की नीति को छोड दिया और सरक्षणात्मक नीति पर उतर आया। इसके अतिरिक्त वह अपने साम्राज्य देशों के साथ शाही रियायतों (imperial preferences) की विधि से व्यापार का विकास करना चाहता था। इस उद्देश्य से, उसने १९३२ में ओटावा (कनाडा) में इम्पीरियल आर्थिक सम्मेलन का आयोजन किया। वहा उसने साम्राज्य देशों के साथ रियायतों के पारस्परिक विनिमय के आधार पर कुछ व्यापार-सन्धिया की। भारत ने भी शाही रियायतों की इस योजना में भाग लिया और भारत तथा इगलैंड के बीच ओटावा व्यापार सधि हुई। यह सन्धि १९३९ तक जारी रही और उसके बाद भारत ब्रिटिश व्यापार-सन्धि ने उसकी जगह ले ली।

ओटावा व्यापार सन्धि के अलावा भारत ने जापान के साथ व्यापार-सधि की—१९३४ की प्रथम भारत-जापान सन्धि और १९३७ में द्वितीय भारत जापान सन्धि। १९४१ में बर्मा के साथ भी एक व्यापार सन्धि की गई।

द्वितीय विश्व युद्ध के काल में और उपरान्त व्यापार-नीति (Trade Policy during and after World War II)—द्वितीय विश्व युद्ध के कारण निर्यातों और आयातों दोनों पर कठोर नियन्त्रण आवश्यक हो गए। शत्रुदेशों के साथ व्यापार की कठोरतापूर्वक मनाही कर दी गई। तटस्थ और मित्रराष्ट्रों के साथ व्यापार पर भी अनेक प्रतिबन्ध लगाए गए। अनेक प्रतिकूल दशाओं के कारण (जैसे, मुद्रास्फीति खाद्य की न्यूनता), युद्ध और विभाजन के बाद भारत के विदेशी व्यापार की स्थिति अत्यधिक कठिन बन गई। खाद्य और पूँजीगत वस्तुओं के आयातों की अत्यावश्यक दरकार थी। इसके साथ ही, डालर अभाव के कारण, अमरीका तथा अन्य कठोर मुद्राओं के देशों से आयातों को अनिवार्यत कम करना पडा था। यह जान पडा कि निजी व्यापारी बहुत से देशों के साथ (जैसे, जापान, जर्मनी और पूर्वी योरोप के देश) व्यापार सम्बन्ध स्थापित नही कर सकते। इसलिए, भारत सरकार ने पाकिस्तान चैकोस्लोवाकिया, स्विट्ज़रलैंड, पश्चिमी जर्मनी, पोलैंड, मिश्र फिनलैंड यूगोस्लाविया अर्जेंटाइना और रूस, स्वीडन, इटली, नार्वे और एबीसीनिया जैसे अनेक देशों के साथ द्विपक्षीय व्यापार सधिया की।

भारत और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सगठन (India and I T O)—द्वितीय विश्व युद्ध के बाद, हवाना (क्यूबा) में, मार्च १९४८ में व्यापार और नियोजन पर सयुक्त राष्ट्रों का एक सम्मेलन हुआ। उसमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक अधिकार-पत्र स्वीकार किया गया, जिसका उद्देश्य विश्व के राष्ट्रों में स्वतन्त्र व्यापार की उन्नति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सगठन की स्थापना करना था। किसी भी देश ने अभी तक इसकी पुष्टि नही की। राजकोषीय आयोग (१९५०) को हवाना अधिकार पत्र (Havana Charter) इस दृष्टि से परीक्षण करके सिफारिश करने के लिए सौंपा गया था कि क्या भारत सरकार को उसकी पुष्टि करनी चाहिए या नही। सतर्कता-

पूर्वक विचार के बाद आयोग ने सिफारिश की है कि भारत को इस अधिकार पत्र की केवल तभी पुष्टि करनी चाहिए जबकि अमरीका और इंग्लैंड जैसे अन्य महत्वपूर्ण देश उसकी पुष्टि करें और बशर्ते कि उस समय की देश की आर्थिक अवस्थाएँ इस प्रवृत्ति के अनुकूल हों। क्योंकि अमरीका और इंग्लैंड ने इसकी पुष्टि के लिए अनिच्छा प्रकट की है, इसलिए भारत की पुष्टि का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन की स्थापना विचाराधीन रहते हुए, १९४७ में २३ राष्ट्रों का जिनीवा में सम्मेलन हुआ और उसमें तट-करों में न्यूनता करने की दृष्टि से तटकरा और व्यापार पर सामान्य संधि (G. A. T. T.) हुई। भारत ने इस सामान्य सन्धि पर हस्ताक्षर किए। यह अस्थायी आधार पर ९ जुलाई, १९४८ से क्रियान्वित हुई। १९४९ में, अन्नेसी (फ्रांस) में सम्मेलन हुआ, जहां अन्य अनेक देश सामान्य संधि में सम्मिलित हो गए। १९५० में, तीसरा सम्मेलन टॉरक्वे हुआ। इसने लगभग ५५ हजार तटकर दरों को न्यून अथवा स्थिर किया है। १९५८ के अन्त तक इस सम्मेलन (G A T. T) के १३ अधिवेशन हो चुके थे। फलस्वरूप तटकरों के सम्बन्ध में और भी कमी हुई। वर्तमान में इसके ३३ सदस्य हैं। अब तक भारत ने इस सन्धि के अधीन अनेक देशों के साथ व्यापार-वार्ताएँ पूर्ण की हैं। उनमें महत्त्वपूर्ण ये हैं आस्ट्रेलिया, ब्राजील, कनाडा, चीन, फ्रांस, अमरीका, डेनमार्क, स्वीडन। राजकोषीय कमीशन (१९५०) ने सरकार को सिफारिश की थी कि भारत को सामान्य समझौते पर दृढ़ रहना चाहिए। वर्तमान में, विश्व-समुद्र पार के व्यापार में 'सामान्य समझौता देशों' का प्रतिशत ८०% है।

हाल ही में (अक्तूबर १९५८ में) भारत ने व्यापार सन्धि सम्मेलन (G.A.T.T.) के अधिवेशन में घोषणा की थी कि वह जापानी निर्यातों को इस सम्मेलन की सभी सुविधाएँ प्रदान करेगा। यद्यपि कई देशों ने जापान के प्रशुल्क व्यापार सन्धि सम्मेलन (G.A T T.) के सदस्य होने पर ऐतराज किया था, किन्तु भारत द्वारा जापान का समर्थन विशेष महत्त्वपूर्ण था।

भारत की वर्तमान वाणिज्यिक नीति (India's Present Commercial Policy)—इस प्रकार, भारत की वाणिज्यिक नीति अपने कुछेक उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने और शेष क्षेत्र में, उन देशों के लिए तटकरों में न्यूनता के सिद्धान्त पर आधारित है, जिनके साथ उसने प्रशुल्क व्यापार सन्धि सम्मेलन (G.A.T.T.) के अधीन सन्धियाँ की हुई हैं। भारत ने ओटावा में शाही अधिमान की, जिसे अब राष्ट्र-मण्डल अधिमान कहा जाता है, नीति भी स्वीकार की थी। पाकिस्तान के साथ भारत के व्यापार का आधार सर्वथा भिन्न रूप का समझा जाता है और पाकिस्तान के साथ विनिमय की गई रियायतें प्रशुल्क व्यापार सन्धि सम्मेलन (G A T T) के अन्य देशों को प्रदान करना आवश्यक भी नहीं है।

हाल ही के वर्षों में भारतीय वाणिज्यिक नीति के तीन अन्य महत्त्वपूर्ण रूप भी उपस्थित हुए हैं। प्रथमतः, आयातों पर कठोर प्रतिबन्ध लगाए गए हैं। द्वितीयतः, निर्यातों में वृद्धि करने के विशेष यत्न किए गए हैं। सरकार ने निर्यातों की वृद्धि के लिए सिफारिशें करने के निमित्त १९४९ में गोरवाला निर्यात उन्नायक समिति भी नियुक्त

की थी। अभी हाल ही में १९५७ मे एक अन्य निर्यात उन्नायक समिति (Export Promotion Committee) की स्थापना भी इसीलिए की गई थी कि वह निर्यातों को उन्नत करने की दिशा में उचित सुझाव दे। एक निर्यात परामर्शदात्री परिषद की भी स्थापना की गई है जो सरकार को निर्यात नियन्त्रण नीति के सम्बन्ध में परामर्श देती है।

१९५७ मे विदेशी व्यापार मण्डल (Foreign Trade Board) और निर्यात विकास सञ्चालक (Director of Export Promotion) कार्यालय की स्थापना की गई। इन निकायों का उद्देश्य यह है कि भारतीय विदेशी व्यापार, विशेषकर निर्यात व्यापार को बढाया जाय। एक प्रदर्शिनी सञ्चालन मण्डल भी है जो भारतीय वस्तुओं का विदेशों में प्रचार करता है। कुछ निर्यात परिषदों ने हाल के वर्षों मे कई व्यापारिक प्रत्यायुक्त मण्डल (Trade Delegations) विदेशों में भेजे हैं। कई देशों को भारत की ओर से औद्योगिक, सांस्कृतिक और सद्भावना मण्डल भेजे गये हैं जिन्होंने विदेशों में भारतीय निर्यात व्यापार को बढाने की सम्भावनाओं को खोजा और बढाया है। तृतीयत कई देशों के साथ द्विपक्षीय व्यापारिक समझौते किए गए हैं। अब तक भारत ने २६ देशों के साथ व्यापारिक समझौते किए हैं।

मई १९५६ मे राज्य व्यापार निगम (State Trading Corporation) की स्थापना करके भारत सरकार ने विदेश व्यापार को भी अपने हाथों में लेने का प्रयत्न किया है। राज्य व्यापार निगम पूर्णत सरकारी सगठन है जिसकी अधिकृत पूँजी १ करोड रु० है। इसका मुख्य उद्देश्य निर्यात और आयात व्यापार को बढाना है, ताकि भारतीय औद्योगिक सगठन की कमियां ठीक हो सकें। पहले भारत के साम्यवादी देशों के साथ व्यापार सम्बन्ध नगण्य थे क्योंकि एक ओर साम्यवादी देशों में व्यापार पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण रहता है तथा दूसरी ओर भारतीय व्यापार प्राइवेट लोगों के ही हाथ में है। इसलिए इन देशों के साथ बहुत ही कम व्यापार होता था और भारतीय व्यापारी को इनसे व्यापार करने में घाटा रहता था। राज्य व्यापार निगम (State Trading Corporation) से यह कठिनाई दूर हो जायगी। निगम नियन्त्रित अर्थ व्यवस्था वाले देशों से व्यापार करता है और उनसे ऐसी वस्तुएँ प्राप्त करने का प्रयत्न करता है जैसे इस्पात सीमेण्ट और औद्योगिक समान आदि। और बदले में उन देशों को भारतीय वस्तुएँ दी जाती हैं। इस प्रकार देश के विनिमय साधनों पर दबाव नहीं पडता। १९५८ के अन्त तक निगम ने विदेशों के साथ प्राय १२६ ८ करोड रु० का व्यापार किया था।

प्रश्न ९—शाही रियायत या अधिमान का क्या अर्थ है? भारत में इसकी कार्यकारिता के विषय में परीक्षण करें।

Q 9—What is meant by Imperial Preference? Review its working in India

अर्थ—साम्राज्य इतर देशों से आने वाली वस्तुओं पर प्रचलित करों की तुलना में साम्राज्य (अब राष्ट्रमण्डल) के विभिन्न सदस्य देशों से आने वाली वस्तुओं पर तटकरों की न्यूनता द्वारा साम्राज्य के देशों में व्यापार-सम्बन्धों के विकास के लिए शाही रियायत या अधिमान का आश्रय लिया जाता है।

इतिहास—१७ वी और १८वी सदियों से ग्रेट ब्रिटेन अपने निर्यातों के लिए अपने उपनिवेशों में सदा रियायतें प्राप्त करता रहा किन्तु बाद में साम्राज्य-देशों को अपने तटकर नियमित करने और साम्राज्य-वस्तुओं को केवल स्वेच्छापूर्वक रियायतें देने की स्वतन्त्रता प्रदान कर दी गई थी। कनाडा प्रथम साम्राज्य देश था, जिसने ग्रेट ब्रिटेन से आने वाली वस्तुओं के लिए तटकर सम्बन्धी रियायतों द्वारा १८६७ में शाही रियायत या अधिमान के सिद्धान्त को नियान्वित किया था। इसके पश्चात् न्यूजीलैंड, दक्षिणी अफ्रीका और आस्ट्रेलिया ने भी रियायतें दे दीं। उस समय इंग्लैंड सब देशों के साथ स्वतन्त्र व्यापार नीति का अनुसरण कर रहा था, इसलिए, साम्राज्य-देशों से आने वाली वस्तुओं के लिए उसको रियायतें प्रदान करने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता था। भारत से भी पूछा गया कि क्या वह शाही रियायत को प्रचलित करने को इच्छुक है। किन्तु तात्कालिक वाइसराय, लार्ड कर्ज़न, ने भारत के इस सिद्धान्त को ग्रहण करना स्वीकार न किया। उनका कथन था कि शाही रियायत से भारत को कुछ खास लाभ नहीं होगा किन्तु उसकी हानि की भारी आशंका है। उस काल में, साम्राज्य-इतर देशों के साथ भारत के व्यापार में आयातों से उसका निर्यात-आधिक्य था। ऐसी दशा में उसे भय था कि यदि उसने शाही रियायत या अधिमान का आश्रय लिया तो उसके कारण ऐसे देशों द्वारा प्रतिशोध होगा और इस तरह उसके निर्यातों की क्षति होगी। यह वह करने में असमर्थ था।

प्रथम विश्व-युद्ध साम्राज्य के भिन्न भागों को एक दूसरे के निकट लाया, जिससे, १९२० तक, शाही रियायतों या अधिमान का आन्दोलन अत्यधिक प्रबल हो गया और १९२२ में, २६ ब्रिटिश उपनिवेशों को रियायतें दी गयी। १९२३ में, राजकोषीय आयोग यद्यपि इस नीति के लाभों के विषय में सर्वसम्मत नहीं था, तथापि उसने सीमित स्तर पर उसे ग्रहण करने की सिफारिश की। इस प्रकार ब्रिटिश इस्पात और वस्त्रों पर कर न्यून किए गए। ग्रेट ब्रिटेन ने भी १९३२ में स्वतन्त्र व्यापार की अपनी पुरानी नीति को छोड़ दिया था। और अब वह साम्राज्य-देशों से आने वाली वस्तुओं को रियायत देने के लिए तैयार था।

ओटावा संधि (The Ottawa Pact)—तदनुसार, ओटावा (कनाडा) में एक शाही आर्थिक सम्मेलन हुआ। यहाँ भारत ने इंग्लैंड के साथ व्यापार-संधि की, जिसके द्वारा दोनों देशों ने एक-दूसरे के कतिपय आयातों को रियायत देना स्वीकार किया। संधि के अनुसार, भारत ने कतिपय किस्म की मोटरों पर ७½% और कुछ अन्य वस्तुओं, जैसे, बिजली की वस्तुओं, ऊनी माल, मद्यसार, सुगंधियों आदि, पर १०% रियायत दी। इंग्लैंड ने अपनी ओर से कई जिन्सों पर भारत को १०% की रियायत दी, कुछ अन्य वस्तुओं को कर-रहित प्रवेश की स्वीकृति दी। भारत में आयात की जाने वाली ब्रिटिश वस्तुओं में उस समय तक इस्पात और सूती वस्त्र को सम्मिलित नहीं किया था, क्योंकि उस समय भारत में इन उद्योगों के सरक्षण के विषय में जाँच हो रही थी। किन्तु १९३५ की भारत-ब्रिटिश संधि (पूरक) में इन जिन्सों की सूची में मिला लिया गया था।

ओटावा संधि की अत्यधिक कटु आलोचना हुई। जबकि सरकार का कहना

था कि यह संधि भारत के लिए लाभप्रद है किन्तु राष्ट्रवादी उसकी प्रबल निन्दा करते थे।

निःसन्देह इस संधि के सूक्ष्म प्रभावों का परीक्षण करना अत्यधिक कठिन है। अन्ततः हम यह कैसे कह सकते हैं कि यदि ऐसी संधि न हुई होती तो क्या स्थिति होती। इसके अतिरिक्त जिन वर्षों में यह संधि प्रचलित की गई थी उन दिनों की महान् मंदी और फलस्वरूप आयात विषयक बड़े प्रतिबन्धों तथा विनिमय नियन्त्रणों के साथ आर्थिक राष्ट्रवाद के कारण समचे विश्व का व्यापार विचलित हो गया था।

इसमें सन्देह नहीं कि इंग्लैंड के लिए चावल चाय तम्बाकू और जूट निर्मित वस्तुओं के भारतीय निर्यातों को वस्तुतः ब्रिटिश बाजार में रियायतों से लाभ हुआ। लंकाशायर में भारतीय कपास की खपत ने भी ठोस वृद्धि दिखाई। किन्तु इन जिन्सों से सम्बन्धित अधिकांश लाभ कपटपूर्ण था। चाय और जूट निर्मित वस्तुओं द्वारा उपार्जित लाभ आसाम के अंग्रेज चाय उत्पादकों और कलकत्ता के अंग्रेज जूट उद्योगपतियों को श्रीसम्पन्न करता था। जो लाभ चावल पर होता था वह बर्मी चावल था। इसके अतिरिक्त ये निर्यात ब्रिटिश उद्योगों की सहायता करते थे। इसके विपरीत जिन अंग्रेजी जिन्सों को रियायत दी गई थी उनकी संख्या १६२ थी और उन्हें भारतीय उद्योग के खर्चे पर अधिकांश लाभ होता था।

इस संधि के पक्ष में जो सर्वाधिक कहा जा सकता है और जैसा कि डा० बी० के० मदान ने कहा है वह इतना ही है कि ये संधि शर्तें रूप में महत्त्वपूर्ण थी अर्थात् यही नहीं कि भारत को निश्चयात्मक रूप से लाभ हुआ प्रत्युत यदि भारत संधि न करता तो सम्भवतः उसे हानि उठानी पड़ती।

भारत ब्रिटिश व्यापार संधि (Indo-British Trade Agreement)—ओटावा संधि के विषय में भारतीय लोकमत इतना कटु था कि १९३६ में विधान सभा ने इसका अन्त कर दिया। जो भी हो वाइसराय ने अपने विशेषाधिकारों से इसे पुनः प्रचलित कर दिया। इस प्रकार यह और भी अलोकप्रिय बन गया। यह १९३६ तक प्रचलित रहा और अनन्तर भारत ब्रिटिश व्यापार संधि ने उसका स्थान ले लिया। किन्तु शाही रियायत का सिद्धान्त ज्यों का त्यों बना रहा।

उसके मुख्य उपबन्ध ये थे—(i) भारत ने इंग्लैंड से आयात की जाने वाली २० वस्तुओं पर ७½% से १० प्रतिशत रियायत की स्वीकृति दी थी (ii) इंग्लैंड ने अपनी ओर से कतिपय भारतीय वस्तुओं पर १० से लेकर २०% के अन्दर अन्दर रियायत दी और कुछ अन्य ऐसी वस्तुओं के निःशुल्क प्रवेश की स्वीकृति दी कि जो *यदि साम्राज्य इतर देशों से आती तो उन पर आयात कर देने होते थे* (iii) इंग्लैंड के लिए भारतीय कपास के निर्यातों को सरकने वाले स्तर के आधार पर इंग्लैंड से सूती वस्त्रों के आयातों के साथ सम्बद्ध किया गया था।

इस संधि की भी बहुत कटु आलोचना हुई और विधान सभा की इच्छाओं के विपरीत गवर्नर जनरल के विशेषाधिकारों द्वारा इसे स्वीकृति प्रदान की गयी। जिन भारतीय वस्तुओं को इंग्लैंड में निःशुल्क प्रवेश की स्वीकृति दी गई थी उनमें भारत का एकाधिकार था और इंग्लैंड की आवश्यकता के कच्चे पदार्थ थे। इसके अतिरिक्त जहाँ

तक सम्बन्ध रियायती वस्तुओं का था, उनमें अन्य साम्राज्य देशों के साथ प्रतिद्वंद्विता थी। जो भी हो, इसमें सर्वाधिक आपत्तिजनक उपबन्ध भारतीय कपास और लंकाशायर के सूती वस्त्रों के सम्बन्ध में था। जबकि भारतीय कपास के निर्यात के लिए नियत अंश उससे भी न्यून था जिसे इंग्लैंड पहले से क्रय कर रहा था, वहाँ अंग्रेजी कपड़े का अंश पूर्वत निर्यात किये जाने वाले अंश से कहीं अधिक रखा गया था।

१९३९ में, द्वितीय विश्व-युद्ध छिड़ गया। इसलिए, इस सन्धि के प्रभावों का निर्धारण करना कठिन है।

अब भारत गणतन्त्र है यद्यपि वह अब भी राष्ट्रमंडल का सदस्य है (साम्राज्य का नहीं)। इसलिए, शाही रियायत की इस घृणित प्रणाली का अन्त कर देना चाहिए और उसकी जगह इंग्लैंड तथा अन्य राष्ट्रमण्डलीय देशों तथा ब्रिटिश उपनिवेशों के साथ नयी वार्त्ता आरम्भ करनी चाहिए। ऐसी वार्त्ताओं में, इंग्लैंड के शाही प्रभुत्व के किसी तर्क पर नहीं, प्रत्युत नितान्त आर्थिक दृष्टिकोण से और उन पारम्परिक लाभों के आधार पर ही शाही रियायत को प्रचलित रखने या न रखने का निर्णय होना चाहिए। इस प्रस्तुत विधि से एकाएक सम्बन्ध विच्छेद करना उचित भी नहीं है और आसान भी नहीं है। भारत सरकार का तर्क है कि इंग्लैंड तथा अन्य राष्ट्रमंडलीय देशों के साथ भारत का व्यापार इतना सुव्यवस्थित है कि ऐसा कोई काम करना न तो सहज है और न ही हमारे हित में कि जिसमें उसे धक्का पहुँचे। राष्ट्रमण्डलीय ढाँचे के व्यापार को जारी रखने का एक अन्य कारण यह है कि कनाडा के सिवाय, ये सारे देश स्टर्लिंग क्षेत्र में हैं और इस प्रकार परस्पर सम्बद्ध हैं।

शाही रियायतों या अधिमान के प्रश्न को भारत सरकार ने एक विशेषज्ञ समिति को सौंपा था। इसी की सिफारिशों के आधार पर वित्त मन्त्री ने लोकसभा के मार्च १९५४ के अधिवेशन में यह घोषणा की—'जहाँ तक हमारी आज कल की स्थिति का प्रश्न है शाही रियायतों से हम कोई क्षति नहीं पहुँच रही है। वास्तविकता तो यह है कि इस मौजूदा व्यवस्था से हम लाभ उठा रहे हैं।"

राष्ट्रमण्डलीय देशों के बीच अधिमान के प्रश्न पर राष्ट्रमण्डल के आर्थिक सम्मेलन में जो सितम्बर १९५८ में मॉण्ट्रीयल (कनाडा) में हुआ था, खुलकर विचार-विनिमय हुआ था। इस सम्मेलन में सभी राष्ट्रमण्डलीय देशों और ब्रिटिश उपनिवेशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। भारतीय वित्त मन्त्री ने लोक सभा के समक्ष कहा था: "सम्मेलन ने अधिमानों की वर्त्तमान रीति का बहुमत से समर्थन किया था। अधिकतर प्रतिनिधियों का मत था कि इस रीति (राष्ट्रमण्डलीय अधिमान) को बनाए रखना अच्छा है।" इस सम्मेलन में ब्रिटेन ने स्वीकार किया था कि इस सस्था (शाही या राष्ट्रमण्डलीय अधिमान) में राष्ट्रमण्डलीय देशों की सभी वस्तुओं पर अधिमान दिया जा सकता है।

अध्याय २२

चलमुद्रा और विनिमय

(Currency and Exchange)

प्रश्न १—भारत की वर्तमान मुद्रा प्रणाली का वर्णन और उस पर विचार कीजिए। (गौहाटी १९५३)

अथवा

भारतीय चलमुद्रा व्यवस्था की मुख्य रूपरेखा पर विचार कीजिए। (बनारस १९५४)

Q 1—Explain and discuss the present monetary system of India. (*Gauhati 1953*)

Or

Discuss the main outline of the Indian currency system (*Banaras 1954*)

भारतीय मुद्रा-प्रणाली का स्वरूप बड़ा विचित्र रहा है। हमारे यहाँ रजत मान, स्वर्ण विनिमय मान, स्वर्ण बुलियन मान स्टर्लिंग विनिमय मान था, और वर्तमान में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा निधि (I M F) मान या स्वर्ण तुल्यता मान (Gold Parity Standard) है। जो भी हो, हम इस प्रणाली के इतिहास का अध्ययन नहीं करना, प्रत्युत हम तो विभिन्न विस्तारों सहित इसकी वर्तमान स्थिति पर विचार करना है।

चलमुद्रा (Currency)—भारत में लेखे की इकाई रुपया है। इसलिए, भारतीय चलार्थ रुपया के रूप में व्यक्त किया जाता है। अन्य देशों की भाँति भारतीय मुद्राचलन में ये मुद्राएँ हैं —(क) सिक्के, और (ख) नोट (कागजी मुद्रा)।

सिक्के (Coins)—हमारे यहाँ एक रुपये के सिक्के से लेकर छोटे मूल्य के सिक्के हैं, जिन्हें सहायक सिक्के कहते हैं, जैसे, अठन्नी, चवन्नी, दुअन्नी इकन्नी, अधन्नी और एक पैसे के सिक्के। ये सब प्रतीक मुद्रा (token coins) हैं अर्थात्, उनके यथार्थ मूल्य की अपेक्षा उनका अंकित मूल्य (face value) अधिक है। रुपया और अठन्नी अपरिमित विधिग्राह्य मुद्राएँ हैं, सहायक सिक्के केवल १० रुपये तक परिमित विधिग्राह्य हैं।

भारत में दशमिक मुद्रा चलन (१ अप्रैल १९५७ से लागू किया गया) को अपना लिया गया है। इसे प्रभावी बनाने के लिए १९०६ के भारतीय टकसाल अधिनियम को अगस्त १९५५ में भारतीय संसद् ने संशोधन किया। इसके अनुसार भारतीय रुपया स्टैंडर्ड सिक्का रहेगा, लेकिन इसे १०० भागों में बाँटा गया है। आधा रुपया तथा चौथाई रुपया क्रमशः ५० तथा २५ नए पैसों के बराबर हैं। पुराने छोटे सिक्कों

अर्थात् दुअन्नी, इकन्नी, और अधन्ना के बराबर का कोई सिक्का नए दशमिक सिक्कों में नहीं है, लेकिन चौथाई से कम के १०, ५, २ तथा १ पैसे के सिक्के चलाए गए हैं। पुराने और नये दोनों सिक्के चालू हैं और इन्हें निर्धारित तालिका के अनुसार बदला जाता है। कुछ समय पश्चात् नए सिक्के इन पुराने सिक्कों का स्थान ग्रहण कर लेंगे।

नोट (कागजी मुद्रा) (Currency Notes)—भारत में अधिकांश चलमुद्रा (९० प्रतिशत) नोटों द्वारा संयोजित है। विभिन्न मूल्यों के नोट ये हैं—एक रुपया, दो रुपये, दस रुपये, पाँच रुपये, सौ रुपये। ये सब पूर्ण विधिग्राह्य हैं।

नोट-निर्गम प्रणाली (System of Note-issue)—एक रुपये के नोट के सिवा अन्य सब नोटों को रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया जारी करता है। एक रुपये के नोट भारत सरकार के अर्थ-मन्त्रालय द्वारा निर्गमित होते हैं। नोट जारी करने के लिए रिज़र्व बैंक का एक अलग निर्गम विभाग (Issue Department) है। पहले उनके निर्गम में आनुपातिक संरक्षण प्रणाली (Proportional Reserve System) का अनुसरण किया जाता था। रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम, १९३४ के अनुसार, रिज़र्व बैंक को स्वर्ण सिक्कों, स्वर्ण बुलियन अथवा स्टर्लिंग-प्रतिभूतियों का न्यूनतम ४० प्रतिशत (नोट निर्गम के विरुद्ध) सरक्षित रखना होता है। दूसरे शब्दों में, १०० रु० के मूल्य के नोट निर्गम करने के लिए, रिज़र्व बैंक के पास कम-से-कम ४० रु० मूल्य के स्वर्ण सिक्के, बुलियन अथवा स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ होनी चाहिएँ। भारत के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य होने पर इस अधिनियम में संशोधन किया गया, जिससे स्टर्लिंग के अतिरिक्त विदेशी मुद्राओं को ४० प्रतिशत के संरक्षण में रखा जा सके। नवम्बर १९५७ में जारी किए गए एक अध्यादेश के द्वारा न्यूनतम रिज़र्व २०० करोड़ रु० होना चाहिए, जिसमें ११५ करोड़ रु० का सोना शामिल है। विदेशी विनिमय सम्बन्धी संकट को टालने के उद्देश्य से ही यह रीति अपनाई गई है।

१९५७-५८ के अन्त में १५३६ करोड़ रु० के नोट भारत में प्रचलित थे, जबकि अविभाजित भारत में सितम्बर १९३९ में १८२ करोड़ रु० के नोट प्रचलन में थे।

विनिमय (Exchange)—अब तक हम देश के अन्तर्गत चलमुद्रा प्रणाली की व्याख्या कर रहे थे। अन्य देशों के साथ व्यापारिक आदान-प्रदान के लिए भारतीय रुपये को विदेशी मुद्राओं में बदलना होता है। इस उद्देश्य के लिए, रिज़र्व बैंक ने भारतीय रुपये का विनिमय मूल्य ०.१८६६२१ ग्राम स्वर्ण या २१ सेंट (अमरीकी डालर) का स्थिर किया है। यह विनिमय दर २० सितम्बर, १९४९ से प्रचलित है, जिस दिन भारतीय रुपये का ३०.५ प्रतिशत द्वारा मुद्रा-अवमूल्यन किया गया था।

१ मार्च, १९४७ को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा निधि की स्थापना से पूर्व जिसका भारत आरम्भ काल से ही सदस्य है, भारत का स्टर्लिंग विनिमय मान था, अर्थात् रिज़र्व बैंक रुपये के बाहरी मूल्य को स्टर्लिंग के आधार पर नियत दर से स्थिर रखता था। यह दर १ शि० ६ पैंस थी, रिज़र्व बैंक ने इसे इस प्रकार किया था। वह इस अनुपात पर आधारित दर से किसी भी मात्रा में स्टर्लिंग क्रय और विक्रय करने को तत्पर रहता था। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा निधि की स्थापना के बाद से रिज़र्व बैंक निधि

उन्नति के कारण अवमूल्यन का प्रश्न ही उत्पन्न न हुआ। विनिमय बाजार में रुपये की स्थिति सुदृढ़ हो गई।

(ii) विनिमय नियन्त्रण (Exchange control)—विनिमय-नियन्त्रण प्रचलित करने की एक अन्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण घटना थी। भारत प्रतिरक्षा नियमों के अधीन, रिज़र्व बैंक को विनिमय नियन्त्रण करने का अधिकार दे दिया गया था। प्रस्तुत विनिमय नियन्त्रण मुद्रा, बुलियन, प्रतिभूतियों और विदेशी विनिमय का नियन्त्रण करने के लिए बनाया गया था। इसके उद्देश्य ये थे—(i) देश से पूंजी के निकास को रोकना, (ii) निर्यातों द्वारा प्राप्त विदेशी मुद्रा को युद्ध-काल की अत्यावश्यक वस्तुओं के आयातों के लिए सुरक्षित रखना।

विदेशी विनिमय सम्बन्धी सम्पूर्ण व्यवहार रिज़र्व बैंक या उसके द्वारा नियुक्त अधिकृत व्यापारी की मार्फत होना आवश्यक था। डालर तथा अन्य कठोर मुद्राओं में अनिवार्यत और साथ ही कठोर मुद्राओं के देशों के निर्यातों से संचित विदेशी विनिमय में सन्तुलनों की स्थिरता प्राप्त की जाती थी। उपरान्त, साम्राज्य के डालर संचय (Empire Dollar Pool) में इन्हें जमा कर दिया जाता था, जिसे अधिकांशतः इंग्लैंड, अमरीका से पूर्त्तियाँ उपलब्ध करने के लिए उपयोग में लाता था। यह विनिमय-नियन्त्रण साधारण संशोधनों के साथ युद्धोपरान्त भी जारी रहा और आज हमारी विनिमय प्रणाली का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अंग है।

(iii) मुद्रा के प्रकार में परिवर्तन (Changes in the types of Currency)—युद्ध-काल में रुपये के सिक्कों तथा छोटे सिक्कों के लिए बड़ी भारी माँग बढ़ गई। किन्तु रुपये और अठन्नी के उपयोग में लाई जाने वाली धातु, चाँदी, की कीमत बहुत बढ़ गई थी। इसी प्रकार तांबे और निकल की कीमतें भी बढ़ गई थी। इन धातुओं का सहायक सिक्कों में उपयोग किया जाता था। सर्वप्रथम, सरकार ने रुपए के सिक्कों को देने की तत्परता के साथ रुपयों (नोटों के बदले में) की माँग को पूर्ण किया किन्तु जब बेतहाशा माँग बढ़ने लगी तो उसने घोषणा की कि व्यक्तिगत अथवा व्यापारिक आवश्यकताओं से अधिक सिक्के रखना अपराध है। इसके अतिरिक्त, सरकार ने एक रुपये के नोट २४ जून, १९४० को जारी किए। दो रुपये के नोट भी फरवरी १९४३ को जारी किए गए। रुपये और अठन्नी के चाँदी के अंश को $\frac{११}{१२}$ से घटाकर $\frac{१}{२}$ कर दिया गया। अल्पमूल्य के छोटे नए सिक्के अत्यल्प धात्विक अंश के साथ जारी किए गए। इस प्रकार भारतीय सिक्के अपने वास्तविक मूल्य की दृष्टि से कागजी चलमुद्रा के अधिक सत्सम बन गए। और भारतीय जनता वास्तविक मूल्य रहित सिक्कों की आदी बन गई।

(iv) चलमुद्रा की मात्रा में महान् विस्तार और फलस्वरूप मुद्रास्फीति (Enormous Expansion of the Volume of Currency and the Consequent Inflation)—सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन, जिसकी सामान्य मनुष्य के दैनिक जीवन पर प्रत्यक्ष छाप पड़ी, यह था कि चलमुद्रा और अधिक विशेषतापूर्वक कागजी चलमुद्रा का अपरिमित विस्तार हुआ। १ सितम्बर, १९३९ को भारत में १८२ करोड़ रुपये के मूल्य के मुद्रा-नोट प्रचलित थे। १९ अक्टूबर, १९४५ को यह

व्यापार-सन्तुलन से प्राप्त डालर-प्राप्तियों तथा भारत में अमेरीकी सैनिक-व्यय के फलस्वरूप प्राप्तियाँ भी हुईं। इन सब के बदले स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ प्रदान की गईं।

स्टर्लिंग शेषों का निपटारा (Settlement of Sterling Balances)—भारत अपने आर्थिक विकास के लिए नितान्त आवश्यक पूंजीगत उपकरणों तथा प्रौद्योगिक ज्ञान-लाभ को आयात करना चाहता था। इस उद्देश्य के लिए, यह माँग की गई कि इन शेषों को डालरों में रूपान्तरित कर दिया जाए। फलतः, इनका भुगतान करने के ढंग के सम्बन्ध में समय-समय पर राशि, समय और रूप के विषय में वार्ताएँ होती रहीं।

स्टर्लिंग समझौते (Sterling Agreements)—अगस्त १९४७ में, प्रथमतः ६ मास के लिए, किन्तु बाद में जून १९४८ तक बढ़ा देने से, एक अन्तर्कालीन बन्दोबस्त किया गया। इस १२ मास की अवधि में ८ करोड़ ३० लाख पौंड मुक्त करने स्वीकार किए गए, इनमें से १ करोड़ पौंड अन्य मुद्राओं में रूपान्तरित किए जा सकते थे। जो भी हो, केवल ३० लाख पौंड का ही वस्तुतः उपयोग किया गया और ८ करोड़ पौंड अछूते पड़े रहे।

जून १९४८ में, ३० जून १९५१ तक समाप्त होने वाले तीन वर्षों की अवधि के लिए एक अन्य समझौता किया गया। इसके अनुसार, पूर्व वर्ष के अप्रयुक्त ८ करोड़ पौंडों को १९४९ के लिए उपलब्ध किया जाना था, जबकि १९५० और १९५१ के प्रत्येक वर्ष में नए ४ करोड़ पौंडों का परिवर्तन किया जाना था। १½ करोड़ पौंडों को प्रथम वर्ष में रूपान्तरित करना था। इसके अतिरिक्त, स्टर्लिंग-शेषों का एक अंश इन लेखों में बराबर करना था—(i) युद्ध की समाप्ति पर इंग्लैंड के भारत में छोड़े सब स्टोरों (भण्डारों) तथा अधिष्ठानों को उससे भारत सरकार ले लेगी (१३३ करोड़ रु०), और (ii) भारत से रिटायर ब्रिटिश अफसरों की पेन्शनों का भुगतान करने के लिए भविष्य में कम होने वाली वार्षिक वृत्तियों को इंग्लैंड से भारत सरकार क्रय कर लेगी (२२४ करोड़ रु०)। शेष अप्रयुक्त शेषों पर ०.७५% ब्याज देना स्वीकार किया गया।

१ जुलाई, १९५१ को इस समझौते की समाप्ति पर एक अन्य समझौता २० जुलाई, १९५३ को किया गया। इसके महत्त्वपूर्ण अंग ये थे—(i) ३१०० लाख पौंड की राशि नं० २ (अवरुद्ध) खाते से नं० १ (मुक्त) खाते को परावर्तन की जानी थी। यह राशि रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के पास चलमुद्रा अभिरक्षण (Currency reserve) के रूप में रहेगी और इसे अत्यावश्यकता के सिवा और साथ ही इंग्लैंड के साथ पूर्व-परामर्श के बिना नहीं निकाला जा सकेगा। (ii) ३५० लाख पौंड तक प्रतिवर्ष (१ जुलाई से ३० जून तक) मुक्त किए जाएँगे। (iii) जो राशि किसी वर्ष में नहीं निकाली जाएगी, उसे आगे ले जाया जाएगा और आगामी अवधि में मुक्त होने वाली राशि में जोड़ दिया जाएगा। (iv) यदि आवश्यक हो, तो वर्ष में मुक्त होने वाली राशि से अधिक ५० लाख पौंड या कम की राशि को प्रति वर्ष निकाला जा सकता है; किन्तु यदि आधिक्य ५० लाख पौंड से अधिक का हो, तो पारस्परिक परामर्श से ही मुक्ति हो सकती है। (v) १ जुलाई, १९५७ को यदि कोई शेष (५

संस्था १ मार्च, १९४७ को स्थापित हुई थी। हम इसकी मुख्य विशेषताओं पर विचार करेंगे और देखेंगे कि भारत ने उसकी सदस्यता से किस प्रकार लाभ उठाया।

प्रश्न ४—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए और बतलाइए कि भारत के लिए उसकी सदस्यता कहाँ तक लाभदायक अथवा अलाभकर रही है ? (पंजाब १९५२)

Q 4—Give the chief features of the I M. F and say how far its membership has been beneficial or otherwise to India. (*Panjab 1952*)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष उन दो संस्थाओं में से एक है, जो १९४४ में ब्रैटनवुड्स (अमरीका) में संयुक्त राष्ट्रों (United Nations) के मुद्रा तथा अर्थसम्बन्धी प्रतिनिधिमंडल में विचार-विनिमय के फलस्वरूप स्थापित की गई थीं। प्रथम मार्च १९४७ को इसकी स्थापना, अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों के इतिहास में, विशेषत. मुद्रा क्षेत्र में, एक अभूतपूर्व घटना है।

लक्ष्य और हेतु (Objects and Purposes)—इसके लक्ष्य ये हैं : (i) अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की उन्नति; (ii) विनिमय दृढ़ता की उन्नति एवं मुद्रा-अवमूल्यन का परित्याग; (iii) भुगतान-विषयक बहुरूपी प्रणालियों की स्थापना अर्थात् विभिन्न विनिमय प्रतिबन्धों तथा विनिमय-विभेदों का उन्मूलन करना; (iv) सुदृढ़ और बहुरूपी रूपान्तर-योग्य विनिमय द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विस्तार; और (v) सदस्य-देशों को शोधन शेष के विषय में उनकी अस्थायी कठिनाइयों के काल में सहायता करना।

निधि, सदस्यता और प्रबन्ध (Funds, Membership and Management)— इसकी निधि सदस्यों के अंशदान से बनती है। प्रत्येक सदस्य के अपने अंशदान नियत हैं। १९५८ को इसके ६८ सदस्य थे तथा कुल अभिदत्त पूंजी ९·२ महापद्म डालर थी। अमरीका का सबसे बड़ा नियत अंश (२७,५०० लाख डालर) है; भारत का नियत अंश, जो पाँचवाँ महान् अंश है, ४००० लाख डालर है। नियत अंश का २५ प्रतिशत या सदस्य देश की सरकारी स्वर्ण सम्पत्तियों का १० प्रतिशत, दोनों में जो भी कम हो, स्वर्ण में भुगतान किया जा सकता है। नियत अंश का शेष सदस्य की राष्ट्रीय मुद्रा के रूप में दिया जाता है।

निधि का प्रबन्ध संचालक प्रबन्धक मंडल (Executive Board of Directors) करता है, जिसके १२ सदस्य हैं। इनमें ५ सदस्य सर्वाधिक नियत अंशों के प्रतिनिधियों के हैं (अमरीका, इंगलैण्ड, चीन, फ्रांस और भारत) शेष सात सदस्यों की पूर्ति निर्वाचन द्वारा की जाती है।

मुख्य कृत्य (Main Functions)—(i) निधि में सम्मिलित होने पर प्रत्येक सदस्य-देश को स्वर्ण या अमरीकी डालर की तुलना में अपनी चलमुद्रा के सम-मूल्य की घोषणा करनी होती है और उसे इस तुल्यता को स्थिर रखना होता है। जो भी हो वह निधि की आज्ञा बिना उसमें १०% तक का परिवर्तन भी कर सकता है। एक अन्य १०% का परिवर्तन निधि की सहमति से (जो ७२ घण्टे की अवधि में स्वीकृति अथवा अस्वीकृति का उत्तर देने के लिए बाध्य है) किया जा सकता है।

२०% से अधिक के भी परिवर्त्तन किए जा सकते हैं किन्तु निधि के साथ विचार-विनिमय से ही और वह भी केवल आधारमूलक वित्तीय असन्तुलन को ठीक करने के हेतु से। वित्तीय सन्तुलन प्राप्त करने के लिए सदस्य देशों की आन्तरिक नीतियों में निधि हस्तक्षेप नहीं करेगी।

(ii) जब किसी देश को चालू खाते से सम्बन्धित शोधन शेषों का कष्ट हो तो वह अपनी निजी चलमुद्रा के विनिमय में उस चलमुद्रा को निधि से प्राप्त कर सकता है जिसकी उसे अपने घाटे का भुगतान करने के लिए आवश्यकता है। जो भी हो, जो राशि वह प्राप्त कर सकता है, उसके लिए एक सीमा भी नियत की गई है, अर्थात्, अपने नियत अंश के २५ प्रतिशत किन्तु वह उस देश के नियत अंश के १२५ प्रतिशत से अधिक नहीं होना चाहिए। निःसदेह इन शर्तों में निधि की इच्छानुसार फेर-बदल भी हो सकता है। उदाहरण के लिए १९५४ में बोलिबिया पीरू तथा मैक्सिको को अपने कोटे के अनुसार २५ प्रतिशत से अधिक की आज्ञा दे दी गई थी।

(iii) जिन मुद्राओं की सदस्य देशों द्वारा अधिक माँग होगी और निधि जिनकी सब माँग को पूरा भी नहीं कर सकेगी, उन्हें अभावपूर्ण मुद्रा घोषित कर दिया जाएगा। निधि इस प्रकार की 'अभावपूर्ण' मुद्राओं को ऋण अथवा स्वर्ण के बदले क्रय करके उनकी पूर्ति में वृद्धि भी कर सकती है। सदस्य-देशों को इस प्रकार की अभावपूर्ण' मुद्राओं की दशा में विनिमय-प्रतिबन्ध लगाने की भी छूट है।

(iv) निधि को यह देखना होता है कि सदस्य देश चालू आदान प्रदान पर विनिमय प्रतिबन्ध न लगाएँ। युद्ध के बाद विद्यमान असाधारण अव्यवस्थाओं को दृष्टि में रखते हुए निधि ने ३ वर्ष तक के सक्रमण काल की स्वीकृति दी थी कि जिसमें सदस्य इस तरह के प्रतिबन्धों को स्थगित रख सकेंगे। अवधि समाप्त हो चुकी है और अनेक देशों ने अपने विनिमय प्रतिबन्धों में शिथिलता कर दी है। जो भी हो, उन्हें पूर्णतया हटा देने की निकट भविष्य में कोई आशा नहीं है।

निधि प्रणाली का मूल्यांकन (An Estimate of the Fund System)—इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा निधि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सहयोग में अग्रगामी चरण का प्रतीक है। इसने विनिमयों की सुदृढ़ता को प्रचलित किया है जो स्वर्ण मान का मुख्य गुण था। इस पर भी, इसमें स्वर्ण मान के पुरातन दोष नहीं हैं, जैसे, नियत विनिमय और प्रतिकूल शोधन शेषों के अधीन विस्फीति। मुद्रा निधि प्रणाली के अधीन, यद्यपि सामान्यतया सुदृढ़ विनिमयों को रखना होता है, तथापि, यदि आवश्यक हो, तो विनिमय दर में परिवर्त्तन भी किया जा सकता है। इस प्रकार यह प्रणाली नियत और सुदृढ़ विनिमयों के बीच सुनहला मध्य मार्ग है। इस प्रणाली का अन्य मुख्य गुण इस बात में है कि इस प्रणाली के अधीन, जब शोधन शेषों में अस्थायी घाटा हो, तो विस्फीति की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि मुद्रा निधि आवश्यक मुद्राओं को उपलब्ध कर देती है और इस प्रकार उस देश के शोधन शेष में साम्य लाने में सहायक होती है।

मुद्रानिधि के दुर्भाग्य से, यह ऐसे समय शुरू हुआ जब दुनिया के अधिकांश

देश डालर-विषयक घोर न्यूनता और शोधन शेषो सम्बन्धी भारी कठिनाई का अनुभव कर रहे थे। चूंकि मुद्रानिधि के पास डालर-कोष सीमित है, इसलिए वह यथेष्ट सहायता नही दे सका है। इसी प्रकार, असाधारण अवस्थाओ के कारण, अधिकाश सदस्यो के लिए अभी विनिमय प्रतिबन्धो तथा नियन्त्रणो का उन्मूलन करना सम्भव नही हुआ। लेकिन इन गम्भीर सीमाओ के बीच, इसने काफी सफलता प्राप्त की है, विशेष रूप से विनिमय दर के स्थायित्व मे।

भारत और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (India and I. M. F.)—जब ब्रैटन-वुड्स योजना प्रकाशित हुई, तो इस बात पर गरमागरम बहस हुई कि भारत को निधि मे शामिल होना चाहिए या नही। भारत को उस सम्बन्ध मे कुछ शिकायतें थी। उसे आकार और विश्व-व्यापार में महत्त्व की दृष्टि से जितना उचित था, उसकी अपेक्षा कम नियताश दिया गया था। उसे सचालक प्रबन्धक मडल मे स्थायी स्थान भी नही मिला था, क्योकि उसे छठा उच्चतम नियताश प्रदान किया गया था, जबकि स्थायी पद केवल ५ ही थे। उसके स्टर्लिंग शेषो की बहुरूपी रूपान्तरता को भी स्वीकार नही किया गया था। तिस पर भी, उसने शामिल होने का निश्चय किया। किन्तु अब वे शिकायतें दूर हो गई हैं।

अब भूतकाल को देखते हुए, इसमे कतई कोई सदेह नहीं कि यह सदस्यता भारत के लिए लाभदायक रही है।

(१) यह हर्ष का विषय है कि भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली का समाधान करने मे सहयोग का हाथ बटाया है। मुद्रा के क्षेत्र मे इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय नियमन ने निश्चय ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार और फलस्वरूप समृद्धि की दिशा में योगदान किया है।

(२) न केवल परोक्ष रूप मे प्रत्युत प्रत्यक्ष रूप में भी, उसकी सदस्यता महान् लाभकारी हुई है। हमें ज्ञात है कि विभाजन के उपरान्त भारत के भुगतान-सन्तुलन या शोधन शेष में कितना तीव्र घाटा था, विशेषत: डालर तथा अन्य कठोर मुद्रा के देशो की दिशा मे। वह अपने आयातो मे न्यूनता नही कर सकता था, क्योकि इन आयातो मे अत्यावश्यक खाद्य-सामग्री, पूंजी उपकरणो और औद्योगिक कच्चे पदार्थों का समावेश था। इसके विपरीत, उसके निर्यातो मे ठोस विस्तार नहीं हो सकता था, क्योकि देश मे सीमित उत्पादन की अवस्थाओ के अधीन, वृद्धिपूर्ण निर्यातो से निश्चित रूप मे तीव्र आन्तरिक न्यूनता उत्पन्न हो जाती। इस प्रकार की कठिन परिस्थितियो में कोष ने ही उसकी सहायता की।

(३) भारत को निधि की सदस्यता से और लाभ भी हुआ है। भारत को अपनी विभिन्न नदी-घाटी योजनाओ, भूमि-सुधार की योजनाओ और सचार के विकास के लिए वृहद् विदेशी पूंजी की आवश्यकता थी। इस आवश्यक पूंजी को प्राप्त करने की एकमात्र क्रियात्मक विधि यह थी कि अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से पुनर्निर्माण और विकास के लिए ऋण लिया जाए। निधि की सदस्यता के लिए आवश्यक पूर्व शर्त यह थी कि अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का भी सदस्य बनना होगा। इस प्रकार, भारत की निधि की

सदस्यता के कारण उसे बैंक की सदस्यता का अधिकार हो गया। इस बैंक से अपनी अत्यावश्यक विकास योजनाओं के लिए भारत सितम्बर १९५८ तक २४१ ४७ करोड रुपए ले चुका है।

(४) भारत की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए हमारी सरकार ने निधि के विशेषज्ञों की सेवाएँ भी ली हैं। उदाहरण के लिए मुद्रा निधि का एक दल १९५२ में भारत आया और अपनी रिपोर्ट उसने १९५३ के आरम्भ में पेश की।

(५) चूँकि रूस ने निधि से बाहर रहने का निश्चय किया था इसलिए भारत का पाँचवाँ महान् नियताश है और इसीलिए उसे निधि के सचालक प्रबन्धक मंडल में स्थायी स्थान दिया गया है।

भारत ने विश्व व्यापार और अर्थ प्रबन्ध के क्षेत्र में जो अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है, वह इस बात का प्रमाण है कि उसके हितों को क्षति नहीं पहुँचेगी। इससे अधिक, वह अपेक्षतया समृद्ध राष्ट्रों से उपलब्ध कि ही भी सुविधाओं को प्राप्त कर सकता है। पुनश्च अपने निजी लाभ के अलावा, वह अपनी सदस्यता से अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता और एकता में अंशदान कर रहा है।

प्रश्न ५—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और पुनर्निर्माण और विकास के अन्तर्राष्ट्रीय बैंक द्वारा भारत को प्रदान की गई सहायता का रूप और सीमा क्या है ?

(बम्बई ५३, कलकत्ता आनर्स १९५३)

Q 5—What is the nature and extent of assistance provided by the International Monetary Fund and the International Bank for Reconstruction and Development to India ?

(Bombay 1953 Calcutta Hons 1953)

सहायता का स्वरूप (Nature of Assistance)—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा निधि (I M F) और पुनर्निर्माण तथा विकासार्थ अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (I B R D) दो जुड़वाँ अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ हैं, जिनकी युद्ध के बाद मुद्रा तथा अर्थ प्रबन्ध सम्बन्धी मामलों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सहायता के लिए स्थापना की गई थी। भारत को इन संस्थाओं के द्वारा प्रदान की गई सहायता का परीक्षण करने से पूर्व हम उस सहायता के रूप पर विचार कर लेना चाहिए जो इन संगठनों द्वारा सामान्यत प्रदान की जाती है।

पहले हम अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा निधि पर विचार करेंगे। हम देखते हैं कि उसके लक्ष्यों में एक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य है उन सदस्य देशों की सहायता करना जो कि अपने चालू भुगतान शेषों में अस्थायी घाटे का अनुभव कर रहे हों। ऐसा वह सम्बन्धित देश को उस या उन विदेशी मुद्राओं को उपलब्ध करने के द्वारा करता है जिनमें उस देश को अपनी निजी मुद्रा के लिए विनिमय में घाटा हो। इस प्रकार, वह देश अपने अस्थायी असाम्य को पार करने योग्य बन जाता है। इस प्रकार की सहायता के अभाव में, उस देश को भारी आयातों के लिए, जो एक अन्य देश से अत्यावश्यक हो सकती है, बड़ी भारी कठिनाई होगी, क्योंकि उसके पास उस विदेशी मुद्रा की अदायगी के लिए अपने निजी आवश्यक विदेशी विनिमय के उपार्जन नहीं होंगे। उसे

या तो इस प्रकार के अत्यावश्यक आयातों के बिना ही रह जाना होगा अथवा अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करना होगा अथवा इसे भी छोड़कर विस्फीति करनी होगी। इन सब उपायों का न केवल उसी अकेले देश की अर्थ-व्यवस्था पर हानिपूर्ण प्रभाव होगा प्रत्युत समग्र रूप मे विश्व-व्यापार पर भी। निधि द्वारा विनिमय-सुविधा की व्यवस्था से, कठिनाई मे पड़े देश इन अनुचित मार्गों की उपेक्षा करने योग्य बनते हैं और इस भाँति उस देश को अपनी अर्थ व्यवस्था व्यवस्थित करने का अवसर मिल जाता है। अन्य शब्दों से, निधि जैसे संगठन के अभाव मे, कठिनाइयो और दबावों से पार निकलने की शक्ति रखने वाले प्रभावित देश भी घोर उपायों का अवलम्ब ले लेते, और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय साम्य को अशान्त कर देते, विनिमय दरों में उतार-चढ़ाव करते और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा को अल्पल्प कर देते।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा निधि की भारत को सहायता (I. M. F's Assistance to India)—हम पता है कि विभाजन, सुदृढ मुद्रास्फीति की शक्तियों, खाद्य-सामग्री, पूँजीगत वस्तुओ और प्रधान औद्योगिक कच्चे पदार्थों (कपास और जूट) के लिए अनिवार्य एव अत्यावश्यक दरकारो ने भारत के व्यापार-सन्तुलन को किस प्रकार विपरीत कर दिया था। भारत ने मार्च १६४८ से लेकर मार्च, १६४६ के वर्ष में अपने रुपए के विनिमय से कोष से ६२० लाख डालरो का क्रय किया। यह वस्तुतः बड़ी भारी सहायता थी।

चूँकि किसी भी सदस्य को निधि द्वारा प्रदान की जा सकने वाली सहायता का उपाय उस सदस्य के अंशदान-विषयक नियतांश के साथ सम्बद्ध है, और भारत का नियतांश उसकी जनसख्या और विश्व-व्यापार में उसके स्थान की दृष्टि से ४००० लाख डालर का अत्यल्प है, इसलिए, जिस सीमा तक भारत निधि से डालरों का क्रय कर सकता था, वह सीमा अप्रैल, १६४६ मे पूर्ण हो चुकी थी। इसके बाद भी निधि से सहायता लेने की आवश्यकता नही हुई। शोधन शेष की अनुकूल स्थिति होने के कारण १६४८-४६ में लिया गया ऋण वापस किया जा सका। जनवरी १६५७ मे भारत ने विदेशी विनिमय की कमी को पूरा करने के उद्देश्य से १२७५ लाख डालर के एक और ऋण के लिए निधि से प्रार्थना की। १६५७ मे भारत ने २,००० लाख डालर की स्थायी साख का उपभोग किया। १६४७ के बाद से दिसम्बर १६५८ तक भारत ने ३,००० लाख डालर के ऋण निधि से प्राप्त किए थे।

निधि ने भारत को एक अन्य रूप से भी सहायता प्रदान की है। निधि के कुछेक शिष्टमण्डल देश में पधारे और उन्होंने देश की अर्थ-व्यवस्था का परीक्षण किया और उसकी आर्थिक तथा राजकोषीय नीतियों की जाँच की और साथ ही साथ उसकी विकास-योजनाओं की भी परीक्षा की। इस प्रकार निधि ने विशेषज्ञों का परामर्श तथा बहुमूल्य निर्देशन प्रदान किया।

पुनर्निर्माण तथा विकासार्थ अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (I. B. R. D)—पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक या विश्व-बैंक का कृत्य है कि वह अविकसित देशों को प्राकृतिक साधनों के विकास के लिए आवश्यक दीर्घकालीन पूँजी या तो प्रत्यक्षतः अथवा प्रतिभूतियों द्वारा प्रदान करे। भारत के विश्वास दिलाने पर भी, निजी विदेशी पूँजी देश

में न आ सकी, जबकि उसकी महान् एवं अत्यधिक आवश्यकता थी। फलत, उक्त बैंक को समय समय पर आवेदन किया गया जिसने योजनाओं की पूर्ण जाँच के बाद कुछ ऋणों की स्वीकृति दी है। उनके विषय में विस्तृत विवरण इस प्रकार है—

विश्व बैंक ने भारत को कई ऋण स्वीकृत किए हैं। उनमें से एक ऋण ३२८ लाख डालर का था जो रेल के इंजिनों को खरीदने के लिए दिया गया था। एक दूसरा ऋण ७५ लाख डालर का था जो भूमि सुधारन और ट्रैक्टर खरीदने के लिए दिया गया था। तीसरा एक ऋण १८५ लाख डालर का था जो दामोदर घाटी योजना को पूरा करने के लिए दिया गया था। दिसम्बर १९५२ म इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी लि० के लिए ३१५ लाख डालरों का एक ऋण स्वीकार किया गया था। यह सर्वप्रथम ऋण है कि जो बैंक ने भारत में एक निजी फर्म को प्रदान किया है। यह भारत सरकार की गारन्टी पर मंजूर किया गया है। इस पर ४¾% का ब्याज लिया जाता है और १५ वर्ष की अवधि में मूलधन और ब्याज की छमाही समान किस्तों में अदा किया जाएगा। इसका लक्ष्य स्कर्ना वन कम्पनी द्वारा इस्पात के उत्पादन को विस्तार देना है। मार्च १९५३ के अन्त में दामोदर घाटी योजना के अधिक विकास के लिए १९५ लाख डालरों का एक अन्य ऋण स्वीकार किया गया था (इससे योजना के लिए कुल ऋण ३८० लाख डालर हो जाता है।) १९५४ ५५ में बैंक ने भारत को दो ऋण मंजूर किए। बम्बई में विद्युत क्षमता की वृद्धि के लिए १६२ लाख डालर तथा नव स्थापित औद्योगिक साख तथा विनियोजन निगम के लिए या १ करोड डालर। हाल ही में टाटा की ट्राम्बे बिजली उत्पादन योजना के लिए, टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी के विस्तार के लिए, कलकत्ता और मद्रास के पत्तनों के सुधार और विस्तार के लिए एयर इण्डिया इंटरनेशनल कार्पोरेशन के लिए वायुयानों के क्रय के लिए इस बैंक ने ऋण प्रदान किए हैं। जुलाई १९५९ में ५ करोड डालर का एक अन्य ऋण भारतीय रेलों को प्राप्त हुआ है। सितम्बर १९५८ तक भारत विश्व बैंक (I B R D) से २४१ ४७ करोड रु० के ऋण ले चुका था। जुलाई १९५९ में बैंक ने पुन एक ऋण १ करोड डालर का औद्योगिक साख तथा विनियोजन निगम (Industrial Credit and Investment Corporation of India) को दिया।

विश्व बैंक से सहायता की सम्बन्धित कुछ विषयों की आलोचना भी की जाती है। प्रथमत, ब्याज की जो दर ली जाती है, वह अत्युच्च है। द्वितीयत, वह सिन्धु घाटी में नदी-योजनाओं के लिए ऋण देने में सकोचशील है और सहायता के लिए पूर्व शर्त के रूप में इस बात पर बल देता है कि हम नहरी पानी के झगडे का पाकिस्तान के साथ निपटारा करें। निःसंदेह, सामान्य रूप की सर्वाधिक कडी आलोचना यह है कि निधि अब तक अविकसित सदस्य देशों में उनके संविधान द्वारा प्रतिभूत उपबन्धों (Provisions) द्वारा निजी विदेशी पूँजी (साम्य पूँजी) को तत्परतापूर्वक गतिशील करने में असफल रहा है। (प्रतिभूत उपबन्ध ये हैं कि सीधे ऋण देने के बजाय, वह विदेशी विनियोजन की गारन्टी करे और इस प्रकार अविकसित देशों में उन्नत देशों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विनियोजना को जारी करने को प्रोत्साहन प्रदान करे।) भारत के लिए

समन्याय पूंजी (गैर-सरकारी विदेश विनियोग) सरकारी संस्थाओं से निश्चित दर पर ऋण लेने की अपेक्षा ज्यादा लाभदायक बैठती है।

सितम्बर १९४९ में भारतीय रुपये का अवमूल्यन
(Devaluation of the Indian Rupee in Sept. 1949)

प्रश्न ६—सितम्बर १९४९ में किन परिस्थितियों के कारण भारतीय रुपये का अवमूल्यन हुआ ? (कलकत्ता, बम्बई १९५२ ; गौहाटी, पटना १९५३)
इसके विभिन्न परिणामों की व्याख्या कीजिए।

Q 6—What circumstances led to the devaluation of the Indian rupee in September, 1949 ?
(Calcutta, Bombay, 1952 ; Gauhati, Patna ; 1953)
Assess its various results

जिन परिस्थितियों के कारण मुद्रा अवमूल्यन हुआ (Circumstances leading to Devaluation)—भारतीय विनिमय के हाल ही के इतिहास मे, सितम्बर १९४९ मे भारतीय रुपए का अवमूल्यन एक महान् घटना है। हम उन परिस्थितियों का पूर्वतः उल्लेख कर चुके हैं (विदेश व्यापार के अध्याय मे) कि जिनके अधीन भारतीय रुपये का अवमूल्यन करना पडा। यह कदम इग्लैंड तथा स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्य देशों के (पाकिस्तान के सिवा) अपनी चलमुद्राओं का अवमूल्यन करने के निर्णय के फलस्वरूप उठाना पडा।

भारतीय रुपये का भी पौंड-पावने की समान सीमा तक अवमूल्यन किया गया। फलस्वरूप, विद्यमान स्टर्लिंग रुपये की दर १ रु०=१ शिलिंग ६ पैंस ज्यों की त्यों बनी रही। इस मुद्रा अवमूल्यन से भारतीय रुपया, जो पूर्वत ३० २२५ अमरीकी सैण्टों का क्रय करता था, अब २१ सैण्टों के समान हो गया। भारतीय रुपये की स्वर्ण तुल्यता शुद्ध स्वर्ण के ० २६८६०१ ग्राम से कम होकर ० १८६६१ ग्राम हो गई।

यदि इंग्लैंड और स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्तर्गत और बाहर के इतने देश मुद्रा-अवमूल्यन न करते तो भारत ने अवमूल्यन न किया होता। (इस विषय के स्पष्टीकरण के लिए पूर्व अध्याय के प्रश्न ७ को देखिए)। फलस्वरूप, भारत का मुद्रा-अवमूल्यन केवल प्रतिरक्षात्मक उपाय था।

मुद्रा अवमूल्यन के परिणाम (Consequences of Devaluation)—भारतीय रुपये का इस प्रकार का ठोस अवमूल्यन अनेक एवं महान् परिणामों के बिना नहीं हो सकता था। उनका हम कुछ विस्तार के साथ परीक्षण करेंगे।

(क) भारत के विदेशी व्यापार और शोधन शेषों पर प्रभाव (Effects on India's Foreign Trade and Balance of Payments)—भारत के विदेशी व्यापार पर मुद्रा-अवमूल्यन के प्रभावों के विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय २१ के प्रश्न ७ के उत्तर को देखिए।)

मुद्रा-अवमूल्यन के कारण निर्यातों के विस्तार तथा आयातों के सकुचन के फलस्वरूप भारत के शोधन शेषों में ठोस उन्नति हुई। यहाँ यह उल्लेखनीय होगा कि इस अनुकूल स्थिति का सारा श्रेय मुद्रा-अवमूल्यन को ही नहीं दिया जाना चाहिए। जबकि

जून १९५० तक की उन्नति मुख्यत मुद्रा अवमूल्यन के कारण हुई थी, किन्तु तदनन्तर उन्नति का श्रेय अधिकाशत: कोरियाई युद्ध तथा अमरीका और योरोपीय देशो के पुन शस्त्रीकरण के कार्यक्रमो को देना होगा।

(ख) आन्तरिक कीमत-स्तर पर प्रभाव (Effects on Internal Price Level)—इस बात का स्वभावत: भय था कि मुद्रावमूल्यन के कारण देश के पूर्वतन स्फीतिपूर्ण कीमत स्तर मे अधिक उन्नति हो जाएगी। इस कारण भारत सरकार के अर्थमन्त्री ने अष्टमुखी कार्यक्रम बनाया और ५ अक्तूबर, १९४९ को घोषणा की इसका उद्देश्य "कीमत विषयक रेखा को स्थिर रखना" अर्थात् कीमत को उन्नत न होने देना और विदेशी विनिमय मे देश के साधनो को सरक्षित रखना था। सरकार ने इस कार्यक्रम के अधीन कीमतो मे उन्नति को रोकने के लिए जो उपाय किए थे उनम से कुछ य है—खाद्यान्नो, वस्त्र और सूत, कच्चे लोहे, इस्पात और कोयले की कीमतो मे न्यूनता, जूट वस्तुओ, कपास, तिलहनो, वनस्पति, तम्बाकू, काली मिर्च आदि पर निर्यात कर लगाए गए, जिससे तीव्र विदेशी मांग के फलस्वरूप उनकी आन्तरिक कीमतो म उन्नति न हो, सट्टे को रोकने के लिए अनेक जिन्सो के अग्र व्यापार की भी मनाही कर दी गई थी। यदि सट्टे को न रोका जाता तो उसके फलस्वरूप भी कीमतो में उन्नति हो जाती। फिर भी इन उपायो के बावजूद सरकार को कीमतें स्थिर रखने मे आशिक सफलता ही मिली।

(ग) औद्योगिक उत्पादन पर प्रभाव (Effects on Industrial Production)—मुद्रावमूल्यन ने घोर कठिनाइयां उत्पन्न कर दी, विशेषत, देश के दो मुख्य उद्योगो—जूट और सूती वस्त्र के उद्योगो में य कठिनाइयां विशेष प्रबल थी। पाकिस्तान की कच्ची जूट और कपास की पूर्तियां व्यापार-गतिरोध के कारण केवल नाममात्र की रह गई थी। फलस्वरूप, जूट उद्योगो को अपने उत्पादन म कमी करनी पडी थी। अन्य देशो से कपास की पूर्तियां अत्यधिक मंहगी थी और पर्याप्त भी नही थी, जिससे अनेक सूती वस्त्र की मिलें या तो बन्द कर दी गई अथवा उनम पारियां (shifts) कम कर दी गयी।

(घ) स्टर्लिंग शेषों पर प्रभाव (Effects on Sterling Balances)—पौंड, पावने में ३०.५ प्रतिशत के अवमूल्यन का अर्थ यह था कि भारत के स्टर्लिंग सन्तुलनो के स्वर्ण-मूल्य मे भी समान प्रतिशत की हानि होगी। इस प्रकार स्टर्लिंग सन्तुलनो का वह भाग, जिसका उपयोग अमरीका से वस्तुएँ क्रय करने म किया जाना था, ऐसी वस्तुओ का केवल दो-तिहाई अश ही क्रय कर सकता था।

निष्कर्ष—उपर्युक्त परिणामो से यह स्पष्ट है कि यद्यपि अनुकूल व्यापार-सन्तुलन की प्राप्ति के तात्कालिक लक्ष्य मे सफलता हो गई, तथापि जो लाभ कमाए गए वह इगलैण्ड तथा अन्य देशो के मुकाबले मे, जिन्होने मुद्रावमूल्यन किया था, न तो उतने महान् थे और न ही उतने चिर-स्थायी थे। मुद्रावमूल्यन, अपने आप में केवल अस्थायी उपचार है किन्तु इसका महत्त्व उस अस्थायी कष्ट निवारण म नहीं है जो वह प्रदान करता है, प्रत्युत यह एक सुनहला अवसर प्रदान करता है, जिसमे उत्पादन और कीमतो म ऐसे समन्वय किए जाएँ, जो स्थायी लाभो की प्राप्ति करा

सकें। जब हम इस कसौटी द्वारा भारत में मुद्रावमूल्यन की जाँच करते हैं, तो हमें मालूम होता है कि यह पूर्ण सफलता नहीं थी।

प्रश्न ७—भारत में हाल ही के वर्षों में जो विदेशी विनिमय के सम्बन्ध में संकटपूर्ण स्थिति पैदा हो गई थी, उस पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

Q 7—Discuss the recent foreign exchange crisis in India.

हाल के वर्षों का विदेशी विनिमय सम्बन्धी सकट (Recent Foreign Exchange Crisis)—देश में विदेशी विनिमय की कमी के कारण परेशानी महसूस की जा रही है। १९५७ में जनवरी से लेकर मई तक के मास में १४३ करोड़ रु० के विदेशी विनिमय की कमी थी। ज्यों-ज्यों भारत का व्यापार सन्तुलन घाटे की दिशा में बढ़ता रहा वह लगभग ५०% बढ़ गया अर्थात् २ अरब रु० की विदेशी सचित निधि घट कर जुलाई १९५७ में ५० करोड़ रु० रह गई। देश से निरन्तर निधि बाहर जा रही थी और सोना जो चोरी से बाहर से देश के अन्दर आ रहा था उसके लिए भी भुगतान करना पड़ ही रहा था। भारत की विदेशी सचित निधि पर इतना दबाव पड़ रहा था कि सारी निधि उस दर से अगले १२ महीनों में प्रायः समाप्त हो जाती।

देश के घाटे के व्यापार सन्तुलन और समाप्तप्राय विदेशी सचित निधि की स्थिति ने भारत सरकार को मजबूर कर दिया कि वह ७२५ लाख डालर उधार ले और यदि आवश्यकता आ पड़े तो उससे स्थिति को सम्भाला जाए। विदेशी दायित्वों की स्थिति में सुधार लाने के अभिप्राय से अनावश्यक आयातों को बिलकुल कम कर दिया गया। विभिन्न मन्त्रालयों के प्रोग्रामों को काट कर विदेशी विनिमय की माग को कम कर दिया गया। कुछ हालतों में बाद में भुगतान करने की विधि को अपना कर भी विदेशी विनिमय की स्थिति को सम्भाला गया। किन्तु यह इलाज नहीं था; यह तो मुसीबत को कुछ समय के लिए टालना मात्र था।

अगस्त १९५७ में भारतीय वाणिज्य मन्त्री ने लोक सभा को बताया था कि भारत सरकार ने विदेशी विनिमय की कमी को पूरा करने के लिए निम्नलिखित उपाय किए हैं—

(१) विभिन्न उद्योगों के लिए निर्यात परिषदों की स्थापना।

(२) उद्योगों के ऊपर से अनावश्यक आयात कर हटाना और उत्पादन करों पर छूट।

(३) कच्चे माल की पूर्ति पर सहायता, अर्थात् निर्यात किए गए माल में लगे लोहे और इस्पात की पुनः पूर्ति।

(४) वस्तुओं का एक विशेष क्वालिटी और प्रमाप के आधार पर उत्पादन करना। भारतीय प्रमाप संस्था द्वारा स्वीकृत वस्तुओं को तदर्थ सर्टीफिकेट प्रदान करना।

(५) व्यापारिक या श्रमिक विवादों को तय करने के लिए व्यापारिक मध्यस्थ निर्णय की प्रथा को प्रोत्साहित करना।

(६) रेना के द्वारा निर्यात की जाने वाली वस्तुओं को प्राथमिकता और इसी प्रकार निर्यात वस्तुओं को जहाजों में भी शीघ्र स्थान दिलाना।

(७) निर्यात बीमा निगम के द्वारा निर्यात वस्तुओं पर जोखिम उठाने की व्यवस्था।

(८) राज्य व्यापार निगमों की स्थापना।

(९) अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शिनियों में भाग लेकर और संसार के बड़े बड़े व्यापार केन्द्रों में अपने गोदाम और प्रदर्शन कोष्ठ स्थापित करना और इस प्रकार देश के निर्यातों को प्रोत्साहित करना।

(१०) विदेशों से व्यापारिक करार करके सन्तुलित व्यापार की स्थिति प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्न।

(११) विदेशी निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन देने के लिए निर्यात उन्नायक समिति की स्थापना, जो भारत सरकार को निर्यातों को प्रोत्साहन देने सम्बन्धी ठोस सुझाव प्रस्तुत करेगी।

(१२) वाणिज्य मन्त्रालय में विदेशी व्यापार मण्डल की स्थापना। उक्त मण्डल मन्त्रालय द्वारा निर्यात प्रोत्साहन सम्बन्धी कार्यकलापों में समान नीति और समन्वय स्थापित करेगा।

(१३) आयातों में कमी।

विदेशी विनिमय सम्बन्धी संकट को टालने के उद्देश्य से भारत के राष्ट्रपति ने ३१ अक्तूबर सन् १९५७ को घोषणा करके रिजर्व बैंक अधिनियम में संशोधन कर दिया। इस संशोधन के अनुसार भारतीय रुपये के लिए परिनियत न्यूनतम चलार्थ रक्षित निधि (currency reserve) की राशि घटा कर २०० करोड़ रु० कर दी गई जिसमें ११५ करोड़ रु० का स्वर्ण सम्मिलित है। इससे पूर्व न्यूनतम राशि ४०० करोड़ रु० की विदेशी प्रतिभूतियाँ थीं और ११५ करोड़ रु० का सोना अतिरिक्त था। इस संशोधन के फलस्वरूप रिजर्व बैंक, योजना की क्रियान्विति के लिए २४३ करोड़ रु० विदेशी प्रतिभूतियों की शक्ल में मुक्त कर सका। नए संशोधन से रिजर्व बैंक को यह भी अधिकार मिला कि वह सम्पूर्ण चलार्थ संचित कोष २०० करोड़ रु० का केवल स्वर्ण पिण्डों के रूप में रख ले। इस अध्यादेश के आधार पर रिजर्व बैंक अधिनियम में एक और संशोधन हुआ। वह यह था कि रिजर्व बैंक को अधिकार मिला कि वह भारत सरकार की पूर्व स्वीकृति लेकर ८५ करोड़ से कम का भी विदेशी प्रतिभूति खाता रख सकेगा।

द्वितीय योजना को पूरा करने के लिए भारत को अभी ५६० करोड़ रु० की आवश्यकता है। ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका, कनाडा, पश्चिमी जर्मनी और जापान—इन पाँच मित्र देशों ने तथा विश्व बैंक ने अभी हाल ही में ३५०० लाख डालर की विदेशी सहायता प्रदान की है। किन्तु हम अपनी वास्तविक सहायता केवल अपना घरेलू उत्पादन बढ़ाकर ही कर सकते हैं। जब तक हम इतना उत्पादन न करने लगें कि आयातों में कमी हो और निर्यात बढ़ें, तब तक विदेशी विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयों पर पार पाना कठिन ही होगा।

अध्याय २३

कीमतें

(Prices)

द्वितीय विश्व-युद्ध के समय में कीमतें

(Prices during World-War II)

प्रश्न १—भारत में युद्धकाल की मुद्रा-स्फीति के कारणों और प्रभावों पर विचार कीजिए। (दिल्ली १९५०)

Q. 1—Discuss the causes and effects of war-time inflation in India. *(Delhi 1950)*

युद्ध-काल में कीमतों का प्रवाह (Course of Prices during the War)—युद्ध की घोषणा कीमतों में सामान्य वृद्धि का संकेत था, किन्तु वह मुख्यतः सट्टे का परिणाम था, और इसलिए, अत्यल्पकालिक प्रारम्भिक तेजी के बाद कीमतें गिर गईं। जो भी हो, १९४१ में उनमें पुनः वृद्धि दिखाई दी। १९४३ में कीमतें अत्यधिक ऊंची उठ गईं।

कारण (Causes)—(i) सरकार की दोषपूर्ण युद्ध-सम्बन्धी अर्थ-नीति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण था, जिसके फलस्वरूप कागजी मुद्राचलन का अपरिमित विस्तार हुआ। यह इस प्रकार हुआ। भारत सरकार ने ब्रिटिश तथा अन्य मित्रराष्ट्रीय सरकारों की ओर से भारतीय बाजारों में बड़ी भारी मात्राओं में वस्तुएं क्रय कीं। वस्तुओं के स्वर्ण के रूप में भुगतान के बजाय उसे स्टर्लिंग प्रतिभूतियां दी गईं। इन स्टर्लिंग प्रतिभूतियों का रिजर्व बैंक को परावर्तन किया गया, जिसने उनके एवज में कागजी मुद्राचलन का निर्गमन किया। युद्धकाल में कीमतों की वृद्धि के लिए मुद्राचलन का यह विस्तार मुख्यत जिम्मेदार था। यह बात कागजी मुद्राचलन की मात्रा और कीमतों की समानान्तर गतियों द्वारा स्पष्ट हो जाती है।

(ii) चलमुद्रा की अधिकता के विपरीत, वस्तुओं की मात्रा में अत्यधिक कमी हो गई थी। खाद्यान्नों या उपभोक्ता-वस्तुओं, चाहे जिसे भी लें, हर वस्तु असैनिक उपभोग के लिए अत्यधिक कम परिमाण में उपलब्ध थी। निर्मित वस्तुओं के आयातों पर भी अत्यधिक कठोर प्रतिबन्ध थे। देश के अन्तर्गत निर्मित वस्तुओं का उत्पादन या तो कम था या उसे युद्ध-उद्देश्यों के लिए मुख्यतः बदल दिया गया था।

(iii) सटोरियों, दबाकर संग्रह करने वालों और अपलाभ उपार्जकों के कार्यकलापों ने अभावों को अधिक तीव्र कर दिया था। उपभोक्ता कीमतों में अधिक वृद्धि के भय से अपसंग्रह करते थे। व्यापारी अतिलाभ के लिए अपसंग्रह करते थे।

(iv) न ही प्रभावपूर्ण वस्तुओं का समन्वित वितरण होता था। यातायात प्रणाली, जो युद्ध उद्देश्यों में अति व्यस्त थी, असैनिक वस्तुओं के आवश्यक आवागमन का भी प्रबन्ध नहीं कर सकती थी। इस प्रकार तीव्र स्थानीय कमियाँ हो गई। ऐसी अवस्थाओं में कीमतों में अनिवार्यत वृद्धि होनी थी।

(v) कीमतों के नियन्त्रण में सरकार की नीति को भी अत्यधिक दोषपूर्ण कहना ही पड़ेगा। सरकार द्वारा कीमत नियन्त्रण भी सर्वथा असफल ही रहा और ज्योंही किसी जिन्स का नियन्त्रण होता था, वह बाज़ार से गायब हो जाती थी और उसमें चोर बाजारी होने लगती थी।

प्रभाव (Effects)—कीमतों की इस असाधारण वृद्धि के कारण लोगों को अकथनीय कष्ट हुए। बंगाल दुर्भिक्ष की महान् मृत्यु संख्या का मुख्य खाद्य की उन अत्यधिक कीमतों के मत्थे मढ़ा जा सकता है, जो उस प्रान्त में प्रचलित थी। मध्य वर्ग, विशेषत वेतन-भोगी वर्ग, तो बर्बाद हो गया। उनके लिए जीवन निर्वाह करना भी कठिन हो गया था। किसानों ने विशेषतया और अन्य उत्पादकों ने सामान्यतया लाभ अर्जन किए थे किन्तु उनकी समृद्धि वास्तविक की अपेक्षा दिखावटी अधिक थी। यह व्यापक रूप से अनुभव किया जाता था कि इस प्रकार की स्फीतिपूर्ण कीमतों का जारी रहना देश की राजनीतिक और आर्थिक सुदृढ़ता के लिए हानिकारक होगा।

कीमतों में वृद्धि निरोध के सरकारी उपाय (Government Measures to Check Rise in Prices)—युद्ध के प्रथम तीन वर्षों में सरकार ने कीमतों का निरोध करने के लिए कोई उपाय नहीं किया। वस्तुत उसने ऐसा करना उचित ही नहीं समझा। किन्तु जब १९४२ में, विशेषत १९४३ में, कीमतें तीव्र गति के साथ बढ़नी शुरू हुईं, तो सरकार चिंतित हुई और फलत, उनके निरोध के लिए कई उपाय किए गए। इस प्रकार के उपाय त्रिमुखी थे—(क) खाद्य वस्त्र खांड और अन्य अनिवार्य वस्तुओं की कीमतों का नियन्त्रण तथा राशनिंग जारी किया गया (ख) मुद्रा तथा राजकोष सम्बन्धी उपाय—१९४३ के उपरान्त कागजी मुद्राचलन की गति को धीमा कर दिया गया था, रिजर्व बैंक ने कुछ मित्र-देशों की ओर से स्वर्ण बेचा था। केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों ने अपने ऋण कार्यक्रमों को विस्तार प्रदान किया था और छोटी बचत योजना (नेशनल सेविंग्स सर्टिफिकेट एण्ड स्टाम्प्स) शुरू की गई थी, (ग) कृषि और उद्योग विषयक उत्पादनों में वृद्धि करने का निश्चय किया गया, उदाहरण के लिए 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन शुरू किया गया।

इन उपायों से सीमित मात्रा में सफलता मिली। नि सन्देह कीमतों का अधिक ऊँचा उठना तो रोक लिया गया, किन्तु उन्हें न्यून नहीं किया जा सका।

युद्धोत्तर काल में कीमतें

(Prices in the Post War Period)

प्रश्न १—द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद कीमतों की प्रचलित वृद्धि का आप कैसे स्पष्टीकरण करते हैं?

सरकार ने इस स्फीति का मुकाबला करने के लिए जिन मौद्रिक एवं राज-कोषीय उपायों को ग्रहण किया, उनका आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।

[कलकत्ता ऑनर्स, जम्मू और काश्मीर, पटना १९५३]

Q 2.—How do you explain the continued rise of prices after the World War II ?

Give a critical account of the monetary and fiscal measures which the Government have adopted to fight this inflation.

(Calcutta Pass & Hons; J. & K, Patna 1953)

जब युद्ध समाप्त हुआ तो लोगों को आशा थी कि युद्ध-काल के स्फीतिपूर्ण उच्च स्तरों से कीमतों में न्यूनता होगी। इससे भी अधिक, युद्धोत्तर काल में मन्दी का भय किया जाता था। किन्तु इस सामान्य आशा के विपरीत, कीमतों में निरन्तर वृद्धि होती रही, यहाँ तक कि १९५१ के पूर्वार्द्ध में कीमतें बहुत ही ऊँची उठ गईं। उसके बाद १९५२ के पूर्वार्द्ध से कीमतों में कुछ कमी होना प्रारम्भ हुआ।

इस निरन्तर वृद्धि के कारणों को समझने के लिए हम इस समस्या को दो भिन्न चरणों में उपस्थित कर सकते हैं।

प्रथम चरण सितम्बर १९४९ तक का है (जब रुपये का अवमूल्यन किया गया था) द्वितीय चरण मुद्रावमूल्यन के बाद १९५१ के अन्त तक की अवधि है, जिसके पश्चात् कीमतों में ठोस कमी हुई।

प्रथम चरण के काल में कीमतों में निरन्तर वृद्धि के कारण (Causes of Continued Rise in Prices during the First Phase)—(अगस्त १९४५ से सितम्बर १९४९ तक) इस चरण में, कीमतों में वृद्धि करने के लिए तीन महत्त्वपूर्ण कारण समूह एकत्र हो गए। वह ये हैं—(क) अत्यधिक मुद्रा, (ख) अत्यल्प वस्तुएँ, (ग) सरकार के नियन्त्रण हटाने के प्रयोग। आइए, इन पर कुछ विस्तार के साथ विचार करें।

(क) अत्यधिक मुद्रा (Too Much Money)—कागजी मुद्राचलन का विस्तार युद्ध की समाप्ति के साथ नहीं रुका। केन्द्रीय और साथ ही साथ राज्य सरकारें अपनी आयों से बढ़कर खर्च करती रहीं, अर्थात्, उन्होंने घाटे के आयव्ययक बनाए जिनकी राशि ५ युद्धोत्तर वर्षों की अवधि में ५०७ करोड़ रु० से कम नहीं थी।

इसके अतिरिक्त, सरकार, उद्योग तथा अन्य नियोजक अपने नियोजितों को जो महँगाई भत्ते और वृद्धिपूर्ण पगारें दे रहे थे, उनसे भी परिचालित द्रव्य में वृद्धि हुई, जिसका परिणाम कीमतों में वृद्धि था।

पाकिस्तान से जो लाखों शरणार्थी विस्थापित होकर आए, उन्होंने भी द्रव्य की पूर्ति में अधिक वृद्धि की। वहाँ से आते समय वह जो भी थोड़ी-बहुत पूँजी ला सके, उसे उन्होंने अपनी नित्य की आवश्यकताओं की तुष्टि के लिए नकद में परिणत किया।

जब कि मुद्रा-सम्बन्धी पूर्ति में वृद्धि हो रही थी, सरकार के ऋण और बचतों के आन्दोलन नितान्त असफल हो रहे थे, जिससे अत्यधिक मुद्रा-पूर्ति विद्यमान स्फीति को कष्टकारी बनाने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दी गई थी।

उच्च-स्तर तक जा पहुँचा। निम्न मुख्य तत्व हैं, जिनके कारण सितम्बर १९४९ से कीमतो मे तीव्रतापूर्वक वृद्धि हुई—

(क) सितम्बर १९४९ में रुपये के अवमूल्यन का यह स्वाभाविक परिणाम था कि अमरीका तथा अन्य ऐसे देशो से आने वाली वस्तुओ की कीमतो में वृद्धि हुई जिन्होंने अपनी मुद्राओ का अवमूल्यन नहीं किया था। निर्यात जिन्सो की कीमतो में भी इस कारण वृद्धि हुई थी कि उनके निर्यात में बडा भारी प्रोत्साहन दिया गया था।

(ख) कडे आयात प्रतिबन्धों के कारण, जिन्हें विदेशी विनिमय के रक्षण की दृष्टि से खाद्यान्न, कपास, रुई और पूंजीगत माल के आयातो के लिए लगाना पडा था, उपभोक्ता-वस्तुओ का तीव्र अभाव हो गया और परिणामस्वरूप उनकी कीमतो मे वृद्धि हो गई।

(ग) कोरियाई युद्ध और अमरीका तथा योरोपीय देशों के पुनःशस्त्रीकरण के कार्यक्रम, जून १९५० के बाद, कीमतो में वृद्धि के सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण रहे हैं। वणिको और व्यापारियो को वस्तुओ के अपसग्रह का प्रलोभन हुआ और वह अत्युच्च दरो पर ही उन्हे बेचते थे। अमरीका तथा अन्य प्रधान देशो द्वारा अत्यावश्यक और सामरिक पदार्थों के सचय-सग्रह के कारण ऐसी वस्तुओ के लिए, जहाँ कहीं से भी वे प्राप्त थी, छीना-झपटी शुरू हो गई, जिससे उनकी कीमतें चढ गईं।

(घ) भारतीय रुपये के अवमूल्यन के फलस्वरूप १८ मास के लिए भारत-पाकिस्तान व्यापार के गतिरोध ने भीषण कमी पैदा कर दी, और, फलत, भारत मे कच्चो जूट और कपास की कीमतो मे महान् वृद्धि हुई। अन्य कीमतें भी अनिवार्यत इनके साथ-साथ उन्नत होती थीं। कच्चे पदार्थों के अभाव मे सूती और जूट मिल उद्योगो के उत्पादन में भी महान् क्षति हुई। १९५० में बम्बई की कपडा मिलो की हडताल के कारण, जो दो मास तक रही और जिसमें २ लाख से अधिक मजदूर शामिल थे, सूती वस्त्र के उत्पादन में उल्लेखनीय न्यूनता हुई।

कीमतो की वृद्धि के निरोध के लिए सरकारी उपाय (Government Measures to Check the Rise of Prices) प्रथम चरण में—युद्ध के तत्काल बाद, सरकार ने कीमतों को न्यून करने के लिए आयातों की दिशा में सुविधाएँ उत्पन्न कर दीं। उत्पादन में वृद्धि करने के लिए अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन और विकास-योजनाओं को भी शुरू कर दिया गया। इस आशा के साथ विनियन्त्रण की नीति को भी आरम्भ किया गया कि इससे अपसग्राहक अपने गुप्त वस्तु-सचयो को बाहर निकालेंगे और इससे कीमतें न्यून होंगी किन्तु उत्पादन-वृद्धि के यत्नो ने उत्साहवर्द्धक परिणाम नही दिखाए, प्रत्युत, उत्पादन-सकट उत्पन्न हो गया। जैसा कि पूर्वत कहा जा चुका है, विनियन्त्रण के सर्वथा विपरीत परिणाम हुए।

पुनः नियन्त्रण—तदनुसार, नियन्त्रणो को पुन लागू करना पडा—वस्त्र नियन्त्रण जुलाई १९४८ में, और खाद्य-नियन्त्रण अक्तूबर १९४८ में।

अक्तूबर १९४८ मे सरकार ने विस्तृत स्फीति-विरोधी कार्यक्रम की घोषणा की और अनेक क्रियात्मक कार्रवाइयाँ की गईं। इस कार्यक्रम के लक्ष्य ये थे . प्रथम, कीमतों में और अधिक वृद्धि को रोकना, और उसके बाद, युक्तिसगत स्तरों तक उनकी

क्रमागत न्यूनता। जो उपाय किए गए, उन्हें निम्न दो वर्गों में बाँटा जा सकता है (क) एक वह जो मुद्रा पूर्ति को न्यून करें, और (ख) दूसरे वे, जो अत्यावश्यक वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा में वृद्धि करें।

(क) प्रथम वर्ग के निम्न उपाय थे

(i) चालू और पूँजी विषयक दोनों खर्चों में बचत के द्वारा केन्द्रीय और राज्य दोनों सरकारों के सन्तुलित आय-व्यय, ऐसी विकास योजनाओं को स्थगित किया गया, जिनसे वस्तुओं की पूर्ति के तत्काल परिणाम की आशा नहीं थी (ii) सामाजिक कर्मचारियों द्वारा भुगतान योग्य लाभांशों का परिसीमन, (iii) विलास वस्तुओं पर उच्च आयात और उत्पादन कर, (iv) अल्प बचत आन्दोलन का विस्तार, (v) अतिरिक्त लाभ कर की अमानतों के प्रतिशोधन का स्थगित करना।

(ख) वस्तुओं की उपलब्ध पूर्तियों में वृद्धि के लिए अतिरिक्त आयातों की मंजूरी दी गई और आन्तरिक उत्पादन को बढ़ाने के उपाय किए गए। खाद्य में आत्म-निर्भरता प्राप्त करने का कार्यक्रम आरम्भ किया गया। उद्योगों को कई रियायतें और सुविधाएँ प्रदान की गईं, जिससे औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि हो। इन रियायतों में ये भी शामिल थीं मूल्यह्रास सम्बन्धी छूटों में उदारता, कतिपय नए उद्योगों को विशिष्ट अवधि के लिए करारोपण से मुक्ति, यन्त्रों तथा मशीनों के आयात करों में न्यूनता, अत्यावश्यक मूल उद्योगों के लिए यातायात सुविधाओं की प्राथमिकता।

सरकार का स्फीति-विरोधी कार्यक्रम न केवल कीमतों की अधिक वृद्धि को रोकने में सफल हुआ, प्रत्युत वह मार्च १९४९ में सामान्य सूचनांक को ३७० तक नीचे ले आया। किन्तु भारत की शोधन शेष स्थिति विषम हो गई। फलत आयातों में न्यूनता करनी पड़ी। उत्पादन में भी सराहनीय उन्नति दिखाई नहीं दी। इस प्रकार सरकारी नीति को असल आंशिक सफलता का श्रेय दिया जा सकता है।

द्वितीय चरण में—मुद्रावमूल्यन के फलस्वरूप कीमतों में वृद्धि की पूर्व कल्पना के आधार पर सरकार ने सामयिक वायसराय की और अष्टमुखी कार्यक्रम की घोषणा की। इसका मुख्य लक्ष्य कीमतों में अधिक वृद्धि का निरोध करना था। इस कार्यक्रम के अनुसार (i) खाद्यान्नों, वस्त्र, सूत, कच्चे लोहे, इस्पात कोयले की कीमतों में न्यूनता की घोषणा की गई, (ii) अनेक जिन्सों में सट्टेबाजी और अग्रगामी व्यापार को रोका गया, (iii) सरकारी खर्चों में कमी की गई, (iv) सरकारी कर्मचारियों के लिए अनिवार्य बचत की योजना प्रचलित की गई।

इन उपायों का वांछित प्रभाव यह हुआ कि कीमत सूचनांक वस्तुत गिर गया, किन्तु यह उन्नति शीघ्र ही लुप्त हो गई। कोरियाई युद्ध के तत्काल छिड़ने के बाद, पूर्ति और वस्तुओं की कीमत सम्बन्धी अध्यादेश (ordinance) जारी किया (अनन्तर अधिनियम द्वारा प्रतिस्थापित) गया। इसका उद्देश्य ११ अत्यावश्यक जिन्सों की कीमतों और पूर्ति और वितरण का नियन्त्रण करना था। इसके अतिरिक्त, सरकार ने खाद्यान्नों, वस्त्र, सूत और खाँड पर नियन्त्रण जारी रखने की स्पष्ट घोषणा की। खाद्य, कपास, और जूट में आत्म-निर्भरता प्राप्ति के लिए यत्नों को भी जारी रखा गया। उच्च निर्यात कर लागू किए गए, अथवा, विद्यमान निर्यात-करों में इसलिए

वृद्धि की गई कि आन्तरिक कीमतें बाहरी कीमतों के उच्च स्तरों तक न बढ़ने पाएँ। फरवरी १९५१ में, नए व्यापार-समझौते के आधार पर पाकिस्तान के साथ व्यापार-गतिरोध भी खत्म हो गया, जिससे कच्ची जूट और कपास के आयातों की व्यवस्था हो गई।

सरकार के स्फीति-विरोधी उपायों का मूल्यांकन (An Estimate of the Govt Anti-inflationary Measures)—१९४५ मे २४४ से मध्य अप्रैल १९५१ में ४६२ तक कीमत-सूचनाक की गति इस तथ्य को सर्वथा स्पष्ट कर देती है कि सरकार के स्फीति-विरोधी उपाय उस समय तक अपना लक्ष्य प्राप्त करने में विफल रहे थे। यह विफलता कोरियाई युद्ध के अनन्तर-वर्ष में विशेष रूप से प्रकट होती है। हमारी सरकार द्वारा प्रशासित कीमत-नियन्त्रण सर्वथा असन्तोषप्रद रहा है। इस काल के अधिकांश भाग में चोर-बाजारी समृद्ध होती रही। अन्य स्फीति-विरोधी उपाय भी प्रभावशाली नहीं थे। राज्य सरकारों की मद्य-निषेध जैसी सामाजिक-सुधार सम्बन्धी नीतियों की दृढ़ता के विषय में सर्वाधिक घोर आपत्ति की जा सकती है। चाहे जितना भी औचित्य हो, ये तत्कालीन प्रबल स्फीतिपूर्ण अवस्थाओं में सर्वथा अनुपयुक्त थे। इसमें सन्देह नहीं कि मई १९५१ के बाद और अधिक विशेष रूप से १९५२ के आरम्भ में कीमत-सूचनाक में न्यूनता सरकार और रिजर्व बैंक के स्फीति-विरोधी उपायों के कारण हुई, तथापि अन्तर्राष्ट्रीय तत्त्वों ने (जिन पर आगामी प्रश्न में विचार किया जाएगा) भी इस दिशा में कम योगदान नहीं किया।

सरकार के साथ न्यायपूर्ण व्यवहार करते हुए, यह कहना ही पड़ेगा कि जो कार्य उसके समक्ष था, वह वस्तुत: दु:साध्य था। सरकार कीमतों को ठोस रूप में न्यून करने के लिए एकाएक मुद्रा की विस्फीति नहीं कर सकती थी, क्योंकि ऐसी कार्यवाही से हमारा उद्योग बर्बाद हो जाता। लागतें कीमतों के साथ अपना समन्वय कर सकें, इसके लिए समय चाहिए। ना ही उत्पादन अल्प-काल में ही गुणित कर देने की सरकार में शक्ति है।

आन्तरिक और साथ ही साथ विदेशी तत्त्व भी, जो सरकार के नियन्त्रण के बाहर थे, विपरीत साबित हुए। बाढ़ों, भूकम्प, अनावृष्टि जैसी प्राकृतिक आपदाओं ने १९५० और १९५१ में खाद्य-सम्बन्धी न्यूनताओं को महान् बना दिया। कपास और जूट की न्यूनता (पाकिस्तान के साथ व्यापार-गतिरोध के कारण) ने कपड़े, जूट तथा अन्य कीमतों को उन्नत कर दिया। कोरियाई युद्ध तथा अनेक राष्ट्रों द्वारा संचय-संग्रह ने विश्व भर में कीमतों में वृद्धि कर दी। भारतीय कीमतों पर उनके दबाव को रोका नहीं जा सकता था। वस्तुत:, कोरियाई युद्ध के आरम्भ के बाद अन्य अनेक देशों में कीमतें अपेक्षाकृत अधिक बढ़ रही थीं।

सरकार के नियन्त्रण सम्बन्धी उपायों की सफलता अनिवार्यत: जनता—निर्माताओं और उपभोक्ताओं दोनों—के सहयोग पर निर्भर करती है। भारत में ऐसे पूर्ण सहयोग का अभाव है। इसलिए, सरकार की स्फीति विरोधी नीति की सफलता का मूल्यांकन करते समय इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण अंश के लिए छूट देनी ही होगी।

१९५१ से लेकर स्फीति-विरोधी जो उपाय किए गए, उनमें पहले की अपेक्षा

अधिक सफलता हुई। आखिर कीमत नियन्त्रण आदि के विषय म तब तक जो अनुभव हुआ था, उनम उन्नति हो गई थी, और जैसा कि पूवत उल्लेख किया जा चुका है, अन्तर्राष्ट्रीय तत्व भी सहायक हुए थ।

प्रश्न—स्वतन्त्रता के उपरान्त स्फीति पूर्ण दबावों का किस मात्रा तक निरोध किया गया, इस उद्देश्य के लिए क्या विधियाँ काम में लाई गईं ? (बम्बई १९५३)

Ex—Discuss how far inflationary pressures have been held in check in the post independence period ? What methods have been used for this purpose ? *(Bombay 1953)*

मई १९५१ तक, यह नहीं कहा जा सकता कि स्फीतिपूर्ण दबावों अर्थात् उन तत्वों का जो कीमतों में वृद्धि करने के लिए अपना प्रभाव डाल रहे थे (जैसे अत्यधिक मुद्रा वस्तुओं का अत्यधिक अभाव), प्रभावपूर्ण ढंग से निरोध किया गया था। कीमत सूचनांक ? ४५ में ३४४ से मई अप्रैल १९५१ में ४६२ तक बढ़ गया था। ऐसा क्यों हुआ, इसके लिए प्रश्न ? के उत्तर को देखिए। उपायों के विषय में भी उसी प्रश्न को देखिए।

प्रश्न ३—जून, १९५५ से कीमतो में वृद्धि का कारण बताइए तथा इस स्थिति को सुधारने के लिए अपनाए गए उपायों पर टिप्पणी लिखिए।

Q. 3—Account for the rise in prices since June, 1955 and comment on the steps taken to meet the situation

जून १९५५ से भारत मे कीमतो का रुख ऊपर की ओर रहा है। हाल ही में कीमतो के चढने के कारण य है—

१ खाद्यान्न के उत्पादन म कमी। १९५४ ५५ म १९५३ ५३ की अपेक्षा खाद्यान्न का २० लाख टन कम उत्पादन हुआ।

२ प्रथम योजना क प्रथम तीन वर्षों म खाद्यान्न का उत्पादन अधिक था किन्तु पिछले दो वर्षों म खाद्यान्न का उत्पादन अपेक्षाकृत गिर गया था।

३ प्रथम योजना के अन्तिम दो वर्षों म मुद्रा पूर्ति ३०० करोड रुपये अधिक हुई। बैंक साख म भी वृद्धि हुई है।

४ विश्व भर म कीमतो का रुख भी महँगाई की ओर था और इसकी छाया भारतीय कीमतो म भी दिखाई दी।

५ भविष्य में तेजी क रुख के कारण स्टॉको को रोके रखने से भी कीमतो के बढने म मदद मिली।

उपचार के लिए अपनाए गए उपायों म निम्न मुख्य हैं—

१ खाद्यान्न का निर्यात रोक दिया गया।

२ सरकारी भण्डार म से देना शुरू कर दिया तथा उचित कीमतो की दूकानें (fair price shops) खोली गईं।

३ पिछले कुछ महीनों क शोधन शेष के घाटे के कारण मुद्रा पूर्ति घट गई है।

४ सट्टे के कामों के लिए रिज़र्व बैंक ने बैंकों द्वारा अग्रिम कम करा दिया।

५ खाद्यान्न की पर्याप्त मात्रा आयात करने का प्रबन्ध किया गया।

इन सबका परिणाम यह हुआ कि कीमतो म गिरावट आने लगी। १२ सितम्बर, १६५६ को वित्त मत्री ने लोकसभा में घोषणा की कि चुने हुए स्थलो पर महत्वपूर्ण नियन्त्रण तथा माल के आदान-प्रदान पर पाबन्दियाँ तथा वितरण नियन्त्रण द्वारा, यदि आवश्यक हो, सरकार बढती हुई कीमतो को रोकने का प्रयास करेगी।

हाल के वर्षों में कीमतों में अत्यधिक वृद्धि—उसके कारण तथा उसका उपचार

(Recent Rise in Prices—its Causes and Cure)

जून १६५५ से उपभोक्ता वस्तुओं की कीमतो में वृद्धि प्रारम्भ हुई जो १६५६-५७ तक जारी रही। १६५२-५३ मे सामान्य कीमत सूचनांक को यदि १०० माना जाए तो ३ अगस्त, १६५७ को समाप्त होने वाले सप्ताह को कीमत सूचनाक ११३ १ था। मार्च १६५८ में सूचनाक १०५·४ था किन्तु जून १६५८ में वह फिर बढकर १११ ७ तक जा पहुँचा। वही सितम्बर १६५८ मे ११६·५ था और दिसम्बर १६५८ मे वह ११४ १ था।

१६५७-५८ में अगस्त-फरवरी के समय में कीमतो में उतार के निम्नलिखित कारण थे—(क) १६५६-५७ मे कृषि उपज मे पर्याप्त वृद्धि हुई थी, (ख) स्फीति-विरोधी सरकारी उपायो का प्रयोग, (ग) खाद्यान्नो का अधिकाधिक आयात; (घ) खाद्य पदार्थों पर नियन्त्रण, (ङ) विदेशों में भी कीमतो में कमी; (च) मुख्य उत्पादक उद्योगो की माँगो में कमी।

किन्तु फरवरी १६५८ से कीमतें बढना शुरू हुईं। यह स्थिति मार्च १६५६ तक जारी रही। इसका एक कारण तो यह था कि १६५७-५८ मे उत्पादन कम हो गया था और योजना पर अत्यधिक सम्भावित व्यय के कारण घाटे की वित्त व्यवस्था।

१६५० के बाद इस समय तीसरी बार कीमतो मे वृद्धि हुई। यह चरण पिछले चरणों से कई बातो में भिन्न था। (क) यह अधिक समय तक जारी रहा है। (ख) कोरियाई युद्ध के चरण की तेजी के जमाने में खाद्यान्नों के सम्बन्ध मे इतनी तेजी नही हुई थी किन्तु इस बार खाद्यान्नों मे पर्याप्त ऊँची कीमतें है। (ग) जहाँ १६५०-५१ में निर्मित वस्तुओं की कीमतें भी पर्याप्त ऊँची उठ गई थी, इस बार निर्मित वस्तुओं की कीमतो में उतनी तेजी नही है, (घ) जहाँ १६५०-५१ में कीमतो मे वृद्धि बाहरी प्रभावों का फल थी, इस समय की कीमतों की वृद्धि स्वदेश के आन्तरिक कारणों का परिणाम है।

कीमतो के इस व्यवहार के कई कारण हो सकते हैं। सर्वप्रथम, योजनाओं मे हम अत्यधिक पूँजी वर्ष प्रति वर्ष लगाते जा रहे हैं, जब कि हमारा कृषि उत्पादन घट रहा है। व्यक्तिगत बचत प्रोग्राम की प्रगति सन्तापजनक नही रही है। इसके विपरीत पूँजी की माँग में निरन्तर वृद्धि हो रही है। इसका फल यह हुआ है कि सार्वजनिक क्षेत्र मे घाटे की वित्त व्यवस्था करनी पडी है। साथ ही प्राइवेट क्षेत्र में बैंकों की साख पर अत्यधिक अवलम्ब बढता जा रहा है। फलस्वरूप देश की अर्थव्यवस्था पर अत्यधिक दबाव पड रहा है। यही स्थिति बढी हुई कीमतो के लिए उत्तरदायी है। स्वय खाद्य

उत्पादक भी खाद्य वस्तुग्रो का सग्रह कर रहे है। इसीलिए भी खाद्य सामग्री की कीमतें इतनी ऊँची है। भारत मे सभी लोग उत्पादक, व्यापारी, कारखानादार और यहाँ तक कि उपभोक्ता भी सग्रह करते हैं। भारत की यह विशेषता है जो स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

ऐसी परिस्थितियो मे भारत सरकार प्रयत्न कर रही है कि एक ओर तो खाद्य वस्तुग्रो का उत्पादन बढे और दूसरी ओर उनकी माग आवश्यकता से अधिक भी न हो। विशेषकर खाद्यान्न की अल्पकालीन पूर्ति के लिए भरसक प्रयत्न किए जा रहे हैं। अन्न आयात किया जा रहा है और इस आयात किए हुए अन्न को सरकारी नियन्त्रण मे उचित मूल्य की दूकानो से सर्वसाधारण को सस्ती कीमतो पर दिया जा रहा है। अमरीकी सरकार से एक समझौता किया गया है जिसके अनुसार अमरीका हम को अपना गहूँ चावल और रुई का फालतू स्टाक देगा। इसी प्रकार बर्मा की सरकार से चावल आयात करने के सम्बन्ध मे करार किया गया है। जहाँ १६५५ मे हमने ७ लाख टन खाद्यान्न आयात किया था, १६५६ मे हम को १४ लाख टन खाद्यान्न विदेशो से मगाना पडा था। इसके बाद १६५७ मे ३६ लाख टन खाद्यान्न का आयात हुआ और १६५८ मे ३२ लाख टन का। सरकार ने खाद्यान्न के निर्यात पर नियन्त्रण लगा दिया है। गहूँ के इधर से उधर जाने पर नियन्त्रण लगाने के सिलसिले मे सारे देश को क्षेत्रो मे बाँट दिया गया है। किसी एक क्षेत्र मे गहूँ और गहूँ के उत्पादो के सम्बन्ध मे इधर से उधर लाने या ले जाने पर कोई रोक नहीं होगी। किन्तु एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र को गहूँ या गहूँ के उत्पाद के लाने या न जाने पर प्रतिबन्ध है और तदर्थ सरकार से लाइसेन्स प्राप्त करना होगा। किन्तु खाद्यान्न की कमी को दूर करने का दीर्घकालीन उपचार तो केवल उत्पादन बढाना ही है। कपास और तिलहनो के सम्बन्ध में भी कीमतें बहुत ऊँची उठी थीं। इस दिशा मे सटोरियो के मण्डल ने कुछ अकुश लगाए है। उदाहरण के लिए भविष्य के सौदो पर अधिक सीमान्त लागू किया गया है।

राजकोषीय और मुद्रानीति मे परिवर्तन करके वस्तुग्रो की अत्यधिक माँग पर भी अकुश लगाया जा रहा है। कई प्रकार के कर लगाए गए है जिनके प्रभाव से माँग कम होगी, साथ ही उपभोग और विनियोजन पर भी नियन्त्रण लगेगा। मुद्रानीति के क्षेत्र मे प्रवृत्य साख नियन्त्रण (selective credit control) के द्वारा तथा ब्याज की दर बढाकर वस्तुग्रो की माँग को नियन्त्रित किया जा रहा है। इन उपायो से अभी तक तो केवल आंशिक सफलता ही मिली है। यह सफलता मुख्यत कीमतो की वृद्धि को रोकने मे मिली है न कि कीमतो को नीचे गिराने मे।

अध्याय २४

अधिकोषण (बैंकिंग) और साख

(Banking and Credit)

प्रस्तावना—किसी देश की अधिकोषण (बैंकिंग) और साख प्रणाली उसकी आर्थिक प्रगति के लिए अत्यावश्यक है। यदि भारत अपने कृषि-कार्य, उद्योग और व्यापार की दिशा में पिछड़ा हुआ है, तो उसकी अपर्याप्त तथा असन्तोष बैंकिंग तथा साख प्रणाली पर भी बड़ा भारी दोषारोपण करना होगा। अत. हमारे आर्थिक विकास के लिए हमारी बैंकिंग प्रणाली का विकास एक अनिवार्य शर्त है।

भारत में बैंकिंग प्रणाली की रचना (Composition of the Banking System in India)—भारतीय बैंकिंग प्रणाली के निम्न दो भाग है :—

(क) देशी भाग (The Indigenous Part)—जिसमे बहुत से देशी बैंकर सम्मिलित है (देश के भिन्न भागो में उनके भिन्न नाम है, जैसे सराफ, सेठ, महाजन और ग्राम के ऋणदाता, जिन्हें सामान्यत. साहूकार, बनिया तथा खत्री कहते हैं।)

(ख) आधुनिक भाग (The Modern Part)—इसमें ये शामिल हैं :—(१) रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया, जो देश का केन्द्रीय बैंक है, (२) राज्य बैंक (इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया ३० जून, १९५५ तक), (३) अन्य भारतीय संयुक्त समवाय वाणिज्यिक बैंक और (४) विनिमय बैंक।

इन दो मुख्य भागों के अतिरिक्त, भारतीय बैंकिंग प्रणाली के अन्य अग ये हैं—पोस्ट आफिस सेविंग्स बैंक, सहकारी बैंक, जिनमे भूमि-बन्धक बैंक भी शामिल हैं। १९४८ मे, भारत सरकार ने उद्योगों की वित्त-व्यवस्था के लिए औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation) की स्थापना की। प्राय. प्रत्येक राज्य में राज्य वित्त निगमो की स्थापना हो चुकी है। इनके अतिरिक्त भारत सरकार का पुनर्वास वित्त प्रशासन विभाग भी है, जो पाकिस्तान के विस्थापित उद्योगपतियों के उद्योगों के लिए वित्त-व्यवस्था करता है। हाल ही म उद्योगो के वित्त-पोषण के लिए कई नये निगमों की स्थापना हुई है—राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (२० अक्तूबर १९५४), भारत का औद्योगिक साख तथा विनियोजन निगम (जनवरी, १९५५), राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम (फरवरी, १९५५) तथा पुनर्वित्त निगम (जून १९५८)। इन साख सस्थाओ को भी देश की बैंकिंग और साख व्यवस्था मे शामिल करना होगा।

देशी बैंकिंग प्रणाली (Indigenous Banking System)—भारतीय बैंकिंग और साख प्रणाली का सबसे महान् अग देशी भाग है। इस भाग मे निम्नलिखित सम्मिलित है :—(क) ग्रामों में साहूकार, और (ख) कस्बों और नगरों में देशी बैंकर।

देशी बैंकरो को साहूकारो से भिन्न समझना चाहिए। यह भेद निम्न आधारो पर है—(i) जबकि देशी बैंकर निक्षेप निधि प्राप्त करते और हुण्डियो में लेन-देन करते हैं, साहूकार ऐसा नही करते, (ii) बैंकर व्यापार और उद्योग का वित्त पोषण करते हैं, किन्तु साहूकार मुख्यत उपभोग के लिए अर्थ प्रबन्ध करते हैं, (iii) साहूकारो की अपेक्षा बैंकर अपने ऋणों के उद्देश्य के विषय म अधिक सतर्क रहते हैं, (iv) बैंकरो का पुन भुगतान अधिक नियमित और ब्याजदर सामान्यतया कम होती है।

इन भेदो के बावजूद दोनो म समानता अधिक है। दोनो ही असगठित हैं, दोनो ही बिखरे हुए हैं और समूचे देश में पाए जाते हैं और दोनो ने ही अपने आपको उन लोगो के रीति रिवाजो, आदतो और आवश्यकताओ के अनुरूप बना लिया है, जिनके साथ उनके व्यापारिक सम्बन्ध हैं और दोनो का व्यापार बहुधा वशागत होता है और पारिवारिक व्यवसाय के रूप म चलाया-जाता है।

देशी बैंकरो द्वारा व्यापार-कार्य (Business done by the Indigenous Bankers)—देशी बैंकर कई प्रकार के व्यापार करते हैं। हम उनम से कुछ व्यापारो का वर्णन करेंगे

(i) उनका मुख्य धन्धा ऋण देना है। वे व्यापारियो और छोटे उद्योगपतियो को धन ऋण म देते हैं। यह ऋण पर्याप्त जमानत की बजाय अधिकतर व्यक्तिगत साख पर दिया जाता है। उनके ग्राहक भी बैंको की अपेक्षा उनसे ऋण लने म सुविधा मानते हैं, क्योकि उनकी विधियाँ अपेक्षया अनियमित और लोचपूर्ण होती हैं। वे यह भी समझते हैं कि देशी बैंकर उनके लेन-देन के भेद को गुप्त रखेंगे।

(ii) वे हुण्डियो में लेन देन करते हैं अर्थात् अपने ग्राहको द्वारा उपस्थित की गई हुण्डियो का क्रय या बट्टा करते हैं। वह अपने उन एजेंटो या फर्मों द्वारा उन पर जारी की गई हुण्डियो का भुगतान करते हैं, जो उनके साथ सम्बन्धित हैं और इसी प्रकार वह अपने प्रतिनिधियो या सम्बन्धित फर्मों के नाम की हुण्डियाँ जारी करते हैं। हुण्डियो म लेन देन के द्वारा वह आन्तरिक व्यापार (कृषि-विपयक फसलो और जिन्सो के वितरण) की वित्त व्यवस्था और एक स्थान से दूसरे स्थान मे मुद्रा भेजने में सहायक होते हैं।

(iii) वे जनता से निक्षेप (Deposits) प्राप्त करते हैं। चूँकि वह ऐसी अमानतो के भुगतान की माँग मे कदापि नही चूकते, इसलिए ग्राहको मे उनका बडा भारी मान और प्रतिष्ठा होती है। जो भी हो इन बैंकरो में से कुछेक विशेषत मारवाडी और मुलतानी, जनता की अमानतो या निक्षपो की बजाय अपने निजी साधनो पर अधिक भरोसा करते हैं।

(iv) वे व्यापार करते हैं। अधिकाशत, देशी बैंकर अपने कार्य कलापो को बैंकिंग व्यापार तक ही सीमित नही रखते बल्कि उसके साथ व्यापार को भी जोड लेते हैं। वह सामान्यतया स्वर्ण और चाँदी मे व्यापार करते हैं और कभी कभी कपास, अनाज आदि का सट्टा भी करते हैं।

देशी बैंकर और वाणिज्यिक बैंक—जैसा कि पूर्व उल्लेख किया जा चुका है, देशी बैंकर अपने निजी साधनों पर ही भरोसा करते हैं अथवा अपने व्यापार को चलाने के लिए किसी अन्य से ऋण ले लेते हैं। जो भी हो, अत्यावश्यकता के समय, वह संयुक्त समवाय बैंकों या स्टेट बैंक आफ इण्डिया से ऋण ले लेते हैं। इस प्रकार के बैंकों के साथ अधिकांशत: हुण्डियों के पुन: पूर्वप्राप्ति के आधार पर बैंकों से कोष प्राप्त किए जाते हैं। साधारणतया बैंक देशी बैंकरों को ऋण देने से पूर्व अत्यधिक कड़ी शर्तों के पालन पर जोर देते हैं, इस आधार पर ही भारतीय मुद्रा बाजार के आधुनिक और देशी भाग एक-दूसरे से अलग बने रहते हैं, जिससे बाजार हुण्डी की दर (अर्थात् वह दर जिस पर देशी बैंकर-हुण्डियों का बट्टा करते हैं) बैंक और सट्टे की बाजार दरों से सर्वथा भिन्न होती है।

देशी बैंकरों के दोष (Defects of the Indigenous Bankers)—(i) सर्वाधिक गम्भीर दोष यह है कि वे पुरानी और दकियानूसी विधियों का अनुसरण करते हैं, जो शिक्षा के अभाव और उनकी अत्यधिक संकीर्णता के परिणाम हैं। (ii) उनके व्यापार की निर्दोष विषयक दिशा का अत्यल्प विकास हुआ है; वह सामान्यतया अपनी निजी निधि पर अधिक भरोसा करते हैं। इसकी ये हानियाँ हैं—प्रथम, उनके निजी कोष देश के व्यापार और उद्योगों की आवश्यकताओं के लिए अपर्याप्त हैं, द्वितीय, लोगों की बचतें संग्रह और विनियोजन के बजाय बिखरी और बेकार रह जाती हैं। (iii) उनके कुल लेन-देन में तुलनात्मक दृष्टि से हुण्डियों का भाग थोड़ा होता है, जबकि लेन-देन अधिकांशत: नकद ही होता है। (iv) अन्तत:, वह परस्पर अपर्याप्त रूप में संगठित हैं। (v) अन्तिम दोष यह है कि वह देश के मुद्रा बाजार के आधुनिक भाग के साथ सम्बन्धित नहीं हैं। फलस्वरूप, रिजर्व बैंक द्वारा प्रभावपूर्ण साख-नियन्त्रण असम्भव है।

प्रश्न १—देश की बैंकिंग प्रणाली में देशी बैंकरों के महत्त्व को प्रकट कीजिए। उनकी बैंकिंग प्रणाली में सुधार के लिए आप क्या सुझाव दे सकते हैं?

Q. 1—State the importance of Indigenous Bankers in the banking system of the country. What suggestions can you offer for improving their system of banking?

(देशी बैंकरों से यहाँ हमारा आशय सेठों और सराफों आदि से है, जो अपना कारोबार कस्बों और शहरों में करते हैं और ग्राम के साहूकारों से नहीं।)

देश की बैंकिंग और साख प्रणाली में देशी बैंकरों का महत्त्व बहुत अधिक है, भारत सरकार के तत्कालीन अर्थ सदस्य सर जार्ज शुस्टर ने जो १९३४ में टिप्पणी की थी, वह आज भी सच है। उन्होंने कहा था, "देश के सम्पूर्ण बैंकिंग और साख तन्त्र में देशी बैंकरों का जो भाग है, उसको अधिक आँकना असम्भव है। यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं कि बैंकिंग संगठन का यह भाग ९०% या सम्भवतः ९०% से अधिक का प्रतिनिधित्व करता है।"

संयुक्त-स्कन्ध बैंक केवल थोड़े से बड़े-बड़े व्यापारों के लिए वित्त-व्यवस्था करते हैं और निधियों को प्रदान करने में अत्यधिक कठोर और नियमित विधियों का

अनुसरण किया जाता है। इसके विपरीत देशी बैंकर ग्राहकों की बहुत बड़ी संख्या की वित्त-व्यवस्था सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूर्ण करता है अर्थात् उन असंख्य व्यापारियों और उद्योगपतियों की, जो बैंकों की शर्तों को पूरा नहीं कर सकते और इस भाँति उनका उपयोग करने के योग्य नहीं होते।

न केवल यह कि देशी बैंकर बहुत बड़ी मात्रा में साख की व्यवस्था करते हैं, प्रत्युत उनकी दरें भी व्यापारिक बैंकों की तुलना में प्रतिकूल नहीं होतीं। वस्तुत उनके स्थापन व्यय कम होने के कारण वह अपेक्षया सस्ती साख की पूर्ति करने योग्य होते हैं।

इसके अतिरिक्त, उनका महत्त्व इस बात में निहित है कि उनका अनुभव विस्तृत होता है और उन्हें अपने ग्राहकों के विषय में व्यक्तिगत ज्ञान होता है। यह ज्ञान और अनुभव देश में साख प्रणाली और हुंडी बाजार के विकास के लिए अत्यधिक मूल्यवान है।

यह महान् खेद का विषय है कि देशी बैंकरों के अत्यधिक महत्त्व को पर्याप्त रूप में अनुभव नहीं किया गया, जिससे बैंकिंग प्रणाली में उनके भाग की जो वस्तुतः उसका मूलाधार है सर्वथा उपेक्षा की गई है। यदि देशी बैंकिंग प्रणाली को उन्नत किया जा सके तो यह देश की आर्थिक प्रगति में उससे कहीं महान् और अधिक लाभपूर्ण कार्य करेगी जो वह अब तक करती रही है।

इस प्रणाली में सुधार के सुझाव (Suggestions for Improving the System)—इसके महत्त्व को दृष्टि में रखते हुए यह सर्वथा उचित है कि देशी बैंकिंग को उन्नत करने के लिए समुचित उपाय किए जाएँ। यहाँ कुछ एक सुझाव दिए जाते हैं—(i) देशी बैंकरों को प्रेरणा करनी चाहिए कि वे अपनी विधियों में क्रमशः नवीनता उत्पन्न करें जैसे उन्हें समुचित ढंग से लेखे रखने चाहिएँ, उनका लेखा परीक्षण कराया करें, अधिपत्रों और चैकों का उपयोग करें द्रव्य की प्राप्ति और भुगतान में क्षिप्र (prompt) हों (ii) उन्हें अपने बैंकिंग व्यापार को अपने व्यापारिक धन्धे से अलग रखना चाहिए (iii) उन्हें अमानतें या निक्षेप स्वीकार करने के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए (iv) उन्हें रिजर्व बैंक के साथ उस रूप में सम्बन्धित करना चाहिए जिस प्रकार अनुसूचित बैंक उससे सम्बन्धित हैं अर्थात् पुनः पूर्वप्रापण (rediscount) ऋण और पेशगियों तथा निःशुल्क रुपया भेजने आदि की सुविधाएँ प्रदान करनी चाहिएँ। (v) रिजर्व बैंक के द्वारा ऐसी सुविधाएँ प्रदान करने के बावजूद भी उनसे कम से कम कुछ समय के लिए यह माँग नहीं की जानी चाहिए कि वे अपने कुल दायित्वों का एक निश्चित प्रतिशत रिजर्व बैंक में जमा कराएँ। यह छूट इसलिए आवश्यक है कि उनके पास अपर्याप्त साधन हैं (vi) जो बैंकर अपने बैंकिंग के अलावा व्यापार को नहीं रोक सकते और इसलिए उन्हें रिजर्व बैंक की स्वीकृत सूची में नहीं रखा जा सकता उन्हें स्टेट बैंक तथा अन्य संयुक्त स्कन्ध बैंकों द्वारा पूर्वप्रापण (*discounting*) और पेशगियों की सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिएँ (vii) उन्हें इस बात के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए कि वे हुण्डी आढ़त के व्यापार को ग्रहण करें और उसका विकास करें (इससे हुण्डी बाजार का विकास होगा और साथ ही साथ उनके व्यापार में भी वृद्धि होगी।) (viii) सर्वोत्तम सुझाव यह है कि

देशी बैंकरो को परस्पर संयुक्त स्कन्ध बैंकों के रूप में संगठित होने की प्रेरणा की जाए कि जिससे वे वृहत्-स्तर पर अपने कृत्यों का पालन कर सकें; अथवा (ix) देशी बैंकरो के सहकारी बैंक बनाए जाएं। ये अपने सदस्यों की हुण्डियों का बट्टा करेंगे और उनके पुन बट्टे (re-discounting) के लिए रिजर्व बैंक की पहुँच करेंगे।

१९३८ में रिजर्व बैंक ने देशी बैंकरो को अपने साथ शृंखलाबद्ध करने के लिए एक योजना बनाई थी और उसे प्रचलित किया था। किन्तु खेद का विषय है कि बैंक ने ऐसी शर्तें रखी थी कि जो उन्हे अस्वीकार थीं। वस्तुतः इन शर्तों की माँग थी कि वे क्रियात्मक रूप मे सयुक्त-स्कन्ध बैंकों की अवस्थाओं तक जा पहुँचें। स्पष्टतया यह तत्काल सम्भव नही था।

१९५१ मे अखिल भारतीय सराफ कान्फ्रेंस हुई। उसने केन्द्रीय सराफ सभा की स्थापना द्वारा देशी बैंकरो को रिजर्व बैंक के साथ शृंखलाबद्ध करने का समर्थन किया। यह देखना होगा कि उसकी सिफारिशें कहाँ तक लागू की जा सकती हैं और देश की सगठित बैंकिंग प्रणाली के साथ किस सीमा तक देशी बैंकरो के निकट सम्पर्क की व्यवस्था की जा सकती हैं।

आधुनिक भाग अथवा भारत में बैंकिंग की योरोपीय प्रणाली
(Modern Part or the European System of Banking in India)

इस भाग मे सम्मिलित बैंको के प्रकारों के विषय में पूर्वत. उल्लेख किया जा चुका है। अब हम, सर्वप्रथम भारतीय सयुक्त-स्कन्ध बैंको का अध्ययन करेंगे और उसके बाद विदेशी विनिमय बैंको तथा अन्त में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का अध्ययन करेंगे।

भारतीय संयुक्त स्कन्ध बैंक (Indian Joint Stock Banks)—भारत की आधुनिक बैंकिंग प्रणाली में भारतीय सयुक्त स्कन्ध बैंको का अत्यधिक महत्वपूर्ण भाग है और साथ ही उनकी सख्या भी बहुत बडी है। उनका दो सूचियों मे वर्गीकरण किया गया है—अनुसूचित (Scheduled) और गैर-अनुसूचित या अननुसूचित (Non-Scheduled)। रिजर्व बैंक के पास एक सूची रहती है और जो बैंक उस सूची में दर्ज कर लिया जाता है, उसे अनुसूचित बैंक कहते हैं। केवल वही बैंक, जिनकी चुकता पूँजी और सचित पूँजी ५ लाख रुपये या अधिक की हो और जिन्होंने इस सूची में सम्मिलित होने के लिए आवेदन किया हो और जिनके आवेदन-पत्र को रिजर्व बैंक ने स्वीकार कर लिया हो, अनुसूचित बैंक बन सकते हैं। जिन सयुक्त-स्कन्ध बैंको की चुकता पूँजी और सचित पूँजी ५ लाख रुपये से कम है, वे गैर-अनुसूचित या अननुसूचित बैंक हैं।

(रिजर्व बैंक के साथ अनुसूचित और अननुसूचित बैंकों के सम्बन्ध के विषय मे इस अध्याय में 'रिजर्व बैंक बैंकरो के बैंक के रूप में", उपशीर्षक और साथ ही प्रश्न ६ के बाद अभ्यास १ के उत्तर को भी देखिए।)

१९५७-५८ में ९२ अनुसूचित बैंक (१५ विदेश विनिमय बैंक) तथा २६६ गैर-अनुसूचित रिपोर्टिंग बैंक थे। अनुसूचित बैंकों की शाखा सख्या ३,२६३ थी। गैर-

अनुसूचित बैंकों की भारी संख्या के उपरान्त भी अनुसूचित बैंक अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उनकी कुल निक्षेप निधि के आँकड़ों से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। जब कि सितम्बर १९५८ में ९२ अनुसूचित बैंकों की कुल निक्षेप निधि १४६०.२१ करोड रु० थी, २९९ गैर-अनुसूचित बैंकों की निधि कुल ४६.९९ करोड रु० थी। यही दशा इनके द्वारा दिए गए अग्रिम की है। इन अनुसूचित बैंकों में भी कई बड़े बैंक हैं, जिनकी निक्षेप निधि की राशि बहुत अधिक है। मार्च १९५५ के अन्त में, ११ बड़े अनुसूचित बैंकों की निक्षेप निधि (प्रत्यक की निधि २० करोड़ रुपए थी) समस्त ९२ अनुसूचित बैंको की कुल निक्षेप निधि का तीन-चौथाई थी। केन्द्रण की यह प्रवृत्ति अब भी मौजूद है।

उनके कृत्य (Their Functions)—सामान्यतया भारतीय संयुक्त स्कन्ध बैंक व्यापारिक बैंकों के सब सामान्य कृत्यों का पालन करते हैं और उनका मुख्य कृत्य व्यापार के लिए वित्त-प्रबन्ध होता है। किन्तु उनके इस मुख्य कृत्य के लिए निम्न दो अति गम्भीर अपवादों की शर्त है (i) वह विदेश व्यापार के लिए वित्त प्रबन्ध नहीं करते जो कि वस्तुत विदेश विनिमय बैंकों का एकाधिकार है और उन्हें इस एकाधिकार को भंग करना कठिन जान पड़ता है, (ii) कृषि-फसलों की बिक्री के वित्त प्रबन्ध में भी उनका अत्यल्प अंश है। इसका मुख्य कारण यह है कि कृषि-उत्पादों के लिए ऐसे संग्रहालयों तथा गोदामों का अभाव है। इस अभाव के कारण कृषि-विषयक अधिपत्र नहीं बनते जिन्हें संयुक्त स्कन्ध बैंकों द्वारा पूर्व-प्रापण (discount) किया जा सके।

देश के आकार और उसकी जनसंख्या की दृष्टि से संयुक्त-स्कन्ध बैंकों की अत्यल्प संख्या है। निःसंदेह द्वितीय विश्व युद्ध के काल में बैंकों और उनके कार्यालयों की संख्या में महान् वृद्धि हुई किन्तु उनकी संख्या को देश की आवश्यकताओं के लिए कतई पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। उपरान्त, उनमें से अधिकांश के अत्यल्प साधन हैं और वे विदेशी विनिमय बैंकों की प्रतियोगिता के शिकार हैं। इसके अतिरिक्त विकसित अधिपत्र-बाजार का अभाव एक अन्य मुख्य कठिनाई है। यह तथ्य कि बैंकिंग व्यापार अंग्रेजी में किया जाता है, एक अन्य बाहरी गम्भीर त्रुटि है, क्योंकि भारतीयों की बहुत बड़ी संख्या अंग्रेजी नहीं जानती।

इन मुख्य बाहरी त्रुटियों के अतिरिक्त, भारतीय बैंक अपनी आन्तरिक कार्य-शैली के गम्भीर दोषों के कारण भी पिछड़े हुए हैं। यह प्रसन्नता की बात है कि १९४९ के बैंकिंग अधिनियम ने, जो अत्यधिक विस्तृत विधान है, अधिकांशत इन दोषों को दूर करने की चेष्टा की है, और इस प्रकार उन्हें सुदृढ़ आधार पर स्थिर किया गया है। इसके अतिरिक्त, इस अधिनियम के अधीन रिजर्व बैंक को उनकी कार्यकारिता की देख-रेख तथा उनके ऊपर नियन्त्रण के विस्तृत अधिकार प्रदान किए गए हैं। युक्तिसंगत रूप में, इस उपाय से भारतीय संयुक्त स्कन्ध बैंकों से सम्बन्धित तीन उचित परिणामों की प्राप्ति की आशा की जाती है—(i) इससे बैंकों की सुदृढ़ कार्यकारिता का भरोसा होगा और इस प्रकार निक्षेप जमा कराने वालों के हितों की रक्षा होगी, (ii) इससे बैंकिंग के अधिक विकास के लिए प्रबल उत्तेजना मिलेगी, और

(iii) यह भारतीय बैंकों को रिजर्व बैंक की अधिक प्रभावपूर्ण साख-नियन्त्रण नीति के अनुरूप भी बनाएगा।

प्रश्न २—भारत में संयुक्त-स्कन्ध-अधिकोषण कार्य के मुख्य दोष क्या हैं ? (दिल्ली १९५०)

Q. 2—What are the main defects of joint stock banking in India ? (*Delhi 1950*)

हाल ही के बैंकिंग विधान द्वारा इन्हें दूर करने की किस प्रकार चेष्टा की गई है ?

How have these been sought to be removed through recent banking legislation ?

त्रुटियाँ (Defects)—भारत में संयुक्त-स्कन्ध-अधिकोषण का उदय अस्त-व्यस्त और गम्भीर दोषपूर्ण अवस्थाओं में हुआ। इसलिए, बैंकों का निरन्तर एवं गम्भीरता-पूर्वक फेल होना आश्चर्यजनक नहीं है। मुख्य त्रुटियाँ, जिनमें से अधिकांश को अब हाल ही के बैंकिंग अधिनियम द्वारा दूर कर दिया गया है, नीचे दी जाती हैं—

(i) अधिकांश बैंक अत्यल्प पूँजी के साथ शुरू किए गए थे, और इसके अलावा, उन्होंने उपार्जित लाभों से अधिरक्षणों (या सचित निधि) का निर्माण करके अपनी पूँजी को सुदृढ़ बनाने की चिन्ता नहीं की थी। इसके स्थान पर उन्होंने बहुधा इन लाभों को लाभांशों के रूप में बाँट दिया। युद्ध और युद्धोत्तर वर्षों में सरकारी प्रतिभूतियों तथा अचल सम्पत्तियों की बाजार-कीमतों में वृद्धि के परिणामस्वरूप कृत्रिम, स्फीति-पूर्ण लाभों को अविवेकपूर्वक हिस्सेदारों में बाँटा गया।

(ii) सम्पत्तियों की तरलता का अभाव (Absence of Liquidity of Assets)—अपने उच्च लाभों के लोभ में, उन्होंने अपने नकद अधिरक्षणों (या सचित निधि) के अनुपात को अपने दायित्वों की तुलना में अत्यधिक निम्न स्तर तक कम होने दिया। उनकी अन्य अधिकांश सम्पत्तियाँ भी तरल रूप में नहीं रखी गई थीं (अर्थात् तत्परतापूर्वक प्राप्ति योग्य रूप में, जैसे, प्रतिभूतियाँ, विनिमय के अधिपत्र आदि।) इस प्रकार, यदि उनके अमानतदारों ने निकासियों की छोटी-सी साधारण माँग भी की, तो वे बन्द हो सकते थे।

(iii) उनकी अति विस्तृत स्थिति के अलावा (अर्थात्, उनके अधिरक्षणों की अपेक्षा ऋणों की रचना अधिक की जाती थी) बहुधा उनके ऋण देने में अति तीव्रता होती थी। ऋणों को देते समय सुदृढ़ बैंकिंग की अधिमान्य रीतियों की उपेक्षा की जाती थी।

(iv) अधिक लाभों की तृष्णा में, बैंक बहुधा व्यापार भी करते थे और एजेंसी व्यापारों या सहायक कम्पनियों की सूरत में निर्माणकारी धन्धों में हिस्सेदारी करते थे। इसका अर्थ यह था कि साधारण व्यापारिक बैंक व्यापार करने या बैंकिंग व्यापार के सामान्य खतरों के अलावा निर्माण के खतरे उठाने के लिए अपने मार्ग से विपथ हो जाते थे। वह अचल सम्पत्ति में भी लेन-देन करते थे, जो अत्यधिक खतरे का धन्धा है। इससे भी निकृष्ट यह कि वह स्कन्ध विनिमय में सट्टा भी करते थे।

(v) द्वितीय विश्व-युद्ध में छोटे छोटे उद्योग समूहों ने अनेक बैंक शुरू किए और हिस्सों को इस ढंग से बाँटा गया कि जिससे एकाधिकार नियन्त्रण उन अर्थ-प्रबन्धकों या प्रवर्त्तकों के लघु समूहों को ही मिले। ये अर्थ-प्रबन्धक और प्रवर्त्तक बैंकों की निधि को अपने निजी व्यापार में लगाते थे और कई अवस्थाओं में प्रवर्त्तक सार्वजनिक निधि का पूर्ण दुरुपयोग करते थे। संचालकों के निजी व्यवसायों या उन व्यवसायों को, जिनमें उनका स्वार्थ होता था बिना जमानत ग्रहण दिए जाते थे, जिस से बैंक की दृढ़ता को धक्का पहुँचता था।

(vi) लेखों में अनुचित विक्षेप भी सामान्य बात थी। इस प्रकार बैंक की आर्थिक स्थिति के विषय में जनता को भ्रमपूर्ण विचार दिया जाता था।

(vii) एक अन्य भीषण त्रुटि शाखाएँ खोलने के सम्बन्ध में नीति-विषयक थी। बहुधा ऐसे केन्द्रों में शाखाएँ खोली जाती थीं जहाँ अन्य बैंकों की पहले से ही बहुत सी शाखाएँ होती थीं। इसके फलस्वरूप व्यर्थ की प्रतियोगिता उत्पन्न होती थी। अथवा बैंक कार्यकलापों के मुख्य क्षेत्र से बहुत दूर के क्षेत्रों में शाखाएँ खोली जाती थी, जिससे उनकी समुचित कार्यकारिता में बाधा होती थी।

(viii) युद्ध-काल में बैंकों के तीव्र विकास के कारण बैंकिंग में प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्तियों और कर्मचारियों की बड़ी भारी कमी हो गई, जिससे बैंकों की कार्यकारिता नौसिखिए कार्यकर्त्ताओं के हाथों में पड़ गई। जब हमें यह स्मरण होता है कि बैंकिंग भी एक विशिष्ट तकनीकी कार्य है, तो यह दोष अत्यधिक गम्भीर जान पड़ता है।

बैंकिंग विधान (Banking Legislation)—सरकार देश के संयुक्त स्कन्ध बैंकिंग की उपरिलिखित सब बुराइयों की ओर निष्क्रिय दर्शक-मात्र नहीं बनी रह सकती थी। इसलिए, विस्तृत विधान की अनिवार्य आवश्यकता महसूस की जाती थी। चूँकि उसे प्रचलित करने में समय लगना ही, इसलिए, इस बीच सरकार ने कतिपय अग्रिम उपाय किए। तदनुसार, १९४६ में, एक अध्यादेश द्वारा रिजर्व बैंक को किसी भी बैंक के लेखे परीक्षण करने का अधिकार दिया गया, और सरकार ने ऐसे किसी भी बैंक के विरुद्ध कार्यवाही करने के अधिकार धारण किए जो अपने अमानतदारों या निक्षेपकों के विपरीत हितों में आचरण करता हो। उसी वर्ष एक अधिनियम द्वारा आदेश किया गया कि रिजर्व बैंक की स्वीकृति बिना कोई भी बैंक न तो कोई नई शाखा खोल सकेगा और न ही विद्यमान शाखा के स्थान को बदल सकेगा। जो भी हो, देश के सुदृढ़ बैंकिंग के विकास में जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ, वह था फरवरी १९४९ में बैंकिंग समवाय अधिनियम की स्वीकृति। यह १६ मार्च, १९४९ से प्रचलित किया गया।

बैंकिंग अधिनियम, १९४९ (Banking Act, 1949)—यह अत्यधिक सुविचारित और विस्तृत विधान है। १९५० में इसका संशोधन भी किया गया था। भारतीय बैंकों की कार्यकारिता में उपरिलिखित तथा अन्य सब दोषों को इसके उपबन्धों द्वारा हटाने का यत्न किया गया है। उनमें मुख्य ये हैं—

(१) बैंकिंग कम्पनी की प्रदत्त पूँजी (paid-up capital) और अधिरक्षणों

या सचित निधि के विषय में न्यूनतम आवश्यकताएँ नियत की गईं। ये आवश्यकताएँ इस बात पर निर्भर करती थीं कि कोई बैंक कितने क्षेत्रफल को बैंकिंग सेवाएँ प्रदान करता है, उदाहरणार्थ, यदि किसी भारतीय बैंक के व्यापार-स्थान एक से अधिक राज्य में हो, तो उसे कम-से-कम ५ लाख की प्रदत्त-पूंजी और अधिरक्षण या सचित निधि रखनी होगी, यदि उस बैंक के बम्बई और/अथवा कलकत्ता में कार्यालय हो तो उस दशा में १० लाख रुपये। न्यूनतम पूंजी सम्बन्धी इस उपबन्ध का आशय यह था कि बैंकिंग कम्पनियों की अनधिकृत स्थापना न हो। उपरान्त, उपार्जित लाभों में से कम-से-कम २०% प्रतिवर्ष तब तक अधिरक्षण या सचित निधि में जमा कराया जाए जब तक कि यह निधि प्रदत्त-पूंजी के समान न हो जाए।

(२) एक अन्य उपबन्ध द्वारा तरल आस्तियों (liquidity assets) की व्यवस्था की गई। तदनुसार, प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी के लिए आवश्यक है कि वह अपने सामयिक और माँग दायित्वों की कुल राशि का न्यूनतम २०% नकद में, सुवर्ण या स्वीकृत प्रतिभूतियों में रखे। निःसन्देह, जो शेष रिजर्व बैंक में रखा जाता है, उसे नकद ही माना जाता है।

(३) प्रस्तुत अधिनियम में बैंकिंग धन्धे के सामान्य जोखिमों से अन्य व्यापार सट्टेबाजी या निर्माण-कार्य के जोखिमों के विषय में बैंक के कार्यकलापों पर गम्भीर परिसीमाएँ रखी गई हैं।

(४) अर्थ-प्रबन्धकों या प्रवर्त्तकों के छोटे समूह द्वारा एकाधिकार नियन्त्रण को इस उपबन्ध द्वारा नियन्त्रित किया गया है कि किसी भी एक हिस्सेदार का मताधिकार सब शेयरहोल्डरों के कुल मताधिकार के ५% से अधिक नहीं होगा।

(५) बैंकों के जो सचालक और मैनेजर बैंक निधि का अपने निजी व्यवसायों में उपयोग करते थे, उनके विरुद्ध प्रभावशाली सरक्षण के लिए उपबन्ध किया गया है, जिसके अनुसार ऐसी फर्मों को बिना जमानत ऋण या पेशगियाँ देने की मनाही की गई है कि जिनमें बैंक का कोई भी सचालक, प्रबन्ध सचालक या सचालक या अधिरक्षक हो।

(६) एक बैंक का सचालक दूसरे का सचालक नहीं बन सकेगा।

(७) बैंकिंग कम्पनियों का प्रबन्ध ऐसे मैनेजिंग एजेंट या व्यक्ति नहीं कर सकेंगे, जो दिवालिया घोषित हो चुके हों अथवा नैतिक अपराध के लिए दण्डित हों, या जो कम्पनी के लाभों में से या अन्य किसी कार्य में से कमीशन लेते हों।

(८) ऐसे बैंकों के विरुद्ध सुरक्षा के लिए, जो अदृढ ऋण-नीतियों में पड़ने वाले हों, अथवा अविवेकपूर्वक शाखाओं का उद्‌घाटन करते हों, अथवा एक दूसरे के साथ विलय करते हों, और उनका विलयन अमानतदारों के हितों के लिए घातक हो। रिजर्व बैंक को इन सब विषयों के सम्बन्ध में विस्तृत शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। इसके अतिरिक्त, रिजर्व बैंक किसी भी बैंक के हिसाब-किताब को इच्छानुसार देख सकता है और समयान्तर या तदर्थ (*ad hoc*) विवरण की माँग कर सकता है। (इन शक्तियों के विस्तार के लिए अनन्तर देखें।)

बैंकिंग अधिनियम के उपबन्ध सहकारी बैंकों को छोड़कर सब बैंकों पर लागू

होते हैं। रिजर्व बैंक के प्रत्यक्ष नियन्त्रण को गैर अनुसूचित या अननुसूचित बैंको पर भी प्रचलित कर दिया गया है।

सार यह है कि इस अधिनियम द्वारा स्वस्थ सयुक्त स्कन्ध बैंकिंग प्रणाली के उत्कर्ष के लिए आधार-शिला स्थापित कर दी गई है। रिजर्व बैंक को दी गई विशाल शक्तियाँ न्याय दृष्टि से प्रयोग मे लाई गई हैं और इन आठ वर्षों म, जब से यह अधिनियम लागू किया गया है, निश्चित रूप से देश की बैंकिंग प्रणाली की कार्यकारिता म उन्नति हुई है और जहाँ तक सम्बन्ध भविष्य का है, अब हम अधिक सुदृढता एव प्रगति की आशा कर सकते हैं।

बैंकिंग समवाय अधिनियम १९४९ का १९५६ म सशोधन हुआ। उक्त सशोधन के द्वारा बैंकिंग कम्पनियों के प्रशासन की कुछ कमियो को दूर करने का प्रयास किया गया है। अत रिजर्व बैंक को अन्य बैंको के ऊपर अधीक्षण और निरीक्षण की व्यापक शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। १९४९ के अधिनियम मे कुछ बैंको को जो छूटे दी गई थी वे वापस ले ली गई हैं।

उक्त सशोधन विधेयक के उद्देश्यो और कारणो पर प्रकाश डालते हुए बताया गया था कि इस (सशोधनो) के द्वारा बैंकिंग कम्पनियो के ऊपर नियन्त्रण कठोर किया जाएगा, जिसके लिए निम्नलिखित उपाय प्रयोग किए जाएँगे—

(१) बैंक कर्मचारियो को उनकी योग्यता आदि के हिसाब से अधिक वेतन के दिए जाने पर रोक।

(२) जिन बैंको के अशधारियो पर वोट या राय देने सम्बन्धी नियन्त्रण प्रभावी नही हैं अर्थात् वे बैंक जो जनवरी १५, १९३७ के पहले स्थापित हुए थे, उन पर भी उक्त वोट देने सम्बन्धी नियन्त्रण जारी किया गया और रिजर्व बैंक को अधिकार दिया गया कि वह सभी बैंको मे नए डायरेक्टरो का चुनाव नियन्त्रित वोट के आधार करावे।

(३) किसी ऐसे व्यक्ति की डायरेक्टर (सचालक) के रूप में नियुक्ति पर मनाही जो अन्य कम्पनियो का भी सचालक हो और इस प्रकार २०% से अधिक वोटो का किसी बैंकिंग कम्पनी म अधिकारी हो।

(४) बैंकिंग समवाय अधिनियम (Banking Companies Act) के उपबन्धो के अनुसार रिजर्व बैंक को अधिकार दिया गया कि वह सभी बैंको से अधिक व्यापक क्षेत्र में सूचनाएँ और स्थिति विवरण माँग सके।

(५) रिजर्व बैंक को अधिकार दिया गया कि वह बैंकिंग कम्पनियो को नीति और प्रशासन-एकता से सम्बन्धित ऐसे प्रश्नो पर आदेश दे सके जिनका प्रभाव सार्वजनिक हितो पर पडता है। रिजर्व बैंक को यह भी अधिकार दिया गया कि यदि कोई बैंक रिजर्व बैंक के किसी आदेश को मानने मे कोताही करे तो ऐसे बैंक को कुछ दण्ड दिया जा सके।

(६) बैंकिंग कम्पनियो के डायरेक्टरो या मैनेजरो या प्रमुख अधिशासी अधिकारियो की नियुक्ति और उस नियुक्ति की शर्तें रिजर्व बैंक की स्वीकृति के अधीन रखी गई।

(७) रिजर्व बैंक को अधिकार दिया गया कि वह किसी बैंकिंग कम्पनी के हिसाब-किताब की या उसकी दैनिक गतिविधियों की जाँच कराने के लिए अपने किसी अधिकारी को भेज सकेगा।

(८) १९४७ के भ्रष्टाचार निरोधक अधिनियम (Prevention of Corruption Act, 1947) तथा भारतीय पीनल कोड (Indian Penal Code) के अध्याय ९ के अनुसार बैंकिंग कम्पनियों के चेयरमैन या डायरेक्टर या लेखापरीक्षक (auditor) या निस्तारक (liquidator) को भी सार्वजनिक सेवक ही माना जाए; और यदि इस सूची के सेवक भ्रष्टाचार के अपराधी या रिश्वत लेते पाए जाएँ तो उन पर कानूनी कार्यवाही की जा सके।

अभ्यास १—१९४९ के बैंकिंग कम्पनी अधिनियम के मुख्य उपबन्धों का उल्लेख कीजिए। इससे रिजर्व बैंक को भारत में बैंकिंग व्यवस्था स्थापित करने में कहाँ तक मदद मिली है ?

(जम्मू तथा काश्मीर १९५४)

Ex 1—Give the main provisions of the Banking Companies Act of 1949 How far has it helped the Reserve Bank in regulating banking in india ? *(Jammu and Kashmir 1954)*

(उपबन्धों के लिए उपर्युक्त प्रश्न को देखिए। रिजर्व बैंक को इससे देश में बैंकिंग और साख व्यवस्था के विस्तार और विनियमन में कानूनी सहायता मिली है। विस्तृत अध्ययन के लिए नीचे प्रश्न ३, ४ के उत्तरों को तथा प्रश्न ८ के सम्बन्धित भागों को देखिए।)

अभ्यास २—भारत में बैंकों के अधिक संख्या में फेल होने के कारण बताइए।

(कलकत्ता, गौहाटी १९५३, पटना १९५४)

Ex 2—Explain the causes of large number of bank failures in India *(Calcutta, Gauhati, 1953; Patna 1954)*

(ऊपर प्रश्न २ के उत्तर को देखिए। उन्हीं खामियों के कारण बहुत से बैंक फेल हुए थे।)

प्रश्न ३—उन मुख्य उपायों का वर्णन कीजिए, जो भारतीय बैंकिंग प्रणाली को सुदृढ़ आधार प्रदान करने के लिए हाल ही में ग्रहण किए गए हैं ?

(गौहाटी १९५२)

Q. 3—Describe the principal measures which have been adopted recently to put Indian banking system on a sounder footing.

(Gauhati 1952)

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपाय बैंकिंग विधान को अधिनियमित करना है—ऊपर के प्रश्न को देखें। किन्तु, केवल विधान को स्वीकार करना ही पर्याप्त नहीं है। विधान को प्रचलित करना उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। रिजर्व बैंक ने प्रशासन-अधिकारी के रूप में उत्तम कार्य किया है। इसने बैंकिंग प्रक्रियाओं के विषय में एक अलग विभाग स्थापित कर दिया है, बैंकों का निरीक्षण किया है, वह उन्हें उनकी ऋण-नीतियों के विषय में परामर्श देता है और यहाँ तक कि नियन्त्रण भी करता है। उसने छोटी और दुर्बल इकाइयों के विलयन में सहायता प्रदान की है (पश्चिमी बंगाल के ४ बैंकों का यूनाइटिड बैंक ऑफ इण्डिया में विलय किया गया है), उसने बैंकों की शाखाओं के विषय में दिशा-स्थान का निर्णय किया है। (रिजर्व बैंक की अन्य सफलताओं का विवरण प्रश्न ८ के 'सफलता' अनुच्छेद के भाग (vii) में देखें।)

बैंकों में एक्य की भावना भरने के लिए, कुछ वर्ष हुए बम्बई में भारतीय संयुक्त-स्कन्ध बैंकों की एक एसोसिएशन स्थापित की गई थी। इण्डियन इन्स्टीट्यूट आफ बैंकर्स (Indian Institute of Bankers) विश्वस्त एवं दायित्वपूर्ण पदों के लिए बैंक नियोजितों को प्रशिक्षण प्रदान करने की दिशा में बढ़िया काम कर रही है। रिजर्व बैंक ने १९५४ में बैंक कर्मचारियों और कार्यकर्त्ताओं के प्रशिक्षण के लिए एक कालेज स्थापित किया, जिसमें व्यापारिक बैंकों के निरीक्षकों को आवश्यक प्रशिक्षण प्रदान किया जा रहा है।

(इस प्रश्न के उत्तर में तीन चौथाई स्थान विधान और उसके प्रचलन सम्बन्धी विवरण को दीजिए।

प्रश्न ४—भारत में बैंकिंग व्यवसाय को विनियमित करने के उपायों पर विचार कीजिए। (पंजाब १९५४)

अथवा

देश में बैंकों को विनियमित करने के लिए बनाए गए विधान का परीक्षण कीजिए और सुधार के उपाय बताइए। (बम्बई १९५२)

Q 4—Discuss the measures adopted in India for the regulation of banking *(Punjab 1954)*

Or

Examine recent legislation for regulating banks in this country and suggest improvements *(Bombay 1952)*

(उपरिलिखित प्रश्न दो के उत्तर में दिए गए बैंकिंग विधान का उल्लेख कीजिए। ऐसा करते समय केवल उसका वर्णन ही न कीजिए प्रत्युत भारतीय बैंकिंग के मुख्य दोषों के विषय में जिन्हें दूर करने की चेष्टा की गई है विश्लेषणात्मक रूप से लिखिए।)

प्रश्न ५—भारत में बैंकों पर सवैधानिक नियन्त्रण की क्या सीमा है? क्या ये नियन्त्रण, निक्षेपकों के हितों की पर्याप्त रूप में रक्षा करते हैं?

Q 5—What is the extent of statutory control over banks in India? Does it safeguard sufficiently the interest of the depositors?

(प्रथम भाग के लिए प्रश्न दो को देखें।)

भाग २—यह निक्षेपकों या अमानतदारों के हितों की पर्याप्त रक्षा करता है। जो भी हो, सुदृढ़ बैंकिंग परम्पराएँ और चलन भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं जो बैंकरों की उत्तरदायित्वपूर्ण सेवा भावना पर अधिक निर्भर करते हैं। हाल ही में सराफ समिति ने भारत के लिए अमरीकी नमूने की फैडरल डिपाजिट इन्श्योरेंस कार्पोरेशन (Federal Deposit Insurance Corporation) के समान इण्डियन डिपाजिट निगम या भारतीय निक्षेप बीमा निगम की स्थापना पर बल दिया है। ऐसे निगम की स्थापना का आशय यह है कि बैंक के निक्षेपों की निधि का बीमा हो जाएगा और बैंक टूटने की स्थिति में उनको हानि नहीं होगी। निगम बैंक के काम की निगरानी करेगा। अमरीका में यह तरीका बड़ा सफल हुआ है और १९४४ के बाद से कोई

बैंक भी नहीं टूटा है । नियम स्थापना के लिए सक्रिय उपाय करने चाहिएँ । इससे बैंकिंग व्यवस्था को काफी बढ़ावा मिलेगा ।

प्रश्न ६—भारतीय बैंकिंग में नवीन प्रवृत्तियों का वर्णन करें । रिज़र्व बैंक ने देश में सुदृढ़ बैंकिंग के विकास में क्या भाग लिया है ? (बम्बई १९५४)

Q 6—Outline the recent trends in Indian Banking. What is the part that the Reserve Bank has played in the development of sound banking in the country ? *(Bombay 1954)*

द्वितीय विश्व युद्ध और तत्काल युद्धोत्तर वर्षों में भारतीय संयुक्त-स्कन्ध बैंकिंग ने मुद्रा स्फीतिपूर्ण परिस्थिति, सस्ती द्रव्य व्यवस्थाओं और पर्याप्त निरीक्षण और नियन्त्रण के अभाव के कारण वेगपूर्ण प्रगति की । यह प्रगति निक्षेपों और बैंकों की शाखाओं की संख्या में घटनावश वृद्धि से स्पष्ट हो जाती है । यह प्रगति केवल परिमाणात्मक थी और प्रमाणात्मक नहीं थी । वस्तुतः, बहुत सी बुराइयाँ पैदा हो गईं, उदाहरण के लिए दोषपूर्ण अग्रिम देने की व्यवस्था, शाखा खोलने की दोषपूर्ण नीति, तरल आस्तियों का अभाव, एकाधिकारपूर्ण नियन्त्रण और हिसाब लेखा आदि में मनमाना घोटाला आदि ।

विभाजन और उसके परिणामों ने भारतीय बैंकिंग को एक अस्थायी धक्का पहुँचाया । वह बैंक जो अधिकांशतः उन क्षेत्रों में कार्य कर रहे थे, जो विभाजन के उपरान्त पश्चिमी पाकिस्तान में चले गए-उन पर अत्यधिक विपरीत प्रभाव पड़ा । उन्हें अपने दफ्तरों को बन्द कर देना पड़ा और उन्होंने पर्याप्त मात्रा में अप्राप्त आस्तियाँ भी वहीं छोड़ दीं । कई बैंकिंग कम्पनियों को भुगतान स्थगित करना पड़ा । जो भी हो, भारतीय बैंकिंग प्रणाली ने समग्र रूप में इस मुसीबत के तूफ़ान को सह लिया ।

सर्वप्रथम परिमाणात्मक पक्ष पर विचार करते हुए, हमें बैंकों और उनकी शाखाओं की संख्या पर ध्यान देना चाहिए । अनुसूचित बैंकों की संख्या १९४७ से लेकर प्रायः स्थिर रही है, (१९४९, '५० तथा '५१ के अन्त में ९४; १९५६ के अन्त में, ८९; और १९५७ के अन्त में ९१) किन्तु गैर-अनुसूचित बैंकों की संख्या क्रमशः गिरती गई है । उदाहरण के लिए १९५२ में ४२५, १९५६ में ३५४ । उसी प्रकार बैंकों की शाखाओं की संख्या में भी कमी हुई है । १९४६ में ४,८८६; १९४७ में ४,८१६; १९५० में ४,३१०; और १९५३ में ४,०२१ । यह स्थिति अधिकतर गैर-अनुसूचित या अनुसूचित बैंकों की हुई है जिनकी संख्या इस प्रकार घटी है १९४६—२,०२९, १९५३—१,३५१ और १९५७—१,११३ । यह बैंकिंग अधिनियम के कार्यकारी होने के कारण हुआ । कुछ बैंकिंग कम्पनियों ने अपने-आपको गैर-बैंकिंग कम्पनियाँ घोषित कर दिया ।

बहुत से बैंकों को मिलाकर उनका एकीकरण भी बैंकों की संख्या को कम करने में सहायक सिद्ध हुआ । हाल ही के वर्षों में अनुसूचित बैंकों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई है । इनकी वृद्धि की स्थिति इस प्रकार है—१९५१ में २,६४६, १९५३ में २,६७०; १९५४ में २,७४६, १९५५ में २,८३८, १९५६ में २,९५३, १९५७ में ३,२६३; और ३१ मार्च १९५९ को उनकी संख्या ३,७१३ थी ।

योजना के लिए आवश्यकताओं में उत्तरोत्तर वृद्धि के फलस्वरूप देश की अर्थ व्यवस्था में निरन्तर फैलाव हो रहा है। उद्योग और व्यापार साख की अधिकाधिक मांग कर रहे हैं जब कि देश के साधनों में वृद्धि नहीं हुई है। राजकोषीय नीति के प्रवतक प्रवृत्त्य साख नियन्त्रण (Selective Credit Control) की नीति का अनुसरण कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त वे ब्याज की दर बढ़ाकर भी साख की मात्रा पर अकुश लगा रहे हैं। फिर भी इस बात का प्रयत्न किया जा रहा है कि उद्योगो और वाणिज्य व्यवसाय की वास्तविक आवश्यकताएँ अपूर्ण न रह जाएँ।

देश की अर्थ व्यवस्था म पूँजी के विनियोजन की दर म वृद्धि के साथ अधिकोषण व्यापार म जैसा कि निक्षेपो और अग्रिमो मे वृद्धि से स्पष्ट परिलक्षित है, स्पष्ट वृद्धि हुई है। १९५७ मे विशेष रूप से निक्षेप निधि का बैंको म विस्तार हुआ।

१९५६ में निक्षेपा मे वृद्धि उतनी नही हुई जितनी कि अग्रिमो में हुई थी। फल यह हुआ कि बैंको की तरलता स्थिति या नकद रोक स्थिति तग रही। १९५७ मे यह प्रवृत्ति बदल गई जब कि साख म वृद्धि की अपेक्षा निक्षेप निधि म वृद्धि लगभग तीन गुनी हुई। रिज़र्व बैंक ने साख पर नियन्त्रण लगाकर साख की वृद्धि को रोका।

रिजर्व बैंक की नीति का मुख्य पक्ष यह था कि उद्योगो और देश की अर्थव्यवस्था के विकास के लिए अबाध गति से साख मिलती रहे। समस्त बैंक साख के मुकाबले औद्योगिक साख १९५५ के अन्त में ३४ ३ थी। वह बढकर १९५६ के अन्त म ३८ ५ और १९५७ के अन्त मे ४३ ६ हो गई। औद्योगिक अग्रिमो मे उन्नति के साथ साथ वाणिज्यिक अग्रिमो म आनुपातिक कमी होती रही। उनमे १९५५ मे ४९ १ करोड रु० से १९५६ म ४७ ५ करोड रु० और १९५७ म ४२ ७ करोड रु० के व्यापारिक अग्रिम रहे।

१९५६ म बैंक विनियोजन बैंक अग्रिमो के मुकाबले कम हुए। विनियोजन की राशि गिरकर १८ करोड रु० निश्चित हुई। इस प्रकार शुद्ध निक्षेप निधि के मुकाबले विनियोजन निधि का अनुपात १९५५ में ४२ ४% से गिरकर १९५६ में ३७ ५% रह गया। किन्तु १९५७ में यह प्रवृत्ति बदल गई। अग्रिमो की मन्द वृद्धि बनाम निक्षेपो मे अत्यधिक वृद्धि के कारण अनुसूचित बैंको की पूँजी म विस्तार हुआ। जहाँ १९५६ म १८ करोड रु० की कमी थी, वहाँ १९५७ मे ८९ करोड रु० की वृद्धि दिखाई दी। इस दिशा म सर्वाधिक वृद्धि स्टेट बैंक आफ इण्डिया मे दिखाई दी।

१९५६ म अनुसूचित बैंको को रिजर्व बैंक की सहायता पर आश्रित होना पडा क्योकि उन्हे अपने साधनो और अपनी प्रतिभूतिया या अग्रिमो के बीच की खाई को पाटना अभीष्ट था। अनुसूचित बैंको द्वारा लिय गए ऋण की राशि १९५५ मे केवल २० ४ करोड रु० थी, जो बढकर १९५६ में ५६ ३ करोड रु० तक जा पहुँची। १९५७ म अनुसूचित बैंको के ऋण घटने लग। जहाँ १९५६ म ऋणो म ३६ ३ करोड की वृद्धि थी, १९५७ म ४१ ६ करोड रु० की कमी हो गई।

भारतीय बैंकिंग मे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण नवीन प्रवृत्ति यह है कि रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने साख की वृद्धिपूर्ण सीमा पर नियन्त्रण लगा दिया है। रिजर्व बैंक की

साख-निरोध सम्बन्धी नवीन नीति की सफलता उसे स्पष्टतया प्रकट करती है। रिजर्व बैंक वर्तमान मे अधिक सम्मानित और प्रभावपूर्ण स्थिति मे हो गया है, जिसके फलस्वरूप, इसके द्वारा प्रदान किए नेतृत्व का पहले की अपेक्षा अब अधिक तत्परता के साथ अनुकरण किया जा रहा है।

बैंकिंग प्रणाली में लोचपूर्ण साख का उपाय भी जारी किया गया है। इसके लिए रिजर्व बैंक ने अधिपत्र बाजार की रचना के लिए उपाय किए थे। फलस्वरूप व्यापार की तेजी के दिनों मे साख बढती जाती है और मन्दी के दिनों में साख सिकुड जाती है।

१९५८ में प्रमुख अनुसूचित बैंकों मे आपस में निक्षेपो पर ब्याज की दरों के सम्बन्ध में जो समझौता हुआ था, वह बैंकिंग के विकास में एक महत्त्वपूर्ण कदम था।

उपरिलिखित प्रवृत्तियो को हम सार-रूप में इस प्रकार कह सकते हैं कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति काल से, और अधिक विशेषतापूर्वक बैंकिंग कम्पनियों सम्बन्धी अधिनियम के प्रचलित होने से लेकर विस्तार के बजाय बैंक-कार्य में सगठन का उपाय सर्वथा उचित हुआ है। यह संगठन निम्न प्रभावों से हुआ था—

(क) बैंकिंग विधान जिसके द्वारा बैंको के सगठन और कार्यक्रमो पर नियन्त्रण लगाए गए; (ख) १९४९ के बैंकिंग अधिनियम के द्वारा रिज़र्व बैंक को व्यापक शक्तियों का देना; (ग) अत्यन्त सावधानी के साथ रिजर्व बैंक के द्वारा अपने उत्तरदायित्वो को पूरा करना और बैंको का निरीक्षण और अधीक्षण। तभी से बैंक भी अपने प्रबन्ध मे उत्तरदायित्व की भावना से काम कर रहे हैं।

रिजर्व बैंक द्वारा किए गए कार्यों के लिए प्रश्न ६ के बाद अभ्यास २ देखिए। साथ ही प्रश्न ८ के भाग vii को भी देखिए।

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया (State Bank of India)—भारतीय द्रव्य बाजार में इसकी असाधारण स्थिति है। सरकार के एक अधिनियम द्वारा, १९२१ मे तीन प्रेसीडैंसी बैंको को मिलाकर इसका निर्माण किया गया। ऐसा करने का उद्देश्य यह था कि साधारण बैंकिंग कृत्यों के अतिरिक्त इसे केन्द्रीय बैंक के कुछ कृत्यों का भी पालन करना चाहिए, जैसे, (i) यह सरकार के लिए बैंकर रूप में कार्य करे, और (ii) यह अन्य बैंको के लिए बैंकर का कार्य करे। सरकार का बैंकर और साख का नियन्त्रण-कर्त्ता होने की दृष्टि से इसके कारोबार पर कतिपय प्रतिबन्ध लगाए गए, अर्थात्, इसे विदेशी विनिमय में व्यवहार करने और ६ मास से अधिक के लिए द्रव्य उधार देने की मनाही थी।

१९३५ में, रिजर्व बैंक की स्थापना के साथ इसम केन्द्रीय बैंकिंग के कार्यों को वापस ले लिया गया। किन्तु इसे रिजर्व बैंक के प्रतिनिधि रूप में इस उद्देश्य से नियुक्त कर दिया गया कि जिन स्थानो पर रिजर्व बैंक की निजी शाखाएं नहीं हैं, वहाँ यह सरकारी बैंकिंग का कारोबार करे। इस पर जो पुराने प्रतिबन्ध थे, उन्हें प्राय. हटा दिया गया। वर्तमान स्थिति—इस तथ्य के बावजूद कि इम्पीरियल बैंक अब देश का केन्द्रीय बैंक नहीं रहा, वह अब भी भारतीय द्रव्य-बाजार मे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण भाग लेता रहा था।

अभी हाल ही तक, इस बैंक के विषय में भारतीय लोकमत अत्यधिक कटु था। इसके विरुद्ध बहुधा यह आरोप था कि वह भारतीय व्यापारियों के साथ भेदभाव बरतता था। देश के राजनैतिक स्तर में परिवर्तन हो जाने से, भेदपूर्ण व्यवहार तथा उच्च अधिकारियों के भारतीयकरण दोनों के विषय में ठोस उन्नति हो गई।

चिरकाल से इसके राष्ट्रीयकरण की प्रबल माँग हो रही थी। यह माँग दो धारणाओं पर आधारित थी—(i) क्रियात्मक रूप में यही है कि वह बैंक ही सरकार का बैंकर है, फलत, अब चूँकि रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हो चुका है इसलिए, इसका भी राष्ट्रीयकरण होना चाहिए। (ii) प्रस्तुत बैंक जिन विशाल साधनों और उच्च प्रतिष्ठा का भागी है, उसके कारण रिजर्व बैंक इसका समुचित नियन्त्रण नहीं कर सकता।

ग्रामीण साख सर्वेक्षण की निर्देश समिति ने इस प्रश्न को सामने रखा और देश में स्टेट बैंक की स्थापना की सिफ़ारिश की। स्टेट बैंक के उद्देश्य इस प्रकार रखे गए—यह राज्य के साझे में ऐसी मजबूत वाणिज्यिक संस्था हो जिसका कार्यतन्त्र प्रभावी हो तथा देश के सभी भागों में इसकी शाखाएँ हों और ऐसी राष्ट्रीय नीति के अनुकूल कार्य करे जिससे सहकारी तथा अन्य बैंकों को विप्रेषण (remittances) की सुविधाओं के कारण बैंकिंग व्यवस्था के विस्तार में सहायता मिले। सरकार ने समिति की सिफ़ारिशों को मान लिया और लागू करने के लिए स्टेट बैंक बनाने की घोषणा की, जिसमें इम्पीरियल बैंक की सम्पत्ति, देनदारियाँ, दातव्य तथा आस्तियाँ भी शामिल हों।

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की प्राधिकृत शेयर पूँजी २० करोड़ रुपये है। निर्गमित (issued) पूँजी ५.६२५ करोड़ रुपये है। इसे रिजर्व बैंक के साथ जोड़ दिया गया है (इम्पीरियल बैंक के शेयर इधर हस्तान्तरित होने के कारण)। इम्पीरियल बैंक के पिछले शेयरहोल्डरों को इस दर पर मुआवजा दिया जाएगा—पूर्ण प्रदत्त शेयर के लिए १,७६५-१०-० प्रति शेयर तथा आंशिक प्रदत्त शेयर के लिए ४३१-१२-४ प्रति शेयर। मुआवजा केन्द्रीय सरकार की सिक्युरिटियों के रूप में दिया जायगा। शेयर-होल्डरों की इच्छा के अनुसार स्टेट बैंक के अधिकतम २०० शेयर दिए जा सकते हैं। स्टेट बैंक के १०० रुपये के नए शेयर ३५० रुपये पूर्ण प्रदत्त में दिए जा रहे हैं। कुछ किस्म के शेयरहोल्डरों को यदि वे १ अक्तूबर, १९५५ से पहले आवेदन-पत्र भेजते तो १०,००० रुपये मुआवजा देने का उपबन्ध था। यदि स्टेट बैंक चाहे तो सरकार की मंजूरी से, राज्य एसोशिएटेड बैंकों की नकदी अथवा अपने शेयर देकर उनका कारोबार खुद सँभाल सकता है। यदि स्टेट बैंक की निर्गमित पूँजी बढ़ा दी जाए तो भी रिजर्व बैंक के पास निर्गमित पूँजी का ५५% इसके पास रहेगा।

स्टेट बैंक का प्रबन्ध केन्द्रीय बैंक में सन्निहित रहेगा। रचना इस प्रकार होगी—

१ रिजर्व बैंक की सलाह से अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष की नियुक्ति होगी।

२ केन्द्रीय सरकार के अनुमोदन से केन्द्रीय बैंक दो से अधिक मैनेजिंग डायरेक्टरों की नियुक्ति नहीं कर सकता।

३. रिजर्व बैंक के अलावा शेयरहोल्डर छः डायरेक्टर निर्वाचित करेंगे।

४. प्रादेशिक तथा आर्थिक हितों की रक्षा के लिए रिजर्व बैंक की सलाह से केन्द्रीय सरकार आठ डायरेक्टर मनोनीत करेगी। इनमें से कम-से-कम दो सहकारी तथा ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के विशेषज्ञ होंगे।

५. *केन्द्रीय सरकार एक डायरेक्टर मनोनीत करेगी।*

६. रिजर्व बैंक एक डायरेक्टर मनोनीत करेगा।

स्टेट बैंक ने अपनी स्थापना के बाद से दिसम्बर, १९५७ तक २९२ नई शाखाएँ खोली हैं और उसने विदेशी विनिमय के विकास में महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। १९५७ में स्टेट बैंक अधिनियम में एक संशोधन किया गया था जिसके फलस्वरूप उसका संगठन और उदार हो गया।

विनिमय बैंक
(Exchange Banks)

प्रश्न ७—भारत में काम करने वाले विनिमय बैंकों का वर्णन करें। इस प्रकार के बैंकों की कार्यकारिता भारतीय हितों के लिए किस प्रकार हानिकर हुई है? उनके विषय में उपयुक्त नीति का सुझाव दें।

Q. 7—Give an account of the Exchange Banks working in India How has the working of such banks been detrimental to *Indian interests? Suggest a suitable policy in regard to them.*

विदेशी व्यापार की अर्थ-व्यवस्था आन्तरिक व्यापार की अर्थ-व्यवस्था से भिन्न होती है। इस उद्देश्य के लिए, खास किस्म के बैंकों का आश्रय लेना होता है, जिन्हें विनिमय बैंक कहते हैं। दुर्भाग्यवश, भारत के विदेश व्यापार की अर्थ-व्यवस्था सम्बन्धी इस कारोबार पर, जो अत्यधिक लाभ-पूर्ण व्यापार है, विदेशी बैंकों का नितान्त एकाधिकार है।

आजकल १५ विदेशी विनिमय बैंक हैं। उनमें से महत्त्वपूर्ण बैंकों के ये नाम हैं—लॉयड्स बैंक, नेशनल सिटी बैंक ऑफ न्यूयार्क, नेशनल बैंक ऑफ इण्डिया, मर्कन्टाइल बैंक ऑफ इण्डिया, और चार्टर्ड बैंक ऑफ इण्डिया।

उनके कृत्य (Their Functions)—(१) उनका मुख्य कृत्य, जैसा कि पूर्वतः उल्लेख किया जा चुका है, देश के विदेशी व्यापार के लिए अर्थ-प्रबन्ध करना है। यह दो प्रक्रियाओं द्वारा संयोजित है—(क) भारतीय बन्दरगाहों से विदेशी बन्दरगाहों तथा प्रतिक्रम से वस्तुओं के आवागमन के लिए अर्थ-प्रबन्ध करना; (ख) संग्रह करने के केन्द्रों से बन्दरगाहों तक (निर्यात के लिए) और बन्दरगाहों से वितरण केन्द्रों तक (आयातों के लिए) वस्तुओं के आवागमन के लिए अर्थ-प्रबन्ध। (क) प्रायः पूर्णतया विदेशी बैंकों द्वारा किया जाता है, जबकि (ख) का एक भाग भारतीय संयुक्त पूँजी बैंकों द्वारा भी किया जाता है। भारतीय निर्यातक अपने अधिपत्रों का प्रापण करा लेते हैं और अधिक निर्यात करते हैं। जहाँ तक सम्बन्ध आयातों का है, उसकी विधि कुछ जटिल है।

(२) उन्होंने आन्तरिक व्यापार में भी वृद्धिपूर्ण भाग लेना शुरू कर दिया है, जैसे, पश्चिमी बंगाल में जूट व्यापार, कानपुर में चमड़ा व्यापार, दिल्ली में वस्त्र व्यापार। इस उद्देश्य के लिए उनकी बहुत सी शाखाएं हैं जो वर्तमान में ६५ हैं।

(३) वह अन्य बैंकिंग कारोबार भी करते हैं, जैसे अमानतें स्वीकार करना, पेशगियाँ देना, अधिपत्रों का आदान प्रदान, विदेशी चलमुद्राओं का क्रय विक्रय आदि।

(४) चूंकि रिजर्व बैंक ने विनिमय नियन्त्रण प्रचलित किया है, इसलिए इन विनिमय बैंकों को रिजर्व बैंक ने विदेशी चलमुद्राओं में अधिकृत व्यापारी नियुक्त किया हुआ है। वह केवल उन्हीं के साथ ऐसी चलमुद्राओं का क्रय और विक्रय कर सकते हैं जिनके पास रिजर्व बैंक का स्वीकृति-पत्र होता है।

विनिमय बैंकों का विरोध (Case against the Exchange Banks)—हमारी सर्वाधिक स्पष्ट आपत्ति यह है कि बैंकिंग प्रणाली के ऐसे लाभपूर्ण भाग का विदेशी स्वामित्व देश से प्रति वर्ष कई करोड़ रुपया जो ये बैंक हमारे यहां से अपने लाभों के रूप में बाहर भेजते हैं सोख ले जाता है। लेकिन इसका यहीं अन्त नहीं होता। ये बैंक हमारे देश में मेहमान के समान होने पर भी हमें लाभ न पहुँचाकर अपने हितों की रक्षा करते हैं। उदाहरण के लिए—

(१) वे भारतीय आयातकों तथा अपने देश वालों के बीच भेद भाव की नीति बरतते हैं। इस प्रकार भारतीय आयातकों को भारी हानि होती है।

(२) उपरान्त वह अनेक दिशाओं में भारतीय उद्योगों को निरुत्साहित करने के लिए अपने भाग को भी छोड़ देते हैं जैसे भारतीय जहाजी और बीमा कम्पनियाँ, तथा भारतीय आढ़ती फर्में। वह इसे इस प्रकार करते हैं। वह बहुधा उन भारतीय निर्यातकों को, जिन्हें वह धन देते हैं बाध्य करते हैं कि वे केवल विदेशी बीमा कम्पनियों तथा जहाजी कम्पनियों के साथ व्यवहार करें।

(३) विदेशी व्यापार के अर्थ-प्रबन्ध से ही सन्तोष न पाकर, वह वृद्धिपूर्ण ढंग से भारतीय वाणिज्यिक बैंकों के कारोबार को भी हड़प कर रहे हैं। इस प्रकार उन्होंने भारतीय बैंकों की स्थिति को क्षीण बना दिया है। उदाहरण के लिए, १ जुलाई, १९५५ को विनिमय बैंकों की अवशिष्ट बैंक साख १६८०३ करोड़ रु० थी और विदेशी बिलों की बट्टा रकम कुल २३ ७५ करोड़ रु०। इससे यह स्पष्ट होता है कि वे विनिमय बैंकिंग के अलावा वाणिज्यिक बैंकिंग की ओर अधिक ध्यान दे रहे हैं, और इस प्रकार भारतीय अनुसूचित बैंकों को क्षीण बना रहे हैं।

(४) तिस पर देश में से उत्पादित पूंजी का भारतीय कारोबारों के लाभ के लिए विनियम करने के बजाय, ये बैंक अपनी भारतीय पूंजी का अधिकांश भाग बहुधा विदेशी उद्योगों की वित्त व्यवस्था या विदेशी सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोग के लिए बाहरी देशों में भेज देते हैं। इस प्रकार भारतीय व्यापारों के लिए पूंजी का विद्यमान अभाव अधिक बढ़ जाता है।

(५) वह जान बूझकर भारतीयों को विनिमय बैंकिंग कारोबार में उच्च प्रशासन एवं प्रौद्योगिक पदों से दूर रखते हैं। इस तरह, भारतीय तो कदापि इस कारोबार को नहीं सीख सकेंगे।

इन विनिमय बैंकों की इस प्रकार की हित-विरोधी कार्यकारिता इसलिए सम्भव हुई कि १९४९ तक ये बैंक विशेषाधिकार सम्पन्न स्थिति में थे। उन पर विशिष्ट प्रतिबन्धों को लगाने के बजाय, उन पर भारतीय बैंकों के समान सामान्य नियमन तक भी लागू नहीं होते थे।

जो भी हो, यह प्रसन्नता की बात है कि १९४९ के बैंकिंग कम्पनी अधिनियम ने न केवल उन्हें उनकी विशेषाधिकार-पूर्ण स्थिति से वंचित किया है, प्रत्युत उन पर कतिपय विशिष्ट प्रतिबन्ध भी लगा दिए हैं। भारतीय बैंकों पर लागू होने वाले निषेधों की पाबन्दी के अतिरिक्त, विदेशी बैंकों पर अब कुछेक अतिरिक्त नियमन भी लागू किए गए हैं। इनमें से कुछेक ये हैं—(i) उच्च न्यूनतम प्रदत्त पूंजी और अधिरक्षण (सामान्यतया १५ लाख रु०, और २० लाख रु० उस दशा में जबकि उनकी शाखा बम्बई और/या कलकत्ता में हो) और पूंजी तथा अधिरक्षणों को रिजर्व बैंक में जमा रखना होगा, (ii) प्रत्येक वर्ष के अन्त पर, कुल भारतीय अमानतों का ७५% भारत में रखा जाए या नियोजित किया जाए, (iii) यदि ऐसा कोई बैंक असफल हो जाए, तो रिजर्व बैंक में रखी उसकी अमानतों पर पहला अधिकार भारतीय अमानतदारों का होगा, (iv) इन बैंकों को प्रतिवर्ष अपनी भारतीय शाखाओं के कारोबार के परीक्षित लेखों को जुदा से प्रकाशित करना होगा।

विनिमय बैंकों के विषय में समुचित नीति—स्पष्टतया, यद्यपि १९४९ से पूर्व की स्थिति में उन्नति हुई है, तथापि बैंकिंग अधिनियम के ये निषेध विदेशी बैंकों को भारतीय हितों के लिए घातक कार्यकारिता से पर्याप्त रूप में रोकते नहीं। इसलिए, उनसे हानि की सम्भाव्यता और सीमा को कम करने की दृष्टि से, अबाध रूप में अनेक प्रतिबन्धों के प्रस्ताव किए गए हैं। उदाहरणार्थ, यह प्रस्ताव किया गया है कि ऐसे बैंकों की शाखाएं केवल बन्दरगाह-स्थित नगरों तक ही सीमित रखी जाएं, उन्हें विदेशी व्यापार के लिए अर्थ-प्रबन्ध की आवश्यकताओं से अधिक भारतीय अमानतों को स्वीकार करने की आज्ञा न दी जाए, उन्हें उच्च पदों पर भारतीय कार्यकर्त्ता नियोजित करने के लिए बाध्य किया जाए।

इस प्रकार के प्रतिबन्धों का निश्चित परिणाम यह होगा कि सम्बन्धित देश भी प्रतिकारात्मक करेंगे। फलत, उन्हें लगाना उचित नहीं जान पड़ता।

इससे कहीं अच्छी नीति यह होगी कि एक भारतीय विनिमय बैंक शुरू किया जाए। इस तरह के बैंक की स्थापना से विदेशी बैंकों से बेहतर व्यवहार की आशा की जा सकती है अथवा विपरीतावस्था में उन्हें अपने कारोबार में क्षति सहन करनी होगी। इसमें सन्देह नहीं कि चिरकाल से स्थापित इन विदेशी बैंकों की कड़ी प्रतियोगिता के सामने ऐसे बैंक का सफल होना अत्यधिक कठिन होगा। किन्तु सफलता असम्भव भी नहीं है। जैसा कि केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमीशन ने सुझाव दिया है, बड़े बड़े भारतीय संयुक्त-पूंजी बैंकों को चाहिए कि वे ऐसा बैंक शुरू करने के लिए अपने साधनों को एक साथ जमा करें। हमारा प्रस्ताव है कि रिजर्व बैंक को आरम्भ करना चाहिए, और उसे उसके निर्माण में सहायक होना चाहिए।

चूंकि ऐसे बैंक की स्थापना में पर्याप्त समय लगेगा, इसलिए, इस बीच

भारतीय बैंकों को सहकारिता के आधार पर बड़े बड़े विदेशी केन्द्रों में एजेंसियाँ खोल लेनी चाहिएँ।

रिज़र्व बैंक आफ इण्डिया
(Reserve Bank of India)

भारतीय बैंकिंग और चलमुद्रा के इतिहास म १ अप्रैल, १६३५ चिरस्मरणीय रहेगा। यही वह दिन था, जबकि देश के केन्द्रीय बैंक, रिज़र्व बैंक आफ इण्डिया की स्थापना हुई।

विधान और प्रबन्ध (Constitution and Management)—रिज़र्व बैंक ५ करोड़ रु० की प्रदत्त पूंजी के साथ हिस्सेदारों के बैंक रूप म शुरू किया गया था। इसका प्रबन्ध और नियन्त्रण चार स्थानीय बोर्डों की सहायता के साथ सचालकों की एक केन्द्रीय समिति को सौंपा गया था। १ जनवरी, १६४६ से इसका राष्ट्रीयकरण हो गया, अर्थात्, इसका स्वामित्व और नियन्त्रण सरकार के हाथों मे बदल गया। निःसन्देह, हिस्सेदारों को मुआवजा दिया गया। जहाँ तक नियन्त्रण का सम्बन्ध है अब भारत सरकार ही है जो नीति-विषयक निश्चय करती है और रिज़र्व बैंक को उसे चलाना होता है। वास्तविक प्रबन्ध के लिए एक केन्द्रीय बोर्ड की स्थापना की गई है, जो भारत सरकार के समय-समय पर दिए निर्देशों को दृष्टि म रखते हुए बैंक के मामलों का प्रबन्ध करता है। यह केन्द्रीय बोर्ड केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त गवर्नर तथा दो डिप्टी गवर्नरों और केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत तीन सचालकों तथा एक सरकारी अधिकारी द्वारा संयोजित होता है। पहले की तरह चार स्थानीय बोर्ड भी हैं, प्रत्येक मे सरकार द्वारा मनोनीत पांच सदस्य होते हैं। केन्द्रीय और स्थानीय बोर्डों के सदस्य चार वर्ष तक पद ग्रहण किए रहते हैं।

(क) कृत्य—बैंक निम्न केन्द्रीय बैंकिंग कृत्यों का पालन करता है—

(१) यह कागजी मुद्रा निर्गम करता है। एक रुपए के नोटों के सिवाय, जिन्हे भारत सरकार का अर्थ सचिवालय जारी करता है, सम्पूर्ण नोट निर्गम रिज़र्व बैंक द्वारा होता है। (बैंक जिस नोट निगम प्रणाली का अनुसरण करता है, उसके विस्तार के लिए अध्याय २२ के प्रश्न एक के सम्बन्धित उत्तर अंश को देखें।)

(२) यह सरकार का बैंकर रूप में कार्य करता है। सरकार का सारा बैंकिंग कारोबार इस बैंक द्वारा किया जाता है, जैसे यह सरकार की ओर से सब भुगतान प्राप्त करता और देता है उसके कोषों को भेजता है उसके लिए विदेशी चलमुद्राओं का क्रय और विक्रय करता है, और सब बैंकिंग मामलों पर उसे परामर्श देता है।

(३) यह बैंकों का बैंकर है और साख का नियन्त्रणकर्त्ता है। यह अन्य बैंकों का इस रूप म बैंकर है कि यह उनके कोषों को रखता है, उन्हें कोष प्रदान करता है, उन्हें विदेशी विनिमय देता और बेचता है और आवश्यकता के समय उन्हे पेशगियाँ देता है।

साख का नियन्त्रणकर्त्ता और देश की बैंकिंग प्रणाली म सर्वोच्च संस्था होने के नाते, यह बैंकों की देख रेख और साथ साथ नियन्त्रण के अधिकारों का प्रयोग करता है, और जब कभी वे कठिनाई में पड़ जाएँ, तो उनकी रक्षा करता है।

१९४९ के बैंकिंग कम्पनी अधिनियम की स्वीकृति और १९५० में इसके संशोधन से देख-रेख एवं नियन्त्रण की शक्तियों में अत्यधिक वृद्धि हो गई है। इस अधिनियम के अनुसार बैंकों के विषय में रिजर्व बैंक के निम्न मुख्य अधिकार हैं—(i) सब बैंकिंग कम्पनियों, नई और पुरानी दोनों, को अपना बैंकिंग कारोबार चलाने या शुरू करने के लिए इससे लाइसेन्स लेना होगा, (ii) वह उसकी आज्ञा के बिना न तो नई शाखाएं खोल सकते हैं और न ही पुरानी शाखाओं के स्थान में परिवर्तन कर सकते हैं, (iii) बैंकिंग कम्पनियों की विलय सम्बन्धी सब तजवीजें और अमानतदारों के साथ प्रबन्ध-विषयक योजनाएं स्वीकृति के लिए रिजर्व बैंक को पेश करनी होंगी; (iv) यह बैंकों का निरीक्षण कर सकता है; (v) यह समयान्तर अथवा तत्सम्बन्धी किन्हीं भी प्रत्ययों की मांग कर सकता है और सरकार को इस बात की भी सिफारिश कर सकता है कि अमुक बैंक को नई अमानतें लेने की मनाही कर दी जाए; और (vi) इसके बाद बैंकों की ऋण-नीतियों के विषय में अत्यधिक विस्तृत अधिकार हैं, जैसे, उनके ऋणों के उद्देश्यों, ली जाने वाली ब्याज-दर और सुरक्षित पेशगियों के लिए गुंजाइश रखने के विषय में।

संक्षेप में, रिजर्व बैंक का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृत्य देश में बैंकिंग को नियमित करना है और इस कृत्य को पूर्ण करने की शक्तियां अब अत्यधिक विस्तृत कर दी गई हैं और उन्हें अनुविहित आधार प्रदान कर दिया गया है।

बैंकों के उपरिलिखित नियमन द्वारा साख का नियन्त्रण करने के अतिरिक्त, रिजर्व बैंक दो अन्य महत्त्वपूर्ण विधियों का अनुसरण करता है—(क) अपनी बैंकदर में वृद्धि या कमी करना, और (ख) इसकी खुले बाजार की प्रक्रियाएँ।

(४) यह रुपये के विदेश मूल्य को स्थिर रखता है। देश के अन्दर रुपये के मूल्य को स्थिर रखने के अतिरिक्त (चलमुद्राओं और साख के नियन्त्रण द्वारा) यह रुपये के विदेश मूल्य को अर्थात्, अन्य चलमुद्राओं के साथ उनकी विनिमय दर भी स्थिर रखने का महत्त्वपूर्ण कृत्य पूर्ण करता है। तदनुसार, १ मार्च, १९४७ से पहले बैंक ने १ रु०=१ शि० ६ पैंस (स्टर्लिंग) के अनुपात को स्थिर रखा था। इसी दिन अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा निधि की स्थापना हुई, और उसका सदस्य होने के नाते भारत पर यह दायित्व है कि वह १ रु०=० २६८६०१ ग्राम स्वर्ण की दर को स्थिर रखे। इसी दर की उसने निधि को भी सूचना दी। स्टर्लिंग की सान में यह दर पूर्व दर के ही समान थी। सितम्बर १९४९ में, यह दर (स्वर्ण और डालर की सान में) निधि की स्वीकृति से ० १८६६२१ ग्राम स्वर्ण तक कम हो गई। तभी स्टर्लिंग का भी उसी सीमा तक अवमूल्यन हो गया, किन्तु स्टर्लिंग रुपये का अनुपात वही का वही रहा। अमरीकी डालर की सान में १ रु०=२१ सैंट के है।

(५) यह कृषि-साख प्रदान करने में सहायक होता है। इस उद्देश्य के लिए इसका एक विशेष कृषि-साख विभाग है, जो कृषि-साख की सुविधाओं की वृद्धि के विषय में अत्यधिक सावधानी के साथ अध्ययन करता है। इस सम्बन्ध में यह सहकारिता आन्दोलन को बहुमूल्य पथ-प्रदर्शन प्रदान करता है जो ग्राम-साख को विस्तार देने और ...ी करने के लिए सर्वोपयोगी संस्था है। सहकारिता आन्दोलन के साथ निकट

सम्पर्क बनाए रखने के उद्देश्य से, इसने जुलाई १९५१ में कृषि-साख पर स्थायी परामर्शदात्री समिति का निर्माण किया था। इसने अखिल भारतीय ग्राम साख पर्यवेक्षण को भी पूर्ण कर लिया था।

इन गवेषणा एवं परामर्श सम्बन्धी कार्य-कलापों के अतिरिक्त, बैंक वित्त-व्यवस्था भी करता है (i) प्रान्तीय सहकारी बैंकों को ऋण देने से, और (ii) कृषि-फसलों के परिवर्तन या मौसमी कृषि विषयक प्रक्रियाओं के अर्थ-प्रबन्ध के लिए लिखे गए विनिमय-अधिपत्रों का प्रापण करने से। इधर कुछ वर्षों से यह कृषि-साख प्रदान करने में प्रगतिपूर्वक अधिकाधिक भाग ले रहा है।

(६) अन्ततः यह मुद्रा एवं वित्त व्यवस्था विषयक सूचना संग्रह करता एवं वितरित करता है। यह अपने निगम और बैंकिंग विभागों की कार्यकारिता के विषय में साप्ताहिक विवरण प्रकाशित करता है। इसके अतिरिक्त, चलमुद्रा, वित्त-व्यवस्था, बैंकिंग, सहकारिता आन्दोलन आदि के विषय में अनेक लाभपूर्ण सूचनाएँ बैंक द्वारा प्रकाशित की जाती हैं। एक मासिक बुलेटिन भी जारी की जाती है, जिसमें सामयिक राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक और मुद्रा विकासों का पर्यवेक्षण होता है।

(ख) सामान्य बैंकिंग कृत्य (General Banking Functions)—केन्द्रीय बैंकिंग कृत्यों की उपरिलिखित व्याख्या के बाद, बैंक के सामान्य बैंकिंग कृत्यों का भी उल्लेख करना होगा। वे निम्न हैं—

(i) द्रव्य—अमानतों को स्वीकार करना किन्तु ब्याज-रहित, (ii) कतिपय प्रतिबन्धों के साथ अधिपत्रों और प्रामिसरी नोटों का क्रय विक्रय और पुनः प्रापण करना, जैसे, इस प्रकार के अधिपत्र प्रामाणिक व्यवहारों के लिए जारी होने चाहिएँ कि जो पुनःप्रापण के क्रय से ९० दिन के अन्दर-अन्दर परिपक्व हो जाने चाहिएँ, यद्यपि मौसमी कृषि-विषयक प्रक्रियाओं या फसलों की बाजार बिक्री के अर्थप्रबन्ध के लिए जारी किए गए अधिपत्र क्रय या पुनःप्रापण की तारीख से १५ मास के अन्दर-अन्दर परिपक्व हो सकते हैं, इन सब अधिपत्रों पर दो प्रतिष्ठित हस्ताक्षर होने चाहिएँ, जिनमें एक किसी अनुसूचित बैंक या राज्य सहकारी बैंक का होना चाहिए; (iii) अनुसूचित बैंकों को स्टर्लिंग क्रय और विक्रय करना, किन्तु इसकी राशि एक लाख रुपए से कम नहीं होनी चाहिए; (iv) स्टर्लिंग तथा रुपया प्रतिभूतियों को पुनः कतिपय प्रतिबन्धों के साथ, क्रय और विक्रय करना, (v) अनुसूचित बैंकों और राज्य सहकारी बैंकों को सोना या स्टर्लिंग और रुपया प्रतिभूतियों या स्वीकृत अधिपत्रों की जमानत के विरुद्ध ९० दिन के लिए ऋण प्रदान करना; (vi) केन्द्रीय और राज्य सरकारों को पेशगियाँ देने के मार्ग और साधन निर्माण करना किन्तु ९० दिन के अन्दर-अन्दर उसका पुनः भुगतान हो जाना चाहिए।

(ग) वर्जित कारोबार (Forbidden Business)—देश का केन्द्रीय बैंक होने के नाते, इसे वाणिज्यिक बैंकों के साथ प्रतियोगिता नहीं करनी होगी। यही कारण है कि इसे अमानतों पर ब्याज देने की मनाही की गई है। इसकी वित्त-प्रबन्ध विषयक सुदृढ़ता को बनाए रखने के लिए अन्य प्रतिबन्ध यह हैं—इसे व्यापार करने

की आज्ञा नहीं है, न ही यह अचल सम्पत्ति को ले सकता है (सिवा अपने निजी कार्यालयों के लिए)।

प्रश्न ८—रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया जिन विभिन्न कृत्यों का पालन करता है, उनका वर्णन करें।

प्रकट करें कि देश का केन्द्रीय बैंक होने के नाते बैंक ने कहाँ तक सफलतापूर्वक या अन्यथा कार्य किया है। (दिल्ली १९५२; बम्बई १९५२)

Q 8—Describe the various functions performed by the Reserve Bank of India

Say how far successfully or otherwise the Bank has functioned as the Central Bank of the country. *(Delhi 1952 ; Bombay 1952)*

(बैंकों के कृत्यों के लिए उपरिलिखित "रिज़र्व बैंक के कृत्य" शीर्षक के अधीन सम्पूर्ण भाग को देखें।)

रिज़र्व बैंक सफल हुआ है या नहीं ?

(Whether the R B. has been a Success or not ?)

सफलताएँ (Achievements)—१ अप्रैल, १९३५ को रिज़र्व बैंक की स्थापना से भारत के मुद्रा एवं बैंकिंग इतिहास में एक नए युग का उदय होता है। इस बैंक को अपने जीवन-काल के विगत २२ वर्षों में अनेक सफलता-प्राप्तियों का श्रेय है। इन्हें निम्न प्रकार प्रकट किया जा सकता है—

(i) यह बैंक देश में ब्याज की सामान्य दर को कम करने में सफल हुआ है। उदाहरणार्थ रिज़र्व बैंक की स्थापना से पूर्व जो बैंक-दर ७ और ८ प्रतिशत के बीच भिन्न रूप की हुआ करती थी, वह नवम्बर १९३५ में इसके द्वारा ३ प्रतिशत तक नीचे लाई गई और वह उस स्तर पर उस समय तक स्थिर रखी गई जब १५ नवम्बर, १९५१ को उसमें ½ प्रतिशत की वृद्धि हुई।

(ii) द्रव्य-दरों में मौसमी भिन्नताओं का लोप हो गया है; भिन्न कारोबारी केन्द्रों में द्रव्य दरों की भिन्नता भी बहुत कम हो गई है।

(iii) बैंक प्रेषण सुविधाओं को अधिक सस्ता करने योग्य हुआ है।

(iv) अनेक सफलता प्राप्तियों में सर्वाधिक श्रेयपूर्ण यह है कि इसने देश में बैंकिंग विकास को, यद्यपि अप्रत्यक्ष, महान् बल प्रदान किया है।

(v) एक अन्य अपूर्व सफलता सार्वजनिक ऋण के प्रबन्ध की दिशा में है। बैंक युद्ध-काल में प्रायः सम्पूर्ण स्टर्लिंग ऋण को प्रत्यावर्तन करने में सफल हुआ है (अर्थात्, स्टर्लिंग ऋण को रुपये-ऋण में बदल दिया)। इसके अतिरिक्त, बैंक ने सफलतापूर्वक कम दरों पर केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के लिए ऋण जारी किए। सरकारी अधिपत्रों की बिक्री द्वारा सरकार के लिए उपाय और साधन के कोषों (अस्थायी कोषों) का भी सहज प्रबन्ध किया गया।

(vi) इसने रुपये के विनिमय मूल्य को स्थिर रखा है, बावजूद इस बात के कि कभी-कभी भारी दबाव हो जाता रहा है। तिस पर, युद्ध-प्रारम्भ के समय से प्रचलित विनिमय-नियन्त्रण को इसने अत्यधिक सफलतापूर्वक प्रशासित किया है।

(vii) एक उल्लेखनीय सफलता प्राप्ति भारतीय बैंकिंग कम्पनी विधेयक की

विधेयक रचना (जो १९४९ म अधिनियम रूप में स्वीकार हुआ) और तदनन्तर, अधिनियम की योग्यतापूवक क्रियाशीलता सम्बन्धी है इसने अधिनियम के निदेशा के परिपालन के लिए बैंकिंग प्रक्रियाओं का अलग विभाग स्थापित किया है।

(viii) इसने अपने कृषि साख विभाग द्वारा ग्राम वित्त प्रबन्ध की समस्याओं का अध्ययन करने म बहुत अच्छा काय किया है। इससे सहकारिता आन्दोलन का बहुमूल्य पथ प्रदशन किया जाता रहा है। गत तीन वर्षों म सहकारिता आन्दोलन के लिए ऋणो और पेशगियो के रूप म वित्तीय सहायता का आकार भी गतिपूर्वक बढ रहा है।

(ix) इसने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा और आर्थिक सम्मेलना मे भारत सरकार का श्रेयपूर्ण प्रतिनिधित्व किया है।

(x) इसन उद्योग के लिए दीर्घकालीन अर्थ प्रबन्ध की व्यवस्था हेतु इण्ड स्ट्रियल फाइनैन्स कारपोरेशन के सगठन म महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। पार्लियामट म नवम्बर १९५२ म एक विधेयक उपस्थित किया गया था जिसके अनुसार बैंक देश मे औद्योगिक वित्त-प्रबन्ध की दिशा में अधिक अशदान करने योग्य हो गया। उस अवस्था म उद्योग के वित्त प्रबन्ध के लिए इण्डस्ट्रियल फाइनैंस म कार्पोरेशन राज्य फाइनैन्स कार्पोरेशनो तथा राज्य सहकारी बैंको को ऋण प्रदान कर सकेगा।

(xi) बैंक के अनुसन्धान और आंकडा विभाग ने देश के समक्ष आने वाली आर्थिक समस्याओं का अनुसन्धान करने की दिशा म बडा भारी कार्य किया है। इस विभाग ने देश की आर्थिक अवस्थाओ के सम्बन्ध म अनेक प्रकार की आंकडा सम्बन्धी तथा विश्लेषणात्मक सामग्री का सग्रह एव प्रकाशन किया है।

(xii) देश म स्फीति नियन्त्रण की दिशा मे साख निरोध एव मुद्रा सम्बन्धी अनुशासन के लिए बैंक की हाल ही की नीति प्रधान अश सिद्ध हुई है। बैंक दर में वृद्धि १९ नवम्बर, १९५१ को प्रभावित हुई और बैंक की इस घोषणा का, कि वह बैंको की मौसमी आवश्यकताओ के अथ प्रबन्ध के लिए सरकारी प्रतिभूतियाँ क्रय नही करेगा, इच्छित परिणाम यह हुआ कि कोमलता मे कमी हो गई।

(xiii) जो हो, बैंक ने देश की साख व्यवस्था मे लोच शुरू की। १९५२ को इसने अपनी अधिपत्र बाजार योजना उपस्थित की। इस योजना के अधीन बैंक ने घोषणा की थी कि बैंको का (प्रथमावस्था म केवल उन्ही बैंको को, जिनकी अमानतें १० करोड रु० की या अधिक होगी) उनकी दशनी हुण्डियो के विरुद्ध, जो अगमन अधिपत्रा या स्वीकृत समुचित व्यवहारपूण नोटो द्वारा अनुमोदित होगी ऋण देने को तैयार है। इसलिए बैंको को अपनी मौसमी आवश्यकताएँ पूण करने के लिए सहायता रूप म एक ऐसी रकम प्रदान की गई जिससे विनियोजन म कमी न पडे तथा मदी के दिनो म रिजव बैंक को निधि वापिस की जाती थी। इस प्रकार साख व्यवस्था लोचदार बन गई है।

अपूर्ण काय (Unfulfilled Tasks)—नि सन्देह कुछेक ऐसे भी काम हैं, जो बैंक ने नही किए।

(i) बैंक की सर्वाधिक गम्भीर विफलता यह है कि उसने देशी और द्रव्य बाजार के आधुनिक भागो को अभी तक अपने नियन्त्रण के अधीन सूत्रबद्ध नही किया।

इस प्रकार केन्द्रीय बैंक होने के नाते अभी यह देश की साख-सम्बन्धी स्थिति को पूर्णतया नियन्त्रित करने की अवस्था में नहीं हुआ, क्योंकि देशी बैंकिंग प्रणाली अभी इसके प्रभाव से बाहर है।

(ii) अभी कुछ समय पूर्व तक, बैंक व्यापार और उद्योग की अर्थ-व्यवस्था के लिए अधिपत्रों के उपयोग का विकास करने में असफल रहा है। हालांकि इस उद्देश्य के लिए यह सर्वोत्तम विधि है।

(iii) इस बैंक में हमें जो अत्यधिक गम्भीर दोष दिखाई दिया है, वह यह है कि उसने युद्ध-सम्बन्धी वित्त-प्रबन्ध के कार्य में निष्क्रिय एवं समर्पित रूप में भाग लिया। यह विदेशी सरकार के हाथों की कठपुतली बन गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि देश भीषण मुद्रा-स्फीति में डूब गया।

(iv) बैंक ने भारतीय विनिमय बैंक शुरू करने की दिशा में अभी तक कोई ठोस कदम नहीं उठाया।

(v) यह बैंक इस आलोचना से भी मुक्त नहीं हो सकता कि इसके जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में देश के बैंक असफल हुए और यह निष्क्रिय एवं कठोर दृष्टिकोण बनाए रहा।

(vi) इसके कृषि-साख विभाग ने चाहे कितना ही प्रशंसनीय गवेषणा-कार्य किया हो, किन्तु सफलता-प्राप्ति की दृष्टि से कृषि-साख की दिशा में उपेक्षणीय प्रगति हुई है। अभी कुछ ही समय पूर्व तक, कृषि के अर्थ-प्रबन्ध के लिए इसने कुछ भी नहीं किया था।

निष्कर्ष—उपरिलिखित आशाओं के पूर्ण न होने और की गई भूलों के बावजूद भी बैंक की सफलताएँ अत्यधिक प्रभाव-पूर्ण और बुद्धि-संगत जान पड़ती हैं। आखिर, २०-२५ वर्ष कोई बहुत बड़ी अवधि तो नहीं है, विशेषतः, जबकि पिछले १२-१५ वर्ष, प्रथम तो युद्ध के कारण और द्वितीय विभाजन तथा अन्य विपरीत प्रगतियों के कारण, अति-विशिष्ट रूप से कठिनाई के थे। इस बात को दृष्टि में रखते हुए, हम जाथार और बेरी के शब्दों का अनुमोदनपूर्वक उल्लेख करते हैं। उनका मत है कि "रिज़र्व बैंक की वास्तविक कार्यकारिता इस दावे को न्यायपूर्ण ठहराती है कि इसने वित्तीय सुदृढ़ता, बैंकिंग सुधार और विस्तार तथा द्रव्य बाजार के पुनरुदय के लिए नवयुग का समारम्भ किया है।"

प्रश्न ९—भारतीय बैंकिंग कम्पनी अधिनियम, १९४९ ने रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया को क्या-क्या अधिकार और उत्तरदायित्व सौंपे हैं? (गौहाटी आनर्स १९५२)

Q. 9—What are the powers and responsibilities conferred by the Indian Banking Companies Act, 1949, upon the Reserve Bank of India? *(Gauhati Hons. 1952)*

अधिकारों के लिए इसी अध्याय में "रिज़र्व बैंक बैंकरों का बैंक" शीर्षक के अधीन लिखे हुए को देखें। और दायित्व ये हैं। (i) बैंकों की देख-रेख और निरीक्षण, अब यह अपनी निजी इच्छा से निरीक्षण कर सकता है, (ii) बैंकों को लाइसेन्स

देना और बैंक सम्बन्धी शाखाओं का नियन्त्रण करना, (iii) बैंकिंग कम्पनियों के भेजे निर्धारित प्रत्यायों (returns) की जाँच (iv) बैंकों को परामर्श देना और आपत्ति के समय उनकी मदद करना, (v) दिवालिया हो जाने पर या सरकारी लिक्विडेटर नियुक्त किया जा सकता है, (vi) बैंकों के विलयन को स्वीकृति या अस्वीकृति देना, और (vii) बैंकिंग की प्रगति और प्रवृत्ति पर बाहर सूचना देना और उन्नति के लिए सुझाव देना। इस प्रकार इसके मुख्य दायित्व हैं बैंकों को दक्ष रखना, परामर्श सहायता तथा नियन्त्रण।

प्रश्न १०—प्रथम पंचवर्षीय योजना के काल में रिजर्व बैंक ने भारतीय हालात में साख को किस प्रकार संकुचित किया है? (जम्मू तथा कश्मीर १९५६)

Q 10—Exp'ain how the R B of India has contracted credit in the Indian conditions during the First Five Year Plan period

(J & K 1956)

अथवा

"भारत में साख नियन्त्रण की सामान्य विधियाँ प्रभावी रूप में क्रियाशील नहीं हैं," विचार करें। (पं० वि० १९४६)

"In India the usual methods of credit control are not operative in an effective manner" Discuss *(P U 1946)*

एक केन्द्रीय बैंक का प्रधान कृत्य 'साख का नियन्त्रण करने वाले' के रूप में कार्य करना है। इसलिए यह आशा करनी चाहिए कि रिजर्व बैंक भारत में साख नियन्त्रण करने के योग्य होगा। किन्तु जिस सीमा तक यह साख का नियन्त्रण कर सकता है, वह केवल परिमित है।

इसकी साख नियन्त्रण करने की शक्ति पर प्रथम सीमा इस तथ्य से उत्पन्न होती है कि भारत में साख पूर्ति का अत्यधिक बड़ा भाग द्रव्य बाजार के देशी भाग से प्रवाहित होता है। चूँकि यह भाग रिजर्व बैंक या सुसंगठित भाग के साथ जुड़ा हुआ नहीं है इसलिए यह रिजर्व बैंक के नियन्त्रण अधिकार से बाहर है।

सुसंगठित भाग की दिशा में भी रिजर्व बैंक का नियन्त्रण पूर्ण नहीं है। केन्द्रीय बैंकों द्वारा साख नियन्त्रण की सामान्य विधियाँ ये हैं—(क) बैंक-दर में परिवर्तन, और (ख) खुले बाजार की प्रक्रियाएँ जो भारत में बहुत कम प्रभावी हैं। बैंक दर को प्रभावी करने के लिए यह आवश्यक है कि अधिहार बाजार का समुचित विकास हो। किन्तु भारत में अभी प्रापण-बाजार का अस्तित्व ही नहीं हुआ। इससे अधिक, इम्पीरियल बैंक, जिसके अपने निजी विशाल साधन हैं और विदेशी विनिमय बैंक, जिनका, अपनी निजी महान् निधि के अलावा, लन्दन के द्रव्य बाजार में भी आधिक्य है, रिजर्व बैंक की साख-नीति की विपरीत दिशा में कार्य कर सकते हैं, और इस प्रकार, उसे पराजित कर सकते हैं।

खुले बाजार की प्रक्रियाओं को प्रभावी करने के लिए सरकारी प्रतिभूतियों तथा राजकोषीय अधिपत्रों का विशाल एवं सक्रिय बाजार होना चाहिए। किन्तु इस प्रकार का बाजार अभी पूर्णतया विकसित नहीं।

अमरीका मे, केन्द्रीय बैंकिंग प्रणाली साख नियन्त्रण की एक अन्य विधि का भी उपयोग करती है, अर्थात्, न्यूनतम नकद अधिरक्षणों के अनुपात मे परिवर्तन करने के द्वारा कि जिन्हे बैंकों को केन्द्रीय बैंक मे रखना होता है। भारत मे इस प्रकार का प्रतिशत नियत है, सावधि और हाजिर अमानतों का क्रमश २०% और ५% और उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता। १९५६ के सशोधन द्वारा रिजर्व बैंक को यह शक्ति दे दी गई है। अब दरें समय-दायिताओं के सम्बन्ध में २% से ८% तक तथा माँग-दायिताओं के सम्बन्ध मे ५% से २०% तक हो सकती हैं।

यह प्रसन्नता का विषय है कि सुसगठित भाग पर रिजर्व बैंक के नियन्त्रण की सीमा में धीरे-धीरे उन्नति हो रही है, अशत. उस महान् प्रतिष्ठा और नेतृत्व की स्थिति के फलस्वरूप जिसका बैंक ने निर्माण किया है और अधिकाशत. उन महान् रूप मे बढी हुई शक्तियो के कारण जो इसने १९४९ के बैंकिंग कम्पनी अधिनियम के अधीन इम्पीरियल बैंक और विनिमय बैंकों सहित वाणिज्यिक बैंकों के विषय में प्राप्त की हैं। एक अन्य प्रगति, जिसने साख-नियन्त्रण शक्ति में अभिवृद्धि की है, वह युद्ध से लेकर, रिजर्व बैंक द्वारा कोषागार-अधिपत्रों के बाजार के विकास सम्बन्धी हुई है। युद्ध-काल में बैंक की साख नियन्त्रण नीति मे एक और विकास हुआ है और वह है कोषागार अधिपत्र (Treasury Bill) नीति। समुचित कोषागार-अधिपत्र नीति से बैंक भिन्न मौसमों में चलमुद्रा और साख-स्थिति का बेहतर प्रबन्ध कर सकता है।

साख-नियन्त्रण के उपायो (नवम्बर १९५१ में शुरू किए) की सफलता इस प्रवृत्ति का प्रमाण है कि देश मे साख-नियन्त्रण के लिए रिजर्व बैंक की योग्यता में निरन्तर वृद्धि हो रही है। १५ नवम्बर, १९५१ से, रिजर्व बैंक ने गत १७ वर्षों में प्रथम बार अपनी बैंक-दर को ३% से ३½% उन्नत किया। इसने खुले बाजार की प्रक्रियाओं के विषय मे भी अपनी नीति मे इस परिवर्तन की घोषणा की कि वह सामान्यतया सरकारी प्रतिभूतियो का क्रय नहीं करेगा किन्तु ऐसी प्रतिभूतियों के विरुद्ध पेशगियाँ देगा। साख नियन्त्रण के इन दोनों उपायों के फलस्वरूप, साख-स्थिति का प्रभावपूर्ण ढग से अवरोध हुआ।

१६ जनवरी, १९५२ को, इससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण उपाय किया गया था, जिसके द्वारा द्रव्य बाजार के लिए लोचपूर्ण-साख की व्यवस्था की गई। इस दिन देश मे एक अधिपत्र बाजार की रचना के लिए एक योजना का उद्घाटन किया गया। इस योजना का प्रोत्साहनपूर्ण आरम्भ हुआ है।

इन हाल ही के इच्छित विकासों के बावजूद, यह मानना पड़ेगा कि जब तक भारतीय द्रव्य-बाजार के देशी भाग को आधुनिक भाग के साथ अग रूप मे नहीं जोड़ा जाता, तब तक रिजर्व बैंक द्वारा अच्छे-से-अच्छा साख-नियन्त्रण भी आंशिक ही रह जाएगा।

१० जुलाई, १९५६ को लोकसभा ने रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का (सशोधन) अधिनियम पास किया। अन्य बातों के अलावा, विधेयक मे रिजर्व बैंक के लिए साख नियन्त्रण लागू करने के लिए शक्तियाँ दी गई हैं, जिसमे अपसग्रह (hoarding) रुके,

वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि न हो तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा निधि द्वारा स्वीकृत दर पर रिजर्व बैंक द्वारा रखे हुए सोने का पुनर्मूल्यन करे। इसके अलावा विदेश सिक्यूरिटियों के सम्बन्ध में अस्थायी रूप से आस्तियों की माँग को रोकने की शक्ति भी दी गई है। रिजर्व बैंक को अनुसूचित बैंकों की रक्षित आवश्यकताओं में ५ से २०% तक (माँग आदेशों के रूप में) फेर बदल की शक्ति भी दी गई है। अतिरिक्त सोना की, किसी विशेष अवधि में, निक्षेप निधि में वृद्धि के अनुसार गणना की जाएगी। साख नियन्त्रण के लिए भी इस विधेयक के अन्तर्गत बैंक को कुछ शक्तियाँ दी गई हैं।

प्रश्न ११—बिल मार्केट के विकास के लिए, रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने हाल ही के वर्षों में क्या तरीके अपनाए हैं? वे कहाँ तक सफल हुए?

(बम्बई १९५५)

Q 11—What steps have been taken by the Reserve Bank of India in recent years to develop a bill market? How far have they been fruitful? *(Bombay 1955)*

बिल मार्केट का महत्व (Importance of a Bill Market)—भारतीय मुद्रा मार्केट का सबसे बड़ा दोष उचित बिल मार्केट का न होना था। इस किस्म के मार्केट से दो प्रकार की जरूरतें पूरी होती हैं—इससे बैंकिंग व्यवस्था को अपनी अल्पावधि निधि विनियोजन करने का उचित अवसर मिलता है दूसरे, साख ढाँचे को उचित लोच का अवसर मिलता है, जिससे अक्तूबर-अप्रैल की फसलों के मौसम में जब पैसे की ज्यादा जरूरत होती है इसका विस्तार होता है तथा मई-सितम्बर की फसलों के मौसम में जब पैसे की ज्यादा जरूरत नहीं होती तो यह संकुचित हो जाता है। यदि इस किस्म की साख लोचदार न हो तो द्रव्य मार्केट में बहुत भारी उतार-चढ़ाव आने का डर रहता है।

बिल मार्केट विकास में बाधक कारण (Factors Hindering the Development of a Bill Market)—१९३१ में भारतीय केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने बिल मार्केट विकास के महत्व को स्वीकार किया था और ऐसे मार्केट की स्थापना के लिए कई प्रकार के सुझाव दिए थे। लेकिन कुछ वर्ष पहले तक ऐसे मार्केट के निर्माण की ओर कुछ भी कार्य नहीं किया गया था। इस किस्म का एक मुद्दती हुण्डियों का मार्केट अवश्य था, लेकिन इन हुण्डियों का कुल मूल्य १० करोड़ रु० से अधिक नहीं था। इस ओर असफलता के कई कारण हैं—(१) जनवरी, १९५२ तक रिजर्व बैंक ने ऐसे मार्केट के विकास के लिए कोई गम्भीर पग नहीं उठाए। (२) वाणिज्यिक बैंक अपने ग्राहकों को नकद साख (cash credit) की सुविधा देते हैं, इसलिए व्यावसायिक जगत् में अल्पावधि ऋण की कोई खास जरूरत नहीं थी और बिल मार्केट का न होना खटकता नहीं था। इन कारणों से इस ओर बहुत कम उन्नति हुई।

रिजर्व बैंक योजना (The Reserve Bank Scheme)—लेकिन रिजर्व बैंक को भारतीय मुद्रा मार्केट की इस कमी को दूर करने का विचार आया। जनवरी १९५२ में बिल मार्केट निर्माण की योजना की घोषणा की गयी। इस योजना के अन्तर्गत

अनुसूचित बैंक अपने अगभूत बैंकों से आए हुए नोटों (promissory notes) के एक भाग को जो ऋणों, ओवर ड्राफ्ट्स तथा नकद-साख के एवज में प्राप्त होते हैं उन्हें मुद्दती-रुक्का (usance promissory) में परिवर्तित करते हैं, जो ९० दिन की अवधि में परिपक्व होते हैं। रिजर्व बैंक धारा १७ (४) (ग) के अधीन अनुसूचित तथा राज्य सहकारी बैंकों को प्रॉमीसरी नोटों—अगभूतों के मुद्दती-रुक्का बिलों (usance bills) पर आधारित—के एवज अग्रिम मिल जाता है।

इस योजना के अन्तर्गत यह सुविधा सिर्फ ऐसे बैंकों को दी जाती थी कि जिनकी निक्षेप निधि १० करोड़ रु० से कम न हो। इसके लिए प्रत्येक अग्रिम की न्यूनतम सीमा २५ लाख रु० थी तथा प्रत्येक बिल की न्यूनतम सीमा १ लाख रुपया। उस समय से इस योजना को और भी उदार बना दिया गया है। जुलाई १९५४ से प्रत्येक अनुसूचित बैंक (लाइसेंस प्राप्त) को, चाहे उसकी निक्षेप निधि कुछ भी हो, अग्रिम की सुविधा प्रदान की गयी है। साथ ही, सराफ समिति (गैर-सरकारी क्षेत्र के लिए, वित्त समिति ने १९५४ में रिपोर्ट पेश की) ने अग्रिम की न्यूनतम सीमा २५ लाख रु० से घटाकर १० लाख रु० की तथा व्यक्तिगत बिल की राशि १ लाख की जगह ५०,००० रु० की। उत्तरोत्तर उदारता तथा योजना के लोकप्रिय होने के कारण अनुसूचित बैंकों तथा सहकारी बैंकों द्वारा प्राप्त होने वाले ऋण (accommodation) में वृद्धि होने लगी। रिजर्व बैंक द्वारा अनुसूचित बैंकों को दी गयी अग्रिम की राशि क्रमशः इस प्रकार है—१९५२-५३—६६.८७ करोड़ रु०, १९५३-५४—६९.८१ करोड़ रु०, १९५४-५५—१४७.५८ करोड़ रु०। १९५७ में ४५२ करोड़ रु० के अग्रिम दिए गए थे। इन तीनों वर्षों के लिए सहकारी बैंकों को दी गयी राशि इस प्रकार है—६.२२ करोड़ रु०, ६.६१ करोड़ रु०, तथा ७.१६ करोड़ रु०। इस योजना से साख ढांचे को लोच प्राप्ति में भारी मदद मिली है।

योजना की आलोचना (Criticism of the Scheme)—मौजूदा योजना की कार्यवधि की निम्न आधारों पर आलोचना की जाती है—

१. इससे उचित बिल मार्केट के विकास में मदद नहीं मिलती, चूंकि यह वास्तविक ट्रेड बिल्स पर आधारित नहीं है, बल्कि अनुसूचित बैंकों के ऋण और अग्रिम को मुद्दती-रुक्का में बदलता है।

२. यह योजना देशी बैंकरों के लाभ के लिए नहीं है। उचित बिल मार्केट के विकास के लिए यह जरूरी है कि देशी बैंकरों को भी इस योजना के अन्तर्गत लाया जाए और अनुसूचित बैंकों को देशी बैंकों की हुण्डियाँ मजूर करने तथा रिजर्व बैंक के साथ पुनः बट्टा लगाने की सुविधाओं सहित मानने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।

३. ब्याज की कम दर (३%) तथा स्टाम्प कर की छूट के उपरान्त भी, अनुसूचित बैंकों के लिए माँग बिलों को मुद्दती-रुक्का में बदलना महंगा तथा असुविधाजनक लगता है। साथ ही इस बारे में कई प्रकार की सूचनाएँ देना भी उनके लिए असुविधाजनक है।

४ रिज़र्व बैंक इसके लिए बाध्य नहीं है कि वह अनुमोदित मुद्दती रक्मा की एवज ऋण मंजूर करे। इस प्रकार का सहूलियत देने म बैंक इस बात की देख भाल करता है कि अमुक बैंक का व्यवसाय कैसा चल रहा है। इससे रिज़र्व बैंक के काम म विभेद नीति का अंश आ जाता है। इसमें उचित समन्वित बिल मार्केट के निर्माण म बाधा पडती है।

भारतीय बैंकिंग प्रणाली का लाक्षणिक स्वरूप एवं कमियाँ

(Characteristics and Shortcomings of the Indian Banking System)

प्रश्न १२—भारतीय बैंकिंग प्रणाली के लाक्षणिक स्वरूप तथा त्रुटियों पर टिप्पणी करें।

अथवा

भारतीय बैंकिंग प्रणाली के मुख्य दोष क्या हैं ? आप उन्हें कैसे दूर करेंगे ? (पंजाब १९५३ सप्ली०)

Q 12—Comment on the characteristics and deficiencies of the Indian banking system

Or

What are the main defects of the Indian banking system ? How would you remove them ? *(Punjab 1953 Suppl)*

यह नहीं कहा जा सकता कि हमारे देश म एक पर्याप्त और समुचित बैंकिंग प्रणाली का विकास हो गया है। सुविधा के लिए निम्न विशिष्टताओं तथा कमियों का उल्लेख किया जा सकता है—

(i) भारतीय बैंकिंग प्रणाली की सर्वाधिक त्रुटि उसकी अत्यधिक अपर्याप्तता है। भारत जैसे आकार और जनसंख्या वाले देश के लिए बैंकों तथा अन्य साख-संस्थाओं की संख्या बहुत ही थोडी है। १९५१ के अन्त मे हमारे यहाँ केवल ४,१०८ बैंक थे। इस संख्या म अनुसूचित तथा गैर अनुसूचित दोनों बैंक सम्मिलित हैं। निःसंदेह इनके अलावा डाकखाना बचत बैंक और सहकारी बैंक भी हैं किन्तु उनकी आवश्यकता की दृष्टि से उनकी संख्या भी थोडी ही है।

(ii) दुर्भाग्यवश बैंकों की बहुत बडी संख्या बडे बडे नगरों म ही है जबकि छोटे छोटे शहर तथा ग्राम क्षेत्र आधुनिक बैंकिंग सुविधाओं से प्रायः वंचित ही हैं।

(iii) तुलनात्मक रूप म भारतीय बैंक अपनी कार्यकारी पूंजी की दृष्टि से भी बहुत छोटे हैं। ऐसे अनुसूचित बैंक केवल (१९५५ मे) ८९ थे जिनकी चुकता पूंजी ५ लाख रु० से अधिक है। गैर अनुसूचित बैंक लगभग ४१९ हैं जिनमे अधिकांश कम पूंजी वाले हैं। भारतीय संयुक्त पूंजी बैंकों मे सबसे बडा इम्पीरियल बैंक है जिसकी अमानतें इंग्लैण्ड के पाँच बडे बैंकों म सबसे छोटे नेशनल प्राविंशियल बैंक की अमानतों का केवल $\frac{1}{3}$ है।

(iv) भारतीय बैंकिंग प्रणाली म विशिष्टता का अभाव है अर्थात् इसमें अनेक त्रुटियाँ हैं। उदाहरण के लिए यहाँ औद्योगिक बैंक नहीं हैं (औद्योगिक फाइनांस कार्पोरेशन तो १९४८ म ही स्थापित हुआ है) जो औद्योगिक विकास के लिए

अत्यावश्यक है। कृषि के वित्त-प्रबन्ध के लिए कोई सुविधाएँ नहीं है, हालांकि यह लोगों का प्रधान व्यवसाय है।

(v) सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली, छोटे-छोटे खण्डों में विभाजित है, सूत्रबद्धता और उनमें पारस्परिक सुखद सम्बन्धों का अभाव है। इम्पीरियल बैंक की विशेषाधिकार और विनिमय बैंकों के विशाल साधनों की स्थिति के विषय में अन्य भारतीय संयुक्त पूंजी बैंक अत्यधिक ईर्षालु हैं और उनकी प्रतियोगिता के कारण भीषण रूप में प्रताड़ित रहते हैं। आधुनिक और देशी भागों के बीच निकट सम्पर्क की अविद्यमानता विशेष रूप से खटकती है। जब तक निकट सम्पर्क का यह अभाव जारी रहेगा ग्राम-साख सुविधाओं का विकास नहीं हो सकेगा।

(vi) बैंकिंग प्रणाली के भिन्न भागों की कार्यकारिता भी अत्यधिक असन्तोषजनक है। निसन्देह देशी भाग में भी असह्य त्रुटियाँ हैं, किन्तु आधुनिक भाग भी भयंकर दोषों से मुक्त नहीं है।

(vii) बैंकिंग प्रणाली अधिकांशतः नकद साख के आधार पर साख की रचना करती है। अधिपत्रों का प्रयोग सामान्य नहीं है। परिणाम यह है कि साख महँगी है और द्रव्य-बाजार में तरलता का अभाव है, अर्थात्, ऐसे साधन द्वारा अर्थ-प्रबन्ध उपलब्ध नहीं होता जिन्हें बैंक सहज ही नकद में बदल सकें और फलस्वरूप अपनी स्थिति को सुदृढ़ बना सकें।

(viii) बैंकिंग प्रणाली का अत्यधिक भीषण दोष यह है कि यह पूर्णतया रिजर्व बैंक के साख-नियंत्रण के अधिकार-क्षेत्र में नहीं है। अधिकांश बड़ा भाग (जैसे देशी भाग) रिजर्व बैंक के नियन्त्रण से बाहर है। न ही सुसंगठित भाग पर प्रभावपूर्ण साख-नियन्त्रण है।

जितनी जल्दी ये त्रुटियाँ दूर की जाएँगी, उतनी ही जल्दी देश का आर्थिक विकास होगा।

अभ्यास १—द्रव्य मार्केट के मुख्य लक्षणों पर विचार कीजिए तथा इसके कृत्यों में सुधार सम्बन्धी सुझाव दीजिए। (आगरा १९५६)

Ex 1—Discuss the main features of the Indian money market and suggest suitable steps to improve its functioning. *(Agra 1956)*

द्रव्य मार्केट का अर्थ है अल्पावधि अर्थ मार्केट अर्थात् व्यापार, उद्योग और कृषि के लिए साख उपलब्ध। इसलिए, बैंकिंग व्यवस्था ही द्रव्य मार्केट है। उपर्युक्त प्रश्न में वर्णित बैंकिंग व्यवस्था देश के द्रव्य मार्केट के लक्षण हैं। इस सम्बन्ध में चर्चा करते हुए हम उन्हें पुन दोहरा सकते हैं। (i) भारतीय द्रव्य मार्केट देश की जरूरतों के लिए अनुपयुक्त है। (ii) यह महंगा है। (iii) कृषि-पक्ष में भारी कमी है। (iv) इसमें एकीकरण का अभाव है अर्थात् इसके दो मुख्य भाग परस्पर जुड़े हुए नहीं हैं। (v) इसमें लोच का अभाव है—फसल के मौसम पर मंदी की अपेक्षा अधिक मात्रा में साख की जरूरत पड़ती है। भारत में बिलों का उपयोग आम तौर पर नहीं होता जिससे द्रव्य मार्केट स्वयं ही फैलाता और सिकुड़ता है। (vi) यह केन्द्रीय तथा रिजर्व बैंक के नियन्त्रण के अनुकूल नहीं है। इसलिए, समग्र रूप में सारे देश के लिए साख-नियन्त्रण नीति को लागू करना कठिन है। (viii) इसके विभिन्न भागों में अब भी गम्भीर दोष पाए जाते हैं।

इन दोनों को देखने से सुधार की बात स्वयं समझ आ जाती है।

प्रश्न १३—भारत के ग्राम क्षेत्रों में विद्यमान बैंकिंग सुविधाओं पर टिप्पणी करें। इस प्रकार की बैंकिंग सुविधाओं के प्रसार के लिए सुझाव दें।

Q 13—Comment upon the existing banking system facilities in the rural areas in India Make suggestions for extending such banking facilities

हम सर्वप्रथम यह समझ लेना चाहिए कि बैंकिंग सुविधाओं से हमारा स्पष्ट आशय उन दोनों सुविधाओं से है जिनमें एक तो अमानत के रूप में किसी की बचत को रखना और दूसरे व्यापारिक उद्देश्यों के लिए साख प्राप्त करना।

ग्राम बैंकिंग सुविधाओं का परीक्षण—उनकी अपर्याप्तता और त्रुटियाँ (Review of Rural Banking Facilities—Their Inadequacy and Drawbacks)—जब हम अपने देश की ओर देखते हैं तो हम जान पड़ता है कि वर्तमान में हमारे ग्राम क्षेत्रों की बैंकिंग सुविधाओं विषयक स्थिति सर्वथा असन्तोषजनक है और वह कृषि प्रगति पर भीषण रूप से प्रहार कर रही है। इसका सर्वाधिक भयंकर रूप ऐसी सुविधाओं की अत्यधिक अपर्याप्तता है। ग्राम क्षेत्रों में व्यापारिक बैंक तो हैं नहीं। बावजूद इस बात के कि हाल ही के वर्षों में बैंकों की संख्या में गतिपूर्वक वृद्धि हुई है किन्तु ग्राम क्षेत्र पहले की तरह अछूते पड़े हैं क्योंकि बैंकिंग कार्यालय बड़े बड़े नगरों तथा कस्बों में ही स्थित हैं। वाणिज्यिक बैंकों के कार्यालय जिला अथवा ताल्लुका (तहसील) के मुख्य कार्यालयों से परे नहीं जाते।

देश में ग्रामों की संख्या का ध्यान रखते हुए (१६५४ ५५ में) १४३,३२० सहकारी साख समितियाँ भी पर्याप्त नहीं हैं। उस वर्ष ३१ ८ करोड़ रु० की दीर्घकालीन वित्त व्यवस्था विषयक स्थिति भी अत्यधिक निराशापूर्ण है, क्योंकि हमारे यहाँ (१६५४ ५५ में) केवल २६२ प्राथमिक भूमि बन्धक बैंकिंग समितियाँ थीं। इन्होंने ६४ ४ करोड़ रुपये का उपबन्ध किया।

ग्राम क्षेत्रों की अन्य बैंकिंग संस्थाओं में साहूकार की भी एक संस्था है। किन्तु वह अमानतें स्वीकार नहीं करता। इसके अतिरिक्त हाल ही के वर्षों में साहूकारों से सम्बन्धित प्रचलित बड़े विधान ग्राम साख के इस स्रोत को तेजी के साथ कम कर रहे हैं।

छोटे छोटे कस्बों और यहाँ तक कि बड़े बड़े कस्बों और नगरों में देशी बैंकर ग्राम क्षेत्रों को कृषि विषयक बाजार बिक्री की अर्थ व्यवस्था के लिए कुछ बैंकिंग सुविधाएँ प्रदान तो करते हैं किन्तु उनके कार्य कलाप भी अत्यधिक सीमित हैं।

न केवल यह कि ग्राम बैंकिंग सुविधाएँ अत्यधिक अपर्याप्त हैं किन्तु ग्राम बैंकिंग की सभी संस्थाएँ अत्यधिक भयंकर दोषों से पीड़ित हैं और ऐसी सुविधाएँ बहुत मँहगी भी हैं। तिस पर, साहूकार के वित्त प्रबन्ध में तो अगणित भयंकर दोष हैं। देशी बैंकर भी बट्टे की बड़ी बड़ी दरें लेते हैं जिनका परिणाम यह होता है कि कृषि-विषयक बिक्री करने वाले को जितना चाहिए उससे कहीं कम कीमतें मिलती हैं।

प्रसार की आवश्यकता और क्षेत्र (Need and Scope for Extension)—ग्राम-बैंकिंग सुविधाओं के बहुमुखी प्रसार की आवश्यकता है, प्रथमतः, ग्राम-क्षेत्रों में कृषि (जो मुख्य राष्ट्रीय उद्योग है) और व्यापार के वित्त प्रबन्ध के लिए, विशेषतः, कृषि-फसलों की यातायात, और द्वितीयतः, ग्राम जनसंख्या में मितव्ययिता और बचत की आदत का प्रोत्साहन देने और देश के आर्थिक विकास के अर्थ-प्रबन्ध में ऐसी ग्राम-बचतों के प्रभावपूर्ण संग्रह के लिए। इस उत्तर-कथित उद्देश्य ने हाल ही के वर्षों में विशिष्ट महत्त्व धारण कर लिया है। शहरों भाग में ग्राम की दिशा में आयों के बदलाव के कारण ग्रामीण जनता की बचतों सम्बन्धी क्षमता में सराहनीय वृद्धि हुई है। यदि बैंकिंग सुविधाएँ प्रदान नहीं की जातीं, तो ये ग्राम-बचतें या तो उपभोग में चुक जाएँगी अथवा ऐसे समय पर भी बेकार पड़ी रह जाएँगी जब राष्ट्रीय बचतों की एक एक पाई की राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के लिए अत्यावश्यक रूप में दरकार है।

प्रसन्नता का विषय है कि ग्राम-बैंकिंग सुविधाओं के विस्तार और विकास की आवश्यकता को सरकार ने पूर्णतया स्वीकार कर लिया है। सरकार ने इस उद्देश्य से समय-समय पर विशेष समितियाँ नियुक्त कीं, जो समुचित विधियों और उपायों के सुझाव दे सकें। ग्राम-अर्थ-प्रबन्ध-विषयक गाडगिल कमेटी, सहकारी योजना विषयक सारैया कमेटी, और ग्राम-बैंकिंग जाँच कमेटी ने (१९४९ में नियुक्त की गई और १९५० में इसने सूचना दी) इस विषय का सूक्ष्म रूपेण अध्ययन किया और उन्होंने बहुमूल्य सुझाव उपस्थित किए हैं। इन समितियों ने अन्तिम ग्राम-क्षेत्रों में, मुख्यतः ग्राम बचतों की गतिशीलता के लिए बैंकिंग सुविधाओं का विस्तार करने से सम्बन्धित थी। ग्राम-क्षेत्रों में बैंकिंग-सुविधाओं के लिए सुझाव देने की दिशा में हम उनके यत्नों का लाभ भी उठा लेंगे।

विस्तार के लिए सुझाव (Suggestions for Extension)—ग्राम-जनता को शीघ्रातिशीघ्र जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बैंकिंग सेवाएँ दरकार हैं, वे हैं—(i) अमानतों की स्वीकृति, और (ii) पेशगियों का मिलना।

अल्प और मध्यकालीन साख की व्यवस्था के विषय में, प्राथमिक सहकारी समितियों के सुदृढ़ आधार के निर्माण पर विशेष बल प्रदान करना चाहिए। वाणिज्यिक बैंकों को वर्तमान की अपेक्षा अमानतें आकर्षित करने तथा कृषि का वित्त-प्रबन्ध करने में ग्राम-साख की दिशा में अधिक भाग लेना चाहिए। निःसन्देह, साहूकार की संस्था को भी नियमित एवं उन्नत करना चाहिए किन्तु इस ओर सावधान रहना चाहिए कि जब सन्तोषपूर्ण अन्य आश्रितता की स्थापना नहीं हो जाती, इसे इतनी जल्दी बाहर नहीं जाने देना चाहिए। दीर्घकालीन साख के लिए, प्राथमिक और साथ ही साथ केन्द्रीय, सहकारी भूमि-बन्धक बैंकों की स्थापना होनी चाहिए। अमानतें जमा करने की आदत को प्रोत्साहन देने के लिए, डाकखाना बचत बैंकों की संख्या में वृद्धि होनी चाहिए और उन्हें अधिक लोकप्रिय बनाना चाहिए।

ये केवल ऐसे मुख्य आधार हैं, जिन पर ग्राम-बैंकिंग सुविधाओं का विकास होना चाहिए। किन्तु उपरलिखित बैंकिंग संस्थाओं की प्रकारों में प्रत्येक के लिए ठोस उपायों का भी सुझाव होना चाहिए।

सर्वप्रथम, सहकारी आन्दोलन को लेते हैं। उसके लिए निम्न सुझाव दिए जा सकते हैं उन यत्नों के अलावा जो विभिन्न राज्य सरकार इस आन्दोलन को सहायता प्रदान करने, पुनः सगठित करने तथा विकास की दिशा में कर रही हैं सहकारी संस्थाओं को निम्न अतिरिक्त सुविधाएँ इस रूप में प्रदान की जानी चाहिए—(क) डाकखाना की मार्फत रियायती निधि पर कोषों का प्रेषण (ख) सहकारी समितियों की अवस्था में डाकखाना बचत बैंक नियमों में शिथिलता जैसे प्रति सप्ताह राशि निकालने तथा अधिकतम अमानतें रखने विषयक संख्या और (ग) सहकारी बैंकों तथा समितियों को नेशनल सेविंग्ज सर्टिफिकेटों की बिक्री के लिए अधिकृत एजेंट बनाने की स्वीकृति। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक से रियायती दरों पर वित्तीय सहायता के लिए व्यवस्थाओं का अधिक उपयोग करने के लिए सहकारी बैंकों को प्रोत्साहन देना चाहिए।

संयुक्त पूँजी व्यापारिक बैंकों द्वारा उपस्थित की गई सुविधाओं के विस्तार के सम्बन्ध में सरकार को निम्न दो मुख्य दिशाओं में सक्रिय उपाय करने चाहिएँ अर्थात (क) उनके विस्तार में विद्यमान बाधाओं को दूर करना और (ख) ग्राम क्षेत्रों में उनके विस्तार के लिए निश्चयात्मक सुविधाएँ प्रदान करना।

बैंकों के विस्तार-मार्ग की बाधाओं को शिक्षा एवं ग्राम संरक्षण मुख्यतः सड़कों के विकास द्वारा अज्ञान और संकीर्णता से लड़कर जीता जा सकता है। प्रत्यक्ष सुविधाओं में रिजर्व बैंक द्वारा सस्ती तथा निःशुल्क प्रेषण सुविधाओं तथा इन बैंकों की सुरक्षा के लिए अपनी तिजोरियों तथा सदूकों को सरकारी कोषागारों और उप-कोषागारों में रखने की सुविधाओं को भी सम्मिलित करना चाहिए। इसके अतिरिक्त, गोदामों का भी विकास होना चाहिए जिससे इन बैंकों को गोदामों की रसीदों द्वारा अनुमोदित कृषि अधिपत्रों से पर्याप्त कारोबार प्राप्त हो सके।

हाल ही कुछ क्षेत्रों में ग्रामों तथा छोटे कस्बों की बहुत बड़ी संख्या की सेवा के लिए चलते फिरते बैंक चालू किए गए हैं। इस प्रकार के चलते फिरते बैंकों की संख्या में वृद्धि होनी चाहिए।

निःसन्देह डाकखाना बचत बैंक ग्राम क्षेत्रों में अल्प आय वाले लोगों से बचतें संग्रह करने के लिए विशेषतः उपयुक्त हैं। इसलिए ग्राम क्षेत्रों में बचत बैंकों का कार्य करने वाले डाकखानों की संख्या में वृद्धि होनी चाहिए और उन्हें अधिक लोकप्रिय बनाने के लिए निम्न उपाय करने चाहिएँ—(क) इन बैंकों द्वारा पास बुकों फार्मों तथा सूचनाओं (डाकखानों में जमा की किताब) में वर्तमान की अपेक्षा प्रादेशिक भाषाओं का अधिक उपयोग किया जाए (ख) ग्राम क्षेत्रों में नियमित प्रचार किया जाए जिससे ग्रामीण जनता इन बैंकों का अधिकाधिक प्रयोग करे।

अध्याय २५

सार्वजनिक वित्त

(Public Finance)

भूमिका (Introduction)—किसी देश के सार्वजनिक वित्त और उसके आर्थिक जीवन का एक-दूसरे पर अत्यधिक निकट एवं महत्त्वपूर्ण प्रभाव होता है जबकि वित्त-प्रणाली का स्वरूप उसके आर्थिक ढाँचे पर निर्भर करता है, किन्तु आर्थिक स्थिति भी वित्त द्वारा प्रभूत रूप में ढाली जाती है। उदाहरण—चूँकि भारत कृषि प्रधान देश है, इसलिए भूमि-लगान उसकी कर-प्रणाली में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है दूसरी ओर यदि भारतीय उद्योग और कृषि का बहुत विकास नहीं हुआ, तो इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि सरकार के पास उनके विकास के लिए आवश्यक निधि का अभाव है।

सार्वजनिक वित्त का आर्थिक नीति में जो महान् भाग है, उसके अतिरिक्त वह सामाजिक-नीति का भी शक्तिशाली साधन बन गया है। विशेषत इस दिशा में कि वह समाज में सम्पत्ति-वितरण की असमानताओं को दूर करता है। धनवानों पर बड़े-बड़े कर लगाये जाते हैं और उन्हें इस ढंग से खर्च किया जाता है कि गरीबों को लाभ पहुँचे।

अब हम भारत में सार्वजनिक वित्त की वर्तमान प्रणाली, उसकी वर्तमान स्थिति, उसकी त्रुटियों और उन्हें क्योंकर दूर किया जा सकता है, इन बातों का अध्ययन करेंगे।

भारतीय आर्थिक प्रणाली का विकास (The Evolution of the Indian Financial System)—भारतीय गणतन्त्र का संघीय संविधान है, अर्थात्, केन्द्र में हमारा भारतीय संघ शासन है, और उपरान्त इकाइयाँ हैं, जिन्हें भाग क, भाग ख और भाग ग राज्य कहते हैं। (राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफारिशों को लागू करने के कारण अब इस प्रकार का राज्य-विभाजन खत्म हो गया है और कुछ केन्द्र प्रशासित राज्यों को छोड़कर, सभी राज्य राज्यपालों के अन्तर्गत हो गए हैं) इस प्रकार हमारी वित्त-प्रणाली का ढाँचा फेडरल वित्त है।

देश की वैधानिक प्रगति के उत्तरोत्तर स्तरों के समानान्तर उसकी वित्त-प्रणाली भी आनुक्रमिक स्तरों से निकलती हुई वर्तमान स्वरूप तक पहुँची है।

१८७२ तक, भारतीय वित्त पूर्णतया भारत सरकार में ही केन्द्रीभूत थे, उसके बाद, वित्त के विकेन्द्रीकरण की क्रमिक गति का आरम्भ हुआ, और वह उस समय होता रहा जब कि १६१६ के भारत सरकार के अधिनियम के अधीन केन्द्र और प्रान्तों के राजस्व नितान्त अलग-अलग मदों में हो गए। उपरान्त १६३५ का भारत सरकार अधिनियम आया जिसके अनुसार केन्द्र और प्रान्तों के बीच राजस्वों का नया विभाजन हुआ।

इस अधिनियम के अधीन वित्तीय स्रोतों को चार वर्गों में बाँटा गया—(क) केवल फेडरल स्रोत, (ख) केवल प्रान्तीय साधन, (ग) कतिपय करों को फेडरेशन लगाएगा और एकत्र करेगा किन्तु उनकी प्राप्तियाँ प्रान्तों को सौंपी जायगी और (घ) कतिपय ऐसे कर जो केन्द्र और प्रान्तों के बीच बँटेंगे।

नेमियर पचाट (Nimeyer Award)—इस अधिनियम के अनुसार विभाजित साधनों को क्रियाशील करने के लिए कुछेक विषयों का समन्वय किया गया। तदनुसार, ब्रिटिश कोषागार के एक विशेषज्ञ सर ओटो नेमियर को १९३५ में इस सम्बन्ध में जाँच और सुझाव के लिए नियुक्त किया गया। ये समन्वय सर ओटो नेमियर की जाँच और प्रस्तावों पर आधारित थे और वह मुख्यतः इस सम्बन्ध में थी—(i) आयकर के एक भाग को (५०% को) प्रान्तों में बाँटना और (ii) किन्हीं घाटे वाले प्रान्तों को नकद धन का अनुदान। उन्होंने आयकर के बाँटे जाने वाले भाग में से अलग-अलग प्रान्तों के अलग अलग अंश भी नियत कर दिए थे।

सर ओटो की सूचना को भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया और उसे क्रियाशील किया।

केन्द्र और प्रान्तों के बीच आयकर के विभाजन सम्बन्धी नेमियर-सूत्र को युद्ध के कारण १९४० में संशोधित करना पड़ा। इस संशोधन के अनुसार प्रान्तों को वास्तविक निर्णय के समय से पूर्व उनके अंश मिलने लगे। निःसंदेह उनके यथाक्रम अंश वही के वही रहे और विभाजन होने पर उनमें सुधार किया गया।

देशमुख पचाट (Deshmukh Award)—देशमुख पचाट, जिसे कइयों ने नेमियर सूचना का १९५० का संस्करण कहा है, विभाजन के कारण आवश्यक हुआ। इस विभाजन से पंजाब, बंगाल और आसाम के कुछ भाग और सम्पूर्ण सिंध तथा उत्तर सीमान्त प्रान्त भारत से कट गए। इसलिए जूट पर निर्यात-कर और आय-कर के बँटने वाले भागों में भी भिन्न प्रान्तों के प्रतिशत अंश का फिर से निश्चय किया जाना था। विभाजन के तत्काल बाद, नेमियर सूत्र के आधार पर तदर्थ प्रतिशत अंश नियत कर दिए गए। श्री चिन्तामणि देशमुख को जो उन दिनों रिजर्व बैंक के गवर्नर थे, उपरान्त १९४९ में भारत सरकार ने भिन्न प्रान्तों के नए अंश निश्चित करने के लिए आमन्त्रित किया। उनकी सूचना को देशमुख पचाट कहते हैं।

देशमुख पचाट के अनुसार पश्चिमी बंगाल और पंजाब (भारत) के प्रतिशत अंशों को विभाजन-पूर्व के अंशों से कम कर दिया गया, और अन्य प्रान्तों के अंशों में वृद्धि कर दी गई, जिससे, बम्बई, मद्रास, उत्तर प्रदेश के अंश, जो नेमियर-निर्णय के अधीन २०, १५, १५ क्रमशः थे, २१, १७.५ और १८ हो गए। अन्य राज्यों के प्रतिशत अंश इस प्रकार नियत किए गए—पश्चिमी बंगाल १३.५, मध्य प्रदेश ६, पंजाब (भारत) ५.५, बिहार १२.५, उड़ीसा ३, और आसाम ३।

जूट पर निर्यात-कर में से ये अंश नियत हुए—प० बंगाल १०५ लाख रु०, आसाम ४० लाख रु०, बिहार ३५ लाख रु०, और उड़ीसा ५ लाख रु०।

प्रश्न १—**नए संविधान के अधीन केन्द्र एवं राज्यों के बीच वित्तीय साधनों**

के बँटवारे का संक्षिप्त उल्लेख कीजिए।

(लखनऊ ५४, आगरा ५५, उत्कल आनर्स, पंजाब ५७, दिल्ली ५८)

Q. 1—Describe briefly the division of financial resources between the Centre and the States as provided under the Constitution

(Lucknow 54, Agra 55, Utkal Hons., Punjab 57, Delhi 58)

नये संविधान के अधीन भारतीय वित्त-प्रणाली (The Indian Financial System under the New Constitution)—वर्तमान संविधान, जिसका उद्घाटन २६ जनवरी, १९५० को हुआ था, क्रियात्मक रूप में १९३५ के अधिनियम के बँटवारे को स्वीकार करता है।

तदनुसार, केन्द्रीय सूची में सम्मिलित राजस्व-साधन ये हैं—आगम शुल्क (Customs), आयकर (कृषि-आय से अतिरिक्त आय पर); कार्पोरेशन कर; भारत में निर्मित वस्तुओं तथा तम्बाकू पर उत्पादन-कर (शराब तथा अन्य नशीली औषधों के सिवा), रेलें, धनार्थ तथा टकण, डाक और तार, टैलीफोन, बेतार के तार तथा रेडियो ब्रॉडकॉस्टिंग, उत्तराधिकार-कर (कृषि-भूमि के सिवा), हस्तांतरणीय अधिकार-पत्रों पर स्टाम्प कर (जैसे, चैक, विनिमय के अधिपत्र, बीमा पालिसियाँ, शेयरों का परावर्तन, साख-पत्र, वहन आदि के अधिपत्र); रेल द्वारा वस्तुओं तथा यात्रियों के परिवहन पर चुंगी कर, रेलों के किरायों और भाड़ों पर कर आदि।

संविधान के अधीन राज्य-साधनों में ये भी शामिल हैं—भूमि लगान, सिंचाई, शराब, अफीम तथा अन्य नशीली औषधों पर उत्पाद कर; कृषि-आयों पर कर, भूमियों और मकानों पर कर, सट्टे और जुए, मनोरंजन और स्वागत-समारोहों पर कर; व्यापारों, व्यवसायों, नियोजनों तथा आजीविका पर कर, नदी तथा नहरों द्वारा वस्तुओं और यात्रियों के वहन पर कर; सड़क गाड़ियों पर कर; बिजली उपभोग पर कर आदि।

कतिपय करों की विशुद्ध आयों को केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों के साथ बाँट लेती है, जैसे आय-कर। जहां तक सम्बन्ध जूट पर निर्यात-कर का है, यद्यपि इसकी सारी की सारी प्राप्तियाँ केन्द्रीय सरकार की हैं, तथापि प० बंगाल, बिहार, आसाम और उड़ीसा के राज्यों को १० वर्ष की अवधि के लिए अथवा जब तक यह कर जारी रहे (दोनों में जो भी प्रथम हो), अनुदानपूर्ण सहायता प्रदान की गई है।

कृषि-भूमि को छोड़कर सम्पत्ति पर उत्तराधिकार-कर केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाया और एकत्र किया जाता है किन्तु इसकी प्राप्तियों को राज्यों में बाँटना होता है।

इस प्रकार, संघ और इकाइयों के वित्तीय अधिकारों को स्पष्टतया सीमित कर दिया गया है।

संघ-सरकार को अवशिष्ट शक्तियाँ प्रदान की गई हैं।

प्रान्तों में आय-कर के विभाज्य-अंश के वितरण के सम्बन्ध में, नेमियर सूत्र को (विभाजन के समय संशोधित रूप में) प्रथम देशमुख-निर्णय द्वारा प्रतिस्थापित किया गया और १९५२-५३ के वित्तीय वर्ष के समारम्भ से, अर्थ-कमीशन की सिफारिशों को

कार्यान्वित किया गया है। (इसके विस्तृत वर्णन के लिए प्रश्न २ के उत्तर को देखें।)

आपात काल म भारतीय गणतन्त्र के राष्ट्रपति को सविधान के सामान्य वित्तीय उपबन्धो को स्थगित करने अथवा परिवतन करने का अधिकार है।

प्रश्न २—**नये सविधान के अधीन केन्द्र और राज्यो म वित्त साधनो के बँटवारे पर टिप्पणी कीजिए।**

Q 2 —Comment on the allocation of Financial resources between the Centre and the States under the New Constitution

अथवा

भारतीय सविधान में केन्द्र और राज्यो के बीच राजस्व साधनो का विभाजन कहाँ तक फेडरल वित्त व्यवस्था के सिद्धान्तो के अनुरूप है?

How far the division of revenue resources between the Centre and the States in the Indian Constitution is in accordance with the principles of federal finance?

(वित्त स्रोतों के विभाजन के विषय में पूर्व अनुच्छेद में लिखा जा चुका है। प्रस्तुत प्रश्न में केन्द्र और राज्यों के यथाक्रम वित्त साधनों को गणना के लिए नहीं कहा गया, प्रत्युत विभाजन की इस प्रणाली पर आपसे टिप्पणी करने को कहा गया है। फलत हम विभाजन के विषय में ज्ञान रखने की कल्पना कर लते हैं और इस बात पर विचार आरम्भ करते हैं कि वतमान प्रणाली कहा तक भारतीय अवस्थाओं के उपयुक्त है।)

फेडरेल सविधान वाले देश म (जैसा कि भारत का नया सविधान है) केन्द्र और राज्यो के बीच वित्त साधनो का विभाजन सघीय वित्त प्रबन्ध के मान्य सिद्धान्तो पर करना होता है।

फेडरल वित्त-व्यवस्था की दो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शर्तें हैं—

(i) प्रशासनात्मक सुविधा तथा मितव्ययिता अर्थात करो को उस अधिकारी द्वारा लगाया और एकत्र किया जाय जो ऐसा करने के लिए बेहतर उपयुक्त हो।

(ii) केन्द्र तथा इकाइयों की राजकोषीय आत्म निर्भरता अर्थात् दोनो के पास अपनी तात्कालिक तथा विकासात्मक आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त निधि होनी चाहिए।

प्रस्तुत सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि के विपरीत, अब हम प्रथमत यह देखेंगे कि सविधान में वित्त साधनो का विभाजन कहाँ तक फेडरल वित्त प्रबन्ध की पारिभाषिक शर्तों के अनुकूल है और द्वितीयत कहाँ तक यह भारत में विद्यमान अवस्थाओं और इस देश की विशिष्ट आवश्यकताओं को पूर्ण करने के अनुरूप है?

नया विभाजन प्राय वही है जो भारत सरकार के १९३५ के अधिनियम के अधीन किया गया था। यह प्रशासनात्मक सुविधा और मितव्ययिता की दृष्टि से ठीक है। अखिल भारतीय स्वरूप के करो, जैसे आगम शुल्क कार्पोरेशन तथा अन्य उत्पाद करो को लगाने तथा एकत्र करने का दायित्व केन्द्र को सौंपा गया है। इन करो का केन्द्रीकरण तत्समता और साथ ही साथ योग्यता का आश्वासन प्रदान करता है। राज्य-प्रशासन क करो को जैसे, भूमि-लगान सिंचाई, रजिस्ट्री, राज्य सूची म रखा गया है।

फेडरल वित्त-प्रबन्ध की दूसरी महत्त्वपूर्ण शर्त अर्थात् राजकोषीय आत्म-निर्भरता की दृष्टि से, यह विभाजन अत्यधिक दोषपूर्ण है। राज्यों को सौंपे गए राजस्व अधिकांशतः स्थिर और लोच-हीन हैं, जैसे, भूमि-लगान और स्टाम्प। राजस्व उपार्जकों के रूप में राज्य उत्पादन-कर शीघ्रतापूर्वक कम होते जा रहे हैं, और पूर्ण मद्य-निषेध की नीति ग्रहण करने से यह स्रोत समाप्त हो जायगा। इसके विपरीत केन्द्र को आय-कर, आगम शुल्क और केन्द्रीय उत्पाद-करों जैसे राजस्व के सम्पन्न साधन सौंपे गए हैं। केन्द्रीय उत्पाद-करों से प्राप्ति में देश के अधिक औद्योगिक विकास से वृद्धि हो जायगी। अवशिष्ट शक्तियाँ भी केन्द्र को प्रदान की गई हैं।

इसलिए, इस विभाजन की इन शब्दों में आलोचना की जा सकती है—केन्द्र को तो अत्यधिक दिया गया और राज्यों को अत्यल्प।

प्रान्तीय स्वायत्तता के समर्थक, केन्द्र की इस प्रबल स्थिति और राज्य की दुर्बल स्थिति के विषय में अत्यधिक खिन्न हैं।

जो भी हो, यह तो एक पक्ष है। इसके विपरीत हम जानते हैं कि वर्तमान में हमें अपने देश की पिछड़ी हुई वित्त-व्यवस्था का गतिपूर्वक विकास करना अत्यावश्यक है। इस प्रकार के आर्थिक विकास में निहित समस्याएँ इतनी बड़ी और दुर्गम हैं कि वह राज्य सरकार की क्षमता से परे की हैं और उन्हें केवल अखिल भारतीय आधार पर ही हल किया जा सकता है। इसलिए केन्द्र की प्रबल वित्त-स्थिति होनी ही चाहिए जिससे कि देश के आर्थिक साधनों का प्रभावपूर्ण उपयोग हो सके। इस विचार का अधिक समर्थन राज्यों की वित्त-नीतियों के मामले में उनके हाल ही के चिन्ताजनक आलेखों से भी हो जाता है। उनमें से कइयों ने मद्य-निषेध की आदर्शवादिता के कारण आबकारी राजस्व को नष्ट कर लिया है और ऐसे करारोपण को प्रचलित किया है, जिसने अन्तर्राज्यीय व्यापार को क्षति पहुँचाई है।

उपरान्त, भारत में केन्द्र की यह प्रबल स्थिति अन्य उन सब देशों से भिन्न नहीं है, जिनमें फेडरल संविधान हैं, प्रत्युत उनकी गतियों के अनुरूप ही है। केन्द्रीय सरकारें चिरकाल से राष्ट्रीय निर्माण या विकासात्मक कार्य-कलापों में अधिकाधिक भाग लेती आई हैं। भारत में भी हम आशा करते हैं कि केन्द्रीय सरकार अपनी बेहतर वित्त-स्थिति से पीछे नहीं हटेगी प्रत्युत सदैव न केवल शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य और आर्थिक विकास की राज्य योजनाओं का पथ-दर्शन और सहयोग करने में तत्पर रहेगी प्रत्युत स्वतः भी वृहद्-स्तर पर ऐसी योजनाओं को अपनाएगी। इसके अतिरिक्त वह परिस्थिति के अनुसार अनुदानों और सहायताओं द्वारा राज्यों की सहायता करेगी।

इस सम्बन्ध में एक नया सुझाव भी दिया जा सकता है। केन्द्रीय सरकार को एक अन्तर्राज्य वित्त परिषद् की स्थापना करनी चाहिए जो राज्यों और साथ ही साथ केन्द्र तथा राज्यों के बीच परामर्श और सहयोग के लिए व्यवस्था प्रदान करे। इस प्रकार की यांत्रिकता से देश की आर्थिक नीति ऐसे ढंग से बनाई जा सकती है, जो देश के मानवीय और प्राकृतिक साधनों का प्रभावपूर्ण उपयोग कर सकेगी।

प्रश्न ३—भारतीय वित्त आयोग की सिफारिशो की संक्षिप्त रूपरेखा द।
(कलकत्ता १९५३)

Q 3—Give a brief outline of the recommendations of the Indian Finance Commission (*Calcutta* 1953)

२२ नवम्बर १९५१ को राष्ट्रपति ने नए संविधान की धारा २८० (१) के अधीन वित्त आयोग की नियुक्ति की। इस वित्त आयोग के अध्यक्ष श्री के० सी० नियोगी थे और उनके साथ चार अन्य सदस्य थे। इस आयोग से निम्न विषयो पर सिफारिश की आवश्यकता थी—

(क) संघ और राज्यो के बीच आयकर की विशुद्ध प्राप्तियो का वितरण और राज्यो के अंश का विभाग।

(ख) केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्यो को दिए जाने वाले अनुदानो का शासन करने वाले सिद्धान्तो का निर्णय और उन राज्यों के विषय में निर्णय जिन्हे यह अनुदान प्रदान किए जायं और उनकी राशियाँ क्या हो?

(ग) प० बंगाल, बिहार, आसाम और उड़ीसा के राज्यो को जूट निर्यात करो मे उनके अंशों के बदले अनुदानो की राशियाँ।

(घ) भारतीय संघ के साथ जिन ख भाग के राज्यो ने अपनी वित्तीय अखण्डता के लिए आर्थिक समझौते किए थे उनकी शर्तों को जारी रखना या उनमें सुधार।

सिफारिशें (Recommendations)—कमीशन ने ३१ दिसम्बर १९५२ को अपनी सूचना पेश की। उसकी मुख्य सिफारिश यह है—

(क) आय कर के वितरण के सम्बन्ध में (Relating to Distribution of Income-tax)—(क) आय कर की विशुद्ध प्राप्तियों में राज्यों (क भाग और ख भाग) के अंश को ५० प्रतिशत से ५५ प्रतिशत कर दिया जाय यह वितरण ८० प्रतिशत जनसंख्या के आधार पर और २० प्रतिशत संग्रह के आधार पर किया जाय।

(ख) विभिन्न राज्यो के प्रतिशत अंश के विषय में कमीशन ने निम्न सिफारिशें की—

बम्बई १७.५ उत्तर प्रदेश १५.७५ मद्रास १५.२५ प० बंगाल ११.२५ बिहार ९.७५ मध्य प्रदेश ५.२५ हैदराबाद ४.५ राजस्थान और उड़ीसा प्रत्येक ३.५ पंजाब ३.२५ ट्रावनकोर कोचीन २.५ असम और मैसूर प्रत्येक २.२५ मध्य भारत १.७५ सौराष्ट्र १.० और पेप्सू ०.७५।

(ग) ख भाग के राज्यो के प्रतिशत के विषय में सिफारिश की गई कि उन्हें १% की पूर्व दर की बजाय २.७५% मिलना चाहिए।

वितरण का आधार (Basis of Distribution)—आय कर का वितरण करने के लिए किसी आधार की खोज करना अत्यधिक जटिल समस्या थी। कमीशन ने उन भिन्न आधारो पर विचार किया जो बहुधा इस सम्बन्ध में उपस्थित किए जाते हैं। वह ये हैं—(i) संग्रह अर्थात राज्यो के इलाकों के अन्तर्गत निर्धारणों के आवास द्वारा संग्रहीत राशियों के अनुसार वितरण (ii) आय की उत्पत्ति (iii) प्रत्येक

राज्य की सापेक्ष जनसंख्या, (iv) औद्योगिक श्रम की सापेक्ष मात्रा (v) सापेक्ष प्रति व्यक्ति आय, (vi) विभिन्न राज्यों की आवश्यकताएँ।

बम्बई और प० बंगाल के राज्यों की प्रबल माँग संग्रह आधार की थी। जो भी हो, उनकी युक्ति के विरुद्ध यह मत था कि संग्रह से आय की उत्पत्ति का आभास नहीं होता। उदाहरणार्थ, इन राज्यों के हिस्से कुल अखिल-भारतीय संग्रहों का प्राय: $\frac{1}{2}$ आता था। पुन: इसमें से, लगभग $\frac{1}{2}$ बम्बई और कलकत्ता के नगरों में किया जाता था। इसका कारण यह है कि सारे देश के आयात और निर्यात का व्यापार इन दो बन्दरगाहों द्वारा होता है और इसलिए भी कि बड़ी-बड़ी कम्पनियों के मुख्य कार्यालय उन्हीं नगरों में हैं यद्यपि वह सम्पूर्ण देश में कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय हित के आधारों पर अनुसरण की जाने वाली नीतियों के कारण उपनगरों का विकास होता है। ऐसी दशा में केवल संग्रह के आधार पर वितरण करना कहाँ तक न्याय्य एवं उचित है?

फलत, राजस्वों के वितरण के विस्तृत उद्देश्यों के लिए वितरण की ऐसी समुचित योजना होनी चाहिए, जो राज्यों के लिए अधिक निधियों को उपलब्ध कर सके, और उन्हें अपनी जनसंख्या के कल्याण के विषय में उनके दायित्वों को पूर्ण योग्य बनाए।

विभिन्न आधारों पर विचार करने के बाद, कमीशन इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि वितरण का आधार यह होना चाहिए—(i) जनसंख्या द्वारा समुपस्थित आवश्यकताओं का सामान्य उपाय और (ii) अन्य निर्देशों के अभाव में, संग्रह द्वारा अनुमापित अंशदान। इसलिए, कमीशन ने इस आधार को साम्य एवं समुचित समझा कि $\frac{4}{5}$ (८०%) सापेक्ष जनसंख्या के आधार पर विभाजित किया जाय और शेष (२०%) की सापेक्ष संग्रह के आधार पर। उपरिलिखित प्रतिशत अंशों का निर्णय इस आधार पर किया गया है—१९५१ की जनगणना के आधार पर जनसंख्या के अंकों और १९५०-५१ (ख भाग के राज्यों की दशा में समुचित समायोजनों के साथ) को समाप्त होने वाले ३ वर्षों के संग्रह के वास्तविक अंकों को लिया गया।

कमीशन का यह विचार था कि केन्द्र और राज्यों के बीच साधनों के समन्वय में सन्तुलन अंश के रूप में अकेले आय-कर पर निर्भर करना अनुचित होगा। इसलिए, कमीशन ने कतिपय अन्य साधनों के परावर्तन का भी सुझाव दिया।

(ख) संघ उत्पाद-करों का विभाजन (Division of Union Excises)—राज्यों को अतिरिक्त साधनों के एक भाग को उपलब्ध कराने के लिए कमीशन ने सिफारिश की कि उन्हें संघ-उत्पाद-करों के राजस्व में से एक अंश दिया जाय, किन्तु इसके लिए कुछेक चुने हुए उत्पाद-कर ही होने चाहिएँ, जैसे, तम्बाकू, दियासलाई और वनस्पति पदार्थ। दूसरे शब्दों में, ऐसे पदार्थों पर, जो सर्वसामान्य हों और जिनकी व्यापक खपत हो, और जो वितरण के लिए राजस्व प्राप्ति के युक्तियुक्त सुदृढ़ साधन हों। क और ख भाग के राज्यों का अंश, उपरिलिखित उत्पाद-करों की विशुद्ध प्राप्तियों का ४% नियत किया गया है।

राज्यों में वितरण के सिद्धान्त के विषय में कमीशन ने १९५१ की जनगणना

के अनुसार जनसंख्या आधार की सिफारिश की। इसके फलस्वरूप उत्तर प्रदेश का अंश सर्वाधिक १८.२३% है और पैप्सू का सबसे कम १% है। अन्य राज्यों के प्रतिशत यह—मद्रास १६.४४ बिहार ११.८ बम्बई १०.३७ प० बंगाल १७.१६ मध्य प्रदेश ६.१३, हैदराबाद ५.३६ राजस्थान ४.४१ उड़ीसा ४.२२, पंजाब ३.६६, ट्रावनकोर कोचीन २.६८ मैसूर २.६२ आसाम २.६१ मध्य भारत २.२२ और सौराष्ट्र १.१६।

(ग) जूट वस्तुओं पर निर्यात कर में अंश के बदले प० बंगाल, बिहार, आसाम और उड़ीसा के अनुदानों में वृद्धि की जाय। (देशमुख निर्णय के अधीन) प० बंगाल के १०५ लाख रु० को १५० लाख रु० किया जाय, आसाम के ४० लाख रु० को ७५ लाख रु०, बिहार के ३५ लाख रु० को ७५ लाख रु० और उड़ीसा के ५ लाख रु० को १५ लाख रु० तक बढ़ा दिया जाय।

(घ) राज्यों के अनुदानों की राशियाँ और सिद्धान्त
(Principle and Amounts of Grants-in aid to States)

सहायतार्थ-अनुदानों के सिद्धान्त (Principles of grants-in aid)—कमीशन की सम्मति में राज्यों के सहायतार्थ अनुदान निम्न सिद्धान्तों द्वारा शासित होने चाहिएँ।

(i) राज्यों की बजट सम्बन्धी आवश्यकताएँ—इस उद्देश्य के लिए सब राज्यों के बजटों को कम कर दिया जाए और असामान्य तथा अनावर्त्तक मदों को निकाल दिया जाए।

(ii) कर यत्न अर्थात् राज्यों के अपने कर-राजस्व को उन्नत करने के लिए स्व सहायतार्थ किए यत्नों की सीमा। जितने ही अधिक यत्न किए गए हों उतना ही अधिक केन्द्र से सहायता का अधिकार।

(iii) इसी प्रकार मितव्ययिता और व्यय की दिशा में किए यत्न भी किसी राज्य को केन्द्र से अधिक सहायता के अधिकारी बनाएँगे।

(iv) सामाजिक सेवाओं का स्तर—सहायता अनुदानों का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य बुनियादी सामाजिक सेवाओं के स्तर को समान करना है। इस दिशा में मदद करने के लिए जिस राज्य का अत्यधिक निम्न-स्तर होगा, वह सन्तोषजनक स्तर वाले राज्यों की अपेक्षा अधिक अनुदानों का अधिकारी होगा।

(v) राष्ट्रीय हित के दायित्वों का विशेष भार यद्यपि राज्य क्षेत्र के अन्तर्गत निहित है तथापि कोई भी राज्य सहायता का अधिकारी हो जाएगा। पंजाब और प० बंगाल पर सीमान्त राज्य होने के नाते सीमान्तों की पर्याप्त रक्षा के दायित्व हैं।

सहायता अनुदान (Grants in-aid)—उक्त सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए कमीशन इस निर्णय पर पहुँचा कि मद्रास, उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, हैदराबाद, राजस्थान, मध्य भारत और पप्सू को सहायता की आवश्यकता नहीं है। ट्रावनकोर-कोचीन और मैसूर ऐसे राज्य हैं जिनके सापेक्ष रूप में सीमित साधन हैं और फलस्वरूप उनकी प्रगति को स्थिर रखने के लिए सहायता की आवश्यकता है। बम्बई,

प० बंगाल, उडीसा और सौराष्ट्र को सीमान्त अवस्थाओं वाला कहा जा सकता है, किन्तु पंजाब तथा आसाम को निश्चित रूप में सहायता की आवश्यकता है। तदनुसार, कमीशन ने निम्न वार्षिक अनुदानों की सिफारिश की। पश्चिमी बंगाल को ८० लाख रु० (विभाजन के कारण उत्पन्न विशेष समस्याओं को दृष्टि में रखते हुए); उडीसा, ७५ लाख रु० (सामाजिक सेवाओं, आदिवासियों तथा पिछड़े वर्गों की बहुत थोड़ी प्रगति को समक्ष रखते हुए ४० लाख रु० के विपरीत), मैसूर और सौराष्ट्र प्रत्येक को ४० लाख रु०, पंजाब १२५ लाख रु० (नियम और व्यवस्था के लिए विभाजन तथा सीमान्तिक दायित्वों से उत्पन्न दायित्वों के कारण), आसाम १ करोड़ रु० (पूर्वतः ३० लाख रु० के विरुद्ध), और ट्रावनकोर-कोचीन ४५ लाख रु०।

प्राथमिक शिक्षा के लिए विशेष अनुदान—उपरिलिखित अनुदानों के अतिरिक्त, ऐसे छः राज्यों में प्राथमिक शिक्षा के विस्तार के लिए विशेष सहायता-अनुदानों की सिफारिश की गई है कि जो अभी तक इस दिशा में पिछड़े हुए हैं। वे ये हैं—बिहार, मध्य प्रदेश, हैदराबाद, राजस्थान, उडीसा और पंजाब। चार वर्षों में, १९५३-५४ में १५० लाख रु० से लेकर १९५६-५७ में ३०० लाख रु० तक वर्त्तमान में स्कूल न जाने वाले स्कूल-आयु के बच्चों की संख्या के अनुपातानुसार उनमें बाँटा जाएगा।

कमीशन ने सिफारिश की कि उनकी सब सिफारिशों को प्राथमिक शिक्षा के अनुदानों के सिवाय, जिन्हें १ अप्रैल, १९५३ से प्रभावी किया जाना था, १ अप्रैल, १९५२ से प्रभावी किया जाए।

राष्ट्रपति ने सब सिफारिशों को स्वीकार किया और तदनुसार उन्हें प्रभावी किया गया।

सिफारिशों सम्बन्धी अनुमान (Estimate of the Recommendations)—कमीशन की सिफारिशें देश के वित्तीय ढाँचे में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण प्रगति को अंकित करती हैं। कमीशन ने प्रारम्भ से लेकर और निरन्तर इस विचार को समक्ष रखा कि राज्यों को केन्द्र से अतिरिक्त साधनों की उपलब्धि हो, किन्तु साथ ही यह भी कि केन्द्र के साधनों पर अनुचित दबाव भी न पड़े। तदनुसार, राज्यों को राजस्वों के लिए २१ करोड़ रु० अतिरिक्त मिला (१९४९-५० से १९५१-५२ तक के ३ वर्षों की अवधि में ६५ करोड़ रु० वार्षिक की औसत के मुकाबिले में उनकी सिफारिशों के फलस्वरूप ८६ करोड़ रु०)।

राजस्व और अनुदानों के विभाजन सिद्धान्तों का उद्देश्य यह था कि वह सब राज्यों पर समान रूप में लागू हो, जिससे किसी भी राज्य को किसी प्रकार की वैध आपत्ति न हो। जहाँ तक सम्बन्ध उनकी विशिष्ट समस्याओं का था, उन पर पर्याप्त रूप में विचार किया गया था और उनकी व्यवस्था की गई थी। इस ढंग से, कमीशन की सारी योजना का उद्देश्य राज्यों के बीच असमानताओं को कम करना था।

राज्यों के लिए सहायक केन्द्र की उपायों के रूप में जहाँ तक सम्बन्ध अनुदानों तथा राजस्व के बीच न्यूनता का है, उसके विषय में कमीशन ने बुद्धिमत्तापूर्वक केन्द्र पर निर्भर किया था। राजस्वों के निर्धारण का गुण यह है कि यह राज्यों के राजस्वों

को केंद्र के राजस्व के साथ सीधे रूप में जोड़ देता है जिससे फलस्वरूप विभाजन योग्य राजस्व में जो भी लोच होगी उसमें दोनों भागीदार हो जायेंगे।

प्रश्न ४—द्वितीय वित्त आयोग की सिफारिशों का वर्णन और परीक्षण कीजिए।

(उत्कल पूना ५७)

Q 4—Enumerate and examine the main recommendations of the Second Finance Commission (*Utkal Poona 57*)

द्वितीय वित्त आयोग श्री के० सन्थानम् की अध्यक्षता में १९५६ में नियुक्त किया गया था। उसकी मुख्य सिफारिशें ये थी—

(क) आयकर का अंश—राज्यों का अंश ५०% से बढ़कर ६०% हो जाना चाहिए। राज्यों के बीच वितरण ९०% जनसंख्या के ऊपर तथा १०% संग्रह के ऊपर आधारित होना चाहिए। पहले यह क्रमशः ८०% और २०% था।

(ख) संघ उत्पाद करों का अंश—आयोग ने सिफारिश की कि कॉफी चाय चीनी कागज वनस्पति और असारभूत तेलों के ऊपर भी संघ उत्पाद कर लगने चाहिएँ। इन उत्पाद करों में राज्यों का भी हिस्सा होना है। उसने यह भी सिफारिश की कि कुल आय का राज्यों को सिर्फ २५% ही मिलना चाहिए पहले की तरह ४०% नहीं। राज्यों का अंश केवल जनसंख्या के आधार पर ही तय किया गया है।

(ग) अनुच्छेद २७३ के अधीन सहायता अनुदान—इनमें वे सहायता अनुदान दिए जायेंगे जो ३१ मार्च १९६० तक जूट तथा जूट के बने पदार्थों के निर्यात कर के बदले में दिए जाते हैं। आयोग ने इन अनुदानों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया है।

(घ) अनुच्छेद २७५ (१) के अधीन सहायता अनुदान—आयोग ने सिफारिश की कि बम्बई मद्रास तथा उत्तर प्रदेश के तीन राज्यों को छोड़कर शेष ११ राज्यों को आगामी पाँच वर्षों तक कुल १८७ ७५ रु० के अनुदान दिए जायें।

(ङ) सम्पदा शुल्क—सम्पदा शुल्क की आय संसद की विधि के अनुसार वितरित होना चाहिए। इस सम्बन्ध में आयोग ने सिफारिश की कि भविष्य में संघ राज्य क्षेत्रों के बारे में एक प्रतिशत तो रख लिया जाय तथा शेष अचल सम्पत्ति व अन्य सम्पत्ति के बीच बाँट दिया जाय। यह वितरण वर्ष में किए गए आकलन के ऊपर आधारित सम्पत्ति के मूल्य के अनुसार होना चाहिए। अचल सम्पत्ति का यह अंश राज्यों में बाँट देना चाहिए प्रत्येक राज्य की अचल सम्पत्ति के मूल्य के अनुसार।

(च) रेलवे भाड़े पर कर—आयोग ने सिफारिश की कि इस कर की आय का ¼ प्रतिशत तो संघ राज्य क्षेत्रों के लिए अलग रख लिया जाय। शेष राज्यों के बीच बाँट देना चाहिए। यह वितरण प्रत्येक राज्य की रेलों के मार्च १९५६ को समाप्त होने वाले तीन वर्षों की औसत आय के ऊपर आधारित होना चाहिए।

(छ) विक्रय कर के स्थान पर अतिरिक्त उत्पादन शुल्क—भारत सरकार एवं राज्य सरकारों में इस विषय पर समझौता हो गया था कि मिल के वस्त्रों चीनी तथा तम्बाकू पर विक्रय कर के स्थान पर कर लगेंगे। वित्त आयोग से प्रार्थना की गई थी कि वह उन सिद्धान्तों का सुझाव दे जिनके अनुसार अतिरिक्त उत्पादन शुल्कों से प्राप्त होने वाली आय राज्यों के बीच वितरित की जाय। आयोग ने राज्यों को प्राप्त होने

वाली समस्त आय का हिसाब लगाया और सिफारिश की कि अतिरिक्त उत्पादन शुल्कों से जो आय हो उसमें से सबसे पहले राज्यों को प्रतिकर दिया जाय और इसके बाद शेष को राज्यों की जनसंख्या और खपत के आधार पर उनके बीच बाँट दिया जाय। एक प्रतिशत आय केन्द्रीय सरकार संघ राज्य क्षेत्रों के लिए अपने पास रख सकती थी। एक प्रतिशत आय जम्मू तथा कश्मीर राज्य के लिए निश्चित की गई थी।

(ज) राज्यों के लिए संघ के ऋणों का समेकन—पिछले कुछ वर्षों में संघ सरकार ने राज्य सरकारों को भारी मात्रा में ऋण प्रदान किए हैं। ब्याज की दरें और भुगतान की दरें अलग-अलग रही है। इसकी वजह से संघ तथा राज्यों के वित्तीय सम्बन्धों में बड़ी उलझनें पैदा हो गई हैं। आयोग ने इन उलझनों को दूर करने के लिए बड़े उपयोगी सुझाव दिए। उसके सुझाव का मुख्य तत्त्व यह था कि ब्याज की दरें तथा भुगतान की शर्तें प्रायः एक-सी होनी चाहिएँ एवं ऋण के सम्बन्ध में केन्द्र को लाभालाभ के सिद्धान्त के अनुसार चलना चाहिए।

निष्कर्ष—आयोग का अनुमान था कि उसकी शर्तों के परिणामस्वरूप केन्द्र की १४० करोड़ रु० की आय राज्यों के पास पहुँच जायेगी तथा इसकी वजह से राज्यों की वित्तीय स्थिति बहुत अच्छी हो जायेगी। आयोग की सिफारिशें यथार्थ थीं और उन्हें १९५७-५८ के बजट में कार्यान्वित कर दिया गया था।

केन्द्रीय वित्त

(Central Finance)

प्रश्न ५—केन्द्रीय सरकार के मुख्य राजस्व-साधनों तथा व्यय की मदों का विश्लेषण करें। (पंजाब १९५२, दिल्ली १९५३)

Q 5—Analyse the main sources of revenue and heads of expenditure of the Central Government. *(Punjab 52, Delhi 53)*

१९५९-६० के बजट सम्बन्धी अनुमानों के अनुसार केन्द्रीय सरकार का कुल राजस्व ७८० ९ करोड़ रु० और व्यय ८३९.२ करोड़ रु० उपस्थित किया गया था। इस प्रकार 'राजस्व खाते' में ५८ ३ करोड़ का घाटा रहा।

क—हम पहले कुल प्राप्तियों के मुख्य साधनों पर कुछ विस्तार के साथ विचार करेंगे।

आगम-शुल्क (Customs)—आगम-शुल्कों में आयात और निर्यात दोनों मद सम्मिलित हैं। द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व आगम-शुल्क आय का अकेला सबसे महान् साधन था (१९३८-३९ में ४० ५ करोड़ रु०), युद्ध-काल में आयातों में कमी हो जाने के कारण इनसे आय कम हो गई। किन्तु युद्ध के बाद, देश की आयातों में अत्यधिक वृद्धि हुई और फलतः आगम-शुल्कों से राजस्व उच्चतम स्तरों पर जा पहुँचा। १९५१-५२ के लेखों में आगम-शुल्कों से राजस्व २३२ करोड़ रु० की उच्च सीमा तक जा पहुँचा। बाद में कई वस्तुओं पर निर्यात शुल्क हटने की वजह से सीमा शुल्क में बहुत कमी हो गई। १९५८-५९ (संशोधित प्राक्कलन) में सीमा शुल्क से १३६ करोड़ रु० की आय

हुई। १९५९ ६० के लिए १३० करोड रु० का आय का अनुमान है। इस समय सीमा शुल्क से भारत सरकार को अपनी कुल आय का ½ भाग प्राप्त होता है।

आय कर (Income Tax)—केन्द्रीय राजस्व का यह एक अन्य प्रधान साधन है। द्वितीय युद्ध से पूर्व इस साधन का द्वितीय स्थान था और १९३८ ३९ में इससे केवल १७ करोड रु० की प्राप्ति हुई थी। किन्तु युद्ध काल में इससे १९४४ ४५ में १९१ करोड रु० का आय बढ़ गई। जो भी हो उसके बाद से इसमे प्राप्तियों मे कमी हो गई है। १९५८ ५९ (सशोधित प्राक्कलन) मे आय कर से २०८ करोड रु० की वृद्धि हुई। आशा है कि १९५९ ६० मे इससे २२५ करोड रु० की आय होगी।

आय कर (क) व्यक्तिगत सयुक्त हिन्दू परिवारो और रजिस्टर्ड रहित फर्मों की आयो तथा (ख) सयुक्त पूजी कम्पनियो के लाभो दोनो पर लगाया जाता है। (क) व्यक्तिगत (ख) सयुक्त हिन्दू परिवारो तथा रजिस्टर्ड रहित फर्मों की अवस्था मे २० हजार रु० वार्षिक से अधिक की आयो पर और सयुक्त पूजी कम्पनियो की कुल आय पर साधारण आय कर के अतिरिक्त अधिकर (Super Tax) भी लगाया जाता है। सयुक्त पूजी कम्पनियो के लाभो पर अधिकर को कार्पोरेशन कर (निगम कर) कहते है। १९५१ ५२ से लेकर आय कर और निगम कर सहित अधिकर पर ५% का अधिभार भी लिया जाता है।

छूट की सीमा जो कई बार बदली है इस समय व्यक्तिगत की अवस्था मे ३ ००० रु० और सयुक्त हिन्दू परिवार की अवस्था मे ६ ००० रु० है।

१९३९ से लेकर आय कर अश प्रणाली (Slab System) के आधार पर गिना जाता है अर्थात् सम्पूर्ण आय उसी दर पर आरोपित नहीं होती प्रत्युत उत्तरोत्तर अशो अर्थात आय के अलग अलग अशो पर अधिकाधिक दरो से कर लगाया जाता है। इस प्रकार आय कर और साथ ही साथ और अधिकर की दरो मे प्रगति दीख पडती है। प्रत्येक सीमित कम्पनी की अवस्था मे चाहे जो भी आय हो आय कर की दर समान होती है (वर्तमान मे ३०%)। इस समय निगम कर २०% है।

१९४५ ४६ से अर्जित तथा अनर्जित आयो के भेद के आधार पर अन्तर (differentiation) तत्त्व का समावेश किया गया है। अर्जित का ⅕वा भाग कर से मुक्त किया जाता है। लेकिन १९५५ ५६ के बजट मे अधिक आय ब्रैकेट मे अर्जित आय पर छूट देने की प्रथा को हटाने का पहला कदम उठाया गया। २५ ००० रु० से अधिक आय मे प्रति १ ००० रु० अधिक पर ४ ००० रु० की अर्जित आय छूट को कम करके २०० रु० किया गया। ४५ ००० रु० आय स्तर होने पर इस छूट को बिलकुल ही उड़ा दिया गया है। १९५७ ५८ के बजट के बाद अर्जित तथा अनर्जित आयो के अन्तर को बदल दिया गया है। अब समस्त अर्जित आयो पर एक निश्चित दर से कर लगाया जाता है। इसके अतिरिक्त समस्त अनर्जित आयो पर अधिभार भी लगाया जाता है। १९५५ ५६ मे विवाहित और अविवाहित अन्तर को करारोपण के लिए अपनाया गया। विवाहित व्यक्तियो के लिए कर की छूट को १ ५०० रु० से बढाकर २ ००० और फिर १९५७ ५८ के बजट मे बढाकर ३ ००० रु० किया गया और अविवाहित व्यक्तियो के लिए १ ००० रु० कर दिया गया।

निगम कर को छोड़कर आयकर की समस्त राशियाँ केन्द्रीय सरकार अपने पास नहीं रखती। १९५२-५३ के पूर्व राज्यों को ५०% राशि मिल जाती थी। प्रथम वित्त आयोग की सिफारिशों के अनुसार यह राशि बढ़ा कर ५५% कर दी गई। द्वितीय वित्त आयोग ने यह राशि बढ़ाकर ६०% कर दी थी।

यह खेद की बात है कि भारत में कर-अपवंचन बहुत अधिक होता है। प्रो० कल्डोर के विचार से कर अपवंचन की राशि २०० करोड़ रु० से लेकर ३०० करोड़ रु० तक है।

संघीय उत्पाद शुल्क (Union Excise Duties)—यह तम्बाकू, निर्मित और अनिर्मित, दोनों पर और देश के अन्दर उत्पादित जिन्सों पर लगाए जाते हैं, सिवा उन जिन्सों के (जैसे नमक और नशीली औषधियाँ) कि जिन पर राज्य उत्पाद-कर लिया जाता है। केन्द्रीय उत्पाद-करों को सर्वप्रथम तब लगाने की आवश्यकता हुई *थी जब कई घरेलू उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने के फलस्वरूप आगम-शुल्कों से राजस्व* में कमी हुई थी। तदनुसार १९३४ में खाँड और दियासलाई पर उत्पाद-कर लगाया गया था। उपरान्त, युद्ध-काल में, इन पुराने उत्पाद-करों में वृद्धि की गई और युद्ध-उद्देश्यों के लिए उच्च राजस्वों की आवश्यकता पूर्ति को नए कर लगाए गए।

१९३८-३९ में, केन्द्रीय उत्पाद-करों से ८·६६ करोड़ रु० की प्राप्ति हुई। *इस साधन से आय में निरन्तर वृद्धि होती रही। १९५८-५९ के संशोधित प्राक्कलनों के* अनुसार इस मद से ३०१·२ करोड़ रु० की आय हुई थी। १९५९-६० के बजट में इससे ३२५ करोड़ रु० की आय होने का अनुमान है।

खाँड, दियासलाई, तम्बाकू, वनस्पति, चाय, सूती वस्त्र, मोटर स्प्रिट, टायर उत्पाद-करों के मुख्य उदाहरण हैं। सब के अधीन करारोपण वाली अन्य वस्तुएँ ये हैं—मिट्टी का तेल, इस्पात की छड़ें, कॉफी, चाय, कृत्रिम सिल्क, सीमेंट, जूते, साबुन आदि।

उत्पाद-करों का केन्द्रीय कर-प्रणाली में वृद्धिपूर्ण ढंग से उपयोग किया जा रहा है। वे लोचपूर्ण होते हैं अर्थात् अधिकाधिक आय की वेगपूर्वक प्राप्ति होती है। जो भी हो, उनमें से अनेक पर करारोपण जैसे दियासलाई, मोटा कपड़ा, भार में प्रतिगामी है, अर्थात् गरीबों पर अधिक बोझा डालता है।

आयकर की भाँति ही संघीय उत्पाद शुल्कों से प्राप्त होने वाली आय केन्द्र एवं राज्यों के बीच बाँट दी जाती है। १९५७-५८ के बाद से राज्यों को इस आय का २५% अंश प्राप्त होता है।

रेलें (Railways)—केन्द्रीय सरकार रेलों के लाभों में से एक अंश लेती है। *हाल ही के वर्षों* में रेलों ने असाधारण उच्च लाभ कमाए थे और सरकार को जो अंश प्राप्त हुआ उसने भी एक नया रिकार्ड स्थापित किया। १९५० में, एक नवीन रेलवे परम्परा ग्रहण की गई, जिसके अनुसार केन्द्रीय सरकार को रेलों में विनियोजित ऋण-पूँजी पर ४% लाभांशों की गारन्टी की गई है। इन लाभांशों में से ब्याज देने के बाद केन्द्रीय सरकार के पास कुछ द्रव्य रह जाता है, जिसे केन्द्रीय बजट के लिए रेलों का विशुद्ध अंशदान कह सकते हैं। १९५९-६० के लिए यह ५·९८ करोड़ रु० है।

डाक व तार (Posts and Telegraphs)—इन्हें लाभों की अपेक्षा जनता की सुविधा के लिए ही सरकार चलाया जाता है। फलत उनका विशुद्ध वार्षिक अंशदान बहुत बड़ा नहीं है और १९५९ ६० में इनसे केवल ४ २ करोड़ रु० प्राप्त हुए।

चलमुद्रा और टकसाल (Currency and Mint)—१ जनवरी १९४९ को रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हुआ। इस प्रकार नोटों को छापने तथा मुद्राओं की घड़ाई से उत्पन्न होने वाले रिज़र्व बैंक के सब विशुद्ध लाभ केन्द्रीय सरकार व राजस्वों की वृद्धि करते हैं। राष्ट्रीयकरण से पूर्व भी हिस्सेदारों को ३½% की दर से नियत लाभांश दिए जाते थे और लाभों का शेष सरकार को मिलता था। १९५९ ० में चलमुद्रा तथा टकसाल से ८८ ६ करोड़ रु० की आय का अनुमान है।

सम्पदा शुल्क—भारत में सम्पदा शुल्क १९५३ से प्रारम्भ किया गया है। यह कर कृषिगत भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति पर केन्द्र द्वारा लगाया जाता और एकत्रित किया जाता है एवं इसकी राशि राज्यों को बाँट दी जाती है। सम्पदा शुल्क मृत व्यक्ति की समस्त सम्पत्ति पर लगता है। पहले ५० हजार की सम्पत्ति पर कोई सम्पदा शुल्क नहीं लगता। ५० हजार के बाद पहले खण्ड पर ४% कर लगता है। बाद के खण्डों पर निरन्तर अधिक कर लगता जाता है। इस कर से वास्तविक आय बहुत कम हुई है। १९५७ ५८ में २ ३० करोड़ रु० की आय हुई थी। १९५८ ५९ के लिए संशोधित प्राक्कलन २ ८० करोड़ रु० थे। १९५९ ६० के लिए बजट प्राक्कलन २ ८५ करोड़ रु० हैं।

पूँजीगत लाभों पर कर—यह कर सबसे पहले १९४६ में लागू किया गया था और मार्च १९४८ तक लागू रहा था। इसे १ अप्रैल १९५६ के बाद से फिर लागू किया गया था यह पूँजी-परिसम्पत् के विक्रय विनिमय तथा हस्तांतरण से प्राप्त होने वाले पूँजीगत लाभों के ऊपर लगता है। यदि साल में पूँजीगत लाभ ५ ००० रु० से कम हो तो कोई पूँजीकर नहीं लगता।

सम्पत्ति कर—भारत में सम्पत्ति कर १९५७ में लागू किया गया था। यह व्यक्तियों हिन्दू अविभक्त परिवारों तथा कम्पनियों के ऊपर लगता है। यह कर व्यक्तियों के ऊपर २ लाख रु० तक हिन्दू अविभक्त परिवारों के ऊपर ४ लाख रु० तक तथा कम्पनियों के ऊपर १ लाख रु० तक नहीं लगता। व्यक्तियों तथा हिन्दू अविभक्त परिवारों के ऊपर प्रति १० लाख रु० पर प्रतिशत तथा आगे के प्रति १० लाख पर १½ प्रतिशत तथा शेष पर २ प्रतिशत कर लगता है। कम्पनियों के सम्बन्ध में ५ लाख रु० से ऊपर की राशि पर % कर लगता है। पुन संस्थाओं बीमा पालिसियों तथा कृषि सम्पत्तियों के ऊपर यह कर नहीं लगता। १९५७ ५८ में इससे ७ ०४ करोड़ रु० की आय हुई थी। १९५८ ५९ के लिए संशोधित प्राक्कलन १० करोड़ रु० हैं। १९५९ ६० में इससे १३ करोड़ रु० की आय होने की आशा है।

व्ययकर—यह कर १ अप्रैल १९५८ से चालू हुआ था। यह कर सिर्फ उन व्यक्तियों तथा हिन्दू अविभक्त परिवारों के ऊपर लागू होता है जिनकी आय सब करों को देने के बाद भी ३६ ००० रु० से अधिक होती है। यह कर केवल उस वैयक्तिक व्यय के ऊपर लगता है जो कुछ निश्चित मदों के अतिरिक्त होता है। यह कर भा

खण्ड प्रणाली के अनुसार लगता है। यह कर पहले खण्ड पर १०% तथा उच्चतम खंड, पर १००% लगता है। १९५८-५९ में इससे १ करोड रु० की आय हुई थी। १९५९-६० में इससे १ करोड रु० की आय होगी।

उपहार-कर—भारत में सम्पदा शुल्क लगने के बाद से धनिक लोग अपने उत्तराधिकारियों को बहुत अधिक उपहार देने लगे हैं। उपहार-कर १ अप्रल, १९५८ से लगना प्रारम्भ हुआ था। १९५८-५९ (बजट प्राक्कलन) और १९५९-६० (बजट प्राक्कलन) में इस कर से १२० करोड रु० आय होने की आशा है।

(ख) व्यय (Expenditure)—केन्द्रीय सरकार का व्यय १९५९-६० के लिए, ८३९.२ करोड रु० अनुमान किया गया है। अब हम व्यय की मुख्य मदों का अध्ययन करेंगे।

१. प्रतिरक्षा सेवा (Defence Services)—प्रतिरक्षा सेवाएँ कुल केन्द्रीय राजस्व का लगभग आधा भाग हड़प जाती हैं। जब से विभाजन हुआ है, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक अनिश्चितता और भारत-पाक कटु-सम्बन्धों के कारण प्रतिरक्षा व्यय बहुत बढ़ गए हैं। इससे अधिक, हम अपनी नौ सेना और हवाई शक्ति का निर्माण कर रहे हैं; भू-सेना का नवीकरण कर रहे हैं। १९५९-६० में इस पर २४२.७ करोड रु० खर्च होने का अनुमान है।

२. नागरिक प्रशासन (Civil Administration)—केन्द्रीय सरकार प्रशासन-कार्य के लिए अनेक सचिवालयों का व्यवस्थापन करती है। नागरिक प्रशासन का व्यय १९५९-६० के बजट के अनुसार २२२.७ करोड रु० होने का अनुमान है। यद्यपि युद्ध-समाप्ति को वरसों बीत गए हैं, तथापि युद्ध-काल में जिन विभागों की रचना की गई थी, उन्हें बन्द नहीं किया गया। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त बाहरी देशों में कई दूतावास जारी किए गए, जिन पर बहुत खर्च हो रहा है। तिस पर, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में जाने वाले शिष्टमण्डलों का प्रवाह भी निरन्तर जारी है। कीमतों में अधिकता के कारण मँहगाई भत्तों की आवश्यकता हुई, जिससे इस मद के व्यय में अधिक वृद्धि हो गई। व्यय में मितव्ययिता के लिए इतना कुछ कहने के बावजूद भी परिणाम न के बराबर रहा है।

३. राजस्व पर सीधी माँग (Direct Demand on Revenue)—राजस्व इकट्ठा करने के काम पर बहुत अधिक व्यय होता है। १९५९-६० के लिए १०१.७ करोड रु० का अनुमान था।

४. ऋण सेवाएँ (Debt Services)—सरकार समय-समय पर, सार्वजनिक उद्देश्यों, विशेषत द्वितीय विश्व-युद्ध-काल के लिए बड़े-बड़े ऋणों को जारी करती है। ३१ मार्च, १९५८ को भारत सरकार का कुल सार्वजनिक ऋण ४९१९.६ करोड रु० था। व्यय की मदों में इस सार्वजनिक ऋण पर व्याज भुगतान की बहुत बड़ी मद है। १९५९-६० के बजट अनुमानों में यह ५७.८८ करोड रुपया आँकी गई है।

५. विकास सेवाएँ (Development Services)—केन्द्र का मुख्य व्यय विकास सेवाओं पर होता है। इसमें सिंचाई, बहुधन्धी नदी योजनाएँ, बन्दरगाह, आकाशदीप और हल्के जहाज, वैज्ञानिक विभाग, शिक्षा, औषधि, जन-स्वास्थ्य, कृषि,

ग्राम विकास पशु-चिकित्सा सहकार उद्योग और पूर्ति हवाई सेवाएँ रेडियो नाग रिक कार्य, विद्युत योजनाए आदि मुख्य है। १९५९ ६० के बजट मे इन मदो पर १६८ करोड रु० व्यय करने का उपबन्ध है।

६ राज्यो को सहायता (Assistance to States)—हाल ही के वर्षों म केन्द्रीय सरकार के व्यय की मद म राज्यो की वित्तीय सहायता के अलावा अनुदानो का बहुत महत्त्व रहा है। इनमें से एक किस्म की सहायता संविहित अनुदान (Statutory Grant) के रूप म है जिसकी सिफारिश वित्त आयोग ने की है। दूसरी जूट उत्पादन करने वाले क्षेत्रों को अनुदान की मद है जो जूट के निर्यात पर शुल्क के एवज म दी जाती है। अन्य अनुदान विकास कार्यों के लिए है जैसे अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन औद्योगिक आवास योजना आदि। हाल ही के वर्षों म इन अनुदानो और अशदानो म वृद्धि हुई है। १९५९-६० के लिए इसका अनुमान ४८ करो रु० है।

७ विस्थापितो पर व्यय (Expenditure on Refugees)—जब से विभाजन हुआ है बडी-बडी राशियाँ (१९५३ ५४ के अन्त तक २०१ करोड रु०) (क) विस्थापितो को कैपो म सहायता प्रदान करने तथा (ख) उनके पुनर्वास के लिए प्रतिवर्ष खर्च करनी पडी। केन्द्रीय सरकार ने सम्बन्धित राज्य सरकारो के साथ मिलकर अधिकाश व्यय को सहन किया। अब विस्थापितो की समस्या के समाधान के साथ यह व्यय कम होता जा रहा है। १९५९ ६० म इसके लिए १९ ४ करोड रु० की व्यवस्था की गई है।

८ विविध (Miscellaneous)—समय समय पर व्यय की स्थायी मद बनती रहती है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण खाद्य को दी जाने वाली राज्य सहायता है। १९५१-५२ म केन्द्रीय सरकार ने ४० करोड रु० खाद्य सहायता के रूप म व्यय किए (आयात किए गए खाद्यान्न म सहायता के लिए)। धीरे धीरे यह कम हुए और १९५२-५३ म २१ करोड रु० व्यय हुआ १९५३ ५४ म १८ करोड रु० और १९५४-५५ के बजट मे इसका कही जिक्र नही हुआ।

प्रश्न ६—भारत में राज्य सरकारो के मुख्य राजस्व साधनो तथा व्यय की मदो का विश्लेषण करें। (प० ५७ पूरक)

Q 6—Analyse the main sources of revenue and heads of expenditure of the State Governments in India *(Punjab 57 Suppl)*

(क) राजस्व—भूमि राजस्व अर्थात् लगान (Land Revenue)—युद्ध स पूर्व भूमि लगान राज्य राजस्वो विशेषत बगाल उत्तर प्रदेश मद्रास और पजाब के राज्यो का सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन था। १९३८ ३९ म ५९ करोड रु० के कुल कर-राजस्व में से यह २५ ४१ करोड रु० गिना गया था जो ४३ प्रतिशत हुआ। जो भी हो इसका सापेक्ष महत्त्व अन्य प्रधान साधनो के कारण कम हो गया। इनम उल्लेखनीय बिक्री कर और केन्द्र से प्राप्त आय कर म राज्यो का अश तथा उत्पाद राजस्वो म उन्नति की है। तिस पर यह स्थिर एवं लोचहीन कर भी है। जहाँ १९३८ ३९ से लेकर राज्य सरकारो के कुल कर-राजस्वो म चार गुना वृद्धि हो गई है, वहाँ भूमि लगान म केवल एक तिहाई की ही वृद्धि हुई है।

भूमि-लगान में, जिस ढंग से कि यह वर्तमान में लगाया जाता है, अनेक भीषण दोष हैं। (भूमि-लगान प्रणालियों के दोषों तथा उनमें सुधार के सुझावों के विषय में 'भूमि लगान सम्बन्धी अध्याय देखें')। १९५१-५२ में राज्यों ने ४०५.४ करोड रु० के कुल कर-राजस्वों के विपरीत भूमि-लगान से ४८ करोड रु० की प्राप्ति की थी (लगभग १२ प्रतिशत)। १९५३-५४ में ७०.७ करोड रु० की राशि मिली। १९५९-६० में इससे १००.५ करोड रु० प्राप्त होने की आशा है। यह वृद्धि उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्य प्रदेश में जमींदारी उन्मूलन के ही कारण हुई है। वर्तमान में राज्य भूमिधरों तथा सीरदारों से लगान एकत्र करता है। इस वृद्धि के साथ लगान एकत्रित करने के लिए जुदा रकम तथा जमींदारों को मुआवजे की रकम अलग रख लेनी चाहिए।

आबकारी (Excise)—आबकारी राजस्व शराब, औषधियों, अफीम आदि के निर्माण और बिक्री से प्राप्त किया जाता है। यह उनके निर्माण पर करों और लाइसैंस बिक्री के लिए फीसों के रूप में एकत्र किया जाता है। इस राजस्व का प्रधान अंश देशी शराब से प्राप्त होता है।

युद्ध-पूर्व के बजटों में, आबकारी राजस्व का द्वितीय महान् साधन था। इस साधन से आय में राज्यों की निषेध-नीतियों के कारण कमी होनी शुरू हुई। मद्रास में अक्टूबर १९४८ में पूर्ण निषेध हो गया और बम्बई में ६ अप्रैल, १९५० को। अन्य राज्यों में आंशिक निषेध प्रचलित किया गया है, परिणामस्वरूप, १९५१-५२ में आबकारी-राजस्व २५.२ करोड रु० तक गिर गया। जो भी हो, केन्द्रीय सरकार की सलाह से राज्य-सरकारों ने अपने अधिक निषेध कार्यक्रमों के विस्तार को या तो रोक दिया है अथवा शिथिल कर दिया है। पिछले कई वर्षों से इस मद से ४३-४४ करोड रु० की आय होती रही है।

बिक्री-कर (Sales Tax)—१९३९ से पहले, प्रान्तीय राजस्वों में, बिक्री-कर का नाम तक नहीं था। इसका सर्वप्रथम आरम्भ १९३९ में, मद्रास में सामान्य बिक्री-कर लगाने से हुआ। गत कुछ वर्षों में, राज्य-सरकारों के राजस्व साधनों में इसने प्रमुख स्थिति धारण कर ली है। बम्बई, मद्रास, पश्चिमी बंगाल, मैसूर और केरल के लिए यह राजस्व की अकेली सबसे बड़ी मद है। १९५९-६० में इससे १००.८ करोड रु० की प्राप्ति की आशा की जाती है जो राज्यों में कुल कर राजस्व का लगभग छठा भाग है।

स्टाम्प (Stamps)—स्टाम्प-राजस्व न्यायालय सम्बन्धी और व्यापारिक टिकटों से प्राप्त होता है। न्यायालय सम्बन्धी स्टाम्प मुकद्दमों, अर्जियों पर लगाए जाते हैं और व्यापारिक स्टाम्प व्यापारिक कारोबार पर। १९५९-६० के राज्य बजटों में स्टाम्प-करों से लगभग ३४.६१ करोड रु० की प्राप्ति का अनुमान है।

सिंचाई दातव्य (Irrigation Charges)—सिंचाई दातव्यों को लेने के विषय में कोई स्पष्ट सिद्धान्त नहीं है। इसकी राज्य-राज्य में भिन्न रीतियाँ हैं। जो हो यह सब राज्यों में कर प्रकृति का है। यह सेवा-सिद्धान्त की कीमत पर नहीं लिया जा सकता, क्योंकि उस दशा में प्रत्येक सिंचाई-कार्य के लिए भिन्न दर होगी, न ही इसे अकेले लाभ सिद्धान्त पर ही लिया जा सकता है। फलत: कोई बीच का मार्ग होना

चाहिए। कभी-कभी यह सुझाव दिया गया है कि सिंचाई अर्थ को सामान्य राज्य अर्थ से अलग कर देना चाहिए। १९५९-६० मे इस मद से १२ ४४ करोड रु० की आय होने की आशा है।

वन (Forests)—इस मद के अधीन राजस्व इमारती लकडी की बिक्री और अन्य वन-उत्पादन तथा चराई शुल्क आदि से प्राप्त किया जाता है। युद्ध-काल म इमारती लकडी के लिए सैनिक माँग म अत्यधिक वृद्धि के कारण इसम पर्याप्त वृद्धि हो गई थी। किन्तु युद्ध के बाद यह काफी कम हो गया है। वनो से तब तक अधिक राजस्व की प्राप्ति नही होगी जब तक उनके विकास की दिशा म उदारतापूर्वक पूँजी व्यय नहीं होगी। वर्तमान सकटपूर्ण आर्थिक स्थिति म राज्यो से यह आशा नही की जा सकती कि वे वन-विकास के कार्यक्रमों का आरम्भ करेंगे। १९५९-६० मे वनो से १९ ६४ करोड रु० प्राप्त होने का अनुमान है।

कृषि विषयक आयकर (Agricultural Income Tax)—बडे बडे भूमि-मालिक भूमि-लगान निर्धारण की वर्तमान प्रणाली के अधीन सहज बच निकलते हैं। तदनुसार निम्न राज्यो मे कृषि-विषयक आय-कर प्रचलित किया गया है—बिहार, प० बगाल, उडीसा, आसाम और उत्तर प्रदेश, आध्र, केरल, मद्रास, कुर्ग तथा मध्य प्रदेश। १९५३-५४ म इस स्रोत से २६ करोड रु० की आय हुई। १९५९-६० मे इस मद से ८ १ करोड रु० की आय का अनुमान है।

आय-कर का अश (Share of Income Tax)—देशमुख-निर्णय के अनुसार (निगम-कर को छोडकर) आय-कर ५०% अश राज्यो मे बाँटा जाता था, किन्तु १९५२-५३ से वित्त कमीशन की सिफारिशो पर इस प्रतिशत में ५५% की वृद्धि कर दी गई। १९५७-५८ से द्वितीय वित्त आयोग की सिफारिशो के अनुसार यह राशि बढा कर ६० प्रतिशत कर दी गई।

आय-कर मे राज्यो का अश सहज ही राज्य-राजस्वो का सबसे बडा साधन है। १९५९-६० मे, अनुमानत इससे ७७ ३९ करोड रु० मिलेंगे।

सघीय उत्पाद-करो में भाग (Share in Union Excises)—वित्त कमीशन की सिफारिश पर १९५२-५३ से लेकर राज्य तम्बाकू, दियासलाई और वनस्पति पदार्थों पर केन्द्रीय उत्पाद-करो में भागीदार बन गए हैं। इन करो की विशुद्ध प्राप्तियो का ४०% राज्यो मे उनकी जनसख्या के आधार पर बाटा जाता है। १९५९-६० मे, राज्यो को इस मद से अनुमानत ७२ ७२ करोड रु० मिलेगा।

केन्द्रीय सरकार से अनुदान (Grants from Central Govt)—राज्य-राजस्वो की यह अन्य मद है। ये तीन प्रकार के हैं—(1) सविधान के अनुच्छेद २७५ के अधीन अनुदान, जो कुछ राज्यो को प्रतिवर्ष दिए जाते हैं। ये वित्त-कमीशन द्वारा निश्चित किए गए है और कुल योग लगभग ५ करोड रु० है।

(ii) जूट उत्पादक राज्यों के अनुदान, जो जूट पर निर्यात-कर मे उनके अश के बदले प्रति वर्ष दिए जाते हैं। इनका कुल योग ३ ५५ करोड रु० है (प० बगाल १५० लाख रु०, बिहार और आसाम प्रत्येक ७५ लाख रु० और उडीसा १५ लाख रु०)।

(iii) विशेष उद्देश्यों के लिए विशिष्ट अनावर्तक अनुदान, जैसे १९५३-५४ में अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन, सामुदायिक विकास, औद्योगिक भवन-निर्माण योजनाओं और अन्य विशिष्ट उद्देश्यों के लिए २५ करोड़ रु० दिए गए थे।

पिछले कुछ वर्षों से केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों को विकास-कार्यों के लिए अधिक से अधिक अनुदान दे रही है। राज्यों को १९५९-६० में इस मद से ४९·५६ करोड़ रु० प्राप्त होने की आशा है।

१९५९-६० में राज्य राजस्वों के कुछेक अन्य साधन यह हैं—मनोरंजन कर (६·६६ करोड़ रु०), मोटरगाड़ियों पर कर (२४६ करोड़ रु०), मोटर के तेलों पर कर (१२·५१ करोड़ रु०), बिजली खपत पर कर (६·४ करोड़ रु०)। राज्य सरकारों ने कई वाणिज्यिक कार्य भी आरम्भ किए हैं, जिनमें उल्लेखनीय सड़क परिवहन है। इनसे भी कुछ राजस्व की प्राप्ति होती है। उदाहरण के लिए १९५९-६० में राज्य सरकारों की बिजली योजनाओं और सड़क-परिवहन सेवाओं से अनुमानतः १·८८ करोड़ रु० और ५·५ करोड़ रु० की क्रमशः प्राप्तियाँ होंगी।

उपरिलिखित साधनों के अतिरिक्त कतिपय विभागीय प्राप्तियाँ भी होती हैं, जैसे १९५९-६० में नागरिक प्रशासन विभागों, नागरिक निर्माण-कार्यों से ११६·७५ करोड़ रु० की प्राप्ति का अनुमान किया गया है।

मुख्य रूप से योजना आयोग की सिफारिश पर, पिछले दो वर्षों में, कर के नए साधन अपनाए गए हैं (मुख्य रूप से राज्यों में) : बेटरमेंट करारोपण (ऐसी भूमि जिसे नए सिंचाई उपायों से लाभ हुआ हो), सम्पदा कर में शेयर, जिसे केन्द्रीय सरकार ने लागू तथा एकत्रित किया हो (१९५९-६० के अनुमान २·५ करोड़ रु० हैं) तथा शिक्षा उपकर।

इस प्रकार राज्यों के राजस्वों के तीन स्थूल साधन हैं—(i) कर-राजस्व, (ii) केन्द्रीय सरकार से अनुदान और राजस्व में अंश, और (iii) राजस्व, जिसमें वन, सरकारी सिंचाई-कार्य, विभागीय प्राप्तियाँ आदि सम्मिलित हैं।

(ख) व्यय (Expenditure)—राज्यों को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण और अत्यावश्यक कर्त्तव्यों का पालन करना होता है। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सुरक्षा सेवाएँ और सामाजिक सेवाएँ हैं। सुरक्षा सेवाओं में सामान्य प्रशासन, पुलिस, न्याय-विभाग, जेलें आदि शामिल हैं और सामाजिक सेवाओं का सम्बन्ध, शिक्षा, चिकित्सा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, कृषि, उद्योगों, सहकारिता, पशु-अस्पतालों आदि से है।

राज्य-व्यय की अन्य मदें यह हैं—राजस्व पर प्रत्यक्ष माँगें (अर्थात्, करों को एकत्र करने की लागत), सिंचाई और ऋण सेवाएँ।

राज्यों का कुल राजस्व व्यय, १९५९-६० वर्ष के लिए ८२६·९ करोड़ आँका गया है।

सुरक्षा सेवाएँ अथवा नागरिक प्रशासन (Security Services or Administration)—जिस प्रकार प्रतिरक्षा सेवाएँ केन्द्रीय सरकार के राजस्व का बहुत बड़ा अंश हड़प जाती हैं, इसी प्रकार सुरक्षा सेवाएँ, विशेषतः पुलिस, राजस्वों की बहुत बड़ी मात्रा की खपत कर लेती हैं। १९५९-६० के लिए

सेवाओं पर जिन्हे नागरिक प्रशासन भी कहते हैं, १४५ करोड रु० के व्यय का अनुमान किया गया है। यह राशि कुल व्यय के पाँचवें भाग के लगभग है।

सामाजिक सेवाएँ अथवा विकास व्यय (Social Services or Development Expenditure)—इस प्रकार की सेवाओं के बहुमुखी विस्तार के लिए अत्यन्त आवश्यकता हो गई है। अभी तक अत्यधिक अपर्याप्त कोषों के कारण राज्य सरकारें ऐसा निम्नतम स्तर भी प्रदान करने योग्य नहीं हुई हैं कि जो सभ्य देशों में होना चाहिए। अभी तक साधनों की सीमितता की बाधा निरन्तर जारी है। जो भी हो, इस प्रकार की सेवाओं के व्यय में वृद्धि की जा रही है। १६५६-६० के लिए इसका ४८१ करोड रु० अनुमान किया गया है (कुल अनुमानित व्यय का ५८ प्रतिशत)। विभिन्न सामाजिक सेवाओं में शिक्षा के लिए १२८ ३३ करोड रु०, औषधि तथा जन-स्वास्थ्य के लिए ७० ६८ करोड रु० कृषि, पशु चिकित्सा तथा सहकारिता के लिए ६३ ८४ करोड रु० तथा ग्राम और सामुदायिक विकास योजनाओं के लिए ३७ ७६ करोड रु०।

राजस्व पर प्रत्यक्ष माँगों के विषय में १६५६-६० के बजट में ६१ ३४ करोड रु० की खपत का अनुमान किया गया है।

१६५६-६० के बजट में ऋण सेवाओं के लिए ६२ करोड रुपया आँका गया है। इस मद में इतनी अधिक वृद्धि का यह कारण है—हाल ही के वर्षों में कुछेक राज्यों ने जमींदारी उन्मूलन प्रतिरक्षा-पत्रों को जारी किया है और केन्द्र से या बाजार में से राज्य सरकारों ने विकास ऋणों को उपलब्ध किया है।

उपरिलिखित से यह भली प्रकार मालूम हो गया होगा कि जहाँ प्राथमिक समाज-सेवाओं की आवश्यकताएँ अपूर्ण रूप में पड़ी हैं, वहाँ राज्य करारोपण ऐसे बिन्दु पर जा पहुँचा है कि जहाँ से इसे और आगे बढाना अत्यधिक कठिन है। इन अवस्थाओं में, एक ओर तो प्रशासन और पुलिस में मितव्ययिता करने के यत्न करने चाहिएँ और दूसरी ओर राज्यों को विकास की बडी-बडी योजनाओं और निषेध जैसे सामाजिक सुधारों के विषय में "धीरे-बढो" की नीति को ग्रहण करना चाहिए।

प्रश्न ७—राज्य अर्थ प्रबन्ध में महत्त्वपूर्ण हाल ही की प्रवृत्तियों और दोषों का उल्लेख करो और समुचित सुधारों के सुझाव दें। (गुजरात '५७)

Q. 7—Bring out the important recent trends and the defects in State Finance and suggest suitable reforms (*Gujrat* '57)

राज्य वित्त में नवीन प्रवृत्तियाँ (Recent Tendencies in State Finance)—गत १३-१४ वर्षों से, राज्य वित्त में अनेक विस्तृत परिवर्तन हुए हैं। उनमें महत्वपूर्ण यह हैं—

(१) सर्वप्रथम, युद्ध-काल में और युद्ध के बाद क-भाग के राज्यों के कुल राजस्व और व्यय में पर्याप्त वृद्धि हो गई है। १६३८-३६ में ७६'४२ करोड रु० के विपरीत उनका कुल राजस्व (अविभाजित भारत के लिए) १६४६-४७ में २३८ करोड रु० तक बढ गया था। १६५७-५८ में राजस्व ७०५ ६२ करोड रु० था। १६५८-५६ के संशोधित प्राक्कलनों में यह राजस्व ७८८ ७७ करोड रु० था।

६०)

(२) राज्य राजस्व में प्रधान अंशदान के रूप में बिक्री-कर की अनिवार्य क्रियाशीलता की आवश्यकता उल्लेखनीय प्रगति है। जबकि, १६३६-४० से पहले इस कर का अस्तित्व भी नहीं था, वहाँ १६५०-५१ में इसमें ५० ५ करोड रु० की उच्चतम प्राप्ति हुई। इस समय राज्य सरकारों को इससे प्राय. १०० करोड रु० की आय होती है।

(३) राज्य राजस्वों में प्रतिगामी (regressive) स्वरूप में और भी ज्यादा वृद्धि हुई है, विशेषत बिक्री-कर लगाने में (यहाँ तक कि अधिकांश राज्यों में अनिवार्यताओं पर भी यह कर लगाया गया है), और स्टाम्पो, रजिस्ट्री-चार्ज, मनोरंजन-कर, उत्पाद-कर आदि की विद्यमान दरों में वृद्धि से।

(४) यद्यपि युद्धकाल में, उत्पाद-करों से राजस्वों में महान् वृद्धि हो गई थी तथापि युद्ध के बाद मद्य-निषेध की नीति के कारण उनमें अत्यधिक संकुचन हो गया। मद्य-निषेध की नीति कई राज्यों में प्रचलित की गई जैसे मद्रास (अक्टूबर १६४८ से पूर्ण मद्य-निषेध) और बम्बई (अप्रैल १६५० से पूर्ण मद्य-निषेध)। उत्पाद-कर राजस्वों में भी अत्यधिक कमी हुई, १६४५-४६ म ५३ करोड रु० से १६५६-६० में ४३'८२ करोड रु० कमी हो गई। इससे राज्यों की स्थिति बहुत कष्टकर बन गई। फलतः उन्हें राजस्व के अन्य साधनों की खोज करनी पड़ी और साथ ही उन्हें सामाजिक सेवाओं के विस्तार को स्थगित करना पड़ा।

(५) केन्द्र से राजस्वों और अनुदानों में वृद्धिपूर्ण निक्षेपण (Devolution)—हाल ही के वर्षों में केन्द्र ने राज्यों के लिए जिन वित्त-साधनों को उपलब्ध किया है अथवा परावर्तन किया है उनमें गतिपूर्वक वृद्धि हुई है। यह दो प्रकार के हैं—(i) राजस्वों के निक्षेपण के द्वारा और (ii) केन्द्र से अनुदानों के द्वारा।

(६) गत तीन-चार वर्षों में एक अन्य प्रवृत्ति यह दिखाई दी है कि समग्र रूप में राज्य-बजटों ने महान् घाटे दिखाये हैं।

(७) युद्धोत्तर वर्षों में, राज्य अपने उन नकद अवशेषों को निकालते रहे हैं, जो उन्होंने युद्धोत्तर पुनर्वास के लिए युद्ध-काल म संचित किए थे।

(८) जो भी हो, यह प्रसन्नता की बात है कि सुरक्षा-सेवाओं के व्यय के मुकाबले में सामाजिक सेवाओं के व्यय की दिशा में अधिक प्रवाह हुआ है। यह वृद्धि पंचवर्षीय योजना की विभिन्न योजनाओं को कार्यान्वित करने के कारण हुई है।

(९) अपनी विकास योजनाओं के वित्त-पोषण के लिए राज्य सरकारों ने दीर्घावधि ऋण लिये हैं।

(१०) राज्य-वित्त-प्रबन्ध म भिन्न-रूपता की दिशा में एक अन्य प्रवृत्ति है। हाल ही के वर्षों में, अनेक नए कर (यद्यपि साधारण ही) लगाए गए हैं जैसे, मोटर-गाड़ियों पर टैक्स, मोटर-तेलों पर टैक्स, मनोरंजन-कर, बिजली उपयोग पर कर, यात्रियों पर कर, भूमि पर सुधार करारोपण, भूमि-लगान पर अधिभार। पहले की अपेक्षा ऋण लेने के भी अधिकाधिक उपाय किए जा रहे हैं।

राज्य वित्त की त्रुटियाँ (Drawbacks of State Finance)—राज्य-वित्त के निम्न भीषण दोष हैं—(१) राज्यों के लिए राजस्व के साधन न केवल अपर्याप्त

हैं प्रयत वह ।धार एव लोच हीन हैं जैसे भूमि लगान और स्टाम्प । उनमे से कई तो वस्तुत कम हो रहे हैं जैसे आबकारी और स्टाम्प (मद्य निषेध और पचायतो के कारण) ।

(२) सर्वाधिक भयकर दोष यह है कि राज्य-कर समाज के विभिन्न वर्गों म असमान रूप म विभाजित हैं निधना पर सर्वाधिक भार पडता है । भूमि लगान सिंचाई अन्तावर्ती टिम्टो बिक्री कर का अधिकाश निधनो द्वारा प्राप्त होता है ।

(३) राज्य सरकारो की वित्त सम्बन्धी नीति अत्यधिक अनुदार है । वह राजस्व का विकास करने की अपेक्षा छाटी पर अधिक निभर करती है ।

(४) राज्यो की कर व्यवस्था में समानता का अभाव है किन्ही राज्यो म कर बहुत अधिक हैं और किन्ही म बहुत कम हैं ।

(५) व्यय की दिशा में राज्य गत प्रबन्ध की अत्यधिक असन्तोषप्रद स्थिति है । सुरक्षा सेवाएँ और राज्य की प्रत्यक्ष माँग राज्य राजस्वो का बहुत बडा भाग हडप जाती हैं । इसके अतिरिक्त उनके द्वारा किए व्यय का अधिक लाभ उन नहरी वर्गों को पहुँचता है जो ग्राम क्षत्रो मे रहने वाली निधन जनता की अपेक्षा राज्य राजकोषो म कही कम अशदान करते हैं ।

सुधार विषयक सुझाव (Suggestions for Reforms)—(१) राज्य राजस्वो की अपर्याप्तता को दूर करने के लिए विद्यमान करो के प्रशासन को कसने से समुचित नए कर लगाने चाहिएँ और राज्य आय के नवीन कर साधनो को अपनाना चाहिए जसे औद्योगिक एव व्यापारिक उद्यम । योजना कमीशन ने राज्य-सरकारो के वित्त की वृद्धि के विषय म उत्तम सुझाव दिए हैं । इनम से बहुत से सुझावो को कार्यान्वित कर दिया गया है ।

(२) राज्य-करो के प्रतिगामी स्वभाव को कृषि आयो पर प्रगतिशील करों धनियो द्वारा उपभुक्त सेवाओं तथा वस्तुओं पर उच्च करो और व्यापारों तथा व्यवसायो पर प्रगतिशील स्तर की लाइसेंस फीसें लगाने के द्वारा ठीक करना चाहिए ।

(३) व्यक्तिगत करों मे भी जिनमे निजी रूप मे भयकर दोष हैं, सुधार होने चाहिएँ । ऐसे दोषपूर्ण कर का भूमि लगान सर्वोत्तम उदाहरण है इसम आमूल परिवर्तन होने चाहिएँ जैसे गैर किफायती जोतो (holdin s) के विषय म छूट निर्धारित कर को भी जैसा कि अधिकाश राज्यो मे लगाया जाता है अधिक तर्क सगत बनाना चाहिए ।

(४) बजट के सतुलन की अनुदार नीति को भी तिलाजलि देनी चाहिए और उसकी जगह मानवीय तथा भौतिक साधनो का विकास करने वाले सार्वजनिक कार्यों तथा सेवाओं पर उदारतापूर्वक व्यय की नीति को ग्रहण करना चाहिए । इसके लिए आवश्यक निधि का प्रबन्ध अतिरिक्त करारोपण या ऋण लेने और वर्तमान भयकर रूप में खर्चीले प्रशासन में कमी से किया जा सकता है । पुलिस के व्यय म कमी की जानी चाहिए ।

(५) वर्तमान में जिस प्रकार भूमि-कर और बिक्री-कर तथा कुछ अन्य करों पर अत्यधिक निर्भर किया जाता है, उसकी जगह कर-आधार में बहुल्पता उत्पन्न करनी चाहिए। यह उद्योग और व्यापार के विकास से सम्भव हो सकता है कि जो बदले में करारोपण म नए मार्गों का उदय करेंगे।

(६) अन्तत, राज्य और स्थानीय संस्थाओं के अर्थ-प्रबन्धों के बीच बेहतर सहयोग होना चाहिए, जिससे प्रशासन भी ये दोनों इकाइयाँ जनता को आवश्यक सामाजिक सेवाएँ प्रदान करने के लिए सहयोग दे सकें।

भारतीय कर-प्रणाली
(Indian Tax System)

प्रश्न ८—भारत की कर-प्रणाली के मुख्य दोषों का वर्णन करें तथा उसमें सुधार के उपायों का सुझाव दें।

(दिल्ली १९५१, १९५७, बम्बई १९५२, पंजाब सप्ली० १९५३, हैदराबाद १९५४)

Q. 8—Bring out the main defects in the Indian Tax system and suggest ways of improvement.

(*Delhi* 1951, 1957, *Bombay* 1952, *Punjab* 1953, *Hyderabad* 1954)

विश्व भर में कोई भी करारोपण-प्रणाली पूर्ण होने का दावा नहीं कर सकती, किन्तु भारतीय प्रणाली में सामान्यतया कुछ अधिक ही दोष हैं, और उनमें भी कुछेक वस्तुत अत्यधिक भयकर हैं। निम्न महत्त्वपूर्ण त्रुटियाँ सर्वथा स्पष्ट हैं—

१ सर्वप्रथम, भारतीय कर-प्रणाली अस्त-व्यस्त है और पर्याप्त राजस्व तथा समुचित सामाजिक नीति के दोहरे उद्देश्य के लिए उसका वैज्ञानिक आयोजन नहीं किया गया। इसे समय की अनिवार्यताओं, मुख्यत, बजट-सतुलन के अनुरूप ढाला गया।

२ अपर्याप्तता तथा लोचहीनता—इससे अधिक, भारतीय कर-प्रणाली ऐसी है कि हमारे साधन अपर्याप्त है और उनमें अधिकाश लोच-हीन हैं। शिक्षा, चिकित्सा और सार्वजनिक सेवाओं जैसी प्राथमिक सामाजिक सेवाओं की उन्नति की आवश्यकता को देखते हुए केन्द्रीय और साथ-ही-साथ राज्यों के राजस्व अत्यधिक लघु हैं।

३. अप्रत्यक्ष करारोपण की प्रबलता—एक अन्य भयकर दोष यह है कि अन्य उन्नत देशों के असमान, भारत में प्रत्यक्ष कर अपेक्षाकृत थोड़े भी हैं और अप्रत्यक्ष करों की अपेक्षा उनसे राजस्व भी बहुत कम प्राप्त होता है। योजना कमीशन का अनुमान है कि प्रत्यक्ष करारोपण कुल कर-राजस्व में केवल २४ प्रतिशत अंशदान करता है। तिस पर, हमारे यहा के प्रत्यक्ष कर वृहत्-स्तर के हैं और उनमें बड़ी मात्रा में अपवचन होता है।

४. हमारी कर-प्रणाली का प्रतिगामी स्वरूप सर्वाधिक आपत्तिजनक है। करारोपण की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रीति, अर्थात्, साम्य या त्याग की समानता का हमारी कर-प्रणाली कतई दावा नहीं कर सकती। यह धनियों की अपेक्षा गरीबों को अधिक दबाती है। महत्त्वपूर्ण करों को अलग-अलग देखते हुए हमें जान पडता है कि आय-कर के सिवा प्राय. अन्य सभी कर प्रतिगामी हैं। भूमि-लगान इसका निकृष्ट रूप का उदाहरण है।

छोटे-से-छोटे किसान को भी, जिसकी जोतें गैर-किफायती होती हैं, भूमि लगान देना पडता है और एक बडे जमीदार के समान ही उसका अनुपात भी होना है। आगम शुल्क, आबकारी, स्टाम्प, सब धनियो की अपेक्षा निर्धनो पर अधिक बोझा डालते हैं।

५ योजना कमीशन के कथनानुसार, वर्तमान भारतीय कर प्रणाली का एक अन्य असन्तोषजनक रूप यह है कि यह जनसख्या के केवल अत्यधिक सीमित भाग तक ही प्रभावकारी है। उदाहरणार्थ प्रत्यक्ष कर देश की कार्यकारी शक्ति के १ प्रतिशत पर ही प्रभाव डालते हैं। इसी प्रकार वस्त्र और तम्बाकू के उत्पाद करो श्रेष्ठ प्रकारा का उपभोग करने वाली उपभोक्ताओ की एक सीमित सख्या अदा करती है।

६ भारतीय कर-प्रणाली परम्परागत और अनुदार है जिसके फलस्वरूप भूमि-लगान जैसे कर जो व्यापक रूप म आलोचना का विषय रहे हैं प्रचलित रखे गए, किन्तु मृत्यु-करों जैसे आधुनिक करो को अभी कुछ ही समय पूर्व तक प्रचलित नही किया गया था।

७. केन्द्रीय राज्य सरकारों तथा स्थानीय सस्थाओं में राजस्व विभाजन भी अत्यधिक दोषपूर्ण है। इनम प्रथम दूसरे को भूखा रखती है, और, विपरीतत, दूसरा तीसरे को भूखा रखता है, जिसके फलस्वरूप अत्यावश्यक सामाजिक सेवाएँ भी जनता को प्रदान नही की गई।

इस विभाजन के कारण भिन्न राज्यो की वैत्तिक अवस्थाओ म भी असमानता हो गई। जिससे करारोपण का भार राज्य से राज्य में भिन्न है।

सुधार और सुझाव (Suggestions for Improvement)—भारतीय कर-प्रणाली की त्रुटियो तथा अपूर्णताओ का पूर्वकथित विश्लेषण स्वत ही उन आवश्यक सुधारो का सुझाव उपस्थित कर देता है।

(१) भूमि-लगान, पानी के दायित्वो, जीवन की अत्यावश्यकताओ पर उत्पाद-कर, बिक्री-कर आदि जैसे वर्तमान प्रतिगामी करा म सुधार होना चाहिए, जिससे समाज के निर्धन वर्गों पर पडने वाले बोझ में कमी हो। धनियो से अधिक राजस्व प्राप्ति के लिए विलास-वस्तुओ पर अधिक कर लगाने चाहिएँ।

(२) वर्तमान की अपेक्षा प्रत्यक्ष-करो पर अधिक निर्भरता की जानी चाहिए।

(३) बहुत सा राजस्व निपातो एव अपवचनो द्वारा नष्ट हो जाता है। फलत हमारे कर-राजस्व की वृद्धि के लिए अपवचनो को रोकने की दिशा म कर-प्रशासन को कडा बनाने की आवश्यकता है।

(४) करारोपण द्वारा जनसख्या के अत्यधिक लघु आच्छादन की दृष्टि से ऐसे यत्न होन चाहिएँ, जो करों के विस्तार में वृद्धि करें। इसके दो लक्ष्य हैं, एक तो साम्य और दूसरे कर-राजस्व की राशि म अधिकता।

(५) कर-प्रणाली के प्रतिगामी स्वरूप को समुचित रूप प्रदान करने में तो कुछ समय लगेगा। इस बीच, सार्वजनिक व्यय में परिवर्तनों द्वारा हमें कर-प्रणाली की त्रुटियों में सुधार करना चाहिए। सेना और नागरिक प्रशासन में भारी कमी से और सामाजिक सेवाओ तथा सामाजिक रक्षा के व्यय में वृद्धि करने से कर-प्रणाली की असमानता में कमी की जा सकती है।

प्रश्न ६—मृत्यु कर क्या होते हैं ? भारत में उन्हें लगाने की आवश्यकता पर विचार करें और १९५३ में स्वीकृत मृत्यु कर अधिनियम के मुख्य अंशों को प्रकट करें।

Q. 9—What are death duties ? Bring out the need for their imposition in India and give the main features of the Estate Duty Act passed in 1953.

मृत्यु-कर वह कर होते हैं जो किसी व्यक्ति की सम्पत्ति पर उसकी मृत्यु हो जाने पर और उस सम्पत्ति के विभिन्न उत्तराधिकारियों के हिस्सों पर लगाए जाते हैं। इस प्रकार मृत्यु-कर दो प्रकार के होते हैं—(१) सम्पदा-कर, जो किसी व्यक्ति की मृत्यु पर उस सम्पत्ति के उस व्यक्ति के उत्तराधिकारियों में हस्तान्तरण होने से पूर्व, समग्र रूप में सम्पत्ति पर लगाया जाता है। यह मृतक द्वारा छोड़ी हुई सम्पत्ति के कुल मूल्य की दृष्टि से आनुक्रमिक होता है। (२) दूसरी ओर उत्तराधिकार-कर प्रत्येक उत्तराधिकारी व्यक्ति के अंश पर लगता है और सम्पत्ति के कुल मूल्य पर नहीं। यह मृतक के साथ लाभार्जकों के सम्बन्ध की दृष्टि से आनुक्रमिक होता है। जितना ही अधिक दूर का सम्बन्ध होगा उतना ही अधिक उत्तराधिकार-कर की दर में वृद्धि होगी।

मृत्यु-करों का समर्थन (Case for Death Duties)—भारत में इन करों को लगाने का पक्ष निर्विवाद है। राज्य-राजस्व अपर्याप्त और स्थिर हैं किन्तु उनकी विकास-योजनाओं और अत्यावश्यक सामाजिक सेवाओं के विस्तार के वित्त-प्रबन्ध के लिए उनकी अत्यधिक माँग है। अतिरिक्त राजस्व उत्पन्न करने के लिए कुछ साधनों की खोज करनी ही पड़ेगी। मृत्यु-कर इस उद्देश्य के लिए सर्वथा समुचित साधन हैं। हमने उन्हें समय से एक दिन भी पूर्व प्रचलित नहीं किया।

अतिरिक्त राजस्व उत्पन्न करने के अलावा उनके प्रचलन से किसी सीमा तक हमारी कर-प्रणाली में प्रत्यक्ष करों के विपरीत अप्रत्यक्ष करों के प्रभुत्व में कमी हो जाएगी।

दो महत्त्वपूर्ण दृष्टियों से मृत्यु-कर आय-कर की अपेक्षा अच्छे हैं। उनके अपवचन की कम सम्भावना है। जो सम्पत्ति कर-अपवचन, विशेषत. युद्ध-काल में, द्वारा संचित की गई होगी, उस पर अब कर लग सकेगा। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह विचार है कि मृत्यु-कर, आय-कर के समान उत्पादन के मार्ग में बाधक नहीं हैं। इस प्रकार अधिक राजस्व उत्पत्ति का उद्देश्य प्राप्त होगा और अन्य करों को लगाने या बढ़ाने की दशा में जो अलाभ होते, उनकी अपेक्षा कम ही होंगे।

राजस्व के प्रश्न से अतिरिक्त, मृत्यु-कर मनोवांछित सामाजिक उद्देश्य भी पूर्ण करते हैं अर्थात् सम्पत्ति-वितरण की असमानताओं को कम करके उन्नत सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक न्याय की रचना करते हैं। एक उन्नत सामाजिक व्यवस्था अधिक समृद्धिपूर्ण आर्थिक प्रणाली को जन्म देने वाली होती है।

भारत में मृत्यु-कर (Death Duties in India)—१९५३ तक भारत में मृत्यु-कर लागू नहीं हुए थे। भारतीय कर-प्रणाली का विलक्षण रूप यह रहा है कि उसमें अब तक मृत्यु-करों का अभाव था। करारोप जाँच-समिति ने १९२५ में

सम्पत्ति कर लगाने की सिफारिश की थी। इसकी सिफारिश को कार्यान्वित नही किया जा सका। द्वितीय विश्व-युद्ध के दिनो म पुन सम्पत्ति कर लगाने की आवश्यकता महसूस की गई क्योकि उन दिनो बहुत से लोगो ने बहुत सी सम्पत्तियो का उपार्जन किया था। जो भी हो इस प्रकार के कर के प्रचलन को भारत सरकार के १९२५ के अधिनियम के अधीन ग्रहण नही किया जा सकता था। तदनुसार केन्द्रीय सरकार को आवश्यक शक्ति प्रदान करने के लिए सविधान म सशोधन होना चाहिए था। कुछेक अपूर्ण यत्नो के बाद अगस्त १९५२ म सम्पदा कर विधेयक लोकसभा म उपस्थित किया गया और सितम्बर १९५३ म वह स्वीकार हो गया और उसे १५ अक्तूबर १९५३ से प्रचलित किया गया।

(इस कर के विवरण के लिए केन्द्रीय सरकार के राजस्व के साधन सम्बन्धी प्रश्न म सम्पदा शुल्क सम्बन्धी अश देखिए)।

प्रश्न १०—**कराधान जाँच आयोग (१९५३-५४) की मुख्य खोजो तथा सिफारिशो की रूपरेखा बताइए।**

Q 10—Outline the main findings and the recommendations of the Taxation Enquiry Commission 1953 54

करांधान जाँच आयोग की स्थापना अप्रैल, १९५३ म भारत सरकार ने की थी। इसके अध्यक्ष डा० जॉन मथाई थे। अन्य बातो के अलावा इसका उद्देश्य भारत मे कर प्रणाली का परीक्षण करना था। इसके अलावा अन्य उद्देश्य थे—देश के विकास कार्यक्रम के अनुरूप इसके औचित्य तथा आवश्यक स्रोतो को देखना। आय पूंजी निर्माण तथा औद्योगिक उद्यम की स्थापना और विकास पर कर का प्रभाव तथा मुद्रा स्फीति और मुद्रा-सकुचन के लिए करांधान को राजकोषीय अस्त्र के रूप मे उपयोग करने की सम्भावना का परीक्षण करना। आयोग की रिपोर्ट फरवरी १९५५ मे सरकार द्वारा प्रकाशित की गई। यह तीन जिल्दो मे बाटी गई जो इस प्रकार हं—समुचित कर-प्रणाली, केन्द्रीय करांधान तथा राज्य और स्थानीय कर। रिपोर्ट म वर्णित मुख्य सिफारिशें इस प्रकार हैं—

सरकारी राजस्वो की प्रवृत्ति (Trends in Public Revenue)—मुख्य प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं—

१ युद्ध पूव काल से राजस्वो मे वृद्धि का मुख्य कारण द्रव्य आयो मे मुद्रा-स्फीति था। लेकिन जब सरकारी राजस्वो की तुलना राष्ट्रीय आय से करते हं तो इससे राष्ट्रीय कर प्रयास में कोई तीव्रता दृष्टिगोचर नही होती।

२ कुल कर प्राप्ति के अनुरूप प्रत्यक्ष करांधान का प्रतिशत १९३८-३९ म १२% की अपेक्षा १९४४-४५ मे ४५% हुआ लकिन १९५३-५४ मे पुन गिरकर २४% रह गया। वस्तु कर तथा घरेलू उपभोग वाले कर राजकोषीय व्यवस्था के मुख्य अग हैं और य कुल राजस्व के ४५% हैं।

३ राज्य वित्त म बिक्री-कर की शुरूआत तथा केन्द्रीय उत्पादन शुल्को की परिधि तथा पैदावार—ये दोनो ही समान रूप से वस्तु आधार पर टिके हैं—ने कर नीतियो के समन्वय की जरूरत को बढा दिया है।

४ राजस्व के केन्द्रीय स्रोतों तथा राज्यों को केन्द्रीय अनुदानों में राज्यों के शेयर में वृद्धि हुई है।

सरकारी व्ययों की प्रवृत्तियां (Trends in Public Expenditures)—मुख्य प्रवृत्तियां इस प्रकार हैं—

१ कुल राजस्व में उत्पादन-व्यय के महत्त्व की वृद्धि हुई है।

२ पूंजी खाते में व्यय का काफी विस्तार हुआ है और इनमें से अधिक व्यय विकास-कार्यों पर हुआ है।

३ आयों में असमानताएँ घटाने के लिए सरकारी व्यय की मद का कार्य बहुत साधारण रहा है। इसके दो कारण हैं—कुल राष्ट्रीय आय (तकरीबन ११%, १६५३-५४) के अनुपात में कुल सरकारी व्यय का कम अंश होना, तथा समाज कल्याण अथवा राजस्व सहायता द्वारा कम आय वाले वर्गों को सीमित मात्रा में व्यय करना। लेकिन प्रदेशों की असमानताओं को दूर करने के लिए कुछ कार्य किया गया है।

४ सामाजिक सेवाओं पर व्यय करने के कारण कर-प्रणाली की अलोकप्रियता कम हुई है। इसके विपरीत विकास-व्ययों के कारण लोगों पर कर का भार उत्तरोत्तर बढ़ रहा है।

कराधान का आपात (Incidence of Taxation)—मुख्य निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

१. यद्यपि ग्रामीण कराधान की तुलना के सभी चरणों में नागरिक कराधान का समुचित स्तर अधिक है, लेकिन मध्य और निम्न आय वर्गों में यह असमानता इतनी अधिक नहीं है।

२ नागरिक परोक्ष कराधान, ग्रामीण कराधान की अपेक्षा कुछ अधिक प्रगतिशील है।

३. ऊँची ग्रामीण आयों पर वृद्धि-शील कराधान लगाने की अधिक गुंजाइश मालूम देती है।

४ भूमि-राजस्व (मालगुजारी) का आपात समुचित नहीं हो रहा है।

५ ग्रामीण क्षेत्र के नॉन-मॉनीटाइज्ड क्षेत्र (non-monetised sector) इस बात के स्पष्ट सूचक हैं कि इस क्षेत्र में कराधान के सीमित स्रोत हैं और इस बात के द्योतक हैं कि कराधान की समानताओं को प्रतियोगी अत्यावश्यक तत्त्वों (comparative essentials) की ओर बढ़ाना चाहिए। यह इसलिए जरूरी है कि ऐसे उपाय के अभाव में भारी ग्रामीण जनता इसकी सीमा से अछूती रह जाएगी। आम तौर पर जनता का वह अंग जो द्रव्य अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत है, वह अपेक्षाकृत बेहतर है और बाहर वालों की अपेक्षा (द्रव्य-व्यवस्था से बाहर) कराधान का भार सम्भालने योग्य है।

६ सीमित रूप से परोक्ष कराधान को प्रगतिशील कराधान के रूप में उपयोग किया जा सकता है। *करावान के आधार को विस्तार करने की गुंजाइश है।*

७ युद्ध-काल के आरम्भ से नागरिक क्षेत्रों से ग्रामीण अथवा विपरीत दिशा

मे आयो मे प्रमुख परिवर्तन होने की स्थिति दृष्टिगोचर नही होती, यद्यपि परस्पर विभिन्न वर्गो मे कुछ परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। युद्ध पूर्व अवधि से कराधान का बोझा, ग्रामीण क्षेत्रो की अपेक्षा नागरिक क्षेत्रो पर अधिक पडा है।

विकास कार्यक्रम तथा विनियोजन की प्रवृत्ति (Development Programme and Trends in Investment)—आयोग द्वारा की गई मुख्य बाते इस प्रकार हैं—

१ सरकारी क्षेत्र म वित्तीय विकास के लिए ऋण लेने तथा कराधान के कार्य के विस्तार के लिए प्रत्यक प्रयास करना चाहिए तथा घाटे की वित्त-व्यवस्था की ओर न्यूनतम ध्यान देना चाहिए, विशेष रूप से प्रथम पचवर्षीय योजना के पश्चात् की दीर्घावधि मे।

१. १६४६ से ५१ तक की अवधि मे निगम क्षेत्र म सकल पूँजी निर्माण की राशि ३५६ करोड रुपय थी। इसमे से (सकल म से) स्थायी आस्तियाँ १७६ करोड रुपये, सूची सचय (Inventory Accumulation) ११७ करोड रु० ऋण में ५४ करोड रुपय की वृद्धि तथा विनियोजन और नगदी म मिलाकर ६ करोड रुपय की वृद्धि हुई। उद्योगो के विस्तार के लिए मुख्य स्रोत नवीन समन्याय पूजी तथा उद्योगो के रक्षित लाभ थे। इनम से रक्षित लाभो का अत्यधिक महत्त्व है।

३ लाभो के बँटने के सम्बन्ध मे यह सूचना मिली कि करो से पूर्व कराधान के ४३% का उपबन्ध था वितरित करो का ३४% तथा रक्षित लाभो का २२%। वितरित लाभो को स्थिर अथवा निरपेक्ष रूप से ऊँचा रखने की प्रवृत्ति थी, जिससे व्यापार पर किसी प्रकार का प्रतिकूल होने वाला सघात रक्षित लाभो (retained profits) पर अनुपात से कम हो। रक्षित लाभ तथा इसके लाभ के अनुपात पर परिमाण और कराधान की दर की अपेक्षा लाभ के परिमाण और दर का प्रभाव पडता था।

कर नीति की रूपरेखा (Outlines of Tax Policy)—कर नीति के सम्बन्ध मे *आयोग ने निम्न सिद्धान्त वर्णित किए हैं—*

१. कर-प्रणाली द्वारा सरकारी क्षेत्र म विनियोजन (investment) के स्रोतो की वृद्धि होनी चाहिए तथा गैर-सरकारी क्षेत्र में, इसके परिणामस्वरूप न्यूनतम कमी आनी चाहिए। साथ ही सभी वर्गों म उपभोग पर अधिकतम सयम होना चाहिए। ऊँची आय वाले वर्गों म कम आय वाले वर्गो की अपेक्षा अधिक सयम होना चाहिए। इसलिए, विलास और अर्द्ध विलास की वस्तुओ पर अधिक कर है और लोक उपयोग की वस्तुओ पर अपेक्षाकृत व्यय कम है। आयोग का विचार है कि भारतीय कराधान के मौजूदा ढाँचे और दरो के द्वारा देश के करारोपण योग्य स्रोतो का पूरी तौर पर उपयोग नही किया गया है।

२ उपभोग स्तर की मौजूदा असमानता के कारण श्रमिक वर्ग पर बडा बुरा प्रभाव पडता है। इसलिए, कर के पश्चात् शुद्ध व्यक्तिगत आय की अधिकतम सीमा होनी चाहिए जो देश की औसत प्रति परिवार की आय का तीन-गुना से अधिक नही होनी चाहिए। इस उद्देश्य को एक अवधि मे, चरणो मे बाँटकर, पूरा किया जा सकता है।

३ लेकिन साथ ही यह भी बडा जरूरी है कि कर-प्रणाली में उचित प्रोत्साहन दिए जाएँ जिससे बचत और विनियोजन को बढावा मिले और औद्योगिक विस्तार सम्भव हो।

४ सरकारी राजस्व की वृद्धि के लिए आयकर में वृद्धि की जाए। निगम कर मे कुछ कमी की जाए और कुछ अतिरिक्त बचत और विनियोजन के लिए छूट दी जाए, उत्पादन-शुल्कों में विशेष वृद्धि की जाए, उचित कीमित नीतियों द्वारा कर-रहित राजस्व मे वृद्धि की जाए। मालगुजारी पर थोडा-सा अधिभार (surcharge) डाला जाए, कृषि-आय की दरों में वृद्धि तथा प्रादेशिक क्षेत्र मे विस्तार करना चाहिए। सम्पत्ति कराधान में विस्तार तथा स्थानीय निकायों द्वारा सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर कर लगाना और इसकी सीमा मे विस्तार। साथ ही समय के साथ-साथ बिक्री करों की दर मे वृद्धि करनी चाहिए।

टैक्स रहित राजस्व (Non-Tax Revenue)—

१ कीमत नीतियों को जिनका उद्देश्य राज्य के कामों से अधिक कर उगाहना हो, उन्हें दीर्घावधि मे, अगीकार कर लेना चाहिए।

२ जहाँ तक रेल-भाडे का प्रश्न है, आयोग को इसमे कोई आपत्ति नही है कि यात्रा को कराधान के आधार के रूप मे लिया जाए।

व्यक्तिगत करों के सम्बन्ध में आयोग की सिफारिशें (Commission's Recommendations regarding Individual Taxes)—अपनी रिपोर्ट की दूसरी और तीसरी जिल्द मे आयोग ने व्यक्तिगत, केन्द्रीय तथा राज्य (और स्थानीय) करों के सम्बन्ध मे चर्चा की है। इनके सम्बन्ध मे सम्बन्धित पूर्ववर्ती प्रश्नों के उत्तर देखिए।

***प्रश्न ११*—भारतीय कर सुधार के सम्बन्ध में प्रो० कल्दोर के प्रतिवेदन पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।**

Q. 11—Write a short note on Kaldor's report of Indian Tax Reform.

कल्दोर का प्रतिवेदन—प्रो० कल्दोर भारत सरकार के आमन्त्रण पर द्वितीय पंचवर्षीय योजना की आवश्यकताओं के सदर्भ मे भारत की कर-प्रणाली की जाँच करने के लिए जनवरी १९५६ मे भारत आए थे। उन्होंने अपने प्रतिवेदन में वैयक्तिक और व्यापारिक क्षेत्रों की कर-प्रणाली के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किए हैं।

द्वितीय पचवर्षीय योजना मे ४५० करोड़ रु० के अतिरिक्त कर-राजस्व, १,२०० करोड़ रु० के घाटे के व्यय तथा ४०० करोड रु० के व्यवधान की कल्पना की गई है। प्रो० कल्दोर का विचार है कि पाँच वर्ष में देश की अर्थ-व्यवस्था ८०० करोड रु० से अधिक का घाटे का व्यय नही सह सकती। उनका निष्कर्ष है कि ५ वर्षों म देश के लिए १,२५० करोड रु० के अतिरिक्त कराधान की आवश्यकता है। यह कराधान जनसाधारण के ऊपर पडना चाहिए। भारत मे प्रत्यक्ष कराधान की वर्तमान प्रणाली सकर्मी भी है और विषम भी।

प्रो० कल्दोर ने सम्पत्ति कर, पूंजीगत लाभों पर कर, उपहार कर तथा वैयक्तिक व्यय कर की सिफारिश की है। इस समय भारत मे कर का अपवचन बहुत व्यापक

पैमाने पर होता है। प्रो० कल्दोर की कर प्रणाली एक समग्र कर प्रणाली है जिसका उद्देश्य कर अपवचन को रोकना है। प्रो० कल्दोर का विचार है कि करों की दर अधिक ऊँची नहीं होना चाहिए लेकिन जो भी कर हों उन्हें पूरी तरह से वसूल किया जाना चाहिए। प्रो० कल्दोर का सुझाव है कि आयकर अधिक से अधिक ४५% वार्षिक सम्पत्ति कर अधिक से अधिक १½% वैयक्तिक व्यय कर अधिक से अधिक ३००% तथा उपहार कर अधिक से अधिक ८०% होना चाहिए। पूंजीगत लाभों पर कर आय कर के हिसाब से लगना चाहिए कम्पनियों की सम्पूर्ण आय पर रुपये में सात आने कर लगना चाहिए।

जहाँ व्यापारिक आय ५०००० रु० से अधिक हो तथा वैयक्तिक आय १०००० रु० से अधिक हो वहाँ अनिवार्य रूप से लेखा परीक्षा होनी चाहिए।

अनुमान है कि इन उपायों से एक साल में १०० करोड रु० की आय होगी। इससे द्वितीय पंचवर्षीय योजना की अधिकांश आवश्यकताएं पूरी हो जायगी। शेष १०० करोड रु० भूमि कराधान तथा उत्पादन शुल्कों से प्राप्त हो सकते हैं।

प्रश्न १२—भारत के सरकारी ऋण के आधार और रचना का वर्णन कीजिए। क्या आपके विचार में ऋण स्थिति स्वस्थ है? (कलकत्ता १९५५)

Q 12 Describe the size and composition of India s public debt Do you regard the debt position as sound? (*Calcutta* 1955)

सरकारी ऋण का आकार और रचना—मार्च १९५९ के अन्त तक भारत सरकार (भारत का सरकारी ऋण) के पास ब्याज वाली राशि की कुल रकम ४९६६ करोड रु० थी। इस राशि में से २६२३ करोड का डालर ऋण, ३०८ करोड रु० का स्टर्लिङ्ग ऋण ४०६ करोड रु० का रूस का ऋण ३५७ करोड रु० का जर्मनी का ऋण तथा शेष ४५९२ ६ करोड रु० ऋण था। इस प्रकार सरकारी ऋण ९०% आन्तरिक ऋण है।

ब्याज देने वाली परिसम्पत मार्च १९५९ के अन्त में ३९९९ करोड रु० थी। यह ब्याज वाले दायित्वों का प्रायः ८०% थी।

मार्च १९६० के अन्त तक रुपया ऋण की रचना इस प्रकार होने की आशा है—

	(करोड रु० में)
१ ऋण	२२९२ ३
२ ट्रेजरी बिल अर्थोपाय अग्रिम तथा कोष निक्षेप प्राप्तियाँ	१५३५ १
३ लघु बचत	८६० ६
४ ह्रास तथा सुरक्षित निधियाँ	९७ १
५ अन्य	२८८ ७
भारत में ब्याज वाले कुल दायित्व	५०७३ ८
स्टर्लिङ्ग ऋण तथा अन्य दायित्व	७१ ४
डालर ऋण	४३० ६
रूस का ऋण	६१ ३

	(करोड़ रु० में)
जर्मनी का ऋण	६४७
अन्य विदेशी स्रोतों से ऋण	३२·८
कुल ब्याज वाले दायित्व	५७३४·६

इस कुल ऋण में से (कुल का २०%) अनुत्पादक-ऋण है। शेष ४५७४१ करोड़ रु० ब्याज वाली आस्तियों के रूप में है और बाकी नकदी और कोषखाना लेखे में सिक्यूरिटियों के रूप में है। मार्च १९६० के अन्त तक सरकार की ब्याजू आस्तियाँ निम्नलिखित हो जाने की आशा है।

	(करोड़ रु०)
१ रेलों को पूंजी अग्रिम	१४६५·१
२ अन्य वाणिज्यिक विभागों को पूंजी अग्रिम ...	२०६४
३ वाणिज्यिक कामों में विनियोजन ...	४६१·०
४. राज्यों को पूंजी अग्रिम तथा अन्य ब्याजू ऋण ...	२११८·६
५. पाकिस्तान की ओर ऋण ...	३००·००
६. वार्षिक खरीदने के लिए स्टर्लिङ्ग भविष्य निधि	२०·०
कुल ब्याजू आस्तियाँ	४५७४·१

सरकारी ऋण की स्थिति (Public Debt Position)—भारत की सरकारी ऋण की स्थिति समग्र रूप से ठीक है। इसका मुख्य कारण यह है कि भारत के सरकारी ऋण का ९०% से अधिक आन्तरिक ऋण है और आन्तरिक ऋण को चुकता करने में राशि का हस्तानरण कर-दाता से ऋण देने वाले तक होता है और इस प्रकार समुदाय पर शुद्ध भार नहीं पड़ता। इसके अलावा, चूंकि बाह्य ऋण बहुत कम है इसलिए इसे चुकता करने के लिए देश के विदेश-विनिमय स्रोतों पर बहुत कम भार पड़ता है। दूसरे, सरकार की स्थिति इसलिए भी दृढ़ है कि इसमें से सिर्फ २०% ही अनुत्पादक ऋण है। यदि पाकिस्तान से मिलने वाले ३०० करोड़ रु० को बट्टे खाते में डाल दिया जाए तो भी अनुत्पादक ऋण २५% से अधिक नहीं होगा।

अध्याय २६

राष्ट्रीय आय

(National Income)

भूमिका—अब तक हम भारतीय आर्थिक कार्यकलाप की सब भिन्न शाखाओं पर विचार कर चुके हैं। अब हम अपनी राष्ट्रीय आय के अध्ययन करने की स्थिति में हैं। किन्तु इस अध्ययन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि हमारी जनसंख्या के बृहदाकार और देश के अपरिमित प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से हमारी राष्ट्रीय आय वस्तुतः बहुत थोडी है। जनता के चेहरों पर घोर निर्धनता की कालिमा छाई हुई है। इसलिए लोगो के जीवन स्तर म एक स्पष्ट उन्नति सर्वाधिक अनिवार्य है। जो भी हो, यह सम्पूर्ण आर्थिक योजना के बिना प्राप्त नही हो सकता।

अर्थ—किसी देश का श्रम और पूंजी प्राकृतिक साधनों पर काम करते हुए सब तरह की वस्तुओं और सेवाओं की विशुद्ध समष्टि उत्पन्न करते हैं, यह देश की वास्तविक राष्ट्रीय आय अथवा राष्ट्रीय लाभ है। एक वर्ष की अवधि म उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं के इस विशुद्ध जोड को राष्ट्रीय लाभांश कहते हैं। जब प्रचलित कीमतों पर द्रव्य में बदला जाता है तो राष्ट्रीय लाभांश को राष्ट्रीय आय कहते हैं। कुल जनसंख्या द्वारा राष्ट्रीय आय को विभाजित करने से हम लोगों की प्रति व्यक्ति आय उपलब्ध करते हैं।

इसकी गणना—राष्ट्रीय आय की गणना वस्तुतः बहुत कठिन है। इसकी दो मुख्य विधियाँ हैं—

(क) आय विधि (The Income Method)—इसे लेखा कर्म विधि भी कहते हैं। इसके अधीन जनता द्वारा दिए आय-कर के आंकडों से गणना की जाती है। जो लोग आय कर नही देते उनकी आयों के विषय मे विशिष्ट जाँच की जाती है।

(ख) उत्पादन की गणना विधि या तालिका विधि (The Product Method)—सब उत्पादित वस्तुओं और प्रदत्त सेवाओं के मूल्य, जिनका द्रव्य में विनिमय कर लिया जाता है सब मिलाकर जोड लिये जाते हैं। इस प्रकार इस विधि के लिए उत्पादन और मजदूरी की शुद्ध गणना की आवश्यकता होती है। निस्सन्देह, पुनरावृत्ति के विषय मे सतर्क रहना होता है। हम आवश्यक आंकडों की कमी पूरी करने के लिए और अन्य विधि से उपलब्ध परिणाम की सन्तुष्टि के लिए इन दोनों विधियों को मिला भी सकते हैं। अभी हाल ही म अर्थशास्त्रियों और आंकडा विशेषज्ञों ने सामाजिक परिगणना की विस्तृत विधियों का निर्माण किया है।

राष्ट्रीय आय-सम्बन्धी अनुमानों का महत्त्व (Significance of National Income Estimates)—राष्ट्रीय आय के अनुमानों के कई महत्त्वपूर्ण उपयोग हैं

और इसलिए, उनके नियमित संयोजन की अत्यावश्यकता हो गई है। राष्ट्रीय आय से हमें जनता के जीवन-यापन-स्तर का भान होता है। तिस पर, वर्ष-प्रति-वर्ष के राष्ट्रीय आय के आँकडे हमे यह बतलाते हैं कि अमुक देश आर्थिक प्रगति कर रहा है या नही। इससे अधिक, अन्य वस्तुएँ समान होने हुए, हम दानो देशों की राष्ट्रीय आय की तुलना द्वारा उनके आर्थिक कल्याण के स्तर की तुलना कर सकते हैं। एक अन्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण लाभ इस बात का है कि उनसे हमें अत्यधिक लाभपूर्ण सामग्री मिलती है, जिसकी सहायता से किसी देश की आर्थिक बुराइयों का समुचित ज्ञान हो सकता है। वस्तुत., राष्ट्रीय आय-सम्बन्धी अनुमानो के बिना कोई भी योजना सम्भव नही है। उपरान्त, जैसा कि राष्ट्रीय आय कमेटी का मत है, "राष्ट्रीय आय के आँकडे सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था और सापेक्षिक अवस्थाओं तथा उसके विभिन्न योगो के अन्तर-सम्बन्धो के विषय में समष्टि-दृष्टिकोण ग्रहण करने योग्य बनाते हैं।"

भारत में राष्ट्रीय आयों का अनुमान (National Income Estimates in India)—यह महान् खेद की बात है कि उनके महान् महत्व को स्वीकार करते हुए भी अभी तक भारत सरकार ने अधिकृत अनुमान तैयार करने के कोई भी गम्भीर यत्न नही किए थे।

समय-समय पर निजी व्यक्तियों ने अपनी निजी इच्छा से कई अनुमान बनाए हैं। किन्तु ये सम्भवत: प्रामाणिक नही माने जा सकते। केवल हाल ही की बात है भारत सरकार देश की राष्ट्रीय आय के अनुमान बनाने की आवश्यकता के विषय में जागरूक हुई है। इसलिए, हाल के वर्षों में, वाणिज्य सचिवालय और आर्थिक सलाहकार ने अनुमानो को तैयार किया। किन्तु इनसे पूर्ण विश्वास उत्पन्न नहीं हुआ। फलत: सरकार ने १९४९ में राष्ट्रीय आय के अधिकृत अनुमानों के संग्रह के लिए वित्त सचिवालय के राष्ट्रीय आय इकाई (घटक) का निर्माण किया। इस घटक का पथ-निर्देश करने के लिए और राष्ट्रीय आय अनुमानों पर सूचना देने के लिए तत्काल ही एक कमेटी (राष्ट्रीय आय कमेटी) की नियुक्ति की गई। इस कमेटी की सूचना में प्रकाशित अनुमानों का विस्तार देने से पूर्व हम पूर्वत. बनाए कुछ अनुमानों का संक्षिप्त उल्लेख करेंगे :

रचयिता	अनुमान का वर्ष		प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष आय रु०	आ०	पा०
१. दादा भाई नौरोजी	१८६७-७०		२०	०	०
२. शाह और खम्भाटा	१९००-१४		३६	०	०
३. डा० वी.के.आर.वी राव	१९३१-३२	ग्रामीण	५१	०	०
		शहरी	१६६	०	०
		औसत	६५	०	०
४. ईस्टर्न इकोनॉमिस्ट	१९३९-४०		७२	०	०
	१९४९-५०		२१४	०	०
५. वाणिज्य मन्त्रालय	१९४७-४८		२७२	०	०

प्रश्न १—भारत की राष्ट्रीय आय के सन्तोषजनक अनुमानों तथा विश्लेषण के मार्ग में कठिनाइयों पर विचार करें। (गौहाटी आनर्स १९५२)

Q. 1—Discuss the difficulties in the way of satisfactory estimation and analysis of national income of India

(Gauhati Hons 1952)

किसी भी देश की राष्ट्रीय आय का अनुमान करना अत्यधिक कठिन कार्य है। किन्तु भारत मे विशेष रूप से महान् कठिनाइयाँ हैं। उनमे मुख्य निम्न हैं—

(i) सर्वाधिक गम्भीर त्रुटि आँकडो की अपर्याप्तता एव अनुपलब्धिता है। (ii) लोगो की असाक्षरता और लेखे रखने की नीति का अभाव। पश्चिमी देशो में आर्थिक आंकडे व्यक्तियो तथा उद्यमो से सीधे एकत्र किए जाते हैं। इससे अधिक, भारतीय परम्परागत शक्की स्वभाव के होते हैं और आँकडे सग्रह मे सहयोग नही देते। (iii) कृषि और औद्योगिक दोनो उत्पादन अधिकाशत असगठित एव बिखरे हुए हैं। इस तरह इससे गिनती करना सहज नही है। (iv) भारतीय अर्थ-व्यवस्था का प्रधान भाग घरेलू उपक्रमों द्वारा सयोजित है, जो भिन्न व्यावसायिक सूचियो के कृत्यो का साथ ही साथ पालन करते हैं। इस तरह सामान्य औद्योगिक वर्गीकरण का पता नहीं चल सकता। (v) समान आधार का अभाव, जिसे द्रव्य की सत्र म वस्तुओ और सेवाओ का मूल्य आंकने म प्रयुक्त किया जा सके। यह इस तथ्य के कारण और भी कठिन बन जाता है कि भारत में उत्पाद का पर्याप्त अश बाजार मे आता ही नही। या तो उत्पादक स्वत उसका उपभोग कर लेते हैं अथवा अन्य वस्तुओ और सेवाओ के लिए वस्तु-विनिमय कर लिया जाता है। (vi) अन्तत, एक साझे अनुमाप-योग्य भाजक के लिए लाखो लोगो के असख्य कार्य-कलापो को कम करने की व्यापक पारिभाषिक कठिनाई। उदाहरण के लिए, जमादार (भगी) और प्रधान मन्त्री की सेवाओ को किस प्रकार जोडा जाए।

किन्तु इन कठिनाइयो को राष्ट्रीय आय की गणना के लिए हतोत्साहित नही करने देना चाहिए।

प्रश्न २—राष्ट्रीय आय कमेटी के अनुसार भारतीय राष्ट्रीय आय के मुख्य अगो का वर्णन करें।

Q 2—Bring out, after the National Income Committee, the main features of the National Income of India

यह महान् सन्तोष का विषय है कि अब हम प्रथम बार भारत की राष्ट्रीय आय का अधिकृत अनुमान उपलब्ध हुआ है। इसे प्रो० पी० सी० महाल नोबिस (अध्यक्ष), प्रो० डी० आर० गाडगिल तथा डा० वी० के० आर० वी० राव द्वारा सयोजित राष्ट्रीय आय कमेटी (१९४९ म नियुक्त) के पथ-निर्देश मे राष्ट्रीय आय घटक ने तैयार किया है। राष्ट्रीय आय के तीन प्रतिष्ठित विशेषज्ञ—प्रोफेसर साइमन कजनैट, मि० जे० आर० एन० स्टोन, और डा० जे० बी० डी० डर्कसन—भी सलाहकार रूप में कमेटी को उपलब्ध थे। इस कमेटी की सूचना अप्रैल १९५१ में प्रकाशित हुई थी। और इसमें १९४८-४९ की राष्ट्रीय आय के अनुमान दिए गए थे। अन्तिम रिपोर्ट फरवरी १९५४ मे प्रकाशित की गई थी। इसमे १९४८-४९ के अनुमानो को दोहराने के अलावा १९४९-५० तथा १९५०-५१ के अनुमान भी जोड दिए गए थे।

राष्ट्रीय आय समिति ने उत्पाद-प्रणाली और आय-प्रणाली को मिलाकर काम लिया। पहले कुल काम करने वाली शक्ति (आत्म निर्भर व्यक्ति तथा कमाऊ आश्रित) तथा इनके धन्धा वितरण का अनुमान लगाया गया। फिर उत्पाद-प्रणाली को यथासम्भव क्षेत्रो मे लागू किया गया। शेष क्षेत्रो मे आय-प्रणाली को लागू किया गया। कुछ को छोडकर जैसे लघु-उद्यम, शुद्ध आय का दोनो प्रणालियो से अनुमान लगाया गया, लेकिन आय-प्रणाली से मिलने वाले परिणाम अधिक सन्तोषजनक माने गए और उन्हे अगीकार किया गया।

समिति ने १६५०-५१ के वर्ष के लिए राष्ट्रीय आय ६५'३० करोड रुपये मानी है। इससे प्रति व्यक्ति २६५ ८ रु० आय बनती है। निम्न सारिणी से १६५०-५१ तथा १६५७-५८ मे विभिन्न आर्थिक गतिविधियो से प्रदान होने वाली राष्ट्रीय आय की सक्षेप स्थिति इस प्रकार है -

मद	१६५०-५१		१६५७-५८	
	शुद्ध पैदावार (करोड रु०)	कुल राष्ट्रीय आय का प्रतिशत	शुद्ध पैदावार (करोड रु०)	कुल राष्ट्रीय आय का प्रतिशत
कृषि—	(१)	(२)	(३)	(४)
१. कृषि, पशु-पालन तथा सहायक कार्य ···	४७८०	५०'२	५१७०	४५'५
२ वन	७०	० ७	८०	०'७
३. मत्स्य-पालन	४०	०'४	८०	०'७
४. कृषि का कुल योग	४८,६०	५१'३	५३ ३०	४६ ६
उत्खनन, निर्माणात्मक कार्य तथा दस्तकारी व्यापार—				
	करोड रु०	प्रतिशत	करोड़ रु०	प्रतिशत
५. उत्खनन ··· ··· ···	७०	० ७	१,४०	१ २
६. कारखाने आदि ··· ···	५,५०	५ ८	६,५०	८ ३
७ लघु उद्यम ··· ··	६,१०	६ ६	१०००	८'८
८. उत्खनन, निर्माणात्मक कार्य तथा दस्तकारी-व्यापार का कुल योग	१५,३०	१६ १	२०६,०	१८'३
वाणिज्य, परिवहन तथा सचार—				
६. सचार (पोस्ट तथा टेलीग्राम)	४०	० ४	५०	·४
१०. रेलें ··· ···	१,८०	१'६	३,२०	२'८
११. सगठित बैंकिग तथा बीमा	७०	० ७	११०	१'०
१२. अन्य वाणिज्य तथा परिवहन ···	१४,४०	१४ ७	१५,४०	१३'५
१३. वाणिज्य, परिवहन तथा सचार का कुल योग	१७,३०	१७'७	२०,२०	१७'७

	(१)	(२)	(३)	(४)
अन्य सेवाएँ—				
१४ धन्धे और शिल्प ...	४,७०	४·०	६,१०	५·४
१५ सरकारी नौकरी (प्रशासन)	४,३०	४ ५	६,६०	५ ८
१६ घरेलू सेवाएँ	१,३०	१ ४	१ ६०	१ ४
१७. भवन सम्पत्ति	४,१०	४·३	४,६०	४ ३
१८ अन्य सेवाओं का कुल योग	१४,४०	१४ २	१६,२०	१६ ६
१९ साधन लागत पर शुद्ध घरेलू उत्पाद	९,५५०	१०० २	१,१३,६०	१०० ०
२० विदेश से शुद्ध अर्जित आय	—२०	—२ ०	—	—
२१ साधन लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय पैदावार =राष्ट्रीय आय	९,५३०	१०००	१,१३ ६०	१०० ०

केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन के नवीनतम पत्र के अनुसार भारत की राष्ट्रीय आय १९५३-५४ मे १०,०३० करोड रु०, १९५४-५५ मे १०,२८० करोड रु०, १९५५-५६ में १०,४२० करोड रु०, १९५६-५७ मे ११,३१० करोड रु० और १९५७-५८ मे ११,३६० करोड रु० थी। इसी प्रतिवेदन के अनुसार भारत मे प्रति व्यक्ति आय १९५३-५४ मे २६२ ७ रु०, १९५४-५५ म २७१ ६ रु०, १९५५-५६ म २७२ १ रु० तथा १९५६-५७ मे २९४ ३ रु० थी।

अब हम इन अनुमानो के महत्त्वपूर्ण अगो का अध्ययन करेंगे।

(१) सवप्रथम, यह स्पष्ट है कि प्रति व्यक्ति आय वस्तुत बहुत थोडी है। अमरीकी डालरो की सत्र मे गणना से यह ५५ ७ डालर होते है। जब हम अमरीका की १,४५३ डालर प्रति व्यक्ति आय, कनाडा की ८७० डालर और न्यूज़ीलैंड की ८५६ डालर प्रति व्यक्ति आय और यहाँ तक कि ईरान और ईराक जैसे देशो की ८५ डालर प्रति व्यक्ति आय के साथ तुलना करते हैं तो हम अपनी दरिद्रता सर्वथा स्पष्ट हो जाती है। वस्तुत, यह स्थिति केवल हमारी जनता के घोर अभावो एव उप-मानवी स्तर की विद्यमानता का आँकडो द्वारा समर्थन करती है।

(२) जनता के जीवन-यापन-स्तर में कोई वास्तविक उन्नति नहीं हुई। प्रकट रूप से, वर्तमान प्रति व्यक्ति अक १९३१-३२ के ६५ रु० (डा० राव० के अनुमानानुसार) पर पर्याप्त वृद्धि प्रकट करते हैं, किन्तु यह तो केवल भ्रम ही है। यह द्रव्य-आय का ही प्रश्न नही है, किन्तु वस्तुओ और सेवाओ की सत्र मे गणना की गई वास्तविक आय का प्रश्न है। १९५०-५१ का थोक सूचक अक बढकर ४०९ ७ हो गया (आधार वर्ष १९३९ जबकि १९३१-३२ की अपेक्षा कीमतें अधिक ऊंची थी)। इस प्रकार कोई भी वास्तविक सुधार नही हुआ। समिति ने जिन तीन वर्षों की आय की गणना की है इनमे वास्तविक आय स्थिर रही है, यद्यपि द्रव्य के रूप म प्रति व्यक्ति आय २४७ रु० से बढकर २६५ २ हो गई है। १९५४-५५ मे प्रति-व्यक्ति आय (१९४८-४९ की

कीमत पर) २६६ रुपये हुई। १९५६-५७ में यह आय बढकर २९४ रु० हो गई। अक्तूबर १९५९ मे भारत सरकार द्वारा तय्यार किए गए त्वरित आंकड़ों के अनुसार १९५७ ५८ में यह आय ६ ८% और बढ गई है।

(३) उपरान्त प्रस्तुत प्रति व्यक्ति आय सम्पूर्ण कहानी को प्रकट भी नहीं करती। यह तो केवल औसत ही है। जो भी हो, वास्तव मे, राष्ट्रीय आय अत्यधिक असमान रूप में विभाजित है। बडे बडे उद्योगपतियो, पूंजीपतियो और जमींदारों की लघु सख्या राष्ट्रीय आय का एक बडा भाग हड़प जाती है। श्री शाह और खम्बाटा द्वारा प्रणीत इस सामान्य अनुपात के विषय मे सन्देह करने का कोई कारण नही कि देश की आय के ३३% से अधिक का उपभोग धनी-वर्ग करता है। यह धनी-वर्ग कुल जनसख्या का केवल ५% है और अन्य एक-तिहाई भाग का उपभोग ⅓ मध्य-वर्गीय जनसख्या करती है। शेष ⅓ ६०% जनता के लिए परस्पर बाँटने को रह जाता है।

(४) देश की अर्थ-व्यवस्था का असन्तुलित स्वरूप एक अन्य महत्त्वपूर्ण अंग है। कृषि (पशु-पालन सहित) मोटे अनुमान के साथ ५०% अशदान करती है, जो कुल राष्ट्रीय आय का लगभग आधा है। वाणिज्य, परिवहन और सचार—सब को मिला कर—से कुल का १७·१८% आता है। निर्माण-कार्यों, हस्त-कौशलो तथा खानों से तो और भी कम—१६ १७%। इस तिथि की तुलना इग्लैंड से कर देखिए, जहाँ १९४९ मे, औद्योगिक उत्पादन कुल राष्ट्रीय उत्पादन का ५३% गिना गया था। इससे हमारी अर्थ-व्यवस्था का सर्वथा एक-दिशी स्वरूप प्रकट हो जाता है।

(५) लघु-स्तर उद्यम का अति-प्रभाव—लघु-उद्यमो (८६·०%) का अंशदान ६६% है। वृहद् उपक्रमो (१० ७%) के अशदान के लगभग छः गुना अधिक है।

(६) राष्ट्रीय उपभोग में खाद्य का अति-प्रभाव—राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित उपभोक्ता-व्यय के विश्लेषण से प्रकट होता है कि खाद्य पर ४,६०० करोड़ रु० उपभोक्ता-व्यय होता है, जो कुल राष्ट्रीय आय का लगभग ५३% है। ५३% का यह अनुपात सम्पूर्ण देश के लिए है। जनवरी १९५३ में प्रकाशित राष्ट्रीय नमूना पर्यवेक्षण की सूचना से प्रकट होता है कि ग्रामीण क्षेत्रो मे खाद्य पर कुल व्यय का ⅔ से अधिक व्यय होता है (और १/१० वस्त्र पर तथा शेष सब मदों पर)। खाद्य-व्यय का यह उच्च अनुपात जनता की दरिद्रता और देश की अर्थ-व्यवस्था के अल्प-विकसित स्वरूप को प्रकट करता है।

अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रो में प्रति व्यक्ति उत्पादन अलग-अलग हैं। कृषि के अन्दर लगे हुए व्यक्तियों का उत्पादन अन्य क्षेत्रो मे लगे हुए व्यक्तियो के उत्पादन से कम है। १९५०-५१ में कृषि में केवल ५०० रु० था जब कि कारखानों में २,७०० रु०, रेलों में १,६०० रु०, बैंकिंग, वाणिज्य तथा परिवहन में १,५०० रु०, सरकारी नौकरियों में १ १०० रु०, लघु उद्यमो मे ८०० रु०, और घरेलू सेवाओ में ४०० रु० है। इससे ज्ञात होता है कि जमीन पर जनसख्या का बहुत अधिक दबाव है।

राष्ट्रीय आय समिति के अनुमानो मे तीन प्रवृत्तियों का अध्ययन करना जरूरी है (१९४८-४९ से १९५०-५१ तक)। एक, उद्योग, वाणिज्य, परिवहन तथा

सचार की अपेक्षा कृषि-क्षेत्र का अशदान अधिक हुआ। इससे पता चलता है कि औरो की अपेक्षा काश्तकार को अधिक लाभ पहुँचा। दूसरे, गैर सरकारी क्षेत्र की अपेक्षा सरकारी क्षेत्र का कुल उत्पादन अधिक बढा (इनमे १२% १०% का अनुपात है)। योजना के विस्तार से सरकारी क्षेत्र मे अधिक वृद्धि होगी। तीसरे, सरकार को प्रत्यक्ष करो की अपेक्षा परोक्ष करो से अधिक प्राप्ति हुई। दूसरे शब्दो मे राज्यो मे सरकार अब अधिकाधिक परोक्ष करो पर निर्भर कर रही है।

प्रश्न ३—भारत में कष्टकर दरिद्रता की विद्यमानता को आप क्योंकर स्पष्ट करेंगे ? देश में सामान्य जीवन यापन-स्तर को उन्नत करने के लिए क्या उपाय करने चाहिएं ?

Q 3—How do you explain the existence of appalling poverty in India ? What steps should be taken to raise the general standard of living in the country ?

भारतीय जनता की दरिद्रता तो एक कहावत बन गई है। देश की प्रति व्यक्ति आय बहुत कम है। जब उत्तरी अमरीका तथा योरोप के देशो के साथ इसकी तुलना की जाती है, तो दिल काँप जाता है। आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक अशो का समूह इस वस्तुस्थिति की कहानी के लिए उत्तरदायी है।

आर्थिक कारण (Economic Causes)— (i) सर्वाधिक प्रबल आर्थिक कारण यह है कि जनसख्या कृषि पर अत्यधिक आश्रित है। फरवरी १९५४ की जनगणना की सूचना के अनुसार, ७२% जनसख्या कृषि-कार्य में नियोजित है और इसके विपरीत उद्योग में केवल ११% व्यापार में ६०% और परिवहन मे १ ५%।

इससे भी निकृष्ट स्थिति यह है कि भारतीय कृषि कार्य सर्वथा अयोग्यतापूर्ण है और इसकी फसलो का स्वरूप सर्वथा अरक्षित है। जहाँ छोटी-बिखरी हुई जोतो (holdings), पुरातन विधियो और दोषपूर्ण भूमि लगान प्रणाली के परिणामस्वरूप इसकी उत्पादनशीलता कम है, वहाँ कृषि की अस्थिर वर्षा पर निर्भरता का परिणाम अरक्षा है।

(ii) औद्योगिक विकास के अभाव ने राष्ट्रीय आय को कम किया हुआ है। यही नही है कि औद्योगिक वृद्धि की अनिवार्यताओ का अत्यधिक अभाव है, प्रत्युत मूल उद्योगो और टैकनिकल प्रशिक्षण सुविधाओ का अभाव, यातायात और बैंकिंग सेवाओ की अपर्याप्तता, देशी पूँजी का सकोच, और ऐसे अन्य विपरीत अशो के कारण औद्योगिक उन्नति की सम्भाव्यताओ का उपयोग नही किया गया।

(iii) विभिन्न आवश्यक प्रकारो की बैंकिंग सुविधाओं और परिवहन का अत्यधिक अपर्याप्त विकास, जो सतुलित और समृद्ध आर्थिक प्रणाली के उदय के लिए अत्यावश्यक है, एक भीषण त्रुटि है।

(iv) जनसख्या की वेगपूर्ण वृद्धि उत्पादन में जो थोडी बहुत उन्नति होती है उसे नकारात्मक कर देती है। हमारी वर्तमान खाद्य समस्या जनसख्या और उत्पादन के बीच अन्तर का अति स्पष्ट प्रमाण है।

सामाजिक कारण (Social Causes)—पुराने और दिनातीत रीति रिवाज, अंधविश्वास और व्यवस्थाएँ भी इस दिशा मे पर्याप्त दोषी हैं। उदाहरण के लिए,

जाति-प्रथा देश की आर्थिक प्रगति पर अत्यधिक विपरीत प्रभाव डालती रही है। जनता की अपने निजी सुधार के विषय में उपेक्षा-पूर्ण वृत्ति के लिए उसके निराशा-पूर्ण और पूर्वजन्म-सम्बन्धी विचार अधिकांशतः उत्तरदायी हैं। इससे अधिक व्यापक अज्ञान और सकीर्णता किसी प्रकार की आर्थिक उन्नति के मार्ग में महान् बाधाएँ सिद्ध हुई हैं।

राजनीतिक कारण (Political Causes)—यदि विपरीत राजनीतिक कारण न होते तो उल्लिखित आर्थिक और सामाजिक कारणों पर विजय पाई जा सकती थी, अथवा, किसी सीमा तक उन्हें नम्र किया जा सकता था।

अधिक समय तक के विदेशी शासन ने लोगों का नितान्त नैतिक पतन कर दिया। विदेशी सरकार अपने पाँव जमाए रहना चाहती थी। इसलिए उसने चिरकाल तक आर्थिक विकास की दिशा में नितान्त उपेक्षा की नीति का अनुगमन किया। निस पर देश के उद्योगीकरण के मामले में तो वह विशेष रूप में उदासीन रही। स्वार्थी कारणों से, वह चाहती थी कि देश कच्चे पदार्थों का पूर्तिकर्त्ता बना रहे और अपने निजी नागरिकों द्वारा निर्मित वस्तुओं के लिए बाजार के रूप में रहे और देश राजनीतिक और आर्थिक रूप में आश्रित स्तर पर बना रहे। मुद्रा और विनिमय, तट-करों, भण्डार सम्बन्धी क्रयों, जैसे मामलों में जो देश की आर्थिक प्रगति के लिए इतने महत्त्वपूर्ण थे, उसने इस देश के हितों को उन्नत करने की अपेक्षा अपने निजी हितों को पूर्ण करने वाली नीति का अनुसरण किया।

उपचार (Remedies)—भारतीय जनता की कष्टकर गरीबी का केवल छुट-पुट कार्यों द्वारा इलाज नहीं हो सकता। देश के लिए विस्तृत आर्थिक योजना के बिना ठोस परिणामों की प्राप्ति नहीं हो सकती। भारत के पास विशाल ससाधन हैं। इन संसाधनों का पूरा उपयोग होना चाहिए तथा देश का द्रुत गति से उद्योगीकरण किया जाना चाहिए।

अध्याय २७

आर्थिक योजना

(Economic Planning)

भारतीय जनता की घोर दरिद्रता के सम्बन्ध म अभी विचार किया जा चुका है। आर्थिक योजना ही देश की दरिद्रता तथा आर्थिक दोषो को दूर करने का एकमात्र उपचार है। क्योकि इससे निम्न जीवन स्तर जैसी बुराइयो को सहारा मिलता है। इसलिए हम भारत की आर्थिक योजना के लिए विभिन्न अगो पर विचार करेंगे।

आर्थिक योजना का अर्थ (Meaning of Economic Planning)—किन्तु ऐसा करने से पूर्व हमे पहले यह जान लेना चाहिए कि योजना का सही अर्थ क्या है। यह यथेच्छाकारिता नीति का विरोधी स्वरूप है। रामभरोसे धारणा के अधीन वस्तुओं का उत्पादन अपने हितो के लिए किया जाता है और राष्ट्र के साधनो का वितरण इस ढग से होता है कि निजी लाभ अधिकाधिक होते जाएँ। इस वितरण को कीमत यान्त्रिकता के साथ नियमित किया जाता है जो आर्थिक प्रणाली का नियन्त्रण करती है।

इसके विपरीत, योजना आर्थिक प्रणाली पर से कीमतो के शासन को हटाती है और उसकी जगह राज्य के नियन्त्रण को स्थापित करती है। आर्थिक कार्य कलाप में निजी लाभ को शक्तिपूर्ण मानने की जगह अधिकाधिक सामाजिक लाभों के विचार इस बात का निश्चय करते हैं कि कौनसी वस्तुएँ और किस मात्रा मे उत्पादित की जाएँगी और कैसे उनका वितरण होगा। फलत योजना का लक्ष्य राष्ट्रीय आय, नियोजन और इस प्रकार कल्याण को अधिकाधिक करना है।

भारत में योजना का इतिहास

(History of Planning in India)

हमारे लिए, भारत म योजना का विचार कोई नया नही है। देश की आर्थिक योजना के विषय मे पर्याप्त एव सतर्कतापूर्वक विचार किया जा चुका है। इस सम्बन्ध म जो कार्य हुआ था, उसका सक्षेप म सिंहावलोकन करेंगे।

भारत के लिए योजना बनाने का सवप्रथम श्रेय सर एम० विश्वेश्वरैय्या को देना होगा जिन्होने कि १६३४ मे 'Planned Economy for India" (भारत के लिए योजित अर्थ-व्यवस्था) नामक अपनी पुस्तक प्रकाशित की थी।

राष्ट्रीय योजना कमेटी—तीन वर्ष बाद अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के तात्कालिक प्रधान सुभाषचन्द्र बोस ने पण्डित नेहरू की अध्यक्षता म राष्ट्रीय योजना कमेटी की स्थापना करके देश को बहुमूल्य नेतृत्व प्रदान किया। जो भी हो इस कमेटी का कार्य इसके अध्यक्ष एव अन्य कांग्रेसी नेताओ के जेल जाने के कारण

१९४२ से १९४६ तक बन्द पड़ा रह गया। फलस्वरूप, इसने १९४६ में अपनी योजना उपस्थित की।

बम्बई योजना (Bombay Plan)—इसके बाद 'बम्बई योजना' के प्रकाशन की बारी आती है जिसने कि देश को योजना-वृत्ति का बना दिया। आर्थिक विकास की इस योजना को बम्बई के आठ उद्योगपतियों ने बनाया था। इसका लक्ष्य १५ वर्ष के योजना-काल में देश की प्रति व्यक्ति आय को दोगुना करना था और उसमें कृषि, उद्योग तथा सेवाओं में क्रमशः १३०%, ५००% और २००% की वृद्धि करने का लक्ष्य बनाया गया था। योजना में उद्योगों के विकास पर विशेष बल दिया गया था। इस योजना पर १० हज़ार करोड़ रुपये की महान् राशि व्यय करने का अनुमान लगाया गया था। समग्र रूप से, यह सर्वथा वास्तविक योजना थी।

जनता की योजना (People's Plan)—उद्योगपतियों की योजना के कारण भारतीय श्रमिक संघ को भी योजना बनाने की प्रेरणा हुई। इसे मुख्यतः एम० एन० राय ने तैयार किया था और उसे "जनता की योजना" कहते हैं। यह १०-वर्षीय योजना थी और इसमें विशेषतः भूमि के राष्ट्रीयकरण द्वारा कृषि-विकास पर विशिष्ट बल दिया गया था। जो भी हो, इसने असम्भव लक्ष्यों को समक्ष रखा, जैसे सब बंजर-भूमियों का सुधार करना।

इस योजना पर १५ हज़ार करोड़ रुपये व्यय का अनुमान किया गया था।

गांधीवादी योजना (Gandhian Plan)—उल्लिखित दो योजनाओं द्वारा अर्थ-व्यवस्था के यान्त्रिक स्वरूप को विकास देना था और उनकी महान् लागत के कारण वर्धा के श्री एम० एन० अग्रवाल ने एक योजना उपस्थित की, जिसे गांधीवादी योजना का नाम दिया गया। इसका उद्देश्य ग्राम की आत्म-निर्भरता के साथ अर्थ व्यवस्था के विकेन्द्रीकरण तथा घरेलू एवं लघु-स्तर के आधार पर औद्योगिक उत्पादन का था। इसकी अनुमानित लागत भी बहुत मामूली थी, अर्थात्, ३,५०० करोड़ रुपये। किन्तु यह आधुनिक औद्योगिक युग के लिए उपयुक्त होने की अपेक्षा अधिक आदर्शवादी थी।

सरकारी योजनाएँ—योजना-निर्माण के इन निजी यत्नों के अलावा, सरकार ने भी विकास की योजनाएँ बनाने की आवश्यकता अनुभव की। १९४४ में, भारत सरकार ने एक योजना विभाग स्थापित किया। बम्बई योजना के एक प्रणेता सर आर्देशर दलाल इसके सदस्य-अध्यक्ष नियत किए गए। इस विभाग के कथनानुसार, केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों ने युद्ध के बाद कार्यकारी कई एक विकास-योजनाओं का निर्माण किया। इन योजनाओं को दो भागों में खण्डित किया गया, एक अल्प-कालीन, युद्ध से शान्ति के सक्रान्ति-काल के लिए, और दूसरी, दीर्घकालीन, विकास के लिए।

१९४६ में, अन्तरिम सरकार ने योजना की समस्याओं का परीक्षण करने के लिए एक सलाहकार बोर्ड की स्थापना की।

योजना कमीशन (Planning Commission)—देश के विभाजन, रियासतों के विलय, खाद्य की निकृष्ट स्थिति, कपास और जूट की स्थिति, भुगतान

सन्तुलन की कठिनाइयों, विस्थापितों के पुनर्वास की समस्या, और ऐसे अनेक तत्त्वों तथा समस्याओं ने पूर्व की विकास-योजनाओं को दिनातीत बना दिया और इनके कारण, पहले से कहीं अधिक, नई योजना बनाने की आवश्यकता हो गई। तदनुसार प० नेहरू की अध्यक्षता में, मार्च १९५० में एक योजना कमीशन स्थापित किया गया। इस कमीशन ने, योजना से सम्बन्धित अन्य अत्यधिक लाभपूर्ण कार्य के अलावा, सितम्बर १९५० में भारत के लिए कोलम्बो योजना बनाई, जिसका दक्षिण और दक्षिणी एशिया के विकास के लिए विस्तृत योजना में समावेश किया गया है, और जुलाई १९५१ में, देश के लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना की प्रस्तावित रूपरेखा प्रकाशित की। दिसम्बर १९५२ में कमीशन ने पंचवर्षीय योजना का अन्तिम वक्तव्य प्रकाशित किया।

अब भारत के लिए आर्थिक योजना पर सामान्य विचार करने के पश्चात् हम प्रथम तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं का विस्तृत अध्ययन करेंगे।

प्रथम पंचवर्षीय योजना
(The First Five-Year Plan)

प्रश्न १—योजना कमीशन द्वारा रचित प्रथम पंचवर्षीय योजना के मुख्य अंगों और कार्यक्रमों की रूपरेखा का वर्णन करें।

(कलकत्ता १९५२, गौहाटी १९५३, आगरा १९५४)

Q 1 – Give an outline of the main features and programmes of the First Five Year Plan prepared by the Planning Commission

(Calcutta 1952, Gauhati 1953, Agra 1954)

योजना कमीशन ने सर्वप्रथम ९ जुलाई, १९५१ को इस योजना की प्रस्तावित रूपरेखा प्रकाशित की और ८ दिसम्बर, १९५२ को इस योजना का अन्तिम वक्तव्य प्रकाशित किया। इस अन्तिम योजना के मुख्य अंग और कार्यक्रम निम्न थे—

इस योजना के उद्देश्य (Objectives of the Plan)—चूंकि नए संविधान के अनुसार देश का घोषित लक्ष्य कल्याणकारी राज्य है, इसलिए इस योजना ने इस लक्ष्य की प्राप्ति को अपने मुख्य उद्देश्य के रूप में उपस्थित किया। अधिक स्पष्टतापूर्वक, इसके दो मुख्य उद्देश्य थे—(i) जनता के लिए श्रेष्ठ जीवन यापन स्तर और (ii) अधिक सामाजिक न्याय। अन्य शब्दों में इस योजना ने सब नागरिकों को समान अवसर, कार्य करने के अधिकार, पर्याप्त पगार प्राप्त करने के अधिकार और सामाजिक सुरक्षा के उपायों का आश्वासन प्रदान करने की चेष्टा की—

योजना का परिमाण (Magnitude of the Plan)—इस योजना पर १९५१-५२ से लेकर १९५५-५६ तक की अवधि में सार्वजनिक भाग पर २,०६९ करोड़ रुपय कुल व्यय हुआ था। विकास के मुख्य क्षेत्रों में इस निम्न रूप में बाँटा गया था।

सरकारी क्षेत्रों में विनियोजन वितरण अर्थात् केन्द्रीय और राज्य सरकारों द्वारा क्रमशः १,२४१ करोड़ रुपय तथा ८२६ करोड़ रुपय हुआ।

	(रु० करोड़ों में) १९५१-५६ में व्यय	कुल व्यय का प्रतिशत
(i) कृषि और सामुदायिक विकास	३६१	१७·४
(ii) सिंचाई और शक्ति	५६१	२७·२
(iii) परिवहन और सचार	४९७	२४·०
(iv) उद्योग	१७३	८·४
(v) सामाजिक सेवाएँ	३४०	१६·४
(vi) पुनर्वास	८५	४.१
(vii) विविध	५२	२·५
योग	२,०६९	१००·०

इसके अलावा गैर-सरकारी क्षेत्र में भी विनियोजन किया गया जिसकी राशि १,४०० करोड़ रुपये और १,५०० करोड़ रुपये के बीच आँकी गई।

देश में बढ़ती हुई बेकारी को दृष्टि में रखते हुए, राष्ट्रीय विकास परिषद् ने, जिसका अधिवेशन अक्तूबर १९५३ में हुआ, सार्वजनिक व्यय में लगभग १७५ करोड़ रुपये की वृद्धि का निर्णय किया, इससे कुल राशि २,२४० करोड़ रुपये हुई।

योजना के मुख्य कार्यक्रम—इस योजना में सही तौर पर कृषि और समाज-विकास योजनाओं (सिंचाई और शक्ति सहित) को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान की गई थी। २,०६९ करोड़ रुपये के प्रस्तावित व्यय में से, कृषि और सिंचाई पर प्रत्यक्ष रूप में जो कुल राशि व्यय की गई, वह ६६२ करोड़ रुपये थी अर्थात् कुल व्यय का लगभग ३२ प्रतिशत।

उल्लिखित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए, सिंचाई-सुविधाओं का विस्तार, भूमि-सुधार की योजनाओं द्वारा फसल-अधीन क्षेत्र में वृद्धि और उत्पादन की उन्नत कला के प्रसार द्वारा पूर्व कृषि-अधीन भूमियों से अधिक प्राप्ति की व्यवस्था की गई थी।

सिंचाई के क्षेत्र में, योजना का मुख्य उद्देश्य पूर्वत. निर्माणाधीन सिंचाई तथा शक्ति योजनाओं को पूरा करना था। योजना-अवधि में इन पर ५५८ करोड़ रु० व्यय करने का अनुमान किया गया था। इसके अतिरिक्त, छोटे सिंचाई-कार्यों को भी इसमें शामिल किया गया था। बड़े और छोटे सिंचाई-कार्यों को मिलाकर आशा की जाती थी कि योजना अवधि की समाप्ति पर उनसे १९५० की अपेक्षा १९·७ मिलियन एकड़ों की अधिक सिंचाई होगी।

शक्ति के विषय में आशा की गई थी कि प्रस्तुत योजना में सम्मिलित नदी घाटी योजनाएँ इस योजना के अन्तिम वर्ष में १·०८ मिलियन किलोवाट अतिरिक्त शक्ति उत्पन्न करने लगेंगी।

प्रस्तुत योजना में सम्मिलित भूमि-सुधार कार्यक्रम का उद्देश्य लगभग ७·४ लाख एकड़ों का विकास करना था।

इस कार्यक्रम में सम्मिलित कृषि-विकास की अन्य मदें ये थीं—मूल ग्राम योजनाओं द्वारा पशु-सुधार तथा दुग्ध व्यवसाय, वनों तथा भूमि-संरक्षण, सहकारी

कृषि कार्य तथा बहु उद्देश्यीय सहकारिता को प्रोत्साहन देना और कृषि के लिए अर्थ-प्रबन्ध। इस योजना मे ग्राम विकास की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विधि यह रखी गई थी कि इस उद्देश्य के लिए समाज विकास योजनाओं तथा राष्ट्रीय विकास सेवाओं का जाल बिछा दिया जाए।

उद्योग—प्रतिरक्षा उद्योगो को सौंपे गए पर्याप्त साधनो के अलावा, योजना अवधि म सरकार ने ९४ करोड का सीधा विनियोग किया। यदि हम लघु-स्तर उद्योगो तथा खनिज विकास के निवेशो और मूल उद्योगों तथा यातायात के लिए ५० करोड रु० के अतिरिक्त एकमुश्त निवेश के आधे को मिला दें, तो यह सख्या १५० करोड तक जा पहुँचती है। तुलनात्मक रूप मे, उद्योग म इस अत्यधिक कम सार्वजनिक विनियोग का कारण यह है कि योजना-अवधि म उपलब्ध साधनो की बहुत बडी राशि कृषि, शक्ति और सिचाई के विकास म लगाइ गई। जो भी हो यह स्मरण रखना होगा कि उद्योग के क्षेत्र का बहुत बडा भाग निजी उद्यम के लिए छोड दिया गया था, इसलिए औद्योगिक विकास अधिकाशत योजित सरकारी व्यय की सीमा से बाहर रह गया।

कुछेक उद्योगो के उत्पादन-लक्ष्य ये थे—पिग आयरन (कच्चा लोहा) ३ १ लाख टन तक बढाया जाने को था—इस्पात ३ ६ लाख टन तक, सीमट २१ लाख टन तक, वस्त्र, १,८७२ मिलियन गजो तक, खाड ३ ८४ लाख टन तक, और इसी तरह अन्य भी।

योजना म लघु-स्तर और घरेलू उद्योग के विकास के महत्त्व पर विशेष बल दिया गया था। उनके विकास के लिए अनेक उपाय किए गए थे। इन उद्योगो के लिए २७ करोड रु० की कुल व्यवस्था की गई थी।

परिवहन (Transport)—रेलो, सडको, पोत निर्माण और शहरी हवाई शक्ति के विकास के लिए अत्यधिक विस्तृत व्यवस्था की गई है। उस पर कुल व्यय में से आधे से अधिक रेलों पर व्यय हुआ। उनके लिए मुख्य कायक्रम पुनर्निर्माण और उन्हें सम्पन्न बनाने का था जिससे वे उस अतिरिक्त बोझ को वहन कर सकें जो कि उन पर अर्थ-व्यवस्था के अन्य भागो मे विकास के परिणामस्वरूप डाला गया।

केन्द्र और राज्यो में सडक विकास के लिए सब मिलाकर १०० करोड रु० से अधिक राशि की व्यवस्था की गई थी। कादला म नई बन्दरगाह बनाने के लिए १२ करोड रु०, तेल शोधन के लिए बन्दर-सुविधाओ की रचना के लिए ८ करोड रु०, और बन्दर-अधिकारियो को ऋण रूप मे १२ करोड रु० पुनर्वास एव अभिनवीकरण के कार्यक्रम को पूर्ण करने के लिए प्रदान किया गया था। यातायात की नई दिशाओ का विकास, जैसे, पोत निर्माण और शहरी हवाई शक्ति दोनो के लिए भी बडी-बडी राशियो के निवेश किए गए थे।

सामाजिक सेवाएँ—यद्यपि प्रारम्भिक दशा में उत्पादन वृद्धि पर बल दिया गया था, तथापि प्रस्तुत योजना ने अपने आपको केवल भौतिक सफलता प्राप्ति तक ही सीमित नही किया और, फलत, उसने मानवी उन्नति की दिशा म 'विनियोग" का भी निवेश किया। सामाजिक सेवाओ के लिए ३४० करोड रु० का कुल व्यय

निश्चित किया गया था, जिसमें से १५२ करोड़ रु० शिक्षा के लिए, १०० करोड़ रु० चिकित्सा और सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिए, ४९ करोड़ रु० भवन निर्माण के लिए, २९ करोड़ रु० पिछड़े वर्गों के लिए और लगभग ७ करोड़ रु० श्रम तथा श्रम कल्याण के लिए प्रदान किए गए थे। इसके अतिरिक्त ऐच्छिक सामाजिक कल्याण के संगठनों की सहायता के लिए ४ करोड़ रु० अधिक प्रदान किए गए ताकि वे अपने कार्य का अधिक प्रसार कर सकें।

विस्थापित व्यक्तियों के पुनर्वास के लिए ८५ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई थी और इसकी अवधि १९५३-५४ के पश्चात् पर तीन वर्ष की नियत की गई।

सामाजिक सेवाओं में वित्तीय विनियोग की अज्ञान का अन्त और सफाई की उन्नति के लिए वृहद्-स्तर पर प्रत्यक्ष सामाजिक यत्नों में पूरक करना था।

प्रगति की गति—प्रस्तुत योजना को प्रचलित करने के फलस्वरूप पूंजी निर्माण में प्रतिवर्ष अतिरिक्त राष्ट्रीय आय के लगभग २०% द्वारा अनुमानित वृद्धि होने की आशा थी। १९५५-५६ तक राष्ट्रीय आय में लगभग ११% वृद्धि की आशा थी अर्थात् ९,००० करोड़ रु० से १०,००० करोड़ रु० तक। किन्तु इस वृद्धि के विपरीत जन-संख्या वृद्धि को भी समक्ष रखना होगा, जो १ २५% प्रति वर्ष के हिसाब ६ ५% होगी। १९५६-५७ से आगे, यदि विनियोग प्रतिवर्ष लगभग ५०% अतिरिक्त उत्पादन द्वारा बढ़ाया जाए, तो इससे यह होगा कि प्रति व्यक्ति की आय को दो गुना करने में लगभग २७ वर्ष लग जाएँगे। योजना अवधि की दृष्टि से यह स्पष्ट है कि प्रगति-विषयक परिमाण बहुत थोड़ा है। ऐसी अवस्था में, इस अवधि के अन्तर्गत जीवन-यापन के स्तर में अल्प वृद्धि होगी।

योजना का वित्त-प्रबन्ध (Financing of the Plan)—इस योजना का अत्यधिक महत्वपूर्ण पहलू इसके अर्थ-प्रबन्ध के विषय में था। सार्वजनिक भाग में २,०६९ करोड़ रु० के कुल व्यय को निम्न रूप में पूर्ण करने का प्रस्ताव किया गया था—

	रुपये करोड़ों में
(i) विकास-हीन व्यय को पूरा करने के बाद केन्द्रीय और राज्य सरकारों के चालू राजस्वों (रेलों सहित) की बचतों से	७३८
(ii) केन्द्रीय और राज्य सरकारों द्वारा लिये आन्तरिक ऋणों, छोटी बचतों आदि से	५२०
(iii) स्टर्लिंग सन्तुलन की मुक्ति के विरुद्ध घाटे के वित्त-प्रबन्ध से	२९०
(iv) (दिसम्बर १९५२ तक) प्राप्त बाहरी सहायता से	१५६
(v) अधिक बाहरी सहायता से, अथवा, विकल्प रूप में, आन्तरिक करारोपण और ऋण लेने तथा अधिक घाटे के अर्थ-प्रबन्ध के अतिरिक्त उपायों से	३६५
योग	२,०६९

जनता का सहयोग (Public Co-operation)—इस योजना का उल्लेखनीय रूप यह है कि वह जनता का सहयोग प्राप्त करने और इस योजना को प्रचलित करने के लिए जनता में उत्साह वृद्धि पर विशेष बल देता है। फलतः इसने जन-सहयोग के लिए राष्ट्रीय सलाहकार कमेटी तथा भारत सेवक समाज दो संस्थाओं की स्थापना की व्यवस्था की।

निष्कर्ष—जब इस योजना की घोषणा की गई तो इसका मिश्रित स्वागत हुआ। इसके विषय में अनेक आलोचनाएँ हुईं। कुछ ने इसे साधारण और मध्यम श्रेणी का प्रलेख' कहा। अन्यों ने इसे देश के सहयोगपूर्ण आर्थिक विकास के लिए सत्य यत्न" बताया। किन्तु हम कह सकते हैं कि समग्र रूप में यह अत्यधिक वास्तविक धारणा है और इसे राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में विद्यमान सीमाओं तथा समस्याओं को पूर्णतया दृष्टि में रखते हुए बनाया गया है। इसी कारण कुछ लोगों ने इसे अति सामान्य कहकर बदनाम किया है, किन्तु इसके विपरीत इसके गुणों पर विचार करना चाहिए।

जो भी हो, यह स्पष्टतया समझ लेना चाहिए कि यह योजना अभूतपूर्व समृद्धि के एक नए युग का सूत्रपात थी। यह उच्च जीवन यापन स्तरों की दिशा में यात्रा का केवल प्रथम चरण था। इसका उद्देश्य आधारभूत विकासों की व्यवस्था करना थी जिससे कि अधिक उन्नति के लिए आधारशिला रखी जा सके।

प्रश्न २—पंचवर्षीय योजना ने कृषि को उच्चतम प्राथमिकता प्रदान की है। कृषि पर इस बल देने को आप कहाँ तक न्यायसंगत समझते हैं?

(कलकत्ता १९५३)

Q 2—The Five Year Plan has accorded the highest priority to agriculture How far do you think this emphasis on agriculture is justified? *(Calcutta 1953)*

योजना अत्यावश्यक रूप में प्राथमिकताएँ निश्चित करने और चालू करने का विषय है। यह भारत जैसे देश की अविकसित अर्थ व्यवस्थाओं में विशेष रूप से होता है जहाँ कि विकास के लिए साधन बहुत थोड़े हैं किन्तु अर्थ व्यवस्था में कोई भी ऐसा भाग नहीं कि जिसमें अधिकाधिक विनियोग न्यायपूर्ण न हो। इसलिए विकास की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दिशाओं के लिए उपलब्ध साधनों के यथानुपात करने की समस्या है।

प्रथम पंचवर्षीय अवधि के लिए सिंचाई और शक्ति सहित कृषि को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी होगी। इस देश में जीवन की सर्वाधिक मूल आवश्यकता खाद्य की कमी है। अन्य कोई भी बात सोचने से पहले जनसंख्या के लिए पर्याप्त खाद्य की व्यवस्था करनी ही होगी। उपरान्त मुख्यतः विभाजन के फलस्वरूप उद्योग के लिए कृषि विषयक कच्चे पदार्थों की बड़ी भारी कमी है, जैसे देश के सूत और जूट के दो महत्तम उद्योगों के लिए कपास और जूट की कमी। इसलिए भावी औद्योगिक विकास की सुदृढ़ आधारशिला स्थापित करने के लिए खाद्य और कच्चे पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि करना अत्यावश्यक था। वस्तुतः यदि खाद्यान्न और औद्योगिक कच्चे पदार्थ पर्याप्त

मात्राओं और उचित सस्ते मूल्यों पर उपलब्ध नहीं होंगे तो योजना अनिवार्यतः विफल हो जाती ।

द्वितीयत, यह विचार भी समुपस्थित था कि पहले से ही जो बड़ी-बड़ी नदी-घाटी योजनाएँ हाथ में ले ली गई थीं उन्हें बीच में ही छोड़ने के बजाय पूर्ण करना होगा। इससे अधिक किसानों की बहुसख्या के पास कृषि उत्पादन में वृद्धि करने के लिए आवश्यक अपने निजी पूँजी साधन नहीं थे । इसलिए सार्वजनिक विनियोगों के ढंग से सरकारी सहायता आवश्यक थी । उद्योगों की देखभाल करने के लिए निजी भाग था । किन्तु कृषि की यह दशा नहीं थी, उसके लिए महान् सार्वजनिक व्यय की आवश्यकता थी ।

कृषि-विषयक विकास के लिए की गई बाँट में, इस योजना में सम्मिलित सिंचाई-योजनाएँ अधिकांशत सिंचाई तथा शक्ति योजनाएँ हैं जिनसे शक्ति जैसी मूल सेवाएँ समाज के लिए उपलब्ध हो जाएँगी और निर्माणकारी उद्योगों के विकास में वृद्धि के अलावा ग्राम-क्षेत्रों में लघु-स्तर और घरेलू उद्योगों को बल मिलेगा ।

इस योजना के रचयिताओं के समक्ष एक अन्य महत्त्वपूर्ण विचार यह था कि भारत में कृषि-विषयक प्राप्तियाँ इतनी कम हैं कि कृषि पर चाहे जितना भी लघु अतिरिक्त व्यय किया जाएगा इससे निश्चित ही कुल उत्पादन और इस प्रकार राष्ट्रीय आय में अभिवृद्धि होगी । इससे भी बढ़कर, बाहरी सहायता या विनियोगों की केवल परिमित राशियों की उपलब्धि को दृष्टि में रखते हुए योजना में केवल ऐसे ही व्यय सम्मिलित करने होंगे, जिनके लिए तुलनात्मक रूप में विदेशी विनिमय व्यय की थोड़ी आवश्यकता होगी । कृषि तथा घरेलू और लघु-स्तर के उद्योग इस दृष्टि से सर्वोत्तम थे ।

चूँकि विकास के लिए आन्तरिक साधन भी सीमित थे । इसलिए, राज्य-व्यय द्वारा विकास को भिन्न क्षेत्रों में सामुदायिक कार्यों तथा यत्नों से पूरक बनाना आवश्यक था । समाज विकास-योजनाएँ, जो कृषि-कार्यक्रम की महत्त्वपूर्ण अग थी, ऐसे कार्यों तथा यत्नों में वृद्धि करने में सहायक होती ।

जो भी हो, यह भली प्रकार समझ लेना होगा कि कृषि को सर्वोच्चता प्रदान करने का यह आशय नहीं कि अन्य भागों की उपेक्षा की गई । अविकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के अधीन वस्तुत. कृषि और औद्योगिक विकास के बीच सघर्ष नहीं होता। उनमें एक दूसरे को बल प्रदान करता है ।

अभ्यास १—"घाटे की वित्त-व्यवस्था" का क्या अर्थ है ? पंचवर्षीय योजनाओं की वित्त-व्यवस्था में इसके लिए क्या निर्धारित किया गया है ? (बम्बई १९५३ ; दिल्ली १९५४)

Ex. 1—What is meant by "Deficit Financing"? What role is assigned to it in the Five-Year-Plans ?

(*Bombay 1953 ; Delhi 1954*)

सरल शब्दों में, सरकार अपनी चालू राजस्व प्राप्तियों से जो अधिक व्यय करती हो, उसे घाटे की वित्त-व्यवस्था कहते हैं (उनकी राजस्व प्राप्तियाँ वे होती हैं जिन्हें कि वह करों, राज्य-उपक्रमों के उपार्जनों, आदि के रूप में लेती है) । उसके व्यय और प्राप्तियों के बीच जो अन्तर होता है, वह घाटा

कहलाता है। राज्य इस घाटे क या तो ऋणों की रचना (आतरिक या बाहरी) से अथवा अपने सचित अवशेषों को निकालकर अथवा छापाखाने के आश्रय अर्थात् नई पत्र मुद्र की रचना द्वारा पूर्ण कर सकता है। सरकारें घाटे की वित्त व्यवस्था का आश्रय या तो मन्दी-काल में जब विनियोग कम हो जाता है, आर्थिक पुनरादान की आवश्यकता के लिए अथवा जन से अपनी चालू प्राप्तियों से अधिक देश में विकास के वित्त प्रबन्ध के लिए या युद्ध काल में युद्ध के वित्त प्रबन्ध के लिए लेता है।

भारत की पचवर्षीय योजनाओं विषयक आज के विचार विनिमय में घाटे की वित्त-व्यवस्था की शब्दावली का सकुचित भाव में उपयोग किया गया है। योजना आयोग की सूचना में केवल नए द्रव्य की रचना को ही घाटे की वित्त व्यवस्था कहा गया है। अन्य शब्दों में, यदि सरकार अपनी चालू राजस्व प्राप्तियों से अधिक व्यय करती है किन्तु व्यय की यह अधिकता जनता के लिए ऋणों और छोटी बचतों के अन्तर्गत है, तो इसे घाटे की वित्त व्यवस्था नहीं माना गया। आयोग के मतानुसार, घाटे की वित्त व्यवस्था वह है जिसमें बजट सम्बन्धी घाटों के द्वारा, चाहे ये बजट-घाटे राजस्व में हैं या पूंजीगत राशि में हैं विशुद्ध राष्ट्रीय व्यय में प्रत्यक्ष अभिवृद्धि हो' अर्थात् सरकार जनता से करों, ऋणों और अमानतों आदि के अलावा अपनी सारी प्राप्तियों को मिला लेने पर जो अधिक व्यय करती है।

घाटे की वित्त व्यवस्था का भय यह है कि यह स्फाति उत्पन्न करता है, क्योंकि सरकार द्वारा द्रव्य खर्च करने और उस व्यय के फलस्वरूप उत्पादन में होने वाली अभिवृद्धियों के बीच सदैव एक समयान्तर होता है। जो भी हो यह भय जनता से ऋणों द्वारा घाटे की वित्त व्यवस्था की दशा में बहुत कम होता है जबकि यह नई द्रव्य-रचना की अवस्था में अधिक महान् होता है जो कि यदि रोकी न जाए तो अपरिमित स्फाति उत्पन्न कर देती है। यही कारण है कि योजना कमीशन उत्तर कथित प्रकार को भी घाटे की वित्त व्यवस्था नहीं कहता।

(योजनाओं में घाटे की वित्त व्यवस्था के लिए योजना के वित्त प्रबन्ध सम्बन्धी अंश को देखिए।)

आर्थिक स्वरूप
(Economic Pattern)

प्रश्न ३—प्रथम पचवर्षीय योजना में निर्धारित आर्थिक स्वरूप क्या है? देश की वर्तमान अवस्थाओं के लिए यह कहाँ तक उपयुक्त जान पड़ता है?

Q 3—What is the economic pattern envisaged in the First Five Year Plan? How far is it suited to the present condition of the country?

भाग (क) योजना का आर्थिक स्वरूप—प्रथम योजना में निर्धारित आर्थिक स्वरूप देश में आर्थिक लोकतन्त्र और कल्याणकारी राज्य की स्थापना की दिशा में एक अग्रगामी चरण था। संक्षेप में प्रस्तुत योजना मिश्रित अर्थ व्यवस्था के आधार पर बनाई गई थी। यह एक केन्द्रीभूत निर्दिष्ट अर्थ व्यवस्था है जिसमें सार्वजनिक भाग और निजी भाग दोनों एक दूसरे के साथ निकट सम्पर्क में साथ साथ विद्यमान हैं। यद्यपि आर्थिक और सामाजिक विस्तार की आवश्यकता के विषय में राज्य के दायित्व को स्पष्ट कर दिया गया था कि इसके लिए यह आवश्यक नहीं कि उत्पादन के साधनों का पूर्ण राष्ट्रीयकरण हो अथवा कृषि या व्यापार और उद्योग में से निजी साधनों का उन्मूलन कर दिया जाए। जो भी हो इसका यह अवश्य आशय है कि सार्वजनिक भाग की प्रगतिशीलतापूर्वक विस्तृत और योजित वित्त व्यवस्था की आवश्यकताओं के अनुसार निजी भाग का अभिनवीकरण किया जाए। अनियमित

लाभों के आधार पर कार्य करने वाला निजी उपक्रम समयानुकूल नहीं है। इसके विपरीत इस योजना के अनुसार, "निजी उपक्रम को अपने नए भाग के अनुकूल तैयार करना होगा, "और अपने को केवल उसी सीमा तक स्थिर एवं न्याय्य रखेगा कि जहाँ तक वह अपने को जन-कल्याण की वृद्धि के लिए प्रतिनिधि रूप में प्रमाणित करेगा।"

उद्योगों के क्षेत्र में, इस योजना में जिस स्वरूप का अनुगमन किया गया था वह अप्रैल १९४८ के औद्योगिक नीति प्रस्ताव के अनुसार था—जब कि केन्द्रीय सरकार ने अपने लिए अति विशिष्ट रूप में कतिपय उद्योगों को सुरक्षित रख लिया था, और कतिपय अन्यों के अधिक विकास के लिए राज्यों को उत्तरदायी बनाया था और शेष सम्पूर्ण औद्योगिक क्षेत्र को, निःसन्देह, केन्द्रीय सरकार के नियमन और नियन्त्रण के अधीन निजी उपक्रम के लिए छोड़ दिया गया था। वह इस नियन्त्रण को १९५१ के उद्योग सम्बन्धी (विकास और नियमन) अधिनियम के अधीन लाइसेंस, दिशास्थान, आकार जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों में क्रियान्वित करती है और विकास परिषदों द्वारा उनका विकास करती है। योजना में व्यवस्था की गई थी कि प्राथमिकता दिशाओं में निजी भाग के उद्योगों के विकास सम्बन्धी आश्वासन के लिए पूँजी निर्गम नियन्त्रण नीति, कीमत नियन्त्रण और विशिष्ट प्रलोभन प्रणाली का अनुगमन किया जाए।

औद्योगिक कार्यक्रमों के विषय में, सार्वजनिक भाग में न केवल औद्योगिक उपक्रमों की व्यवस्था की गई थी प्रत्युत निजी भाग के अधिकांश उद्योगों के लिए लक्ष्य और प्राथमिकताएँ भी नियत की गई थीं। लोहा और इस्पात की दिशा में, यद्यपि भावी विकास को राज्य के लिए सुरक्षित रखा गया था, तथापि निजी उपक्रम को क्षमता-विस्तार की स्वीकृति दी गई थी। कतिपय सार्वजनिक उपक्रमों में निजी पूँजी को भागीदार बनने के लिए भी आमन्त्रित किया गया था।

इस योजना के आर्थिक स्वरूप का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अंग यह है कि विद्यमान उद्योगों के राष्ट्रीयकरण को अत्यधिक निम्न प्राथमिकता दी गई थी।

कृषि क्षेत्र में, आर्थिक स्वरूप ने महान् परिवर्तन करने का निश्चय किया। भूमि में सब माध्यमिक अधिकारों का अन्त कर दिया गया और कृषक वर्ग को जमींदार, साहूकार और व्यापारियों के चंगुल से मुक्त किया गया। राज्य ने बुनियादी सेवाएँ प्रदान करने का दायित्व ले लिया जैसे, सिंचाई, शक्ति, सड़कें, संचार, और उसकी धन, बाज़ार बिक्री और कार्यकुशलता के विषय में सहायता करना। जो भी हो, दीर्घकालीन उद्देश्य सहकारी ग्राम-प्रबन्ध है, जिसमें समान अवसर और स्तर प्रदान किया जाएगा।

व्यापार की दिशा में, यह स्वीकार किया गया कि खाद्यान्नों, वस्त्र, खांड, मिट्टी का तेल और नमक जैसे अत्यावश्यक पदार्थों में राज्य व्यापारिकता न केवल सार्वजनिक कोष में समाज की अधिक बचतों को प्रवाहित करेगी, प्रत्युत, महत्त्वपूर्ण दिशाओं में वित्त-व्यवस्था के नियन्त्रण-लाभ की भी सुदृढ़ विधि होगी। यह इन वस्तुओं की कीमतें

ही है जिनसे जीवन-लागत और औद्योगिक लागतें प्रभावी होती हैं। जो भी हो, सरकार ने इसे तुरन्त आरम्भ न करने का निर्णय किया था।

इस योजना की राजकोषीय नीति भी ऐसी बनाई गई जो जनता में अधिक आर्थिक समानता पैदा कर सके। आशा थी कि योजना में प्रस्तावित मृत्यु कर तथा करारोपण के अन्य प्रगतिशील उपायों को प्रचलित करने से निश्चय ही, समय पाकर, असमानताओं में कमी होगी।

भाग (घ)—योजना में निर्धारित आर्थिक स्वरूप वर्त्तमान अवस्थाओं के अधीन यथासम्भव श्रेष्ठ था। यह दो उग्रताओं के बीच मध्य मार्ग था। निःसन्देह, निहित स्वार्थों द्वारा, और उन लोगों द्वारा जिनकी वामपक्षी धारणाएँ हैं इसकी आलोचना की गई थी। एक ओर तो निहित स्वार्थों ने राज्य उद्यमों के विस्तृत क्षेत्र का विरोध किया और दूसरी ओर राज्य नियमन और नियन्त्रण को उन्होंने अनुचित प्रभाव बताया। उनका कहना था कि यह निजी उद्यम और विनियोग को निरुत्साहित करता है जो कि देश की आर्थिक प्रगति के लिए अत्यावश्यक है। उन्होंने कहा कि सम्पत्ति वितरण की असमानताओं को कम करने की चेष्टाओं का परिणाम यह होगा कि दरिद्रता का वितरण हो जाएगा।

वाम पक्षियों का यह आरोप था कि सरकार पूँजीपतियों का पक्ष करती है और इस प्रकार सामान्य जन-मार्ग भ्रष्ट होता है। वह चाहते थे कि सरकार उत्पादन के सब साधनों को ले ले और उन्हें सामान्य हित में चलाए।

यह दोनों दृष्टिकोण अत्युग्र थे। इस तरह इस योजना का आर्थिक स्वरूप वर्तमान अवस्थाओं में देश के लिए सर्वाधिक उपयुक्त था। सरकार के साधन मनुष्यों और द्रव्य की दृष्टि से सीमित थे। समष्टि रूप में राष्ट्रीयकरण क्रियात्मक नहीं था। सार्वजनिक भाग को प्रगतिशीलतापूर्वक विस्तार देना निश्चित विधि है, क्रान्ति के विकल्प की उपेक्षा की जा सकती है। जहाँ तक पूँजीपतियों का सम्बन्ध है उन्हें अपने पुराने यथेच्छाचारिता के दृष्टिकोण को त्याग देना चाहिए और समाज की सेवा में निजी उद्यम के परिवर्तित रूप के अनुसार अपने आपको बना लेना चाहिए। जनतान्त्रिक योजना का जो उपाय इस स्वरूप में प्रकट होता है वह जीवन यापन-स्तर को उन्नत करने के लिए अपरित्याज्य है। इस प्रकार यह स्वरूप सर्वश्रेष्ठ मध्य मार्ग है।

अभ्यास १—मौजूदा काल में भारतीय उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की वाछनीयता अथवा अवाछनीयता की चर्चा कीजिए। (कलकत्ता १९५१)

Ex 1—Discuss the desirability or otherwise of nationalising Indian Industry at the present moment. *(C U 1951)*

राष्ट्रीयकरण का मुख्य उद्देश्य अनियन्त्रित लाभ हित को समुदाय के लाभ के लिए रखना है। राष्ट्रीयकरण द्वारा श्रमशोषण कम होगा तथा मानसिक परिवर्तन से उत्पादन में वृद्धि होगी। (श्रमिक के मन में भाव रहेगा कि उद्योग किसी व्यक्ति का न होकर राष्ट्र का है।) उपलब्ध सामाजिक स्रोतों को राष्ट्र के हित के कामों में लगाया जा सकेगा।

राष्ट्रीयकरण का यद्यपि बड़ा आकर्षण है। लेकिन इसकी अभी सम्भावना नहीं है। क्योंकि यदि इसे लागू किया गया तो इसके भयंकर परिणाम होंगे—(1) मौजूदा इकाइयों को लेने के लिए

राज्य के पास विशाल वित्तीय स्रोत होने चाहिएँ। लेकिन अभी तो राज्य के पास उन्हें लेने के लिए कुछ भी नहीं है। (ii) मौजूदा स्रोतों को कृषि और उद्योग, सिंचाई, शक्ति, परिवहन, संचार तथा रासायनिक खाद, लोहा तथा इस्पात जैसे मूल उद्योगों के विकास में लगाना चाहिए। (iii) यह सिर्फ वित्त का प्रश्न मात्र नहीं है। अर्जन के बाद कारखाने चलाने के लिए होशियार संगठनकर्ता तथा प्रबन्ध भी होना चाहिए। (iv) इससे भी कठिन समस्या निष्ठावान प्रशासन की है। अभी इसमें समय लगेगा। (v) औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि में भी शक है। (vi) उद्योग भी नौकरशाही तन्त्र में फँस जाएगा। (vii) योजना के अन्तर्गत राज्य का क्षेत्र विशाल है और यह आर्थिक और सामरिक महत्त्व की सब वस्तुओं पर छाया हुआ है। शेष में (गैर-सरकारी क्षेत्र में) औद्योगिक नीति संकल्प तथा उद्योग (विकास तथा विनियमन) अधिनियम, १९५१ के द्वारा दी गई शक्तियों से राष्ट्रीयकरण के उद्देश्यों के बिना राष्ट्रीयकरण को पूरा किया जा सकता है।

अभ्यास २—उद्योग के विकास में निजी उद्यम का क्या भाग है? यह कहाँ तक योजित अर्थ-व्यवस्था के अनुरूप है?   (बम्बई १९५३)

Ex. 2—What is the role of private enterprise in the development of industry? How far is it compatible with a planned economy?   *(Bombay 1953)*

(औद्योगिक विकास में निजी उपक्रम के भाग पर प्रश्न ३ के उत्तर में विचार किया गया है।)

निजी उद्यम निश्चय ही योजित अर्थ-व्यवस्था के अनुरूप है—केवल उसे अपने आपको जन-कल्याण की उन्नति के लिए प्रतिनिधि रूप में अपने नए भाग के अनुकूल बनना होगा। निजी और सार्वजनिक उपक्रमों में अन्तर्क्रिया की दिशाएँ निरन्तर बढ़ती जा रही हैं। उस सामान्य सुरक्षा के अतिरिक्त जो कि राज्य नियम और व्यवस्था की रक्षा के रूप में प्रदान करता है, अन्य अनेक विधियाँ हैं जिनसे निजी उद्यम सरकार से सहायता प्राप्त करता है, जैसे, तटकरों सम्बन्धी सहायता, राजकोषीय रियायतें और अन्य प्रत्यक्ष सहायता। वस्तुतः, जैसा कि हाल ही के वर्षों के अनुभव से प्रकट हो गया है कि निजी उद्यम के मुख्य विस्तारों को राज्य की इस या उस रूप की सहायता के बिना नहीं किया जा सकता। यह सब यह संकेत करती है कि निजी और सार्वजनिक भाग किसी भी रूप में अलग-अलग दृष्टि से नहीं देखे जा सकते; उन्हें एक ही शरीर के अंगों के समान कार्य करना है।

१९५१ से १९५६ तक पंचवर्षीय योजना की प्रगति

प्रथम पंचवर्षीय योजना १९५०-५१ में चालू की गई थी। इसके दो मुख्य लक्ष्य थे—देश की असन्तुलित अर्थ-व्यवस्था को ठीक करना तथा देश का सर्वांगीण विकास करना जिससे कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो सके और लोगों का जीवन-स्तर ऊँचा हो सके।

योजना ने सबसे पहले देश की आवश्यकताओं एवं उपलब्ध साधनों का एक सन्तुलित चित्र सामने रखा। उसने विभिन्न पहलुओं के सम्बन्ध में पूर्वताओं का क्रम निश्चित किया।

यह सही है कि योजना-काल में कई मदों में खर्च की बहुत कमी हो गई थी, फिर भी सार्वजनिक विकास का कार्यक्रम बहुत जोरों से चला तथा सिंचाई, बिजली, रेल, तथा कृषि आदि क्षेत्रों में सन्तोषजनक प्रगति हुई। योजना के प्रारम्भ में आशा की गई थी कि गैर-सरकारी क्षेत्र में २३३ करोड़ रुपये का विनियोजन होगा।

उपलब्ध आँकड़ों से पता चलता है कि गैर सरकारी क्षेत्र में आशानुरूप ही विनियोजन हुआ। संगठित उद्योगों में पहले दो वर्ष २६ करोड रुपये प्रतिवर्ष के हिसाब से विनियोजन हुआ। पाँचवें वर्ष में यह बढ़कर ८५ करोड रुपये हो गया। आधुनिकीकरण तथा प्रतिस्थापन का कार्य कुछ कम हुआ। इस पर १५० करोड रुपये खर्च होने का अनुमान था लेकिन केवल ११० करोड रुपये ही खर्च हुआ।

प्रथम योजना के तात्कालिक लक्ष्य भी काफी हद तक पूरे हुए। कृषि-उत्पादन में आश्चर्यजनक उन्नति हुई। १९५५-५६ में ६४.९ मिलियन टन खाद्यान्नों का उत्पादन हुआ। यह योजना के लक्ष्य से ३ मिलियन टन अधिक था। कपास, पटसन तथा तिलहनों की पैदावार भी बढ़ी। योजना काल में औद्योगिक उत्पादन में भी ४०% वृद्धि हुई। १९५०-५१ में मिलों में ३७१८ मिलियन गज कपड़ा तैय्यार हुआ। १९५५-५६ में यही बढ़कर ५१०२ मिलियन गज हो गया। ४०० मिलियन गज कपड़ा लक्ष्य से अधिक तैय्यार किया गया।

चीनी, सीने की मशीनों, कागज, गरों तथा बाइसिकिलों का उत्पादन आशाओं के अनुसार ही हुआ। सीमेंट का उत्पादन १९५०-५१ में २.७ मिलियन टन हुआ था। १९५५-५६ में वही बढ़कर ४.६ मिलियन टन हो गया। इंजीनियरी उद्योगों तथा भारी रसायनों के सम्बन्ध में भी संतोषजनक प्रगति हुई।

योजना की अवधि में १६.८ मिलियन एकड़ जमीन सिचाई के अन्तर्गत लाई गई। विद्युत उत्पादन की क्षमता २.३ मिलियन किलोवाट से बढ़कर ३.४ मिलियन किलोवाट हो गई। रेलवे व्यवस्था में भी बहुत सुधार किया गया। योजना में तो १,०३८ लोकोमोटिव, ५,६७४ कोच तथा ४९,१४३ वेगन प्राप्त करने की व्यवस्था थी। लेकिन ५ वर्षों में वास्तव में १,५८९ लोकोमोटिव ४,७५८ कोच तथा ६१,२५४ वेगन प्राप्त किए गए। इन वस्तुओं का हमारे देश में भी उत्पादन बढ़ा। युद्धकाल में ध्वस्त ४३० मील लम्बी रेलवे लाइन का फिर से निर्माण किया गया। ३८० मील लम्बी नई लाइन बनाई गई। ४६ मील लम्बी सँकरी गाज लाइन को बदल दिया गया। योजना-काल में सड़क परिवहन के कार्यक्रम को भी पूरा किया गया।

योजना काल में सामाजिक सेवाओं में भी पर्याप्त उन्नति हुई। १९५०-५१ में प्रारम्भिक पाठशालाओं में १८.७ मिलियन छात्र पढ़ते थे। १९५५-५६ में यह संख्या बढ़कर २४.८ मिलियन हो गई। देश में कई प्राविधिक संस्थाओं की भी स्थापना की गई।

योजना-काल की इन विविध गतिविधियों के फलस्वरूप राष्ट्रीय आय में १७.५% की वृद्धि हुई। प्रति व्यक्ति आय १०.५ प्रतिशत बढ़ी। खनन उद्योगों में १४७%, निर्माण-कार्य तथा लघु उद्यमों में १८.२ प्रतिशत, वाणिज्य, परिवहन तथा संचार साधनों में १८.६% तथा अन्य सेवाओं में २३.७% की वृद्धि हुई।

प्रथम पंचवर्षीय योजना का मनोवैज्ञानिक महत्त्व बहुत अधिक है। उसने देश के सर्वांगीण औद्योगिक विकास के लिए एक नूतन उत्साह उत्पन्न किया।

प्रश्न ४—द्वितीय पंचवर्षीय योजना के मुख्य मन्तव्यों की रूपरेखा बताइए।

Q. 4—Outline the salient features of the Second Five-Year Plan.

फरवरी १९५६ में द्वितीय पचवर्षीय योजना के मसविदे की रूपरेखा प्रकाशित हुई। इसका उद्देश्य आम सूचना देना तथा बाहर से सुझाव और टिप्पणी आदि लेना था। इन सुझावों के आधार पर निम्न योजना तैयार की गई। इसके मुख्य मन्तव्य इस प्रकार हैं।[1]

द्वितीय योजना के उद्देश्य—द्वितीय पचवर्षीय योजना में ग्रामीण भारत के निर्माण का प्रयास किया गया है। इसके अलावा औद्योगिक प्रगति की नींव डालने तथा दुर्बल और समाज के न्यून अधिकार-प्राप्त लोगों को अधिकतम अवसर दिलाने और देश के समस्त भागों के विकास की ओर अधिक बल दिया गया है। यद्यपि प्रथम योजना की सफलताएँ काफी महत्त्वपूर्ण हैं लेकिन वे सिर्फ आरम्भ मात्र ही हैं। योजना निर्माताओं का उद्देश्य आर्थिक व्यवस्था में ऐसी गति उत्पन्न करना है जिससे राष्ट्रीय-कल्याण, मानसिक तथा सास्कृतिक प्राप्ति के उच्च स्तरों को प्राप्त किया जा सके। उद्देश्य है समाज का "समाजवादी ढांचा" स्थापित करना। "वास्तव में, इसका अर्थ है वृद्धि के मापदण्ड की कसौटी निजी लाभ न होकर, सामाजिक प्राप्ति हो। और विकास का यह ढांचा तथा सामाजिक-आर्थिक सम्बन्धों को इस प्रकार संयोजित किया जाए कि इसका परिणाम न सिर्फ राष्ट्रीय आय और रोजगार में वृद्धि हो, बल्कि आय और धन में अधिक समानता भी हो।" उचित दशाएँ बनाने का दायित्व राज्य का है। यह लोक राज्य की सबसे बड़ी एजेंसी के समान है। समाजवादी ढांचे का जोर निश्चयात्मक ध्येय की प्राप्ति, जीवन-स्तर उठाना, सबके लिए अवसरों की समानता पैदा करना, पिछड़े हुए वर्गों के लिए उद्यम को बढ़ावा देना तथा समुदाय के सभी विभागों में साझेदारी की भावना को उभारना है। इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर, द्वितीय पचवर्षीय योजना के सम्मुख निम्न मुख्य उद्देश्य हैं—

(क) राष्ट्रीय आय में उचित वृद्धि करना जिससे देश में रहन-सहन का स्तर उठाया जा सके;

(ख) मूल और भारी उद्योगों के विकास पर विशेष बल देते हुए तीव्र उद्योगीकरण को बढ़ावा देना;

(ग) रोजगार के अवसरों का अधिक विस्तार करना; तथा

(घ) आय और धन की असमानताओं को दूर करना तथा आर्थिक शक्ति का समान वितरण।

केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा, योजना अवधि में, कुल विकास व्यय ४,८०० करोड़ रुपये है। इसे मुख्य विकास मदों में इस प्रकार बाँटा गया है :

---

१. This closely follows ch III of the Plan in its own words as far as possible.

मुख्य विकास मदो पर योजना व्यय का वितरण

		प्रथम पचवर्षीय कुल उपबन्ध (करोड रु०)	योजना प्रतिशत	द्वितीय पचवर्षीय योजना कुल उपबन्ध (करोड रु०)	प्रतिशत
	१	२	३	४	५
I	कृषि तथा सामूहिक विकास	३५७	१५ १	५०८	११ ८
(क)	कृषि	२४१	१० २	३४१	७ १
	कृषि कार्यक्रम	१९७	८ ३	१७०	३ ५
	पशु पालन	२२	१ ०	५६	१ १
	वन	१०	० ४	४७	१ ०
	मत्स्य क्षेत्र	४	० २	१२	० २
	सहकार	७	० ३	४७	१ ०
	विविध	१		९	० २
(ख)	राष्ट्रीय विस्तार तथा सामूहिक योजनाएँ	९०	३ ८	२००	४ १
(ग)	अन्य कार्यक्रम	२६	१ १	२७	० ६
	ग्राम पचायतें	११	० ५	१२	० ३
	स्थानीय विकास-कार्य	१५	० ६	१५	० ३
II	सिंचाई तथा शक्ति	६६१	२८ १	९१३	१९ ०
	सिंचाई	३८४	१६ ३	३८१	७ ९
	शक्ति	२६०	११ १	४२७	८ ९
	बाढ नियन्त्रण तथा अन्य योजनाएँ, खोज आदि	१७	० ७	१०५	२ २
III	उद्योग और उत्खनन	१७९	७ ६	८९०	१८ ५
	विशाल और मध्य स्तर उद्योग	१४८	६ ३	६१७	१२ ९
	खनिज विकास	१		७३	१ ५
	ग्राम तथा लघु उद्योग	३०	१ ३	२००	४ १
IV	परिवहन तथा सचार	५५७	२३ ६	१,३८५	२८ ९
	रेलें	२६८	११ ४	९००	१८ ८
	सडकें	१३०	५ ५	२४६	५ १
	सडक परिवहन	१२	० ५	१७	० ४
	पत्तन तथा बन्दरगाह	३४	१ ४	४५	० ९
	नौपरिवहन	२६	१ १	४८	१ ०
	अन्तर्देशीय जल परिवहन	...	...	३	० १
	नागरिक वायु परिवहन	२४	१ ०	४३	० ९

	१	२	३	४	५
	परिवहन के अन्य साधन	३	०·१	७	०·१
	डाक और तार	५०	२२	६३	१३
	संचार के अन्य साधन	५	०·२	४	०·१
	ब्रॉडकास्टिंग	५	०·२	९	०२
V	सामाजिक सेवाएँ	५३३	२२६	९४५	१९·७
	शिक्षा	१६४	७०	३००	६४
	स्वास्थ्य	१४०	५·९	२७४	५७
	आवास	४९	२·१	१२०	२५
	पिछले वर्गों के कल्याण कार्य	३२	१३	९१	१·९
	समाज कल्याण	५	०२	२९	०·६
	श्रम तथा श्रम-कल्याण	७	०३	२९	०·६
	पुनर्वास	१३६	५८	९०	१·९
	शिक्षित वर्ग में बेरोजगारी की समस्या से सम्बन्धित योजनाएँ	...	...	५	०·१
VI.	विविध	६९	३·०	९९	२·१
	कुल योग	२,३५६	१०००	४,८००	१००·०

सरकारी क्षेत्र में उद्योगों तथा उत्खनन के लिए कुल व्यय का १९% रखा गया है। निरपेक्ष रूप से इस क्षेत्र में व्यय ४००% के करीब बढ़ा है। ६९० करोड रु० विशाल उद्योगों के लिए है। २०० करोड रु० लघु उद्योगों के लिए है। परिवहन तथा संचार के लिए कुल व्यय का २०% रखा गया है। सिंचाई तथा शक्ति पर १९% तथा सामाजिक सेवाओं पर २०%।

४,८०० करोड रु० के कुल व्यय में से ३,८०० करोड रु० विनियोजन के लिए है अर्थात् ऐसा व्यय जो उत्पादनात्मक आस्तियों के निर्माण पर होगा। १,००० करोड रु० चालू विकासात्मक खर्चों के लिए है। योजना के पुनर्मूल्यांकन के फलस्वरूप इसकी राशि घटाकर ४,५०० करोड रु० रख दी गई है।

उत्पादन तथा विकास के लक्ष्य—उत्पादन तथा विकास के मुख्य लक्ष्य, जिन्हें द्वितीय योजना में पूरा करना है, इस प्रकार हैं—

उत्पादन तथा विकास के मुख्य लक्ष्य

	क्षेत्र तथा मद	इकाई	१९५५-५६	१९६०-६१	५५-५६ की तुलना में ६०-६१ में प्रतिशत वृद्धि
			२	३	४	५
I	कृषि तथा सामूहिक विकास				
१.	खाद्यान्न	(१० लाख टन)	६५४·०[1]	७५·०	१५
२.	कपास	(„ „ गाँठ)	४२	५·५	३१

1. Relates to the calendar year 1954.

१	२	३	४	५
३ गुड	(१० लाख टन)	५८	७१	२२
४ तिलहन	(„ „ „)	५५	७०	२७
५ जूट	(„ „ गठ)	४०	५०	२५
६ चाय	(„ „ पौंड)	६४४	७००	६
७ राष्ट्रीय विस्तार खण्ड	(संख्या)	५००	३८००	६६०
८ सामूहिक विकास खण्ड	(„)	६२२	११२०	८०
९ राष्ट्रीय विस्तार तथा सामूहिक विकास कार्य क्रम के अंतर्गत जनसंख्या	(१० लाख व्यक्ति)	८०	३२५	३०६
१० ग्राम पचायत	(संख्या हजारों में)	११८	२००	७०
II सिंचाई तथा शक्ति				
१ सिंचाई क्षेत्र	(१० लाख एकड)	६७	८८	३१
२ विद्युत् (लगाई गई क्षमता)	(१० लाख किलोवाट)	३४	६६	१०३
III खनिज				
१. लोह खनिज	(„ „ टन)	४३[1]	१२५	१६१
२. कोयला	(„ „ „)	३८०[2]	६००[2]	५८
IV विशाल स्तरीय उद्योग				
१ तैयार इस्पात	(१० लाख टन)	१३	४३	२३१
२ कच्चा लोहा (लोहा गलाने वाले कारखानों के लिए)	(„)	०३८	०७५	९७
३ अलुमीनियम	(००० टन)	७५	२५०	२३३
४ बिक्री के लिए भारी इस्पात की छड	(००० टन)			
५ बिक्री के लिए भारी इस्पात की चादरें	(००० टन)		१५	
६ इस्पात के तैयार ढांचे	(„)	१८०	५००	१७८
७ मशीनी औजार (श्रेणीबद्ध)	(मूल्य लाख रु० में)	७५	३००	३००
८ सीमेंट मशीन	(„)	५६[1]	२००	२५७
९ चीनी मशीन	(„)	२८[1]	२५०	७७९
१० कपडा मशीन (रूई और जूट)	(„)	४१२	१९५०	३७३

1 Relates to the calendar year, 1954
2 Relates to the calendar year

१	२	३	४	५
११. कागज़ मशीन	(मूल्य लाख रु० में)	...	४००	...
१२. शक्ति-चालित पम्प	(००० टन)	४०	८६	११५
१३. डिजिल इजन	(००० अश्व-शक्ति)	१००	२०६	१०५
१४. ग्राटोमोबाइल	(संख्या)	२५,०००	५७,०००	१२८
१५. रेल इजन	„)	१७५	४००	१२६
१६. ट्रैक्टर (२०-३० DBHP)	(„)	...	३,०००	...
१७. सीमेंट	(१० लाख टन)	४३	१३	२०२
१८. रासायनिक खाद				
(क) नाइट्रोजन युक्त (ग्रमोनियम सल्फेट)	(००० टन)	३८०	१,४५०	२८२
(ख) फास्फेटयुक्त (सुपर फास्फेट)	(„)	१२०	७२०	५००
१९. सलफ्यूरिक एसिड	(„)	१७०	४७०	१७६
२०. सोडा ऐश	„)	८०	२३०	१८८
२१. कास्टिक सोडा	(००० टन)	४६	१३५	२७५
२२. पैट्रोलशोधक कारखाना (कच्चा तैल)	(१० लाख टन)	३६	४३	१९
२३ इलैक्ट्रिक ट्रांस्फॉर्मर ३३ किलोवाट ग्रौर कम	(००० किलोवाट)	५४०	१,३६०	१५१
२४ बिजली केबिल (ACSR कण्डक्टर)	(टन)	९,०००	१८,०००	१००
२५. बिजली की मोटर	(००० अश्व-शक्ति)	२४०	६००	१५०
२६ सूती कपड़ा	(१० लाख गज)	६,८५०	८,५००	२४
२७. चीनी	„	१·७	२·३	३५
२८. कागज़ ग्रौर गत्ता	(००० टन)	२००	३५०	७५
२९ साइकिल (सगठित क्षेत्र)	(००० सख्या)	५५०	१,०००	८२
३० कपड़ा सीने की मशीन (सिर्फ सगठित क्षेत्र)	(„)	११०	२२०	१००
३१. बिजली के पखे	(„)	२७५	६००	११८
४. परिवहन तथा संचार				
(क) रेलें—				
(i) यात्री गाड़ी मील	(१० लाख)	१०८	११४	५१
(ii) भाड़ा	(„ „टन)	१२०	१८१	५१

१		२	३	४	५
(ख) सड़कें					
(i) राष्ट्रीय राजपथ	(००० मील)	१२६	१३८	७	
(ii) कच्ची सड़कें	(„)	१०७०	१२५०	१७	
(ग) नौपरिवहन—					
(i) तटवर्ती तथा समीप को[1]	(लाख GRT)	३२	४३	३४	
(ii) समुद्र-पार का[2]	(„)	२८	४७	६८	
(घ) पत्तन— क्षमता	(१० लाख टन)	२५	३२५	३०	
(ङ) डाक तथा तार—					
(i) डाक घर	(००० सख्या)	५५	७५	३६	
(ii) तार घर	(„)	४६	६३	२८	
(iii) टेलीफोन सख्या	(„)	२७०	४५०	६७	
VI शिक्षा—					
१ स्कूल जाने वाले बच्चे तत्सम्बन्धी आयुवर्ग के बच्चो के प्रतिशत के अनुसार—					
(क) प्राथमिक स्टेज	(६-११ आयुवर्ग)	५१०	६३०	..	
(ख) मिडिल स्टेज	(११ १४ „)	१६०	२२५		
(ग) हायर सेकण्डरी स्टेज	(१४-१७ „)	६४	१२०	..	
२ एलीमेण्टरी बेसिक स्कूल	(लाख)	२६३	३५०	१६	
३ प्राथमिक—मिडिल सेकण्डरी स्कूल के अध्यापक	(सख्या)	१०३	१३४	३०	
४ प्रशिक्षण सस्थाओं मे अध्यापक	(सख्या)	१,१३६	१,४१२	२४	
५ शिक्षक प्रशिक्षण सस्थाओं में	(००० „)	१०३५	१३४२	३०	
VII स्वास्थ्य—					
१ मेडिकल सस्थाएँ	(„)	१०	१२६	२६	
२ अस्पताल (विस्तार)	(„)	१२५	१५५	२४	
३ डाक्टर	(„)	७०	८२५	१८	
४ नर्स	(„)	२२	३१	४१	
५ धाय	(„)	२६	३२	२३	
६ नर्सदाई और दाई	(„)	६	४१	५८३	

अब इन लक्ष्यों के सम्बन्ध में संक्षिप्त टिप्पण दिए जा सकते हैं।

1 Inclusive of tankers
2 Inclusive of tramp tonnage

कृषि—कृषि उत्पाद में १८% वृद्धि की आशा है। लेकिन उपभोग पूर्ति तथा मुद्रा-स्फीति से रक्षा करने के हेतु आयोग ने अपनी कमजोरी मान ली है। इस लक्ष्य की वृद्धि की ओर विचार हो रहा है। सिंचाई सुविधाओं अथवा बीज, रासायनिक खाद तथा कृषि की उन्नत तकनीक के प्रसार से कृषि उत्पाद का स्वरूप बदल जाएगा। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में भी अधिकाधिक सुधार करने पर बल दिया जाएगा। अधिक ध्यान नकदी वाली फसलों तथा सहायक खाद्य जैसे सब्जी, फल, डेरी उत्पाद, मछली, मांस और अण्डों के उत्पादन पर दिया जाएगा। फल तथा सब्जी की खेती के लिए ८ करोड़ रु० की रकम रखी गई है। भूमि उपयोग तथा भूमि प्रबन्ध के संस्थात्मक प्रबन्ध में उन्नति करने का प्रयास भी किया जाएगा। इस कार्य को दक्षता से चलाया जाएगा तथा भूमि पर आश्रित वर्ग के लिए अधिकाधिक सामाजिक न्याय सुनिश्चित किया जाएगा।

अतिरिक्त खाद्य-उत्पादन का लक्ष्य १०० लाख टन है, अर्थात् १९५५-५६ में ६५० लाख टन तथा १९६०-६१ में ७५० लाख टन की तुलना में १५% वृद्धि, जिससे खाद्यान्न का उपभोग प्रतिदिन प्रति प्रौढ़ व्यक्ति मौजूदा १७.२ औंस से बढ़कर १८.३ औंस हो जाए। कपास (३१%), गन्ना (२२%), तिलहन (२७%) तथा जूट (२५%) के वृद्धि की आशा है।

कृषि उत्पादों में वृद्धि के लिए अपनाए गए कार्यक्रमों में सिंचाई सुविधाओं, तथा सिंचाई के अधीन २१० लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि लाने के कार्य को प्राथमिकता दी जाएगी। नाइट्रोजनयुक्त रासायनिक खाद का उपयोग १९५५ में ६ लाख १० हजार टन से बढ़कर १९६०-६१ में १८ लाख टन हो जाएगा। ६३,००० एकड़ भूमि के लिए ३,००० बीज सुधारक फार्म स्थापित किए जाएंगे। तथा ३४० लाख एकड़ भूमि को कृषि योग्य बनाने और सुधार का कार्यक्रम हाथ में लिया जाएगा।

पशु-पालन तथा मत्स्य क्षेत्रों के लिए ६८ करोड़ रु० का उपबन्ध किया गया है। प्रथम योजना में २६ करोड़ रु० का उपबन्ध था। प्रथम योजना के अन्तर्गत ६०० मूल ग्राम तथा १५० कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र स्थापित किए गए। इनकी संख्या को बढ़ाकर क्रमशः १,२५८ तथा २४५ करना है। साथ ही पशु-चिकित्सालयों की संख्या २,००० से बढ़ाकर २,६५० की गई। द्वितीय योजना में इनकी कुल संख्या ३,६०० हो जाएगी। योजना के अन्तर्गत ३६ नागरिक दुग्धपूर्ति संघ, १२ सहकारी क्रीम क्षेत्र तथा ७ दूध सुखाने के यन्त्र लगाने का विचार है।

द्वितीय योजना में सहकारिता, मार्केटिंग तथा गोदामों के लिए ४७ करोड़ रु० का उपबन्ध है। यह अनुमान लगाया गया है कि द्वितीय योजना के अन्त तक सहकारी एजेंसियाँ अतिरिक्त माल के १०% का आदान-प्रदान कर सकेंगी। साथ ही अधिकाधिक बल देश में विनियमित मार्केट विस्तार पर दिया जा रहा है। योजना के अन्त तक ऐसी मण्डियों की संख्या दुगुनी हो जाएगी।

सामूहिक विकास तथा राष्ट्रीय विस्तार कार्यक्रम के लिए २०० करोड़ रु० का उपबन्ध किया गया है। और द्वितीय योजना के अन्त तक समस्त देश इन योजनाओं के अन्तर्गत आ जाएगा। ग्राम क्षेत्रों में सहयोगी जीवन को बढ़ावा देने के

लिए ग्राम पचायतो के विकास को तीव्र करने का प्रस्ताव है। प्रथम योजना में उनकी सख्या ८३,००० से बढकर १,१७,००० हुई। द्वितीय योजना में इनकी सख्या २,४/००० होने की आशा है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए योजना ने १२ करोड रु० का उपबन्ध किया है।

प्रथम योजना म सिंचाई क्षेत्र ५१० लाख एकड से बढकर ६७० एकड हुआ। जैसा कि बताया जा चुका है द्वितीय योजना की अवधि म २१० लाख एकड अतिरिक्त भूमि पर सिंचाई होन लगेगी। इसम से १२० लाख एकड भमि विशाल तथा मध्यम योजनाओ, ६० लाख एकड लघ सिंचाई योजनाओ के अधीन होगी। पूरा होने पर, मुख्य और मध्यम श्रेणी की योजनाओ की सिंचाई शक्ति (द्वितीय योजना काल में) १५० लाख एकड होगी। द्वितीय योजना म मध्यम श्रेणी की सिंचाई योजनाओ पर अधिक बल देने का विचार है। द्वितीय योजना में १८८ सिंचाई योजनाओ म से किसी भी योजना पर ३० करोड रु० स अधिक व्यय होने की आशा नहीं है। ३,५८१ नल-कूपो पर २० करोड रु० व्यय करने का प्रस्ताव है। इससे ६ १६,००० एकड भूमि पर सिंचाई सुविधाओ का उपबन्ध होगा।

प्रथम योजना म शक्ति उत्पादन की सस्थापित क्षमता १५ लाख किलोवाट बढी है और द्वितीय योजना म यह क्षमता ३५ लाख किलोवाट होने का अनुमान है। देश में बिजली के उपभोग में उत्तरोत्तर वृद्धि होगी—१९५०-५१—१४ इकाई, १९५५-५६—२५० इकाई तथा १९६० ६१—५० इकाई। इसका उद्देश्य १०,००० अथवा अधिक आबादी वाले सभी कस्बो को बिजली देना है तथा ५ ००० और १०,००० के बीच आबादी वाले कस्बो में ८५% तक बिजली देना है। गाँवो में बिजली देने के कायक्रम के लिए ७५ करोड रु० का उपबन्ध किया गया है। बिजली पाने वाले गाँवो की सख्या १९५६ म ५,३०० से बढकर १९६० में १३ ६०० होगी। सरकारी क्षेत्र मे कुल सस्थापित क्षमता १९५०-५१ मे ६ लाख किलोवाट से बढकर १९६०-६१ म ४३ लाख किलोवाट होगी। सरकारी क्षत्र म कुल विनियोजन १९५० ५१ में ४० करोड रु० से बढकर १९५५-५६ म २७० करोड रु० तथा १९६०-६१ मे ६८० करोड रु० होगा।

उद्योग—प्रथम योजना म सरकारी क्षत्र मे विशाल स्तरीय उद्योगो की स्थापना के लिए ९४ करोड रु० का कुल उपबन्ध किया गया। जबकि नए विनियोजन का प्राक्कलित कायक्रम (सरकारी क्षेत्र म) २२३ करोड रु० है। द्वितीय योजना में विशाल उद्योगो तथा उत्खनन के लिए ६९० करोड रु० का उपबन्ध है (वैज्ञानिक गवेषणा सहित)। इसकी अनुकूल तुलना गैरसरकारी क्षेत्र म अनुमानित ५७५ करोड रु० विनियोजन से होती है। व्यावहारिक रूप स विशाल उद्योगो तथा उत्खनन पर ६९० करोड रु० के होने वाल कुल व्यय का उद्देश्य मूल उद्योगो – जैसे लोहे और इस्पात, कोयला, रासायनिक खाद, इजीनियरिंग तथा बिजली क भारी उपकरण—का विकास करना है। द्वितीय योजना की अवधि म रूरकेला, भिलाई तथा दुर्गापुर म १० लाख टन क्षमता के तीन इस्पात के कारखाने स्थापित किए जाएँगे। मैसूर आयरन तथा स्टील वर्क्स में इस्पात के उत्पादन में १,००,००० टन विस्तार करने का प्रस्ताव

है। द्वितीय योजना के अन्त तक सरकारी क्षेत्र के समस्त कारखानों से तैयार इस्पात का उत्पादन २० लाख टन होने का अनुमान है। चितरंजन फैक्ट्री का विस्तार करना है जिससे इसकी उत्पादन-क्षमता (१९५६) १२५ को बढ़ाकर ३०० इंजन प्रतिवर्ष किया जाए। इंटीग्रल कोच फैक्ट्री १९५५ में चालू हुई। यह १९५८ तक ३५० कोच प्रतिवर्ष तैयार करेगी।

खनिज के उत्पादन में ५८% वृद्धि की आशा है। कोयले का उत्पादन (१९५६) ३८० लाख टन है। इसमें २२० लाख टन अतिरिक्त वृद्धि की आशा है। नागल तथा रूरकेला नामक स्थानों पर दो अन्य रासायनिक खाद के कारखाने खोलने का विचार है। सिन्दरी कारखाने के विस्तार से उसमें १,१७,००० टन नाइट्रोजन पैदा होने लगेगा। डी० डी० टी०, हिन्दुस्तान केबिल, हिन्दुस्तान ऐंटिबायटिक तथा इण्डियन टैलीफोन उद्योग जो प्रथम योजना में पूरे किए गए थे, उनका विस्तार किया जाएगा। दूसरा डी० डी० टी० कारखाना त्रिवाकुर-कोचीन में स्थापित किया जाएगा। राज्यों की योजनाओं में दुर्गापुर (पश्चिमी बंगाल); कोक प्लांट तथा इसूनेटर एण्ड ट्रांस्फारमर (चीनी) कारखाना, मैसूर, वर्णन योग्य है।

गैरसरकारी क्षेत्र में लोहा और इस्पात, सीमेंट उद्योग, अलुमीनियम, फेरो-मैंगनीज, रीफैक्ट्रीज, मशीन उत्पादन, रसायन उद्योग, सूती कपड़ा, जूट का माल आदि के विस्तार करने का इरादा है। सीमेंट का उत्पादन ४३ लाख टन से बढ़ा कर १३० लाख टन करना है। सोडा ऐश का उत्पादन तीन गुना तथा कॉस्टिक सोडे का उत्पादन चार गुना बढ़ाना है। सूती कपड़े का उत्पादन २४% बढ़ाना है अर्थात् ६८,५०० लाख गज के बढ़ाकर ८५,००० लाख गज। चीनी के उत्पादन में ३५% वृद्धि करना है। कागज और गत्ते का उत्पादन दुगुना करना है। वनस्पति तेलों का १६ लाख टन से २१ लाख टन करना है। कारखानों द्वारा तैयार माल में ६४% वृद्धि करनी है। ग्राम तथा लघु उद्योगों के विकास के लिए २०० करोड़ रु० का उपबन्ध किया गया है। इसमें से ४६.५ करोड रु० हाथकरघा उद्योग के लिए, ५५ करोड रु० लघु-स्तरीय उद्योग तथा ५.५५ करोड रु० खादी तथा अन्य कुटीर उद्योगों के लिए रखा गया है।

परिवहन तथा संचार—परिवहन तथा संचार के लिए १,३८५ करोड रु० रखा गया है। इसमें से ९०० करोड रु० रेलों के लिए हैं। इसके अलावा रेल विभाग २२५ करोड रु० सामान्य परिवर्तन पर व्यय करेगा। माल यातायात में ५०% वृद्धि का अनुमान है अर्थात् १९५५-५६ में १,२०० लाख टन से १९६०-६१ में १,८१० लाख टन। योजना में यात्री यातायात में ३% प्रतिवर्ष वृद्धि का उपबन्ध है। रेलों के कामों में कार्यक्षमता बढ़ाने तथा सुधार करने पर बड़ा जोर दिया जाएगा। रेल विभाग की योजना में १,६०७ मील लम्बे मार्ग पर दोहरी पटरी बिछाई जाएगी, २६५ मील को मीटर गेज से ब्रॉड गेज किया जाएगा। ८२६ मील का मार्ग बिजली की रेलों द्वारा चलने वाला होगा, १,२९३ डिजिल से, ८४२ मील लम्बी नई लाइन बिछाई जाएगी तथा ८,००० मील की बेकार लाइनों का उद्धार किया जाएगा।

३६२ करोड़ रु० का उपबन्ध सड़क तथा सड़क-परिवहन के लिए किया गया

है। ६६ करोड़ रु० नौपरिवहन, पत्तन, बन्दरगाह तथा अन्तर्देशीय जल-परिवहन के लिए। नागरिक वायु परिवहन के लिए ४३ करोड़ रु० का। ७६ करोड़ रु० ब्रॉडकास्टिंग, डाक तथा तार तथा अन्य सचार-साधनों के लिए है। नागपुर योजना में (१६४३) वर्णित लक्ष्य (सड़कों की लम्बाई मीलों में) १६६०-६१ तक पूरा हो जाएगा। राज्य सरकारें इसमें ५,००० बसों की वृद्धि करेंगी। मुख्य पत्तनों की क्षमता में ३०% वृद्धि की जाएगी। छोटी पत्तनों की क्षमता म भी वृद्धि की जाएगी। जहाजों की क्षमता म (प्रथम योजना के अन्त म) ६,००,००० (GRT) से बढ़ाकर द्वितीय योजना के अन्त म ६,००,००० (GRT) की जाएगी। ६,००,००० (GRT) टूट फूट के लिए छोड़ा जाएगा। हिन्दुस्तान शिपयार्ड का विस्तार करने का अनुमान है तथा विशाखापट्टनम में ड्राई डॉक बनाया जाएगा। इण्डियन एयर लाइन्स कार्पोरेशन तथा एयर इण्डिया इन्टरनेशनल अतिरिक्त जहाज खरीदने के कार्यक्रम बना चुके हैं जिससे सचालन कार्य म सुविधा हो। प्रथम योजना में डाकघरों म ३६,००० से ५५,००० वृद्धि हुई। द्वितीय योजना के अन्त तक डाकखानों की सख्या ७५,००० होने की आशा है। योजना में टैलीफोनों के लिए ६७% वृद्धि का उपबन्ध है अर्थात् २,७०,००० से ४,५०,०००।

सामाजिक सेवाएँ—सामाजिक सेवाओं के लिए ६४५ करोड़ रु० का उपबन्ध किया गया है अर्थात् प्रथम योजना के उपबन्ध से दोगुना। शिक्षा तथा औषधि विकास पर बल देने के साथ-साथ औद्योगिक श्रम, विस्थापित तथा अन्य अल्प अधिकार-प्राप्त वर्गों की वृद्धि का उपबन्ध किया गया है। प्रस्तावित लक्ष्यों के आधार पर ६३% बालक ६ से ११ आयु वर्ग के तथा २२.५% ११-१४ आयु-वर्ग के बालकों के लिए मुफ्त, आवश्यक प्राथमिक शिक्षा का उपबंध किया गया है। इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए ५३,००० प्राथमिक स्कूल तथा ३,५०० मिडिल स्कूलों की स्थापना करना जरूरी होगा। सेकण्डरी स्टेज पर पाठ्यक्रम के विकरण के लिए द्वितीय योजना के अन्त तक १,२०० बहु-उद्देश्यीय स्कूलों की स्थापना करनी होगी। प्रथम योजना के अन्त म २५० बहु-उद्देश्यीय स्कूल स्थापित हुए। इजीनियर स्नातकों की सख्या १६५५ में ३,००० से बढ़कर १६६० मे ५,४८० होगी। डाक्टरों, नर्सों तथा स्वास्थ्य सहायकों की पूर्ति म क्रमशः १८ ४१ और ७५% वृद्धि करने का प्रस्ताव है। परिवार आयोजन के लिए ४ करोड़ रुपये का उपबन्ध किया गया है।

निर्माण, आवास तथा पूर्ति मत्रालय की आवास योजनाओं के लिए १२० करोड़ रु० का उपबन्ध किया गया है। द्वितीय योजना म सरकारी प्राधिकारियों द्वारा १३ लाख रिहायशी इकाई निर्माण करना है। श्रम, कल्याण केन्द्र, प्रशिक्षण, कामदिलाऊ दफ्तरों की योजना पूरी करने के लिए २६ करोड़ रु० का उपबन्ध है। विस्थापित व्यक्तियों के पुनर्सस्थापन के लिए ६० करोड़ रु० का उपबन्ध किया गया।

प्रगति की गति—राष्ट्रीय आय म वृद्धि से विभिन्न क्षेत्रों में होने वाले विकास का अन्दाज लगेगा। द्वितीय योजना में राष्ट्रीय आय २०% बढ़ने की आशा है। अर्थात् १६५५-५६ मे १०,८०० से १६६०-६१ म १३,४८० रु०। राष्ट्रीय आय की घरेलू बचत ७% से १०% होने की आशा है।

द्वितीय योजना-काल में, कृषि को छोड़कर, अतिरिक्त रोजगार में ८० लाख वृद्धि का अनुमान है। सभी क्षेत्रों में विकास को ध्यान में रखकर योजना के अन्तर्गत श्रम-शक्ति में वृद्धि (१ करोड़) के अनुरूप मांग में वृद्धि होने की आशा है।

द्वितीय योजना में वित्त-पोषण को लीजिए। केन्द्र तथा राज्यों के विकास कार्यक्रमों के लिए ४,८०० करोड़ रु० की जरूरत होगी। इस राशि को निम्न रूप से इकट्ठा किया जाएगा।

		(करोड़ रु०)
१	चालू राजस्वों का आधिक्य	८००
(क)	(१९५५-५६) मौजूदा कराधान दर पर	३५०
(ख)	अतिरिक्त कराधान	४५०
२	जनता से ऋण लेकर	१,२००
(क)	मार्केट ऋण	७००
(ख)	लघुबचत	५००
३.	अन्य बजट स्रोत	४००
(क)	विकास कार्यक्रम के लिए रेल विभाग का अंशदान	१५०
(ख)	भविष्य निधि तथा अन्य निक्षेप निधियाँ	२५०
४	बाह्य स्रोतों में वृद्धि से	८००
५.	घाटे की वित्त-व्यवस्था	१,२००
६	खाई—घरेलू स्रोतों में अतिरिक्त उपायों को अपनाने से पूर्ति करना।	४००
	कुल योग	४,८००

बजट स्रोतों को, जिन्हें केन्द्र तथा राज्य सरकारें द्वारा कराधान, ऋण और अन्य प्राप्तियों द्वारा एकत्रित किया जा सकता है, की कुल राशि २,००० करोड़ होगी। घाटे की वित्त-व्यवस्था द्वारा १,२०० करोड़ रुपये पूरा करने का सुझाव है। ८०० करोड़ रुपये विदेश स्रोतों से लिया जाएगा। सरकारी क्षेत्र में योजना के कार्यक्रमों को लागू करने के लिए ४,४०० करोड़ रुपये की राशि बनती है। इस प्रकार ४०० करोड़ रुपये की कमी रहती है। इसे अतिरिक्त घरेलू स्रोतों से पूरा किया जाएगा। इस प्रकार जो सम्भावित स्रोत शेष बचता है, वह है कराधान तथा सम्भाव्य सीमा तक सरकारी उद्यमों से होने वाले लाभ।

प्रथम दो वर्षों में योजना को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इसीलिए १९५८ के बीच में योजना का कुल व्यय ४,८०० करोड़ रुपये से घटाकर ४,५०० करोड़ रुपये कर दिया गया। जैसा कि डा० जान मथाई ने कहा है, द्वितीय योजना देश की आवश्यकताओं की दृष्टि से तो हल्की है, लेकिन उपलब्ध ससाधनों की दृष्टि से बहुत भारी है।

प्रश्न ५—**द्वितीय पचवर्षीय योजना की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए। यह प्रथम पचवर्षीय योजना से किस प्रकार भिन्न है?** (आगरा, १९५९)

Q 5—Examine the broad features of the Second Five Year Plan In what essential re pects does it differ from the First Five Year P an ? *(Agra 1959)*

(योजना के आलोचनात्मक मूल्यांकन के लिए प्रश्न ६ का उत्तर देखिए।)

प्रथम तथा द्वितीय योजना की तुलना—प्रथम योजना बहुत हल्की थी। द्वितीय योजना बहुत भारी है। प्रथम योजना म सरकारी क्षेत्र म २ २४४ करोड रुपय की व्यवस्था की गई थी और १ ६६० करोड रुपये खच किया गया था। इसके विप रीत द्वितीय पचवर्षीय योजना म ४८०० करोड रुपय की व्यवस्था की गई थी जिसे बाद म घटाकर ४ ५०० करोड रुपये कर दिया गया था।

प्रथम पचवर्षीय योजना म प्रगति की गति भी धीमी थी। प्रथम योजना में ११% राष्ट्रीय आय का वद्धि का लक्ष्य रखा गया था जब कि द्वितीय योजना म वह २५ प्रतिशत है।

वास्तव म प्रथम योजना को योजना नही कहा जा सकता। वह केन्द्रीय एव राज्य सरकारो के विविध कायक्रमो की एक माला सी थी। इसक विपरीत द्वितीय योजना एक सुनिश्चित और सुसम्बद्ध योजना ह।

प्रथम तथा द्वितीय योजनाओ का मख्य अतर यह है कि प्रथम योजना मे कृषि पर ज्यादा जोर दिया गया था जब कि द्वितीय योजना म उद्योगो पर ज्यादा जोर दिया गया है। पहली योजना में सरकार ने उद्योगो के लिए कुल व्यय का ८ ४% निर्धारित किया था जब कि द्वितीय योजना म यह राशि १६ ४% है।

द्वितीय योजना म सरकारी क्षेत्र क विकास पर ज्यादा जोर दिया गया है। प्रथम योजना म सरकारी और गर सरकारी क्षत्रो का अनुपात ५० ५० था जब कि द्वितीय योजना म वह ६१ ३९ है।

प्रश्न ६—द्वितीय पचवर्षीय योजना की मुख्य विशेषताओं या आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

Q 6—Attempt a critical apraisal of the main features of the Second Five-year Plan

(नोट—यह प्रश्न इस आधार पर चलता है कि परीक्षार्थी को द्वितीय योजना की मुख्य विशेषताओ का पहले स ही ज्ञान हो। इस प्रश्न म योजनाओ का मुख्य विशेषताओ की आलोचनात्मक परीक्षा करनी चाहिए।)

द्वितीय योजना की एक मुख्य विशेषता यह है कि इसम औद्योगिक विकास पर विशेष बल दिया गया है। भारत जैसे देश म जहा उद्योगो की हालत बहुत पिछडी हुई है यह उचित ही है कि उद्योगो पर विशेषकर भारी उद्योगो और मशीन बनाने वाले उद्योगो पर विशेष रूप से जोर दिया जाए। योजना के निर्माता ओ ने इसी बात को अपने ध्यान म रखते हुए द्वितीय योजना के अन्तगत औद्योगिक विकास पर बहुत जोर दिया है।

लकिन ऐसे उद्योग रोजगार की दृष्टि से विशष उपयोगी नही होते। भारत म बेरोजगारी बहुत अधिक है। बेरोजगारी की समस्या कुटीर उद्योगो और छोट

पैमाने के उद्योगों द्वारा ही सुलभ सकती है। फलतः योजना में इन उद्योगों को भी उचित महत्त्व दिया गया है।

लेकिन योजना के इस पहलू की आलोचना की जा सकती है। कुटीर तथा लघु-स्तर के उद्योग घटिया किस्म की तकनीकों का प्रयोग करते हैं। वे आर्थिक दृष्टि से भी लाभकर नहीं होते। उनकी बिक्री के लिए सरकार मिलों के ऊपर तरह-तरह की पाबन्दियाँ लगाती है। उसे इन उद्योगों को आर्थिक सहायता भी देनी पड़ती है। यह व्यर्थ का अपव्यय है और इससे समाज के ऊपर अनुचित प्रभाव पड़ता है।

द्वितीय योजना में उपभोक्ता वस्तुओं को निचला दर्जा दिया गया है। इससे सामान्य वस्तुओं की कीमतें बढ़ गई हैं। देश की वर्तमान वित्तीय व्यवस्था को देखते हुए यह बेहतर होता कि कुटीर तथा लघु उद्योगों को इतना महत्त्व नहीं दिया जाता। इन उद्योगों के प्रति योजना में बहुत कुछ भावात्मक नीति अपनाई गई है। योजना में भारी उद्योगों पर भी इतना जोर देने की जरूरत नहीं थी। इसकी जगह उपभोक्ता वस्तु उद्योगों पर अधिक जोर देना अच्छा रहता।

यह भी मालूम पड़ता है कि योजना में उद्योगों पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया गया है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि कृषि के ऊपर कम जोर देना योजना की एक अन्य दुर्बलता है। भारत अविकसित देश है। यहाँ की जन-संख्या निरन्तर बढ़ रही है। देश में खाद्यान्न की अक्सर कमी रहती है। ऐसी स्थिति में कृषि पर भी ज्यादा जोर देने की जरूरत है।

उपलब्ध साधनों की दृष्टि से भी द्वितीय योजना बहुत अधिक महत्वाकांक्षी है। इसमें विदेशी विनिमय साधनों के अर्जन और विविध प्रशासनिक कठिनाइयों की ओर उचित ध्यान नहीं दिया गया। यही कारण है कि योजना के प्रारम्भिक वर्षों में ही विदेशी विनिमय साधनों के सम्बन्ध में हम भारी कठिनाई का सामना करना पड़ा।

योजना की रोजगार सम्बन्धी नीति भी सन्तोषजनक नहीं है। योजना की अवधि समाप्त होने तक भारत में बीस लाख लोग बेरोजगार हो जायेंगे। योजना इस समस्या की ओर उचित रूप से सक्रिय नहीं है। योजना की रोजगार सम्बन्धी नीति के बारे में आगे के पृष्ठों को देखिए।

प्रश्न ७—भारत की द्वितीय पंचवर्षीय योजना की वित्तीय व्यवस्था की परीक्षा कीजिए। (पूना ५७; पटना ५७ पूरक; महिला विश्वविद्यालय पूना ५८)

Q. 7—Review critically the methods of financing India's Second Five-Year Plan.

(*Poona 1957 ; Patna 1957 Suppl., Women's University Poona, 1958*)

(नोट—योजना की वित्तीय व्यवस्था के लिए द्वितीय योजना के पहले प्रश्न को देखिए। इस प्रश्न में इस व्यवस्था की समालोचना होगी।)

द्वितीय योजना की एक मुख्य विशेषता यह है कि इसके निर्माण में योजना आयोग ने वित्तीय व्यवस्था की अपेक्षा भौतिक लक्ष्यों की ओर अधिक ध्यान दिया था। उसने सबसे पहले योजना के भौतिक लक्ष्य निर्धारित किए, बाद में उसकी वित्तीय

व्यवस्था के बारे में विचार किया। नीचे हम वित्तीय व्यवस्था के विभिन्न साधनों की जाँच करते हैं।

कराधान—वर्तमान राजस्व में ८०० करोड रु० का अतिरेक है इसमें से ४५० करोड रु० अतिरिक्त कराधान से आने की आशा है, शेष ३५० करोड रु० वर्तमान कराधान से प्राप्त होंगे। यह अतिरेक कहाँ से आएगा ?

इस अतिरेक को प्राप्त करने का मूल उपाय यह है कि विकास व्यय के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी। यह वृद्धि करों के रूप में राज्य सरकारों को प्राप्त करनी चाहिए। यह तभी हो सकता है जबकि भारतीय कर-व्यवस्था में उचित संशोधन किए जाएँ। जैसे जैसे योजना का व्यय बढ़ता जाएगा निम्न वर्ग के लोगों की आय में वृद्धि होगी। इन लोगों से ही अधिक कर वसूल किए जाने चाहिएँ। कराधान जाँच आयोग ने सिफारिश की थी कि जनसाधारण के उपभोग की वस्तुओं पर परोक्ष कर लगने चाहिएँ। साथ ही विलास की वस्तुओं पर भी भारी कर लगने चाहिएँ। आयोग ने यह भी सिफारिश की थी कि धनिक वर्ग पर वैयक्तिक आयकर, पूँजी कर, व्यय कर तथा लाभांश कर लगने चाहिएँ।

द्वितीय योजना में कृषि के क्षेत्र में आय काफी बढ़ जावेगी। इस समय ग्रामीण क्षेत्रों में नागरिक क्षेत्रों की अपेक्षा कम व्यय है। अतः यह आवश्यक है कि ग्रामीण क्षेत्रों में परोक्ष कर लगाए जाएँ। साथ ही यह भी आवश्यक है कि जिन क्षेत्रों में योजना से विशेष लाभ हो रहा हो, वहाँ एक विशेष प्रकार का कृषि कर अथवा विकास-कर लगाया जाए।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना की अवधि में केन्द्रीय कर-व्यवस्था में उपर्युक्त आधार पर संशोधन कर दिया गया है। संघीय उत्पादन शुल्कों पर अधिक जोर दिया गया है। फलतः, जहाँ १९५५-५६ में संघीय उत्पादन शुल्कों से १४५ करोड रु० की आय हुई थी, वहाँ १९५९-६० के बजट में इनसे ३०७ करोड रु० की आय होगी। लेकिन, राज्य सरकारें बदनामी के भय से इस प्रकार के कर नहीं लगा रही हैं। ऐसी स्थिति में यह प्रतीत होता है कि कराधान द्वारा वांछित राशि प्राप्त नहीं हो सकेगी।

ऋण—प्रस्ताव है कि १,२०० करोड रु० जनता से ऋण लेकर प्राप्त किया जाए। बाजार ऋण, भविष्य निधियों और राष्ट्रीकृत जीवन बीमा निगम से ७०० करोड रु० प्राप्त हो जाएँगे। शेष राशि लघु बचतों द्वारा प्राप्त होगी। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए भारी प्रयत्नों की आवश्यकता होगी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में घाटे की अर्थ-व्यवस्था से १,२०० करोड रु० प्राप्त करने का विचार है। यह राशि बहुत अधिक है।

किसी भी अविकसित देश में जहाँ द्रुत विकास हो रहा हो, घाटे की अर्थ-व्यवस्था आवश्यक हो जाती है। यह बुरी भी नहीं है। मुख्य प्रश्न यह है कि विकास व्यय के फलस्वरूप वस्तुओं का उत्पादन कितनी तेजी से बढ़ जाता है। यदि उत्पादन संतोषजनक रीति से चलता है, तो घाटे की अर्थ-व्यवस्था से कोई हानि नहीं हो सकती।

यदि किसी प्राकृतिक आपदा के फलस्वरूप फसल पैदा न हो, तो भारत में घाटे की अर्थ-व्यवस्था बहुत भयानक हो सकती है। भारत में पिछले वर्षों में ऐसा कई

बार हुआ है और इसके कारण देश को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है।

द्वितीय योजना के अंतिम दो वर्षों के लिए घाटे की अर्थ-व्यवस्था १०० करोड़ रु० प्रति वर्ष के हिसाब से रखी गई है। भारत में इस समय कीमतें काफी तेज हैं। फिर मजदूरी वृद्धि की भी मांग जोर पकड़ रही है। ऐसी स्थिति में घाटे की अर्थ-व्यवस्था का अधिक आश्रय लेना ठीक नहीं रहेगा।

बाहरी सहायता—योजना-निर्माताओं का विचार था कि १,१०० करोड रु० बाहरी ससाधनों से प्राप्त किया जा सकता है। इनमे से ८०० करोड रु० तो नई बाहरी सहायता के रूप मे, १०० करोड रु० गैर-सरकारी क्षेत्र में विदेशी विनियोजन से और २०० करोड रु० हमारे पौण्ड पावने से प्राप्त हो सकता है।

आर्थिक विकास की प्रक्रिया मे विदेशी सहायता सदैव उपयोगी हुआ करती है। लेकिन इस बात का सदैव निश्चय नहीं रहता कि विदेशी सहायता प्राप्त हो ही जाएगी।

निष्कर्ष—सब मिलाकर हम कह सकते हैं कि योजना का आकार बहुत बड़ा था तथा देश ने अपने सामने एक बहुत कठिन कार्य रखा था। इसलिए, यदि योजना को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। उसका व्यय ४,८०० करोड़ रु० से घटा कर ४,५०० करोड रु० कर दिया गया। तृतीय योजना का निर्णय करते समय हमें इससे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

प्रश्न ८—द्वितीय पंचवर्षीय योजना के कार्यकरण का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

Q. 8—*Give a brief account of the working of the Second Five* Year Plan.

अभी तो द्वितीय पचवर्षीय योजना चल ही रही है। अतः उसका विवरण अधूरा ही रहेगा। द्वितीय योजना के कार्यकरण का सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि उसे प्रारम्भ से ही गम्भीर कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। कुछ कठिनाइयां आन्तरिक थी और कुछ बाहरी। बाहरी कठिनाइयां मुख्य रूप से विदेशी मुद्रा की थीं। आन्तरिक कठिनाइयाँ मुख्य रूप से मँहगाई बढ जाने और खाद्य-स्थिति के बिगड जाने की थीं। १९५८ के बीच मे यह स्पष्ट हो गया था कि योजना पर मूल प्रस्थापना के अनुसार ४,८०० करोड रु० खर्च नहीं किए जा सकेंगे। फलतः, यह राशि घटाकर ४,५०० करोड रु० कर दी गई। योजना आयोग के एक हाल के सर्वेक्षण के अनुसार योजना के पहले चार वर्षों में ३,५५० करोड रु० खर्च होगा। ४,५०० करोड रु० योजना के अन्त तक खर्च हो सकेगा।

अब हम अर्थ-व्यवस्था के मुख्य क्षेत्रों में की गई उन्नति को देख सकते हैं।

कृषि—प्रथम योजना म खाद्य-उत्पादन में जो वृद्धि हुई थी, वह कायम नहीं रह सकी। खाद्य-उत्पादन १९५५-५६ में ६५ ८ मिलियन टन हुआ था। १९५६-५७ में वह ६८ ७ मिलियन टन हुआ था। १९५७-५८ म वह घटकर ६२ मिलियन टन ही रह गया। इससे खाद्य-स्थिति बिगड गई। सौभाग्यवश, १९५८-५९ में खाद्य-उत्पादन फिर बढ गया। यह ७३ ३ मिलियन टन था।

उद्योग—औद्योगिक उत्पादन की भी वृद्धि कम हुई है। १९५५ में इसका

सूचक अंक १२२.४ था। १९५६ में वह बढ़कर १३२.६ हुआ। १९५७ और १९५८ में वह क्रमशः १३७.३ तथा १३९.४ ही रहा। १९५८ में सूती वस्त्रों का उत्पादन बहुत कम हो गया था, जिसकी वजह से यह सूचक अंक नीचा रहा है। फिर भी इस बीच में कई नए उद्योगों की स्थापना हुई है। सरकार ने इस्पात के तीन कारखानों की स्थापना की है। औद्योगिक मशीन उद्योगों का भी विकास हो रहा है।

योजना के अन्य कार्यक्रमों की उन्नति का मूल्यांकन करने में बहुत जगह घिर जाएगी। सामुदायिक विकास परियोजनाओं की चर्चा की जा सकती है। जनवरी, १९५९ तक ३ लाख गाँव और ८६ प्रतिशत जनसंख्या अर्थात् १६५ मिलियन लोग इसकी परिधि में आ गए थे।

जहाँ तक वृद्धि की गति का प्रश्न है, पहले साल में तो राष्ट्रीय आय में ५% वृद्धि हुई थी, लेकिन दूसरे साल अच्छी फसल न होने के कारण यह आय कम हो गई। १९५८-५९ में ६.८% की वृद्धि हुई है। इस प्रकार योजना के पहले तीन वर्षों में कुल १०.४% की वृद्धि हुई है। *योजना के अन्तिम वर्ष तक के लिए लक्ष्य २५%* वृद्धि का है।

त्रुटियाँ—योजना की मुख्य त्रुटि खाद्यान्नों के उत्पादन के सम्बन्ध में रही है। जितना खाद्यान्न उत्पन्न होता है वह देश की आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर पाता। हमें प्रायः प्रतिवर्ष ही विदेशों से खाद्यान्नों का आयात करना पड़ता रहा है। १९५८-५९ में १५६ करोड़ रु० का अन्न बाहर से मँगाना पड़ा था।

सरकार ने जिन क्षेत्रों में सिंचाई की नई सुविधाएँ प्रदान की हैं, उनका पूरी तरह से *उपयोग नहीं हो सका है। इसका कारण यह है कि नालियों आदि का ठीक* प्रबन्ध नहीं हुआ था।

लघु तथा कुटीर उद्योगों का कार्य बड़ा असन्तोषजनक रहा है। हाथकरघा उद्योग इसका एक उदाहरण है। यह इसलिए और भी आश्चर्यजनक है कि सरकार ने इस उद्योग को काफी सहायता दी है।

द्वितीय योजना में सरकार के भरसक प्रयत्नों के बावजूद बेरोजगारी बढ़ती ही जा रही है। अनुमान लगाया गया है कि जब योजना प्रारम्भ हुई थी, ५३ लाख लोग बेरोजगार थे, *लेकिन जब योजना समाप्त होगी, ७० लाख लोग बेरोजगार हो जाएँगे।*

योजना का एक लक्ष्य यह है कि आय की विषमताओं को कम किया जाए। तथापि शहरी क्षेत्रों में इस क्षेत्र में कोई प्रगति नहीं हुई है।

सामुदायिक विकास योजनाएँ और राष्ट्रीय विकास सेवा

(Community Development Projects and National Extension Service)

योजना और सामुदायिक विकास योजनाएँ—प्रस्तुत योजना के रचयिताओं ने महसूस किया कि सरकार के साधन सीमित हैं इसलिए विकास की प्रगति में ऐसे कार्यक्रमों द्वारा वृद्धि की जा सकती है कि जो विभिन्न क्षेत्रों में सामुदायिक कार्यों और सामुदायिक यत्नों को विस्तार दे सकें। फलस्वरूप सामुदायिक विकास योजनाएँ

और राष्ट्रीय विकास सेवा क्योंकि उस रूप के थे, अत. उन्हें अन्तिम योजना में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए निर्धारित किया गया। तो अब हम उनका विस्तृत अध्ययन करते हैं।

प्रश्न ६—हाल ही में आरम्भ की हुई सामुदायिक विकास योजनाओं पर संक्षिप्त प्रस्ताव लिखें।

Q. 9—Write a brief essay on the Community Development projects launched recently.

भारत में २ अक्तूबर, १९५२ को सामुदायिक विकास योजनाओं का उदय हुआ था। ये ग्रामीण-पुनर्वास की नवीन विधि हैं। यह तो नहीं कहा जा सकता कि गत ३० वर्षों में ग्राम-सुधार के लिए कोई यत्न ही नहीं किए गए, किन्तु उनमें कतिपय ऐसी भीषण बुराइयाँ थीं कि जिससे वे अपने उद्देश्य की प्राप्ति में विफल हुए। सामुदायिक विकास योजनाओं की श्रेष्ठता (इस शब्द को अमरीका से लिया गया है) उन घातक दोषों से बचने में निहित है। वह किस प्रकार किया जाता है, यह इन योजनाओं के विशिष्ट अंगों से सर्वथा स्पष्ट हो जाएगा।

उनके मुख्य अंग—प्रथम हम इन योजनाओं के मुख्य अंगों का संक्षेप में उल्लेख करेंगे और उपरान्त देखेंगे कि किस प्रकार उन्हें वस्तुतः उनमें स्थान दिया गया है। प्रथम, पूर्व समय में हमारे यत्न अत्यधिक महान् क्षेत्र में फैले हुए थे, क्योंकि उनकी चेष्टा सम्पूर्ण देश पर छा जाने की होती थी। वे सफल नहीं हुए, इसमें कोई आश्चर्य भी नहीं। फलतः, हाल ही में आरम्भ की हुई सामुदायिक विकास योजनाओं का प्रथम अंग यह है कि वे केन्द्रीभूत यत्न के लिए कुछेक चुने हुए क्षेत्रों तक ही सीमित हैं। "ऐसा करने का यह आशय नहीं कि शेष की उपेक्षा कर दी जाए, किन्तु तुलनात्मक छोटे क्षेत्र में केन्द्रीभूत ढंग से लघु आरम्भ के द्वारा सफलता का निश्चय करना है और उनके बाद उन्हें स्वत. बाकी देश में फैला देना है।"

दूसरे, और इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण अंग अथवा, हम जिसे सामुदायिक विकास योजनाओं का सिद्धान्त कह सकते हैं, यह है कि ये ग्राम-जीवन के बहु-दिशी विकास के लिए यत्नशील हैं। यह उन पूर्व यत्नों से सर्वथा भिन्न है जिनमें ग्राम-जीवन के भिन्न पहलुओं को एक-दूसरे से सर्वथा अलग रखते हुए उन्नत करने की चेष्टा की जाती थी। जैसा कि कृषि पर शाही कमीशन ने कहा भी था, "कृषि-सुधार की समस्या वस्तुत भारतीय ग्राम-जीवन के सुधार की समस्या है और इसे समग्र रूप में ही हृदयगत करना होगा। इस प्रकार चूँकि ग्राम-जीवन के सभी तथ्य निकट रूप में अन्तर-सम्बन्धित हैं, इसलिए प्रभावी और सही केवल यही विधि होगी कि ग्राम-जीवन की सब समस्याओं पर एक ही समय में और एक-दूसरे के साथ समुचित सहयोग में आक्रमण किया जाए। सामुदायिक विकास योजनाओं की यही ठीक-ठीक कार्य-शैली है।

तीसरे, और समान रूप में महत्त्वपूर्ण अंग वह महान् बल है जो ये योजनाएँ स्वत. ग्राम-जनता से आने वाली ग्राम-विकास की भावनाओं पर देती हैं। पूर्व के यत्न में उन्नति कार्यक्रम प्राय अधिकारियों या लोकोपकारी संस्थाओं द्वारा जनता के सिर मढ़े जाते थे, किन्तु जब तक किसान में स्वतः ही अपनी निजी दशा

को उन्नत करने का उत्साह और निश्चय न हो तब तक स्थायी परिणाम प्राप्त नहीं किए जा सकते। जैसा कि इन योजनाओं के स्वतः नाम से ही प्रकट होता है इन सामुदायिक विकास योजनाओं का सार अपनी सहायता करने के लिए जनता की सहायता करना है।

चौथे ये योजनाएं एकाकी बहुउद्देशीय साधन की व्यवस्था करती हैं जो सीधे किसानों के घर तक पहुँचने वाला है। पूर्व योजना की व्यवस्था में न केवल यह कि विभिन्न विकास विभाग साझे उद्देश्यों की भावना के बिना एक दूसरे से स्वतन्त्र रूप में कार्य करते थे प्रत्युत इनमें से प्रत्येक अपने निजी अफसरों द्वारा दृष्टिकोण से ग्रामीण तक पहुँचता था और यह उस प्रत्येक विभाग का निम्नतम अधिकारी होता था जो कि वस्तुतः ग्रामीण के सम्पर्क में आता था। सभी विभागों का यह निम्नतम अधिकारी अपर्याप्त रूप में शिक्षित और ग्रामीण का पथ-प्रदर्शन करने के अयोग्य होता था। राष्ट्रीय विकास सेवा की स्थापना द्वारा इस बुनियादी त्रुटि से मुक्ति पा ली गई है।

पाँचवें उनकी सफलता के आश्वासन के लिए पर्याप्त टैक्निकल और प्रोद्योगिक व्यवस्था की गई है। पूर्व योजना में इस प्रकार के यन्त्रों की बड़ा भारी कमी रही है। जैसा कि हम अभी देखेंगे अमरीकी सरकार से उपलब्ध सहायता इस त्रुटि पर विजय पाने में पर्याप्त सहायक हुई है।

अब हम इन योजनाओं के वास्तविक संगठन और कार्यक्रम का अध्ययन करेंगे विशेषतः उस सही स्वरूप पर बल देते हुए कि जिसमें उल्लिखित अंगों का निवेश किया गया है।

संगठन—ये योजनाएं स्थूल रूप से दो प्रकार की हैं अर्थात् (१) बुनियादी योजनाएँ और (२) मिश्रित योजनाएँ। बुनियादी योजनाओं में जिन सम्बन्धित क्षेत्रों में कुछ कार्य के साथ साथ जैसे सार्वजनिक स्वास्थ्य शिक्षा सड़क निर्माण कृषि उत्पादन में वृद्धि करने पर मुख्यतः बल देना है। सामान्यतया प्रत्येक योजना में लगभग ३०० ग्राम होते हैं जिनकी जनसंख्या दो लाख क्षेत्रफल ५०० वर्गमील और कृषि अधीन भूमि एक लाख पचास हजार एकड़ होती है। सम्पूर्ण योजना क्षेत्र तीन विकास गुट्टों में बटा होता है प्रत्येक गुट्ट में प्रायः १०० ग्राम होते हैं। सरकार द्वारा आरम्भ की गई प्रत्येक योजना में तीन वर्ष के लिए ६५ लाख रु० का सरकारी व्यय स्थिर किया गया है।

मिश्रित योजनाओं और गुट्टों में कृषि के अलावा छोटे उद्योगों के विकास पर भी बल दिया गया है। इस उद्देश्य के लिए एक शहरी केन्द्र की व्यवस्था की गई है और वह उस क्षेत्र में विकास के लिए अग्रदूत का कार्य करेगा। उद्योगों का विकास नीलोखेड़ी और फरीदाबाद योजनाओं के स्वरूप पर किया जाएगा। स्वभावतः ही इस प्रकार की योजनाओं में सरकारी व्यय अधिक होगा।

अभी हाल तक इन परियोजनाओं का कार्य तीन क्रमों में चलता था। सबसे पहले खण्ड या ब्लाक राष्ट्रीय विकास सेवा के अधीन तीन वर्ष तक कार्य करता था। इस अवधि में कुछ कम विशद कार्य होता था। इसके बाद तीन साल तक विशद रीति

से विकास कार्य होता था। इसके बाद खण्ड उत्तर-विशद क्रम (post-intensive stage) में पहुँचता था। १६५८ में राष्ट्रीय विकास सेवा और सामुदायिक परियोजनाओं का अन्तर हटा दिया गया तथा दो क्रमों का ढाँचा चालू किया गया। अब पहले पाँच सालों तक विशद विकास कार्य होता है। बाद में दूसरी अवस्था शुरू होती है तथा पाँच साल तक काम चलता है। दूसरी अवस्था में कम खर्च किया जाता है। पहली अवस्था में १२ लाख रु० तथा दूसरी अवस्था में ५ लाख रु० खर्च होते हैं। पहली अवस्था प्रारम्भ होने से पहले १ वर्ष तक के लिए खण्ड पूर्व-विस्तार क्रम (pre-extension phase) में रहता है। इस अवधि में केवल कृषि के विकास पर ही जोर दिया जाता है। किसी क्षेत्र में वास्तविक कार्यक्रम प्रारम्भ करने से पहले गाँव वालों से सफाई आदि के छोटे-छोटे कार्य कराए जाते हैं।

प्रत्येक योजना के लिए योजना-मुख्य कार्यालयों में एक योजना प्रबन्धक अधिकारी और प्रत्येक गुट्ट में एक गुट्ट विकास अधिकारी की नियुक्ति की गई है। उनके साथ कृषि, पशु-चिकित्सा और पशु-पालन, सहकारिता और पंचायतों, सामाजिक शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, सड़क, इंजीनियरिंग आदि के लगभग बारह प्रौद्योगिक विशेषज्ञ सम्बद्ध हैं। उनका कर्त्तव्य पारस्परिक परामर्श द्वारा विस्तृत विकास के कार्यक्रम तैयार करना है।

जो भी हो, चार-पाँच ग्रामों के एक समूह के लिए, ऐसे कार्यक्रम को प्रभावी करने के लिए एक ग्राम-स्तर कार्यकर्त्ता अथवा ग्राम-सेवक नियत किया गया है जिसे नियुक्ति से पूर्व कृषि, पशु-पालन और ग्राम-जीवन से सम्बन्धित अन्य विषयों और विकास-विधियों में उचित प्रशिक्षण दिया जाता है। इस ग्राम-सेवक को अपने अधीन ग्रामीणों के साथ निरन्तर सम्पर्क में रहना होता है और विकास कार्यक्रम को पूर्ण करने में ग्रामीणों की सहायता करनी होती है। उसे उनका मित्र, उपदेष्टा और पथ-प्रदर्शक बनना होता है और इस प्रकार वह अपने क्षेत्र में सम्पूर्ण योजना का अग्रदूत होता है। संक्षेप में वह बहु-उद्देश्यीय व्यक्ति है और उसके कार्य को संकीर्ण विभागीय दिशाओं में निर्धारित या क्रियाशील नहीं किया जाता। निःसंदेह, हमें समझ लेना चाहिए कि वह चमत्कारपूर्ण कार्यकर्त्ता नहीं है। विपरीततः वह योजना मुख्य कार्यालयों में स्थित प्रौद्योगिक विशेषज्ञों से पथ-निर्देश और सूचनाएँ प्राप्त करता है। सार रूप में यह सम्पूर्ण प्रणाली राष्ट्रीय विकास सेवा है जिसने अमरीका और इंग्लैंड जैसे देश में कृषि-विकास के लिए आश्चर्यजनक कार्य किए हैं।

इस सम्पूर्ण कार्य में सामाजिक यत्न और विकास के सारे काम में भाग लेने के लिए उत्साहित करना होता है। इसके आश्वासन के लिए, प्रत्येक योजना-क्षेत्र में एक योजना-सलाहकार कमेटी है जो विकास के भिन्न कार्यक्रमों के आयोजन के समय सलाह देती है और जन-सहयोग का आयोजन करती है। विकास गुट्टों और ग्रामों में भी यथाक्रम उसी स्वरूप का अनुगमन किया जाता है। इसी प्रकार, कार्यकारी स्तर में जनता के भाग लेने के आश्वासन के लिए भी व्यवस्थाएँ की गई हैं। इस उद्देश्य से स्वेच्छापूर्वक अंशदान के न्यूनतम स्तरों को निश्चित किया गया ये नकद,

जिन्स या स्वेच्छापूर्वक श्रम के रूप में हो सकते हैं। भारत सेवक समाज से आशा की जाती है कि वह ग्रामीणों में स्वेच्छापूर्वक यत्न करने का आयोजन कर सकेगा।

उनके कार्यक्रम (Their Programmes)—सामुदायिक विकास योजनाओं में कार्यकलाप के मुख्य क्षेत्र कृषि और उससे सम्बन्धित विषय, संचार, शिक्षा, स्वास्थ्य, पूरक नियोजन, गृह-निर्माण, प्रशिक्षण और सामाजिक कल्याण हैं। कृषि कार्यक्रम में छोटे सिंचाई-कार्य सम्मिलित हैं जिन पर कुल निवेश का एक तिहाई खर्च किया जाएगा। इसके बाद खाद है—रासायनिक या द्रव्य अथवा दोनों का मिश्रण। प्राप्ति में वृद्धि के लिए किसान को उन्नत बीज और उन्नत उपकरणों के साथ कृषि की उन्नत विधियों की व्यवस्था करनी होगी। इन सब दिशाओं में, वैज्ञानिक खोज के परिणामों का उपयोग करने की चेष्टा करनी होगी। ग्राम-जनसंख्या की अन्य महत्त्वपूर्ण समस्याएँ उनके व्यवसाय के मौसमी तथा अस्थिर स्वभाव के कारण उनके अपूर्ण नियोजन सम्बन्धी हैं। इसे ग्राम उद्योगों के विकास पर बल देने से पूरा किया जाएगा।

चूंकि समाज का पूर्ण विकास शक्तिपूर्ण शिक्षा सम्बन्धी आधार और स्वास्थ्य कार्यक्रम के बिना सफल नहीं हो सकता, इसलिए इसके विषय में निश्चित प्रबन्ध और संगठन योजना कार्यक्रमों के अखंडित भाग हैं। सड़क कार्यक्रम भी अत्यावश्यक है। इसे इस ढंग से तैयार किया जाएगा कि योजना के अन्तर्गत प्रत्यक गाँव मुख्य सड़क के साथ जुड़ जाए। इन सहायक सड़कों को ग्रामीणों के श्रमदान से बनाना होगा।

संक्षेपतः, लोगों को अनुप्रेरित करना होगा और उनके उत्साह को पूर्ण जीवन और तत्सम्बन्धी आवश्यक उपाजन के लिए कार्यान्वित करना होगा। इस तरह वह देश में लाखों ग्रामीणों के सामाजिक और आर्थिक जीवन को रूपान्तरित करने का साधन है।

प्रशासन और वित्त प्रबन्ध—केन्द्रीय सामुदायिक विकास मन्त्रालय (दिसम्बर, १९५८ से सामुदायिक विकास तथा सहकार मन्त्रालय) इस कार्यक्रम का प्रधान निर्देशक है। बुनियादी नीति के मामले सामुदायिक विकास की केन्द्रीय समिति के अधीन हैं जिसमें योजना कमीशन के सदस्य भी सम्मिलित हैं। कार्यक्रमों को क्रियान्वित करना राज्य सरकारों की जिम्मेदारी है। प्रत्यक राज्य में इस कार्यक्रम का प्रधान वहाँ का विकास आयुक्त है। उप-आयुक्त जिला नियोजन तथा विकास समिति का प्रधान होता है। वह जिले में योजनाओं को पूरा करने के लिए उत्तरदायी है।

वित्त—सामुदायिक विकास कार्यक्रम का वित्तपोषण केन्द्रीय सामुदायिक विकास मन्त्रालय, राज्य सरकारों और अमरीका के टैक्नीकल कोआपरेशन मिशन से प्राप्त सहायता द्वारा होता है। प्रथम योजना में इसके लिए ९६.५ करोड़ रुपए रखे गए थे, लेकिन इस पर कुल ५२ करोड़ रुपए खर्च किए गए थे। द्वितीय योजना में इस पर २०० करोड़ रुपये खर्च करने का विचार है। इस कार्यक्रम को क्रियान्वित करने में जनता से भी सहायता प्राप्त होती है।

उनकी अब तक की प्रगति (Their Progress so far)—२ अक्तूबर, १९५२

—गांधी जयन्ती के उपलक्ष में—को ५५ सामुदायिक विकास-योजनाओं का श्रीगणेश किया गया था। इन योजनाओं के प्रथम वार्षिक समारोह—२ अक्तूबर, १९५३—पर ५५ और सामुदायिक विकास-योजनाओं को आरम्भ किया गया, और साथ ही २५१ राष्ट्रीय विकास सेवा गुट्ट आरम्भ किए गए। इसके बाद से उनकी संख्या बराबर बढ़ती रही है। १९५९ के प्रारम्भ में उनकी संख्या २,४०५ थी। उनके अन्तर्गत तीन लाख गाँव और १६५ मिलियन लोग आते थे। अक्तूबर, १९६३ के अन्त तक सारे देश में विकास खण्डों का जाल-सा बिछ जाएगा।

तथापि इस कार्यक्रम को आशानुरूप सफलता नहीं मिली है। ३० सितम्बर, १९५८ तक इस कार्यक्रम की मुख्य सफलताएँ इस प्रकार थीं।

(१) कृषि—३·९ करोड़ मन रासायनिक उर्वरक बाँटे गए। १·६ करोड़ मन सुधरे हुए बीज बाँटे गए। ५०,००० खाद के गढे खोदे गए। ११·८ लाख अच्छे औजार वितरित किए गए।

(२) सहकार—१·३ लाख सहकारी समितियों की स्थापना की गई। ८८ लाख सदस्य बनाए गए।

(३) सामाजिक शिक्षा—३० लाख प्रौढ़ों को साक्षर बनाया गया। ४५,००० वाचनालय खोले गए। १ लाख सामुदायिक केन्द्र चालू किए गए।

(४) स्वास्थ्य तथा स्वच्छता—१·३ लाख पीने के पानी के कुएँ खोदे गए। २ लाख कुओं की मरम्मत कराई गई। १९ करोड़ गज नालियाँ बनाई गईं।

(५) संचार—७९ हजार मील लम्बी सड़कें बनाई गईं। ९१ हजार मील लम्बी वर्तमान कच्ची सड़कों का सुधार किया गया। ५१ हजार मेहराबदार नालियों का निर्माण किया गया।

(६) जनता का अंशदान—नकदी श्रम तथा वस्तुओं के रूप में वह कुल ६६ करोड़ है जब कि सरकार ने कुल १०३ करोड़ रुपये खर्च किया है।

७५ केन्द्र ग्राम सेवकों, २७ ग्राम सेविकाओं, १४ सामाजिक शिक्षा संगठन-कर्ताओं और ६ खण्ड विकास अधिकारियों के प्रशिक्षण के लिए खोले गए हैं। इसी तरह उच्च श्रेणियों के व्यक्तियों के लिए भी प्रशिक्षण केन्द्र खोले गए हैं।

निष्कर्ष—ऊपर के विवरण से ज्ञात हो जाता है कि सामुदायिक विकास-योजनाएँ अत्यधिक महत्त्वाकांक्षी आयोजन हैं, और साथ ही, देश के करोड़ों ग्रामीणों के चहुँमुखी सुधार के क्षेत्र में सर्वथा नवीन एवं वैज्ञानिक यत्न हैं। तिस पर ये योजनाएं औद्योगिक प्रगति के लिए शक्तिपूर्ण आधार प्रदान करेंगी। देश की वर्तमान योजना में उनका कार्यभाग अत्यधिक मूल्यवान है। हमें ज्ञात है कि सार्वजनिक विनियोग के लिए राज्य के पास अपने निजी साधन सीमित हैं। इसलिए, विकास की विधियाँ बेहतर होंगी, जिनसे स्वेच्छापूर्वक सामाजिक यत्न और सामाजिक कार्यों को अनुप्रेरणा हो सके। उसके लिए इन योजनाओं पर निर्भर किया जा सकता है। निःसन्देह, इसका प्रारम्भिक रूप तो अत्यधिक लघु है किन्तु समय पाकर और ईमानदारी के साथ यत्न करने से यही लघु बात इतनी महान् एवं विशाल बन जाएगी कि ग्रामीण भारत की काया ही सर्वथा पलट जाएगी।

प्रश्न १०—भारत में सामुदायिक विकास परियोजनाओ के कार्यकरण का मूल्यांकन कीजिए। उनकी मुख्य दुर्बलताएँ बताइये तथा त्रुटियो को दूर करने के सुझाव दीजिए।

Q 10—Critically assess the working of Community Development Projects in India bringing out their chief weakness Offer your suggestions for removing these defects

जिस समय सामुदायिक विकास परियोजनाएँ प्रारम्भ की गई थी, उनसे बडी-बडी आशाए थी। विचार था कि वे देश मे एक नूतन क्रान्ति करेगी। अब उन्हे प्रारम्भ हुए सात वर्ष बीत चुके हैं। हमारे लिए उचित होगा कि हम उनकी सफलताओ और विफलताओ का मूल्याकन कर सकें।

सफलता—सामुदायिक विकास परियोजनाओ को कुछ सफलता अवश्य प्राप्त हुई है। आन्दोलन की प्रारम्भिक कठिनाइयो पर विजय प्रात कर ली गई है, सभी श्रेणियो के कर्मचारियो के प्रशिक्षण का प्रबन्ध हो गया है, कृषि और स्थानीय निर्माण-कार्य के क्षेत्र मे भौतिक लक्ष्यो को काफी हद तक प्राप्त किया जा चुका है तथा जनता अब इस बात को अच्छी तरह समझ गई है कि द्रुत सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन करने की आवश्यकता है।

विफलता तथा दुर्बलताएँ—योजना आयोग ने एक पृथक् कार्यक्रम मूल्याकन सगठन (Programme Evaluation Organisation) की स्थापना की है जो सामुदायिक परियोजनाओ का निरन्तर मूल्याकन करता रहता है। यह सगठन नियमित रूप से वार्षिक प्रतिवेदन प्रकाशित करता है जिससे परियोजनाओ के कार्यकरण के बारे मे विस्तृत जानकारी उपलब्ध होती है। १९५७ मे बलवन्तराय मेहता समिति ने सामुदायिक परियोजनाओ एव राष्ट्रीय सेवाओ के बारे में एक विशद प्रतिवेदन प्रस्तुत किया था। इन प्रतिवेदनो ने कार्यक्रम की निम्नलिखित दुर्बलताओ की ओर विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट किया है—

(१) अधिकाश गाँवो मे कार्यक्रम योजनानुसार पूरा नही हुआ है। जहाँ कृषि के क्षेत्र मे उन्नति हुई है, सिंचाई, भूमि-सुधार और चकबन्दी जैसी अन्य महत्त्व-पूर्ण मदें अधूरी रह गई हैं।

(२) कुटीर उद्योगो तथा स्कूलो, पचायतो और सहकारी समितियो के क्षेत्र में निराशाजनक कार्य रहा है।

(३) अब भी लोग सरकार की सहायता और उत्प्रेरणा पर बहुत अधिक निर्भर है। उनमें अपने पैरों पर खडे होने की भावना नहीं आने पाई है।

(४) विभिन्न राज्यो एव एक ही राज्य के विभिन्न क्षेत्रो की उन्नति एक दूसरे से काफी भिन्न रही है।

(५) कार्यक्रम की एक अन्य असफलता यह है कि इसके लाभ असमान रहे हैं। जो पहले से ही अच्छी माली हालत में थे, उनकी माली हालत और भी अच्छी हो गई है।

(६) पिछले दिनो में लोक कल्याणकारी कार्यों पर आर्थिक विकास की

अपेक्षा अधिक जोर दिया जाता रहा है। बेहतर यह होता कि आर्थिक विकास पर ज्यादा बल दिया जाता।

(७) सामुदायिक विकास के कार्य में लगी हुई विभिन्न संस्थाओं में सहयोग की मात्रा सन्तोषजनक नहीं रही है।

(८) विस्तार सेवा के कर्मचारियों के प्रशिक्षण का प्रबन्ध भी अपर्याप्त है।

सुधार के लिए सुझाव—बलवन्तराय मेहता समिति की मुख्य सिफारिशों का अनुसरण करते हुए हम निम्नलिखित सुझाव देते हैं—

(१) सरकार के ऊपर अत्यधिक निर्भरता को कम करने के लिए और लोगों को स्वावलम्बी बनाने के लिए "लोकतन्त्रात्मक विकेन्द्रीकरण" (Democratic Decentralization) होना चाहिए। इस कार्य के लिए पंचायत समिति नामक एक नई संस्था की स्थापना होनी चाहिए जो जिले में विकास कार्यों के लिए उत्तरदायी हो। यह विकास खण्ड के बराबर विस्तृत होनी चाहिए और गांव पंचायतों से परोक्ष निर्वाचनों द्वारा गठित होनी चाहिए। तीन श्रेणियों का संगठन होना चाहिए—आधार में गाँव पंचायत, खण्ड धरातल पर पंचायत समिति और जिला धरातल पर जिला परिषद्।

(२) इस समय ग्राम सेवक सामुदायिक विकास परियोजना में मुख्य व्यक्ति है। उसे अपने सर्किल में गाँव पंचायत या पंचायत समिति का सचिव बन जाना चाहिए।

(३) अब लोक कल्याणकारी कार्यों की जगह आर्थिक विकास पर ज्यादा जोर दिया जाना चाहिए।

(४) उन कार्यक्रमों को पहले हाथ में लिया जाना चाहिए जो व्यक्तियों को नहीं, प्रत्युत व्यक्ति-समूहों को लाभ पहुँचाएँ। इससे गाँवों में व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना कम होगी तथा सामूहिक भावना का विकास होगा।

(५) परिवर्तन की गति बहुत तेज नहीं होनी चाहिए। वह ऐसी होनी चाहिए जिसे गाँव के लोग निर्धारित समय में व्यावहारिक समझते हों।

(६) बहु-प्रयोजनीय सहकारी समितियों की स्थापना पर जोर दिया जाना चाहिए।

(७) परियोजना क्षेत्रों में विकास कार्य करने वाली विभिन्न संस्थाओं में ज्यादा अच्छा सहयोग होना चाहिए।

(८) सामुदायिक परियोजना के कर्मचारियों के चुनाव और प्रशिक्षण की ओर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए।

निष्कर्ष—सरकार इन विभिन्न दुर्बलताओं से अपरिचित नहीं है। वह इन्हें दूर करने के विभिन्न सुझावों पर विचार कर रही है। उसने बलवन्तराय मेहता समिति की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया है तथा उन्हें धीरे-धीरे क्रियान्वित किया जा रहा है।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यद्यपि विकेन्द्रीकरण को लागू कर देना सुगम है, लेकिन व्यवहार में उसका क्रियान्वीकरण बहुत कठिन है। पंचायत समितियाँ

अपने दायित्वों को ठीक से पूरा कर सकेंगी या नहीं, इसमें हमें संदेह है। तथापि हमें सामुदायिक विकास परियोजनाओं की सफलता के लिए पूरा प्रयास करना चाहिए।

प्रश्न ११—भारत की राष्ट्रीय विकास सेवा पर व्याख्यात्मक टिप्पणी लिखें।

Q 11—Write an explanatory note on India's National Extension Service.

जबकि सामुदायिक विकास-योजनाएँ ग्राम-पुनर्वास की एक विधि हैं, किन्तु राष्ट्रीय विकास सेवा साधन है। अधिक अन्न उपजाओ (१९५२) सम्बन्धी कृष्णमाचारी कमेटी ने सिफारिश की थी कि समूचे देश भर में ऐसी सेवा की स्थापना की जाए—इसका रूप अमरीका इंगलैण्ड तथा अन्य देशों की 'विकास' या 'परामर्शात्मक' सेवाओं के समान होना चाहिए। यह सेवा प्रत्येक किसान तक पहुँचाई जाएगी और समग्र रूप में ग्राम-जीवन के विकास में सहायक होगी।

अब तक सरकार ग्राम-जीवन में सुधार के लिए अपने भिन्न विकास-विभागों द्वारा यत्न कर रही थी किन्तु उनमें से हरेक साझी उद्देश्य की भावना के बिना कार्य करता था और इस तरह पारस्परिक सहयोग का अभाव था। उपरान्त, प्रत्येक विभाग अपने निजी अफसराना ढंग से ग्रामीणों के पास पहुँचता था और यह प्रत्येक विभाग का निम्नतम अधिकारी होता था जो कि वास्तविक किसान के सम्पर्क में आता था। वह बहुधा अपने कार्य में अदक्ष एवं असम्पन्न होता था, जिससे प्राप्त लाभ सर्वथा निराशापूर्ण होते थे। इसके अतिरिक्त, सामाजिक उद्देश्यों के लिए सामाजिक यत्नों की अनुप्रेरणा और जनता का निजी उत्साह उत्पन्न करने की चेष्टा नहीं की जाती थी। ऐसी दशा में, आश्चर्य नहीं कि कृषि एवं ग्राम-जीवन की व्यवस्था पिछड़ी हुई बनी रहे।

ग्राम विकास सेवा का विचार या सिद्धान्त उपर्युक्त घातक दोषों का उपचार करने के लिए है। एक ताल्लुका या तहसील को—जिसमें प्रायः १०० से १२० तक कार्यों का संयोजन होगा—विकास उद्देश्यों के लिए लिया जाएगा, किन्तु केन्द्रीभूत यत्न ५ से १० ग्राम के समूहों में अथवा अकेले एक ग्राम में ही किए जाएँगे।

इसका संगठन निम्न रूप का होगा—एक तहसील या ताल्लुका विकास-गुट होगा और एक गुट्ट विकास अधिकारी उसके लिए नियुक्त किया जाएगा। ६ प्रौद्योगिक विकास-अधिकारी उसके सहायक होंगे—कृषि, पशु पालन, सहकारिता तथा पंचायतों, इंजीनियरिंग, सामाजिक शिक्षा के लिए (दो एक पुरुष और एक स्त्री) तथा १० ग्राम सेवक। यह संगठन एक दल के रूप में कार्य करेगा, निरन्तर एक दूसरे के साथ परामर्श करते रहने और प्राप्त अनुभवों का आदान प्रदान करते हुए किसानों के साथ निकटतम सम्पर्क स्थापित करेंगे और उनके मित्र एवं पथ निर्देशक बनेंगे। इस सम्पूर्ण संगठन का अग्रदूत ग्राम स्तर का कार्यकर्ता होगा, जिसे ग्राम सेवक कहते हैं। यही ग्राम सेवक किसान के द्वार तक सन्देश-वाहन करेगा। वह बहु उद्देश्यीय व्यक्ति होगा, जो किसानों का कृषि तथा सब सम्बन्धित विषयों में पथ निर्देश करेगा। विपरीततः वह न केवल गुट्ट-मुख्य कार्यालयों में स्थित विकास अधिकारियों द्वारा निर्देशित होगा, प्रत्युत नियुक्ति से पूर्व उसे अपने कर्त्तव्यों और विकास विधियों में

पर्याप्त प्रशिक्षण भी दिया जाएगा। ५ से १० ग्रामों के लिए एक ग्राम-सेवक नियत होगा।

कृषि विषयक उन्नत कलाओं के सम्बन्ध में लोगों को आदेश देने तथा इन क्षेत्रों में गवेषणा सम्बन्धी परिणामों को उन तक पहुँचाने के अलावा, 'विकास-संगठन' के अन्य महत्त्वपूर्ण कर्तव्य ये भी हैं—स्थानीय सहयोग प्राप्त करना, स्थानीय स्वतः प्रेरणा के कार्यों को प्रोत्साहित करना, सामाजिक कार्य-कलापों में वृद्धि करना और यह देखना कि ग्रामों की विशाल उपयोग-हीन शक्ति का समाज के लाभ हित कार्यों में समावेश किया जाता है। चूँकि सहकारिता सिद्धान्त, अपने विभिन्न रूपों में, ग्राम-जीवन की सब समस्याओं का निराकरण खोज निकालने की क्षमता रखता है, इसलिए विकास संगठन को प्रत्येक ग्राम या ग्रामों के समूह में एक बहु-उद्देश्यीय समिति स्थापित करनी होगी, जिसमें, प्रायः प्रत्येक किसान-परिवार का प्रतिनिधित्व होगा।

२ अक्तूबर, १९५३ को राष्ट्रीय विकास-सेवा, प्रथमावस्था में, सब राज्यों में चुने हुए २५१ खण्डों में आरम्भ की गई थी। निःसन्देह, विकास-कार्यक्रम को पूर्वतः १९५२ में आरम्भ की गई सामुदायिक विकास-योजनाओं तथा २ अक्तूबर, १९५३ को इन खण्डों के साथ-साथ अन्यों में भी प्रचलित किया गया है। १९५८ से सामुदायिक परियोजनाओं तथा राष्ट्रीय विकास सेवा के अन्तर को समाप्त कर दिया गया है। १ जनवरी, १९५९ तक विकास सेवा २,४०५ खण्डों में लागू हो गई थी। इसके अन्तर्गत तीन लाख गाँव और १६५ मिलियन लोग (भारत की ५९% जनसंख्या) आते थे। अब अक्तूबर, १९६३ के अन्त तक सारे देश में विकास सेवाओं का जाल बिछ जाएगा।

चूँकि विकास-सेवा की सफलता अधिकांशतः ग्राम-सेवकों पर निर्भर करती है, इसलिए उनके प्रशिक्षण के लिए समुचित प्रबन्ध किए गए हैं और उन्हें अधिक विस्तृत किया जा रहा है। अन्य कर्मचारियों के प्रशिक्षण के लिए भी व्यवस्था की जा रही है।

चहुँमुखी ग्राम-विकास के अतिरिक्त, कुशल एवं अकुशल कर्मकरों के लिए विकास सेवा में रोज़गार की दिशा में भी पर्याप्त सम्भाव्यताएँ हैं। यह अनुमान किया गया है कि ३,४८,९१७ कुशल कारीगरों की विभिन्न सूचियों में प्रत्यक्षतः आवश्यकता होगी। इसके अलावा, स्वतः कृषि-सुधार भी ग्राम-नियोजन में महान् अभिवृद्धि करेगा।

पंचवर्षीय योजना और नियोजन
(Five-Year Plan and Employment)

प्रस्तुत योजना के मुख्य उद्देश्यों में यह है कि नियोजन के वृद्धिपूर्ण अवसर प्रदान किए जाएं। इस योजना में निवेशित बड़े और छोटे सिंचाई-कार्य, वृहत् स्तर पर भूमि-सुधार की योजनाएँ, और ग्राम-उद्योगों का पुनरुदय और विकास ग्राम-अनियोजन के भार का कम करने में सहायक होंगे। शहरी अनियोजन, जो समान रूप में संकटपूर्ण है, विद्यमान वृहत्-स्तर के उद्योगों के प्रस्तावित विस्तार और नए उद्योगों

के प्रारम्भ से कम हो जाएगा। लघु-स्तर के उद्योगों के विकास के प्रस्ताव शिक्षित मध्य-वर्गों में अनियोजन कम करने में सहायक होंगे। शिक्षितों में अनियोजन को कम करने की दिशा में और अधिक सुझाव भी उपस्थित किए गए हैं। हम आगे देश में अनियोजन की समस्या पर विचार करते समय इन तथा अन्य समस्याओं का विस्तार-पूर्वक अध्ययन करेंगे।

भारत में अनियोजन (Unemployment in India)—अनियोजन पूंजीवादी समाजों का प्राय विश्व व्यापी रूप है—केवल सीमा और कारण ही एक से दूसरे देश में भिन्न होते हैं। भारत में सदैव भीषण अनुपात में अनियोजन और साथ ही साथ अपूर्ण अनियोजन रहा है। निःसन्देह द्वितीय विश्व-युद्ध ने इसकी प्रबलता को पर्याप्त रूप में कम कर दिया था, किन्तु उसके भयंकर रूप एक बार पुनः प्रकट हो गए हैं। जबकि उन्नत औद्योगिक देशों में अनियोजन अधिकांशतः औद्योगिक श्रमिक को प्रभावी करता है किन्तु हमारे यहाँ भारत में इसके तीन प्रकार हैं—(क) कृषि अनियोजन, (ख) औद्योगिक अनियोजन (ग) शिक्षित वर्गों में अनियोजन अथवा मध्य वर्गी अनियोजन।

जहाँ इनमें से प्रत्येक के अपने निजी विलक्षण कारण हैं, वहाँ जनसंख्या वृद्धि की वेगपूर्ण दर, और उसके साथ साथ आर्थिक विकास की आनुक्रमिक दर में कमी इनका अन्तर्निहित सामान्य कारण है। इसी तरह जबकि इन भिन्न प्रकारों के लिए भिन्न औपचारिक उपाय आवश्यक होंगे, किन्तु जनसंख्या वृद्धि की दर में कमी और आर्थिक विकास के अनुपात में वृद्धि उनके निराकरण की सवमान्य मूल दिशाएं होंगी। दुर्भाग्यवश, हाल ही के मासों में, अनियोजन ने भयंकर रूप धारण कर लिया है। तो हमें इस अनियोजन की सीमा और उसके कारणों तथा उसे दूर करने के उपायों के विषय में तनिक विस्तार से विचार करना चाहिए।

प्रश्न १२—भारत में बेरोजगारी की वर्तमान स्थिति का वर्णन करें। इसका परीक्षण करें तथा उन मुख्य दिशाओं पर सुझाव दें, जिनके आधार पर इससे मुक्ति हो सकती है। (पटना, पंजाब १९५४)

Q 12 Give an idea of the present state of unemployment in India Account for it and suggest the main lines on which to relieve it (*Patna, Punjab 1954*)

सीमा (Extent) हाल ही के मासों में, बेरोजगारी के 'दूषण' ने एक बार पुनः अपना विकराल रूप प्रकट किया है और यह इतना भयंकर रूप धारण कर गई है कि इसे वर्तमान में देश का शत्रु नं० १ समझा जाने लगा है। जहाँ तक इसकी सही-सही सीमा का सम्बन्ध है इसके लिए हमारे पास किसी प्रकार के विश्वस्त आँकड़े नहीं हैं किन्तु इससे सम्बन्धित तथ्य को प्रमाणित करने के लिए इनकी अत्यावश्यकता है। जो आँकड़े उपलब्ध हैं, वह केवल काम दिलाऊ दफ्तरों द्वारा उपस्थित किए गए हैं किन्तु वे भी केवल शहरी क्षेत्रों से सम्बन्धित हैं और वे अपूर्ण भी हैं और भ्रमपूर्ण भी हैं। इतने पर भी विनाशकारी अनियोजन स्थिति का इनसे आभास तो हो ही जाता है। सेवा नियोजन कार्यालयों के अनुसार भारत में १९५६ में ७६ लाख लोग

बेरोजगार थे। मार्च १९५६ में यह सख्या बढकर १२·२ लाख हो गई। योजना आयोग का विचार है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना की समाप्ति के समय देश में कुल ५८ लाख व्यक्ति बेरोजगार थे। इनमे से २५ लाख शहरी क्षेत्रों में थे और २८ लाख ग्रामीण क्षेत्रों में। अनुमान है कि द्वितीय पचवर्षीय योजना की समाप्ति तक बेरोजगारों की सख्या ७० लाख हो जाएगी। भारत मे शिक्षित बेरोजगारो की सख्या बहुत अधिक है।

कारण—स्पष्ट ही, प्रस्तुत स्थिति किसी एक ग्रश के कारण नही है, प्रत्युत अनेक कारणो का सम्मिलित परिणाम है। तिस पर, अनियोजन के प्रत्येक प्रकार (ग्रामीण, औद्योगिक या शिक्षित वर्गों में) के अपने निजी कारण हैं। तथापि हम स्थूल कारणो की खोज कर सकते हैं, जिनमें मुख्य निम्न हैं—

(i) विकास का अपर्याप्त अनुपात—वस्तुत यह आश्चर्य, और उससे भी अधिक सत्य है कि वर्तमान अनियोजन मे वृद्धि हो गई है जब कि समग्र रूप में नियोजन में वृद्धि हो रही है (योजना की प्रगति के फलस्वरूप)। इसका कारण यह है कि नियोजन के अवसरों ने देश की उस श्रम-शक्ति की अभिवृद्धियों के साथ अपनी गति को स्थिर नहीं रखा जो कि जनसख्या की गतिपूर्ण वृद्धि के परिणामस्वरूप हो रही है। अन्य शब्दो मे मूल कारण विस्तार की अपर्याप्त दर है और समग्र रूप में नियोजन की दिशा मे कमी नही।

(ii) भारतीय विश्वविद्यालयों की वृद्धिपूर्ण उपज—भारतीय विश्वविद्यालयो से जितनी वृद्धिपूर्ण दर से मैट्रिक, इण्टर और बी० ए०—शिक्षितो का विशाल उत्पादन हो रहा है वह एक अन्य कारण है, जो नियोजन अवसरो तथा नियोजन-इच्छुक शिक्षित वर्गों की सूची के बीच अधिकाधिक खाई पैदा कर रहा है।

(iii) भारतीय कृषि का पिछड़ापन—भारतीय कृषि का पिछडापन देश में बेरोजगारी का एक अन्य कारण है। भारत में भूमि पर दबाव बहुत अधिक है। उपज बहुत कम होता है।

(iv) व्यापार और उद्योग में मन्दी—१९५२ के प्रारम्भ में कीमतो मे अनायास कमी, अन्तर्राष्ट्रीय स्कन्ध-सचय मे शिथिलता, १९५३ में कोरिया युद्ध-विराम और अन्तर्राष्ट्रीय कीमतो मे कमी ने व्यापार और उद्योग मे मन्दी की भावना को उत्पन्न कर दिया। व्यापारी इस बात स भयभीत हो गए हैं कि मन्दी बढती जा रही है। इसके कारण व्यापारिक कार्य-कलाप सकुचित हो गए और फलस्वरूप अनियोजन हुआ। उत्पादन का सकुचन निर्यात उद्योगों में हुआ, जैसे, जूट, अभ्रक और लाख। इसके लिए विदेशी बाजारो में पांव ज ाए रहना कठिन हो रहा है।

(v) जनता की क्रय-शक्ति में कमी—नियोजन में कमी का सर्वाधिक मुख्य कारण जनता की क्रय-शक्ति मे कमी हो जाना है। प्रबल मुद्रा-स्फीति ने न केवल चालू क्रय-शक्ति को ही कम किया है, प्रत्युत अधिकाशत अपनी बचतो से भी हाथ धो बैठी है। यही कारण है कि जहाँ कुछ वर्ष पहले कपडे आदि मे चोर-बाजारो का प्रसार था, वहाँ अब ऐसी वस्तुओं की माँग शिथिल है, भले ही वे खुले बाजारो में उपलब्ध हैं।

(vi) कीमतों के साथ लागतों का समन्वय करने में उद्योग की अयोग्यता—गत दो वर्षों मे विक्रता बाजार ने क्रेता बाजार को जगह दे दी है। इसलिए बाजार पर पकड बनाए रहने के लिए कीमतो मे कमी होनी ही चाहिए किन्तु उद्योगपतियो ने उद्योगो मे उस समय पूंजी लगाई थी जबकि मशीनो की युद्धकालीन उच्च कीमतें थी। जिसके फलस्वरूप उत्पादन लागतो की अनेक मदे उच्च हैं और स्कन्ध सचय है जिसके फलस्वरूप कुछ श्रम अनियोजित कर दिया गया है।

(vii) अभिनवीकरण—हाल ही के वर्षों म कुछ उद्योग लागतो म कमी करने की दृष्टि से अभिनवीकरण के उपाय जारी करने की चेष्टा कर रहे हैं। इसका स्पष्ट परिणाम छाँटी और अनियोजन है।

(viii) छाँटी—अनेक विभागो को जिनमे सिविल सप्लाई विभाग, जो युद्ध-काल में शुरू किया गया था, उल्लेखनीय है, धीरे-धीरे बन्द किया जा रहा है। हाल ही के विनियन्त्रणो (जैसे खाद्यान्नो, वस्त्र, खाड) ने इसे और भी सुगम कर दिया है। छाँटी का प्रहार अन्य विभागो पर भी पड रहा है। इससे नए नियोजन में अवरोध होता है और विद्यमान अनियोजन म वृद्धि।

(ix) छोटे उद्योगों को धक्का—युद्ध काल म प्रतिरक्षा आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अनेक लघु स्तर के उद्योगो की स्थापना की गई थी। किन्तु हाल ही के वर्षों म इन उद्योगो के समक्ष अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो गई हैं, जिससे उनम से कई उनके कारण बन्द हो गए हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि बहुत से शिक्षित और कुशल कारीगर बेकार हो गए। इस सम्बन्ध म हैंडलूम उद्योग एक प्रत्यक्ष उदाहरण है जो लघु स्तर उद्योगो मे सबसे बडा था और जिसमें लाखो जुलाहे नियोजित थे।

यहाँ उन लाखो शरणार्थियो के आगमन का भी उल्लेख किया जा सकता है जो कि पहले पश्चिमी पाकिस्तान से आए और १९५० तथा १९५१ में पूर्वी पाकिस्तान से, और स्वदेशी की भावना का लोप (जो स्वतन्त्रता से पूर्व जनता के चरित्र को प्रकट करती थी)। इनसे प्रत्युत समस्या की प्रबलता मे वृद्धि हुई।

उपचार—अनियोजन इतनी भीषण बुराई है कि उसकी उपेक्षा नही की जा सकती। यथासम्भव छाँटी को रोक देना चाहिए। सरकार की स्वीकृति के बिना किसी भी फैक्टरी मालिक को अपनी फैक्टरी बन्द करने की आज्ञा नही होनी चाहिए। जो लोग अभिनवीकरण के कारण नियोजनहीन हो जाएं उन्हें अनिवार्यत मुआवजा मिलना चाहिए। सचित स्कन्धो को समाप्त करने म सहायता दी जानी चाहिए। इस बीच अनियोजन की सीमा और स्वरूप का निर्धारण करने के लिए जांच की जानी चाहिए। अनियोजन के प्रत्येक मुख्य प्रकार के लिए अलग उपाय समूहो की आवश्यकता होगी। जो भी हो, दीर्घकालीन आधार पर अनियोजन से लोहा लेने के लिए निम्न मूल उपाय करने होगे। उन पर विचार करने के बाद हम विशिष्ट अल्पकालीन उपायो पर भी विचार करेंगे कि जिन्हे वर्तमान अनियोजन को कम करने की दृष्टि से अपनाया जा सकता है।

दीर्घकालीन नीति—इसके पाँच महत्त्वपूर्ण तत्त्व होगे। वेगपूर्वक आर्थिक विकास को, विशेषत गतिशील और बहुदिशी उद्योगीकरण, इस नीति में केन्द्रीय स्थान होना

चाहिए। इससे नियोजन की नई दिशाएँ खुलेंगी, विशेषत: शिक्षित व्यक्तियों और कुशल कर्मकारों के लिए और कृषि से जनसंख्या आधिक्य को उद्योगों में बदलने के द्वारा ग्राम अनियोजन से मुक्ति मिलेगी। दूसरे, जनसंख्या वृद्धि की वर्तमान बढ़ती हुई दर को कम करना होगा और तीसरे, वर्तमान अत्यधिक साहित्यिक शिक्षा-प्रणाली को औद्योगिक और हस्तकौशल सम्बन्धी स्वरूप प्रदान करना होगा। चौथे, देश भर में (ग्राम और नगर दोनों में) काम-दिलाऊ दफ्तर स्थापित करने होंगे जिससे श्रम की गतिशीलता में वृद्धि हो। पाँचवें, सरकार को प्रतिकारात्मक सार्वजनिक कार्यों की नीति को प्रचलित और उसके दायित्व को भी स्वीकार करना चाहिए (अर्थात् जब कभी निजी उपक्रम और विनियोग में कमी हो जाए)।

यह सब सामान्य सुझाव हैं। अनियोजन का मुकाबला करने के साधन रूप में औद्योगिक विकास के विषय में एक प्रश्न उत्पन्न हो जाता है—अनियोजन का इलाज करने के लिए उद्योगीकरण की कौनसी प्रकार भारत के लिए उपयोगी होगी? चूँकि हमारे यहाँ अपर्याप्त पूँजी और विशाल मानव-शक्ति है इसलिए पश्चिमी प्रकार हमारे लिए उपयुक्त नहीं होगी। हमारे लिए पूँजी की गहनता वाले उद्योगों की अपेक्षा श्रम की गहनता वाले उद्योग अधिक उपयुक्त होंगे। क्योंकि श्रम की गहनता वाले उद्योगों में स्पष्टतया नियोजन सम्भाव्यता अधिक है। फलस्वरूप घरेलू और लघु-स्तर के उद्योगों को विशेष रूप में प्रोत्साहन देना होगा।

विशिष्ट सुझाव (Specific Suggestions)—हाल ही के महीनों में बढ़ी हुई बेकारी के विषय में व्यापक रूप में विचार किया गया है और बहुत से क्रियात्मक सुझाव, विशेषत: अल्पकालीन स्वभाव के दिए गए हैं। वाणिज्य और उद्योग के भूत-पूर्व केन्द्रीय मन्त्री श्री कृष्णमाचारी ने बहुत से नए उद्योगों को शुरू करने की योजना बनाई थी, जिन्हें प्रथमावस्था में सरकार राज्य-कोषों से आरम्भ करेगी। नये उद्योगों की स्थापना में अर्थ-प्रबन्ध की सहायता के लिए भारत सरकार औद्योगिक विकास कार्पोरेशन शुरू करने के प्रस्ताव पर भी अनुकूलतापूर्वक विचार कर रही है। योजना कमीशन ने एक ग्यारह-मुखी कार्यक्रम भी जारी किया है। इस कार्यक्रम से हम महत्त्व-पूर्ण विषयों को यहाँ उद्धृत करते हैं—

(i) ऐसे स्थानों पर कार्य और प्रशिक्षण-शिविरों की स्थापना करना, जहाँ योजना के अधीन, जैसे सिंचाई और शक्ति योजनाओं, सड़क-निर्माण कार्यक्रमों आदि में कार्य के अवसर प्रदान किए गए हैं।

(ii) छोटे-छोटे उद्योगों और व्यापारों की स्थापना के लिए जनता के छोटे समूहों या व्यक्तियों को विशेष सहायता प्रदान की जाएगी।

(iii) जिन दिशाओं में वर्तमान में मानव-शक्ति की कमी विद्यमान है, उनमें प्रशिक्षण-सुविधाओं का विस्तार करना।

(iv) सार्वजनिक अधिकारियों की सहानुभूतिपूर्ण स्टोर-क्रय नीति द्वारा घरेलू और लघु स्तर के उद्योगों की वस्तुओं को सक्रिय प्रोत्साहन देना।

(v) कस्बों में यथासम्भव अधिकाधिक संख्या में वयस्क स्कूलों और अध्यापक स्कूलों को खोलना या खोलने के लिए प्रोत्साहन देना।

(vi) राष्ट्रीय विकास-सेवा को शीघ्रातिशीघ्र अधिक विस्तार देना। इसमे नियोजन सम्भाव्यता भी महान् है।

(vii) सडक यातायात का विकास करना। इसमे बहुत बडी सख्या मे नियोजन की सम्भावना है।

(viii) शहरी क्षेत्रो मे कम आय के समूहो के लिए भवन-निर्माण के कार्यक्रमो और बस्तियो की सफाई की योजनाएँ चालू करना।

(ix) विस्थापित नगर आबादियो को योजित सहायता दान करना।

(x) निजी भवन निर्माण के कार्य-कलापो को प्रोत्साहन देना।

उक्त कार्यक्रम के अलावा विशेष प्रकार की बेरोजगारी को दूर करने के लिए विशिष्ट प्रयास किए जा रहे हैं। उदाहरण के लिए शिक्षितो की बेरोज़गारी को दूर करने के लिए भारत सरकार ने एक योजना बनाई है जिसके अधीन ६०,००० अध्यापको को १६५८-५६ से आगे के ३ वर्षों म नियुक्त किया जाएगा।

निष्कर्ष—उक्त प्रयासा के बावजूद बेरोजगारी की समस्या निरन्तर भीषण ही होती जा रही है। तृतीय योजना का निर्माण करते समय इस समस्या की ओर सबसे ज्यादा ध्यान देने की आवश्यकता है। हाल म ही इस सम्बन्ध म कुछ नए सुझाव भी दिए गए हैं। एक सुझाव यह है कि अतिरिक्त मजदूरो को गाँवो म बाजार दरो की अपेक्षा कम दरो पर उत्पादन-कार्य मे लगा देना चाहिए। दूसरा सुझाव यह है कि औद्योगिक बस्तियो का विचार प्रत्येक गाँव या गाँव-समूह मे लागू किया जाए। इन बस्तियो मे गाँव वाले अपने अपने उपभोग की वस्तुओ का उत्पादन कर सकते हैं।

वास्तव में बेरोज़गारी की समस्या बहुत जटिल है और इस पर चारो ओर से प्रहार करना होगा।

---

5. Consider the need and limitations of the investment of foreign capital in India

6 Describe the main trends in India's foreign trade since Independence.

7 Examine the economic consequences of the devaluation of the Indian rupee in September, 1949 What were the circumstances that forced India to resort to devaluation

8 Describe the main features of local finance in India. Point out the defects and suggest reforms

9 Write notes on *any three* of the following —

(a National Extension Scheme

(b) Abolition of zamindari

(c) Exchange banks

(d) Multi purpose co operative societies

(e) Bhakra Nangal Project

(f) The Industrial Finance Corporation

10 Examine the progress made by India under the First Five Year Plan.

11 "An important place must be assigned to power (transport and communication for bringing about not only a balanced development of the economy but also to endow it with the capacity for self propelling and accelerated growth' (*Draft Plan*)

Examine the need for an adequate and co ordinated development of means of transportation and communication in India for balanced progress

1958—Supplementary

1 Discuss the possibilities and limitations of mechanized agriculture in India

2 Describe the attempts made so far to meet the long term needs of agriculture To what extent have these been successful in achieving their objective ?

3 What are the major problems of population in India ? Suggest a suitable population policy for the solution of these problems

4 Examine the problem of cottage industries in India and describe the steps taken by government to help them

5 'The Indian economy needs both an agricultural and an industrial base, these are not in conflict but are really complementary, and, beyond a certain initial stage of development the growth of one facilitates the growth of the other' (*Second Five Year Plan—The Framework*)

Comment on the above statement

6 Discuss the economic importance of forests and suggest methods for their proper utilization

7 Outline the main recommendations of the last Fiscal Commission and examine their urgency for the economic development of the country.

8 Write notes on *any three* of the following —

(a) National Income of India

(b) Community Projects

(d) Mechanization of agriculture.

(e) Industries.

(f) Soil erosion.

(g) Union excise duties.

(h) Prices during the last five years.

Supplementary—1959

1. Attempt a note on the significance and magnitude of the situation in India in regard to the population problem.

2. Assess the importance of the consolidation of holdings in the execution of schemes for the increase in agricultural output in India.

3. Examine the land reform measures enacted by the Punjab Government during the last six years. Has the position changed materially as a result of these measures ?

4. What do you understand by community development ? What is the programme of community development in India ?

5. Examine the present industrial policy of the Government of India.

6. What steps have been taken to increase the production of steel in India ? Why has steel been given the highest priority in the scheme of industrial production ?

7. Attempt a critical note on the policy of the Government of India in regard to foreign capital.

8. Examine briefly the allocation of financial resources to the Centre and the States under the new Constitution

9. Discuss the place of the Reserve Bank of India in India's banking structure.

10 "A well knit system of co ordinated transport is the key to India's progress and planned development " What are the main tasks to be accomplished for the establishment of such a system ?

11 "The Second Five Year Plan is in essence a continuation of the development effort commenced in the First Plan. There is, however, a significant shift in priorities "

Examine this statement

12 Review briefly the social security legislation in India and examine the scope for further progress in the matter

1958—Annual

1 Describe the power resources of India and examine their adequacy for her economic development.

2. Examine carefully the agricultural policy of the Government of India since 1949.

3 Describe briefly the principal methods of irrigation used in India and point out their drawbacks.

4. Examine the growth and the present position of *either* the jute textile industry *or* the iron and steel industry in India. What are their main problems ?

5 Consider the need and limitations of the investment of foreign capital in India

6 Describe the main trends in India s foreign trade since Independence

7 Examine the economic consequences of the devaluation of the Indian rupee in September, 1949 What were the circumstances that forced India to resort to devaluation

8 Describe the main features of local finance in India. Point out the defects and suggest reforms

9 Write notes on *any three* of the following —

(a) National Extension Scheme

(b) Abolition of zamindari

(c) Exchange banks

(d) Multi purpose co operative societies

(e) Bhakra Nangal Project

(f) The Industrial Finance Corporation

10 Examine the progress made by India under the First Five Year Plan.

11 ' An important place must be assigned to power (transport and communication for bringing about not only a balanced development of the economy but also to endow it with the capacity for self propelling and accelerated growth (*Draft Plan*)

Examine the need for an adequate and co ordinated development of means of transportation and communication in India for balanced progress

1958—Supplementary

1 Discuss the possibilities and limitations of mechanized agriculture in India

2 Describe the attempts made so far to meet the long term needs of agriculture To what extent have these been successful in achieving their objective ?

3 What are the major problems of population in India ? Suggest a suitable population policy for the solution of these problems

4 Examine the problem of cottage industries in India and describe the steps taken by government to help them

5 'The Indian economy needs both an agricultural and an industrial base , these are not in conflict but are really complementary, and, beyond a certain initial stage of development the growth of one facilitates the growth of the other ' (*Second Five Year Plan—The Framework*)

Comment on the above statement

6 Discuss the economic importance of forests and suggest methods for their proper utilization

7 Outline the main recommendations of the last Fiscal Commission and examine their urgency for the economic development of the country

8 Write notes on *any three* of the following —

(a) National Income of India

(b) Community Projects

(d) Mechanization of agriculture.

(e) Industries

(f) Soil erosion.

(g) Union excise duties.

(h) Prices during the last five years.

Supplementary—1959

1 Attempt a note on the significance and magnitude of the situation in India in regard to the population problem

2. Assess the importance of the consolidation of holdings in the execution of schemes for the increase in agricultural output in India.

3. Examine the land reform measures enacted by the Punjab Government during the last six years Has the position changed materially as a result of those measures ?

4. What do you understand by community development ? What is the programme of community development in India ?

5. Examine the present industrial policy of the Government of India.

6 What steps have been taken to increase the production of steel in India ? Why has steel been given the highest priority in the scheme of industrial production ?

7. Attempt a critical note on the policy of the Government of India in regard to foreign capital

8 Examine briefly the allocation of financial resources to the Centre and the States under the new Constitution

9. Discuss the place of the Reserve Bank of India in India's banking structure.

10 "A well knit system of co ordinated transport is the key to India's progress and planned development " What are the main tasks to be accomplished for the establishment of such a system ?

11. "The Second Five Year Plan is in essence a continuation of the development effort commenced in the First Plan There is, however, a significant shift in priorities

Examine this statement

12. Review briefly the social security legislation in India and examine the scope for further progress in the matter

1958—Annual

1 Describe the power resources of India and examine their adequacy for her economic development

2. Examine carefully the agricultural policy of the Government of India since 1949.

3 Describe briefly the principal methods of irrigation used in India and point out their drawbacks.

4 Examine the growth and the present position of either the jute textile industry or the iron and steel industry in India. What are their main problems ?

AGRA UNIVERSITY—B.A. Part I

1959

1 Discuss the basic features of Indian economy and state to what extent these have been responsible for the slow growth of our national economy

2 Discuss briefly the main characteristics of population in India How far are our Five Year Plans likely to influence the occupational distribution ?

3 What are the causes and effects of sub division and fragmentation of agricultural holdings ? What remedial measures have been adopted to check and to remove the evil ?

4 Heavy, small and other industries—all need to be developed at the same time in the present economic conditions of India Do you agree ? Give reasons for your answer

5 Describe the importance of water power in India What are the main features of multi purpose hydel projects undertaken by the Government ?

6 Describe briefly the present food crisis in India Examine some of the main recommendations made by the Ashoka Mehta Committee

7 Discuss the main problems of agricultural marketing in India Suggest suitable remedies.

8 Describe the importance of the bullock cart in the rural economy of India

9 Examine the broad features of the Second Five Year Plan In what essential respects does it differ from the First Five Year Plan ?

10 Write short notes on *any two* of the following —

(*a*) Problem of soil erosion in India
(*b*) Utility of forests in India
(*c*) Labour welfare schemes in India
(*d*) Transport co ordination

1958

1 "Viewed over a long period the Indian economy has been more or less stagnant and has failed to meet the demands of a rapidly growing population"

Do you agree with the above statement ? Give reasons for your answer

2 "Agriculture is the dominant issue in India It cannot be dealt with unless all feudal relics are swept away and modern methods introduced and co-operative farming encouraged"

Discuss the above statement, with special reference to Uttar Pradesh

3 Discuss the steps taken in recent years to reorganize rural credit co-operation in Uttar Pradesh

4 Point out the distribution of sugar cane, cotton, tea and coal in India, and discuss their importance in Indian trade and industry

5 Examine the importance of cottage industries in Indian economy. How can they hold their own against large scale industries ?

6 Discuss India s industrial policy under the Second Five Year Plan and describe the steps that are going to be taken to implement it

7 "If Indian labour does not co operate with employers in increasing production, not only the community but also labour will suffer" Examine carefully this statement

8 How far do our means of transportation serve the needs of rural areas? Make suggestions for their development

9 Discuss the merits of re grouping of Indian Railways What measures would you recommend to reduce overcrowding in Railways ?

10 Write short notes on *any two* of the following —

(*a*) Positive and preven ive checks , (*b*) land mortgage banks , (*c*) managing agency system ; (*d*) recent trends in India s foreign trade

9 In what respects does gold bullion standard differ from gold currency standard ?

Indicate the circumstances which led to the abandonment of gold bullion standard in this country.

10 Indicate briefly the current financial relations between the Indian Central and State governments with special reference to the distribution of revenues from the divisible pool.

1957

1 To what extent has agriculture in India been commercialised ? Discuss the advantages and disadvantages of commercialisation.

2. What is the role of the Reserve Bank of India in the sphere of agricultural credit ?

3 What are the principal defects in the working of the primary co-operative societies of India ?

4 How far has co operative farming succeeded in India ? What are the difficulties in its way ?

5 What are the limitations of the available data for computing the national income of India and how would you overcome them ?

6 What action was taken by the Government on the recommendations of the Babington Smith Committee and what were its consequences ?

7. Give the main provisions of the Banking Regulation Act, 1949 ?

8. Explain the relation between Railway Finance and General Finance in India.

9 What in your opinion should be the principal directions of taxation reform in India ?

10. What were the targets of the First Five Year Plan and how far have they been achieved ?

B A Honours—Paper IV
1959

1. What is the share of agriculture in India's national income ? How does it compare with the distribution of the population between agriculture and other occupations ?

2. Since when has India's population started growing rapidly ? What are the factors underlying this movement ?

3 What has been the impact of economic policies since the British conquest on India's village economy ?

4. Account for the shortage of foodgrains in India in recent years.

5 Analyse the problem of sub division and fragmentation of holdings in India. What are the measures now being adopted to meet the problem ?

6 What is the difference between the 'zamindari' and 'ryotwari' system of land tenure ? How have they been affected by recent land reforms ?

7 Which are the industries that have been benefited by the policy of discriminating protection in India ? On what basis were these industries selected for protection ?

8. What are the main features of the Managing Agency System ? To what extent have they undergone change recently ?

9 What is the case for the promotion of small scale industries in India ? What steps have been taken to strengthen their position ?

10. Discuss the difficulties encountered in the implementation of India's second Five-Year Plan.

AGRA UNIVERSITY—B.A. Part I

1959

1. Discuss the basic features of Indian economy and state to what extent these have been responsible for the slow growth of our national economy.

2. Discuss briefly the main characteristics of population in India. How far are our Five-Year Plans likely to influence the occupational distribution?

3. What are the causes and effects of sub division and fragmentation of agricultural holdings? What remedial measures have been adopted to check and to remove the evil?

4. Heavy, small and other industries—all need to be developed at the same time in the present economic conditions of India. Do you agree? Give reasons for your answer.

5. Describe the importance of water power in India. What are the main features of multi purpose hydel projects undertaken by the Government?

6. Describe briefly the present food crisis in India. Examine some of the main recommendations made by the Ashoka Mehta Committee.

7. Discuss the main problems of agricultural marketing in India. Suggest suitable remedies.

8. Describe the importance of the bullock cart in the rural economy of India.

9. Examine the broad features of the Second Five Year Plan. In what essential respects does it differ from the First Five Year Plan?

10. Write short notes on *any two* of the following:—
    (a) Problem of soil erosion in India.
    (b) Utility of forests in India.
    (c) Labour welfare schemes in India.
    (d) Transport co ordination.

1958

1. "Viewed over a long period the Indian economy has been more or less stagnant and has failed to meet the demands of a rapidly growing population."

Do you agree with the above statement? Give reasons for your answer.

2. "Agriculture is the dominant issue in India. It cannot be dealt with unless all feudal relics are swept away and modern methods introduced and co-operative farming encouraged."

Discuss the above statement, with special reference to Uttar Pradesh.

3. Discuss the steps taken in recent years to reorganize rural credit co operation in Uttar Pradesh.

4. Point out the distribution of sugar cane, cotton tea and coal in India, and discuss their importance in Indian trade and industry.

5. Examine the importance of cottage industries in Indian economy. How can they hold their own against large scale industries?

6. Discuss India's industrial policy under the Second Five Year Plan and describe the steps that are going to be taken to implement it.

7. "If Indian labour does not co operate with employers in increasing production, not only the community but also labour will suffer." Examine carefully this statement.

8. How far do our means of transportation serve the needs of rural areas? Make suggestions for their development.

9. Discuss the merits of re grouping of Indian Railways. What measures would you recommend to reduce overcrowding in Railways?

10. Write short notes on *any two* of the following:—
(a) Positive and preventive checks; (b) land mortgage banks; (c) managing agency system; (d) recent trends in India's foreign trade.

9 In what respects does gold bullion standard differ from gold currency standard ?

Indicate the circumstances which led to the abandonment of gold bullion standard in this country.

10 Indicate briefly the current financial relations between the Indian Central and State governments with special reference to the distribution of revenues from the divisible pool

1957

1 To what extent has agriculture in India been commercialised ? Discuss the advantages and disadvantages of commercialisation

2. What is the role of the Reserve Bank of India in the sphere of agricultural credit ?

3 What are the principal defects in the working of the primary co-operative societies of India ?

4. How far has co operative farming succeeded in India ? What are the difficulties in its way ?

5 What are the limitations of the available data for computing the national income of India and how would you overcome them ?

6 What action was taken by the Government on the recommendations of the Babington Smith Committee and what were its consequences ?

7 Give the main provisions of the Banking Regulation Act, 1949 ?

8 Explain the relation between Railway Finance and General Finance in India

9 What in your opinion should be the principal directions of taxation reform in India ?

10 What were the targets of the First Five Year Plan and how far have they been achieved ?

B A Honours—Paper IV
1959

1 What is the share of agriculture in India's national income ? How does it compare with the distribution of the population between agriculture and other occupations ?

2 Since when has India's population started growing rapidly ? What are the factors underlying this movement ?

3 What has been the impact of economic policies since the British conquest on India's village economy ?

4 Account for the shortage of foodgrains in India in recent years.

5 Analyse the problem of sub division and fragmentation of holdings in India. What are the measures now being adopted to meet the problem ?

6 What is the difference between the 'zamindari' and 'ryotwari' system of land tenure ? How have they been affected by recent land reforms ?

7 Which are the industries that have been benefited by the policy of discriminating protection in India ? On what basis were these industries selected for protection ?

8 What are the main features of the Managing Agency System ? To what extent have they undergone change recently ?

9 What is the case for the promotion of small scale industries in India ? What steps have been taken to strengthen their position ?

10 Discuss the difficulties encountered in the implementation of India's second Five Year Plan.

8 What is the monetary standard prevailing in India now? How is the supply of paper money in India regulated at present?

9. What taxes are levied by the Union Government in which the state governments enjoy a share? How are the receipts of these taxes distributed?

10. Give an estimate of the financial resources of the Second Five Year Plan. Do you think that it is an ambitious plan?

BANARAS UNIVERSITY

1958

1 The occupational as well as regional distribution of population in India is unbalanced. What are the reasons?

2 Do you think that our traditional system of cultivation is unsuitable under modern conditions? Give reasons for your answer.

3 Discuss the causes of the survival of cottage industries. What part would cottage industries play in a scheme of rural reconstruction in India?

4 Describe the policy pursued by the present Government in regard to industries in India. Are you in favour of the State's taking a more direct step in the sphere of industrial development?

5 Give a critical account of the organization and functions of the Industrial Finance Corporation. How far has it helped in the supply of capital to Indian Industries?

6 What are the causes of labour unrest in India? Give an account of measures adopted by the Government for the promotion of industrial peace in the country.

7. Describe the present structure and functions of the commercial banks in this country and their relation with the *Reserve Bank of India*.

8 Bring out the importance of the development of railway transport in India in the context of the Second Five Year Plan.

9 Discuss the changes in the direction and pattern of our foreign trade since Independence.

10 The Second Five-Year Plan of India has been criticized as 'too ambitious'. Do you agree?

UNIVERSITY OF BOMBAY

Paper I—1957

Section I

1 Examine critically the age composition and occupational pattern of Indian population as shown by the Census of 1951.

2 Evaluate India's rural credit problem.

3 'Co-operative farming is the only solution to increase agricultural productivity in India.' Comment on this view in the light of possibilities and limitations of co-operative farming in India.

4 Discuss the problem of marketing of agricultural produce in India and comment on the measures taken by the Government to solve it.

5. How far has the object of bringing about radical land reform been achieved by the abolition of Zamindari?

6 Write *critical* notes on any *two* of the following :—

(a) *Economic Implications of Gramdan (Village Gift)*,

(b) Effects of Partition on Indian Agriculture;

(c) Instability in Agricultural Prices,

(d) Forward Markets in Agricultural Commodities.

9 What are the main problems which have arisen in the successful implementation of the Second Five-Year Plan? Are you in favour of reducing the size of the Plan?

10. What are the main heads of taxation assigned to the States under the present Indian constitution? How far have they been fully tapped?

1957 Annual

1 Describe the mineral resources of Bihar. Are they sufficient for the growth of industries in the State?

2. Discuss the main defects of rural marketing in India. What suggestions can you make to improve it?

3 Discuss the causes of low efficiency of Indian industrial workers. What steps have been taken since 1947 to improve their conditions?

4 What is the importance of irrigation in the Indian economic life? Describe any important river valley project of your State.

5. Discuss the working of the community development projects in India. In what ways have they effected economic life?

6 Describe some of the important cottage industries of India. What steps have been taken by the Government to encourage them?

7. Mention the chief articles of export and import in India's foreign trade. Point out the changes that have taken place in India's foreign trade since the partition of the country

8. Discuss the different land reform measures introduced in Bihar in recent times How far are they expected to improve the agricultural position of the State?

9 Describe the growth, and the present position of *either* (*a*) the Cotton Industry, *or* (*b*) the Iron and Steel Industry in India.

10 Write short notes on any *three* of the following :—

(*a*) Sindri Fertilisers Plant.

(*b*) Economic Holdings.

(*c*) State Bank of India.

(*d*) Grow more-food Campaign.

(*e*) Sales tax in Bihar.

1957—Supplementary

1 Give an estimate of power resources of India, and describe the efforts made during the First Five Year Plan period to develop them

2 'Birth control is by itself no solution of the population problem of India" Discuss

3 "Water in India is gold" Comment

Examine the measures taken by the Government of India during the last decade to develop the supply of water for agriculture.

4. Review the growth of the co operative movement in India since the Second World War What is the importance of co operation in the future development of Indian agriculture?

5. Give an idea of the various institutions formed in the last ten years to finance large scale organized industries in India What economic climate do they require to function well?

6 Briefly describe the scheme of zamindari abolition in Bihar. What effects are expected to follow from the abolition of zamindari?

7 Discuss the importance of railways in Indian economic life. What developments have taken place in the Indian railway system since Independence

8 What is the monetary standard prevailing in India now ? How is the supply of paper money in India regulated at present ?

9. What taxes are levied by the Union Government in which the state governments enjoy a share ? How are the receipts of these taxes distributed ?

10. Give an estimate of the financial resources of the Second Five Year Plan Do you think that it is an ambitious plan ?

BANARAS UNIVERSITY

1958

1. The occupational as well as regional distribution of population in India is unbalanced What are the reasons ?

2 Do you think that our traditional system of cultivation is unsuitable under modern conditions ? Give reasons for your answer

3 Discuss the causes of the *survival of cottage industries* What part would cottage industries play in a scheme of rural reconstruction in India ?

4 Describe the policy pursued by the present Government in regard to industries in India Are you in favour of the State s taking a more direct step in the sphere of industrial development ?

5 Give a critical account of the organization and functions of the Industrial Finance Corporation How far has it helped in the supply of capital to Indian Industries ?

6 What are the causes of labour unrest in India ? Give an account of measures adopted by the Government for the promotion of industrial peace in the country

7. Describe the present structure and functions of the commercial banks in this country and their relation with the Reserve Bank of India

8 Bring out the importance of the development of railway transport in India in the context of the Second Five Year Plan

9 Discuss the changes in the direction and pattern of our foreign trade since Independence

10 The Second Five-Year Plan of India has been criticized as too ambitious'. Do you agree ?

UNIVERSITY OF BOMBAY

Paper I—1957

Section I

1. Examine critically the age composition and occupational pattern of Indian population as shown by the Census of 1951.

2 Evaluate India's rural credit problem

3 "*Co-operative farming is the only solution to increase agricultural pro*ductivity in India ' Comment on this view in the light of possibilities and limitations of co operative farming in India

4. Discuss the problem of marketing of agricultural produce in India and comment on the measure taken by the Government to solve it.

5 How far has the object of bringing about radical land reform been achieved by the abolition of Zamindari ?

6 Write *critical* notes on any *two of the following* —

(a) Economic Implications of *Gramdan* (Village Gift),

(b) Effects of Partition on Indian Agriculture,

(c) Instability in Agricultural Prices,

(d) Forward Markets in Agricultural Commodities

9 What are the main problems which have arisen in the successful implementation of the Second Five-Year Plan ? Are you in favour of reducing the size of the Plan ?

10 What are the main heads of taxation assigned to the States under the present Indian constitution ? How far have they been fully tapped ?

1957 Annual

1. Describe the mineral resources of Bihar. Are they sufficient for the growth of industries in the State ?

2 Discuss the main defects of rural marketing in India. What suggestions can you make to improve it ?

3. Discuss the causes of low efficiency of Indian industrial workers. What steps have been taken since 1947 to improve their conditions ?

4 What is the importance of irrigation in the Indian economic life ? Describe any important river valley project of your State.

5 Discuss the working of the community development projects in India. In what ways have they effected economic life ?

6. Describe some of the important cottage industries of India. What steps have been taken by the Government to encourage them ?

7 Mention the chief articles of export and import in India's foreign trade. Point out the changes that have taken place in India's foreign trade since the partition of the country

8. Discuss the different land reform measures introduced in Bihar in recent times. How far are they expected to improve the agricultural position of the State ?

9 Describe the growth, and the present position of *either* (a) the Cotton Industry, or (b) the Iron and Steel Industry in India.

10 Write short notes on any *three* of the following :—

(a) Sindri Fertilisers Plant.

(b) Economic Holdings.

(c) State Bank of India.

(d) Grow-more food Campaign.

(e) Sales tax in Bihar.

1957—Supplementary

1 Give an estimate of power resources of India, and describe the efforts made during the First Five Year Plan period to develop them

2 "Birth control is by itself no solution of the population problem of India" Discuss

3 "Water in India is gold" Comment

Examine the measures taken by the Government of India during the last decade to develop the supply of water for agriculture.

4 Review the growth of the co operative movement in India since the Second World War What is the importance of co operation in the future development of Indian agriculture ?

5 Give an idea of the various institutions formed in the last ten years to finance large scale organized industries in India What economic climate do they require to function well ?

6 Briefly describe the scheme of zamindari abolition in Bihar. What effects are expected to follow from the abolition of zamindari ?

7. Discuss the importance of railways in Indian economic life. What developments have taken place in the Indian railway system since Independence ?

5 "The post war balance of payments problems in India is more complicated than the pre war problems Discuss the statement

6 What factors impede the extension of banking facilities in the country? What measures would you suggest for banking facilities in the country ?

7 What efforts have been made by the Reserve Bank of India towards the strengthening of business in the country ? Estimate in this connection the part played by the Reserve Bank in the post war banking crisis

8 Give a critical account of the special agencies that have been recently set up for providing long term finance to private industry in India

9 Along what lines would you like to reform the managing agency system in India ? Would you advocate the total abolition of the system ?

10 Discuss critically the sources of additional tax revenue as recommended by the Taxation Enquiry Commission for development purposes in the country

11 Discuss the recent trends in the composition of public expenditure of Central and State Governments of India

UNIVERSITY OF POONA

1957

Special Paper III

1 Explain the need for population planning in India What are the measures suggested for the same ?

2 Discuss the causes of the low productivity of Indian agriculture

3 State the main defects of the co operative movement in India How can this movement be re orientated ?

4 Review critically the developments in agriculture during the First Five Year Plan

5 Examine critically the approach of the Second Five Year Plan to the problem of industrial development

6 What are the difficulties encountered in raising capital for industries in the private sector ?

7 Discuss the role of foreign capital in the industrial development of India

8 Review critically the present position of *either* the textile industry *or* the iron and steel industry and state its main difficulties

9. Indicate the main difficulties in developing sound trade unions in India.

10 Describe the machinery set up for the settlement of industrial disputes in India Is its working satisfactory ?

Special Paper IV

1 What were the circumstances that led to the appointment of the Babington Smith Committee ? Examine critically its recommendations

2 Describe the nature of control that the Reserve Bank of India is able to exercise on the Indian market

3 Write a note on the expansion of foreign exchange business of the Indian joint stock banks since Independence Examine the difficulties experienced by them in this field

4 Describe the role played by the Imperial Bank of India Why was it nationalised ?

5 Describe the main provisions of the Banking Companies Act of 1949. How far has it succeeded in restricting the scope for undesirable banking

5. What are the main features of the industrial policy of Government of India ? How have the Indian industrialists reacted to this policy ?

6 What role would you assign to cottage and small scale industries in devising a suitable industrial pattern of India ? Give reasons for your answer.

7. Trace the growth of Trade unionism in India. What are the main achievements and weaknesses of the movement ?

8. What are Community Development Projects ? Examine the aims and the working of these projects in India.

9 Comment briefly on the objectives and targets of the Second Five-Year Plan of India.

10 What are the salient features of the Indian money market ? What part does the Reserve Bank play in regulating credit ?

CALCUTTA UNIVERSITY

1956

1. Examine the place of cottage and small scale industries in the Indian economy. How do you propose to improve their organisation ?

2. Account for the emphasis placed in the First Five-Year Plan upon agriculture and irrigation How far would you like to shift this emphasis in the Second Five Year Plan ?

3 Trace briefly the history of the co operative movement in India What factors have been responsible for the slow progress of the movement in the country ?

4. What are the main types of unemployment to be witnessed in India to day ? What measures would you suggest for the solution of the unemployment problem in India ?

5. How far do you think the establishment of the State Bank of India would solve the problem of rural banking facilities ?

6 Discuss the changes that have taken place in the direction and composition of India s foreign trade as a result of the World War II and "Partition".

7. Explain the functions and objectives of State Finance Corporations as established in different States of India

8 Discuss how far the Reserve Bank of India controls the commercia banks in the country.

9 Describe the present machinery for the settlement of industrial disputes in India

10 Discuss the factors that have been responsible for the growth of public expenditure in India

B.A. Honours

Paper III, 1956

1. How far do you think the emphasis on "heavy industries" in the Second Five-Year Plan has been correct ? Discuss in this connection the place of "small scale industries" in the Plan.

2 Give a critical estimate of state trading as already undertaken in India. Discuss in this connection the desirability of establishing a State Trading Corporation in the country

3 How far do you think a shift of emphasis from compulsory adjudication to collective bargaining would be desirable in the interests of industrial peace in the present times in India ?

4 Explain the functions of employment exchanges in India. What criticisms have been levelled against them and what suggestions can you offer to [illegible]ve their present position?

5 "The post war balance of payments problems in India is more complicated than the pre war problems Discuss the statement

6 What factors impede the extension of banking facilities in the country? What measures would you suggest for banking facilities in the country?

7 What efforts have been made by the Reserve Bank of India towards the strengthening of business in the country? Estimate in this connection the part played by the Reserve Bank in the post war banking crisis

8 Give a critical account of the special agencies that have been recently set up for providing long term finance to private industry in India

9 Along what lines would you like to reform the managing agency system in India? Would you advocate the total abolition of the system?

10 Discuss critically the sources of additional tax revenue as recommended by the Taxation Enquiry Commission for development purposes in the country.

11 Discuss the recent trends in the composition of public expenditure of Central and State Governments of India

UNIVERSITY OF POONA

1957

Special Paper III

1 Explain the need for population planning in India What are the measures suggested for the same?

2 Discuss the causes of the low productivity of Indian agriculture

3 State the main defects of the co operative movement in India How can this movement be re orientated?

4 Review critically the developments in agriculture during the First Five Year Plan

5 Examine critically the approach of the Second Five Year Plan to the problem of industrial development

6 What are the difficulties encountered in raising capital for industries in the private sector?

7 Discuss the role of foreign capital in the industrial development of India

8 Review critically the present position of *either* the textile industry *or* the iron and steel industry and state its main difficulties

9. Indicate the main difficulties in developing sound trade unions in India.

10 Describe the machinery set up for the settlement of industrial disputes in India Is its working satisfactory?

Special Paper IV

1. What were the circumstances that led to the appointment of the Babington Smith Committee? Examine critically its recommendations

2 Describe the nature of control that the Reserve Bank of India is able to exercise on the Indian market

3 Write a note on the expansion of foreign exchange business of the Indian joint stock banks since Independence Examine the difficulties experienced by them in this field

4 Describe the role played by the Imperial Bank of India Why was it nationalised?

5 Describe the main provisions of the Banking Companies Act of 1949. How far has it succeeded in restricting the scope for undesirable banking practices?

5 What are the main features of the industrial policy of Government of India ? How have the Indian industrialists reacted to this policy ?

6 What role would you assign to cottage and small scale industries in devising a suitable industrial pattern of India ? Give reasons for your answer.

7. Trace the growth of Trade unionism in India What are the main achievements and weaknesses of the movement ?

8 What are Community Development Projects ? Examine the aims and the working of these projects in India

9 Comment briefly on the objectives and targets of the Second Five-Year Plan of India

10 What are the salient features of the Indian money market ? What part does the Reserve Bank play in regulating credit ?

CALCUTTA UNIVERSITY

1956

1. Examine the place of cottage and small scale industries in the Indian economy How do you propose to improve their organisation ?

2. Account for the emphasis placed in the First Five Year Plan upon agriculture and irrigation How far would you like to shift this emphasis in the Second Five Year Plan ?

3 Trace briefly the history of the co operative movement in India What factors have been responsible for the slow progress of the movement in the country ?

4. What are the main types of unemployment to be witnessed in India to day ? What measures would you suggest for the solution of the unemployment problem in India ?

5. How far do you think the establishment of the State Bank of India would solve the problem of rural banking facilities ?

6 Discuss the changes that have taken place in the direction and composition of India's foreign trade as a result of the World War II and "Partition"

7. Explain the functions and objectives of State Finance Corporations as established in different States of India

8 Discuss how far the Reserve Bank of India controls the commercial banks in the country

9 Describe the present machinery for the settlement of industrial disputes in India

10 Discuss the factors that have been responsible for the growth of public expenditure in India

B.A. Honours

Paper III, 1956

1. How far do you think the emphasis on "heavy industries" in the Second Five Year Plan has been correct ? Discuss in this connection the place of "small scale industries' in the Plan.

2 Give a critical estimate of state trading as already undertaken in India. Discuss in this connection the desirability of establishing a State Trading Corporation in the country

3. How far do you think a shift of emphasis from compulsory adjudication to collective bargaining would be desirable in the interests of industrial peace in the present times in India ?

4 Explain the functions of employment exchanges in India. What criticisms have been levelled against them and what suggestions can you offer to improve their present position ?

3. Examine the economic significance of the various tenancy reforms implemented by the State, in recent years

4 Discuss the scope for mechanisation of agriculture in India. What effects is it likely to have on the existing structure of rural economy ?

5 Indicate the place of basic industries in India's industrial economy. Throw light on the recent tendencies in management and control of these industries.

6. What are the existing institutions extending long term finance to Indian industries ? Do they satisfy the need of industries ?

7. Review critically our achievements under the First Five-Year Plan.

8. Survey the existing machinery for avoiding and settling industrial disputes. What measures of reform would you propose ?

9 Make out a case for state trading in industrial trade and point out the commodities for top priority to begin with, in this direction.

10 Indicate the importance of Railway and road transport in relation to our economic planning What provision has been made for their development under the Second Five-Year Plan ?

Paper II, 1957

1 Examine the role of the Reserve Bank of India as a controller of credit and currency Is it possible for the Bank to exercise qualitative credit control ?

2. Critically examine the recommendations of the Rural Banking Enquiry Committee (1949). How far would they be effective in mobilising Rural saving ?

3. Discuss the main causes which led to post-war inflation in India. Critically examine the steps taken by the Government to arrest it.

4 Do you think that the decision to devaluate the Indian Rupee was justified by the subsequent events ? Are there any argument for the revaluation of the Rupee ?

5 Estimate the advantages derived by us from our membership of the International Monetary Fund and International Bank or reconstruction and development.

6. Discuss the trends in India's exports and imports since the Second World War Show how these trends reflect certain changes in the Indian economy.

7 Bring out the important recent trends in the finances of the states in India. Do you agree with the proposition that the structure of States' finance is outmoded and as such radical and wholesale reforms are necessary to meet the changing role of the states ?

8 What were the recommendations of the Finance Commission on the subject of grants in aid from the Centre ? Evaluate the position of such grants in our Federal Finance.

9 Examine critically the chief characteristics of our tax structure ? What reforms would you suggest in it to meet the requirements of our planning ?

10 Write a concise essay on the financing of the Second Five-Year Plan.

UTKAL UNIVERSITY

1957

1. State the evils arising out of fragmentation of holdings. What measures would you suggest to remove them ?

2 "Economic development is not keeping pace with the increasing population in India." Discuss the statement.

3. Write a note on the fuller exploitation of the natural resources of

4. Describe the legislative measures taken by the Government of India to settle industrial disputes

5. Discuss the main trends in India's foreign trade since Independence,

6 Give a critical estimate of the Community Development Project in India

7. What is the place of the development of railway transport in India's Second Five Year Plan

8 Discuss the present position of the Iron and Steel Industry of India What steps are being taken to develop this industry ?

9 Write short notes on any *two* of the following —

(a) Finance Commission
(b) Industrial Housing Project
(c) Sterling Balance of India
(d) *Social Security in India*

10 Critically appraise the role of the private sector in the present economic set up of India

B.A. Honours—1957

1. What are the handicaps from which agricultural labour suffers in Orissa ? What measures would you suggest for its amelioration ?

2 Trace briefly the growth of the Co operative Movement in India. How far has it succeeded in fighting rural indebtedness of Orissa ?

3 Give a critical appraisal of the present industrial policy of the Government of India How would you advocate the Government s taking a more direct share in industrial development ?

4 What are the reasons for the prevalence of middle class unemployment in the face of progress of economic development of the country under the First Five Year Plan ? Indicate how the Second Five Year Plan seeks to solve the problem

5. Elucidate the proposition,— 'The Indian Fiscal Commission of 1949 50 approached their task from a new angle of vision and laid down new principles of protection '

6 What are the reasons for nationalising the Insurance company in India ? Discuss the possible effects of this measure on the interests of shareholders, employees and state finance ?

7 Give a brief review of some of the trade agreements made by India with other countries How far, in your opinion, are these agreements to the benefit of Indian trade ?

8 Examine critically the organisation and functions of the Reserve Bank of India Discuss in this connection the proposition—"The principal task of the Reserve Bank is to control the credit situation '

9 What are the factors which have influenced India s balance of payments since the devaluation of the rupee in 1949 ? What measures have been taken to improve the position and with what success ?

10 Describe the system of financial allocation between the Government of India and the States under the present constitution of India Suggest some lines of its readjustment *with a view to improving Orissa's financial position*

GAUHATI UNIVERSITY

1958

1 Discuss in the causes of the continuous rise the prices of foodgrains in India What measures would you suggest to check a further rise in their rices ?

2. Give a critical estimate of the progress of Indian economy during First Five Year Plan ?

3. Describe the main features and functions of the State Financial Corporations in India. How far have they been able to solve the financial problems of the small scale industries ?

4. Give a brief account of the trade union movement in India. What obstacles have stood in the way of the movement ?

5. Examine the causes for encouraging the flow of foreign capital into India during the Second Plan period. What steps have already been taken to induce foreign investment in the country ?

6. Discuss the causes of the failure of the co-operative movement in India ?

7. What new powers have been given to the Reserve Bank of India for controlling the credit situation during the Second Plan period ? What measures did the Bank adopt during 1956-57 for checking the growing inflationary pressures in the economy ?

8. Discuss the main features of India's balance of payments problem during the Second Plan period.

9. Describe the main features of the capital gains tax recently introduced into India. How far do you think its imposition is justified ?

10. Give a brief critical account of the principal social security measures adopted in India since Independence.

1957

1. Discuss the main features of the Second Five Year Plan of India. How far do you think the emphasis placed on the development of small and village industries has been correct ?

2. What difficulties are faced by the Indian agriculturist in the marketing of his products ? What measures would you propose for the removal of these difficulties ?

3. How far do you think the establishment of the State Bank of India would help to improve the provision of credit facilities in the rural areas ?

4. Discuss the part played by the Reserve Bank of India as a lender of last resort.

5. Describe the main features of the Indian Estate Duty Act of 1953.

6. What are the principal modifications of the system of protection to Indian industries which were recommended by the Fiscal Commission of 1949-50 ?

7. What new measure of taxation would you like to propose to meet the development of expenditure during the Second Five Year Plan ?

8. Examine critically the existing machinery for the settlement of industrial disputes in India.

9. Give a critical account of the progress of commercial banking in India in the post war years. What obstacles are standing in the way of banking development in the country ?

10. State the main problem and difficulties of the tea industry in Assam. What measures have recently been adopted by the Government of India for helping the tea industry in India ?

OSMANIA UNIVERSITY

Paper III, 1959

1. Describe the scope of Agricultural Economics.

2 Write a note on the necessity and method of stabilisation of agricultural prices

3 What are the factors governing crop production in India

4 Give a review of the recent food policy of the Government of India

5 What is the scope of co operative marketing in India

6 Describe and examine the recent changes in the irrigation policy of the Government of India

7 What is the role of the State Bank of India in supplying agricultural credit ?

8 Review the progress of Land Reforms in India

9. Describe the working of Land Mortgage Banks in India

10 *Write notes on any two of the following* —

(i) mechanisation of agriculture in India

(ii) the use of fertilizers in Indian farming

(iii) India's cattle problem

(iv) agro Industrial centres

Paper IV 1959

1 Give a brief account of India's industrial resources and show how they can be harnessed for our industrial development

2 Examine the present position of either the sugar industry or cotton textile industry in India What steps should be taken to develop the industry ?

3 What are the causes of industrial disputes ? Briefly state the existing machinery for their settlement ?

4 Briefly state the agencies that supply finance to industries How far are they adequate

5 What steps have been taken in the matter of industrial development during the Second Plan period ?

6 Examine the importance of Road transport in the industrial development of India

7 What are the characteristics of India's foreign trade ? What steps do you suggest for development ?

8 State the main features of the fiscal policy of India ? How far is it adequate to our needs ?

9 What do you understand by "Dispersal of Industries" ? What practical suggestions do you give so far as Indian industries are concerned ?

10 Write short notes on —

(a) Handloom industry,

(b) Social security

(c) Managing Agency system

Paper III, 1958

1 How do Economics of Agriculture and Economics of Industry differ from each other ?

2 What are the considerations which determine the size of farms in a country ? Illustrate with reference to conditions in India

3 Examine the position of fertility of Indian soil How may this be improved ?

4 What is land mortgage bank ? How does it function ?

5 Give the origin and development of co-operative movement in India.

6. Give the origin of the "State Bank of India" What contribution is this bank expected to make towards the problem of rural finance ?

7. What are the salient features of recent land reform measures undertaken in India ?

8. Evaluate the progress of National Extension Service programmes in India.

9. "Paradoxical as it may sound, the problem of rural credit in India is not primarily one of rural credit Rather it may be said to be one of rural-minded credit." Explain

10. *Write notes on any two of the following :—*

(i) *All India Ware housing Corporation*

(ii) Afforestation.

(iii) Cattle Problem of India

(iv) Bhoodan yagna.

Paper IV, 1958

1. Briefly indicate the present position of Sugar Industry in India What steps should be taken for its development ?

2. *Examine the future role of small scale and cottage* industries in Indian economy.

3. What are the arguments for and against nationalisation of industries in India ?

4. Under what conditions would you advocate financing of Indian industries by foreign capital ?

5. Analyse the causes and consequences of industrial unemployment and suggest *remedial measures.*

6. *What is the place given to industries in the Second Five-Year Plan ?*

7 Explain the meaning and significance of labour welfare work and assess its progress in India.

8 Give an account of the existing machinery for the prevention and settlement of industrial disputes in India

9. Describe the main features of the present fiscal policy of the Government of India

10 Give brief account of the recent trends in India's foreign trade